ॐ

ऋषियोंके विज्ञानकी श्रेष्ठता

या

(वैदिक ज्ञानके वैज्ञानिक क्षेत्रविकास
के लिये आधार)

लेखक
प्रा. केशव अनंत पटवर्धन,
इंदौर (मध्य प्रदेश)

स्वाध्याय मंडल
पारडी (जि. सूरत)

प्रकाशक :

बसंत श्रीपाद सातवलेकर, बी. ए.,
स्वाध्याय मण्डल,
पोस्ट– 'स्वाध्याय मण्डल, (पारडी)' [जि. सूरत]

मुद्रक :

वसन्त श्रीपाद सातवलेकर, बी. ए.,
भारतमुद्रणालय, स्वाध्याय मण्डल,
पोस्ट– 'स्वाध्याय मण्डल, (पारडी)' [जि. सूरत]

अर्पण पत्रिका

'अभ्युदय पूर्वक निःश्रेयस' प्राप्त करा देनेवाली दिव्य ओजस्विनी तथा अत्यंत कल्याणकारिणी ब्रह्मविद्या (परा और अपरा विद्या) जिस समय भारतवर्षमें प्रकट हुई थी उस समय इस ब्रह्मविद्याके दिव्य प्रकाशके कारण वैदिक समाज तथा वैदिक धर्म, ऐहिक और पारमार्थिक दृष्टिसे, उन्नतिके शिखर पर पहुँचा हुआ था यह ऐतिहासिक सत्य है। यह ओजस्विनी अमृतसंजीवनी जिस श्रुतिके कृपा प्रसादसे, हम भारतीयोंको उपलब्ध हुई है उस श्रुतिको 'माता' से अधिक श्रेष्ठतर उपमा भाषाशास्त्रमें उपलब्ध न होनेसे उसे 'श्रुति माता' इस संज्ञासे ही सुज्ञोंने संबोधन किया हुआ है। उस 'श्रुति माता' को अनन्य भावसे शरण जाकर जिन महानुभावोंके दिव्य ज्ञानके कृपा प्रसादसे इस 'श्रुति माता' की भेंट, हिन्दुराष्ट्र तथा विश्वकी मानवताको, आज भी हो सकती है, उन परमपूजनीय वैदिक ऋषियोंको साष्टांग प्रणिपात कर उनके चरणोंपर यह अल्प कृति समर्पण कर अंशात्मक रूपसे ऋषिऋण चुकानेका प्रयत्न कर रहे हैं।

इन्दौर
२०-१-५६

लेखक

ॐ

क्या वैदिक ऋषि विज्ञान जानते थे ?



'क्या वैदिक ऋषि विज्ञान जानते थे ?' ऐसा प्रश्न इस समय वारंवार पूंछा जाता है । कुछ समयके पूर्व कई विद्वान् ऐसा कह रहे थे कि वैदिक ऋषि करीब करीब जंगली अवस्थामें थे । पर यह बात अब रही नहीं है । अब विद्वान् लोग मानने लगे हैं कि वैदिक ऋषिओंकी सभ्यता अच्छी उन्नतिका चिन्ह बता रही है और विज्ञानकी प्रगति भी इस समय अच्छी हुई थी । इस विषयमें किसीको कुछ संदेह हो तो उसका निराकरण, प्रो. श्री के. अ. पटवर्धन, एम. एस. सी. इन्दौर निवासीने मंत्र, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, यज्ञ, याग, इष्टि आदिका संशोधन करके, इस ग्रंथमें अच्छी तरह किया है इसलिये प्राध्यापकजीका हम हार्दिक अभिनन्दन करते हैं ।

'क्या ऋषि विज्ञान जानते थे' इस प्रश्नका उत्तर प्रथम देना चाहिये । प्रो० पटवर्धनजीने इस लेखमालामें इसका यथोचित उत्तर दिया है और बताया है कि वे वैदिक कालके ऋषि अच्छे शास्त्रज्ञ थे । पर इस विषयके प्रमाण और भी हैं और वे यहां मननीय भी हैं इसलिये हम यहां एक दो प्रमाण देते हैं—

जलकी उत्पत्ति

मित्रं हुवे पूतदक्षं, वरुणं च रिशादसम् ।
धियं घृताचीं साधन्ता ॥ ऋग्वेद १।२।७

(पूत - दक्षं) पवित्रता करके बल बढानेवाले (मित्रं हुवे) मित्र वायुको मैं लेता हूं और (रिश् - अदसं वरुणं च) जंग चढाकर खानेवाले वरुण वायुको लेता हूं । ये दोनों (घृत - अचीं धियं साधन्ता) पानी प्रवाहित करनेके कर्मकी साधना करते हैं ।

वायु सूक्तके मंत्रोंमें यह मंत्र है। और (घृत – अचीं) जल प्रवाहित करनेके (धियं) बुद्धि पूर्वक किये कर्मकी साधना यहां लिखी है। "रिश्" यह वैदिक पद है इसका "रिष्ट" ऐसा रूप होता, यही (Rust) का मूल रूप है। जंग करके खाना (रिश – अदस्) का अर्थ है। कौन जंग लाता है? आक्सिजन वायु जंग लाकर धातुओंको खाता है। दूसरा वायु "मित्र" है। मित्रका अर्थ मापन करनेवाला (Measurer) है। वह पवित्र बल देता है। अन्य पदार्थोंका वजन करनेके कार्यके लिये यह उपयोगी है इसलिये इसका नाम "मित्र" (मापन करनेवाला) है।

क्या ये शब्द शास्त्रीय प्रगतिके द्योतक नहीं हैं? इन दोनों वायुओंके मिश्रणसे जल उत्पन्न होता था यह क्या इस ऋषिको विदित नहीं था? यदि नहीं था तो ये शब्द प्रयोग किस तरह हुए? इन शब्द प्रयोगोंसे स्पष्ट प्रतीत हो सकता है कि इस ऋषिको जलकी उत्पत्ति इन दो वायुओंके मेलसे होती है इसका ज्ञान अच्छी तरह था।

"रिश" और "रूश" इन दोनों धातुओंका अर्थ हिंसा करना है। "रूश" का रूष्ट (Rust) होता है और "रिश" का रिष्ट (Rist) होता है। "रूष्ट" (Rust) का अर्थ जंग करके खा जाना होता है। रिश – अदस् में यही भाव है।

ये पद शास्त्र सिद्धांतके अनुकूल नहीं हैं ऐसा कोई नहीं कह सकेगा। विज्ञानकी उन्नति होनेकी अवस्थामें ही ऐसी शास्त्रीय शब्द रचना होना संभव है। और देखिये—

अश्वरहित वेगवान रथ

अनेनो वो मरुतो यामो अस्तु, अनश्वश्चिद् यमजत्यरथीः।
अनवसो अनभीशू रजस्तूर्वि रोदसी पथ्या याति साधन्॥

ऋग्वेद ६।६६।७

इस मंत्रमें वर्णन किया हुआ रथ (अन् – अश्वः) घोडोंके बिना चलता है, (अ – रथी – अजति) चलानेवाला भी उसको नहीं रहता, परंतु वह

वेगसे चलता है, (अन् - अभीशुः) लगाम भी इसको नहीं होते ऐसा यह रथ (अन् - एनः) निर्दोष है और यह (रजः - तूः) धूलीको उडाता हुआ चलता है।

घोडे, सारथी, लगाम आदि कुछ भी न होते हुए यह रथ धूली उडाता हुआ बडे वेगसे चलता है। यह वर्णन केवल काव्य ही है ऐसा माना जायगा, ऐसा कैसा कहा जायगा? ऐसा वर्णन होनेके लिये कविके सामने घोडेके बिना चलनेवाला रथ तो चाहिये और यह धूली उडाता है इस लिये इसको पर्याप्त वेग भी है। क्या यह विज्ञानकी उन्नति नहीं बता रहा है? और भी देखिये—

पक्षी जैसा विमान

तिस्रः क्षपः त्रिरहातिव्रजद्भिः, नासत्या भुज्युं ऊहथुः पतंगैः।
तमूहथुः नौभिरात्मन्वतीभिः, अन्तरिक्षप्रुद्भिरपोदकाभिः॥

ऋ० १।११६।३,४

'तीन रात्रि और तीन दिन' तक (अतिव्रजद्भिः) अतिवेगसे जानेवाले (पतंगैः) पक्षी जैसे वाहनोंसे भुज्युको नासत्योंने अपने स्थान पर लाया। ये वाहन (अन्तरिक्ष - प्रुद्भिः) अन्तरिक्षमेंसे (अप - उदकाभिः) मेघ मंडलके ऊपरसे (आत्मन्वतीभिः नौभिः) अपने आधीन रहनेवाले और नौकाओंके समान थे और ये तीन थे।

यहां (अतिव्रजत्) अत्यंत वेगवान पक्षी जैसे दीखनेवाले वाहन आकाशमेंसे जानेवाले थे और ये तीन अहोरात्र अतिवेगसे चलते थे। आज भी तीन अहोरात्र न थांबते हुए चलनेवाले विमान बने नहीं हैं। पर यहां वेदमें तीन अहोरात्र बडे वेगसे चलनेवाले पक्षी जैसे दीखने वाले विमानोंका यह वर्णन है। क्या यह केवल कल्पना ही होगी? क्या यह वर्णन वायुयानोंका वर्णन नहीं है? ऐसे वायुयान विज्ञान उन्नति न हुई तो कैसे बन सकते हैं?

रक्तमें लोहा

'लोहित' शब्द रक्तवाचक है। इसका अर्थ (लोह - इत) लोह

जिसमें रहता है ऐसा है। रक्तमें लोह। रहता है यह विज्ञान इस शब्दमें भरा है। जिसको यह विज्ञान नहीं होगा वह रक्तका नाम लोहित रखेगा ही कैसे? रक्तमें लोह रहता है यह योंही नहीं समझमें आ सकता। इसके लिये बडे विज्ञानकी आवश्यकता रहती है। यह सब विज्ञान इस शब्दने ही बताया है। ऐसे वैज्ञानिक शब्द ही जिनके वचनोंमें हैं, उनको विज्ञान मालूम था यह कहनेकी आवश्यकता ही क्या है?

आयुष्यवर्धक सुवर्ण

'अमृत' नाम सुवर्णकी धातुके लिये है। मृत्युको दूर करता है इसलिये 'अ-मृत' नाम सुवर्णका है। सुवर्णका यह गुण विज्ञानसे ही मालूम हो सकता है।

स्फोटक अस्त्र

युद्धोंमें अस्त्रोंका उपयोग होता था। कई अस्त्र विज्ञानसे ही बननेवाले थे, इसमें संदेह नहीं है। बाणके नोक पर बम जैसा लगाया जाता था। वह शत्रु सेनामें जाकर गिरता और फट जाता था और वहां आग लगती थी। यह सब विज्ञानसे ही होता था। ये अस्त्र कई ऋषि बनाते थे। विज्ञान न होता तो ये स्फोटक अस्त्र बनते कैसे? इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि ऋषि कालमें विज्ञान भी पढाया जाता था।

अब अध्यात्मशास्त्रके विषयमें हम देखते हैं।

द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे, मूर्तं च वामूर्तं च। बृ. उ. २।३।१

'ब्रह्मके दो रूप हैं एक मूर्त और दूसरा अमूर्त' दोनों रूप एक ही ब्रह्मके हैं। अब यहां यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि अमूर्त रूप तो ब्रह्मका है पर मूर्त रूप भी ब्रह्मका कैसा है? उपनिषद् कहता है कि दोनों मूर्त तथा अमूर्त ब्रह्मके ही रूप हैं। यूरोपमें इस समय मॅटर (Matter) और एनर्जी (Energy) ये एक दूसरे रूपमें बदलते हैं अर्थात् दोनों एक ही के रूप हैं ऐसा इस समय शास्त्रज्ञ मानने लगे हैं। पर पहिले दोनोंको

विभिन्न मानते थे। परन्तु सहस्रों वर्षोंके पूर्व वैदिक ऋषियोंने मूर्त और अमूर्त ये दोनों रूप ब्रह्मके ही हैं ऐसा निश्चित रूपसे सिद्ध किया था। क्या यह ज्ञान और विज्ञानकी प्रगति नहीं है? मूर्त और अमूर्त एक ही वस्तुके रूप हैं इसका निश्चय होनेके लिये ज्ञान और विज्ञानकी प्रगति अत्यंत होनी चाहिये। इतनी प्रगति ऋषियोंकी ऋषिकालमें हो चुकी थी। और उन्होंने स्थूल और सूक्ष्म, मूर्त और अमूर्त, व्यक्त और अव्यक्त, जड और चेतन एक ही ब्रह्मके रूप हैं ऐसा प्रत्यक्ष साक्षात्कार किया था। विज्ञानकी उन्नतिके बिना यह नहीं हो सकता।

विज्ञानकी उन्नति वैदिक समयमें कितनी हो चुकी थी यह हमने देखा और हम, आध्यात्मिक चरम सीमापर वे पहुंच चुके थे, यह भी देखते हैं।

यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मा एव अभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥ वा० यजु० ४०

'जिस अवस्थामें ये सब भूत आत्मा ही हुए उस ज्ञानीको एकत्वका दर्शन होनेके कारण शोक और मोह नहीं होता।' यहां भी सब स्थूलभूत और आत्मामें एकत्वका दर्शन कहा है जो इसके पूर्व बताया था। मूर्त और अमूर्त ब्रह्मका अर्थ ही एकत्व दर्शन है। स्थूलभूत तो सबको दीखते हैं, आत्माका दर्शन नहीं होता, वह तो अमूर्त है। पर वेद कहता है कि, ये दोनों एक ही हैं अर्थात् आत्मा ही इन भूतोंके रूपोंमें दीखता है। जो दीखता है और जो नहीं दीखता वह सब एक ही परम तत्त्वका रूप है। यह ज्ञान विज्ञानकी प्रगति न होने पर कदापि ध्यानमें नहीं आ सकता। यूरोपके विद्वान् अब आत्माके अस्तित्वको मानने लगे हैं। इसके पहिले तो वे केवल स्थूल प्रकृतिके विभेदोंको ही मान रहे थे, जैसी जैसी प्राकृतिक विज्ञानकी खोज होती गई वैसा वैसा यूरोपमें आत्माके अस्तित्वका ज्ञान होने लगा।

हमारे भारतके ऋषियोंने परा और अपरा ये दो विद्याएं हैं ऐसा मानकर अपरा विद्यामें सब विज्ञानको माना और परा विद्यामें आत्माकी विद्या मानी।

इस वर्गीकरणसे ही स्पष्ट प्रतीत होता है कि भौतिक विज्ञान भी प्राचीन ऋषिकालमें अच्छी प्रगतितक पहुंचा था। यही विषय श्री पटवर्धनजीके इस निबंधमालाका प्रतिपाद्य विषय है। आपने इन निबंधोंमें यह बताया है कि इस समय पाश्चात्य विज्ञान जहांतक पहुंचा है, उससे भी आगे प्राचीन ऋषि पहुंचे थे।

आज एकदम यह माननेके लिये सहसा कोई तैयार नहीं होंगे, पर पाठक इन निबंधोंको पढेंगे, तो उनको यह मानना पडेगा कि जो सिद्धांत आज माने जाते हैं वे ऋषियोंने खोज करके अति प्राचीन समयमें निकाले थे। पाठक निष्पक्ष होकर इन निबंधोंको पढेंगे, तो वे इसी परिणामतक पहुंचेंगे इसमें मुझे संदेह नहीं है।

प्रो० पटवर्धन जैसा मैं आधुनिकशास्त्रोंमें पारंगत नहीं हूं, पर वे प्राध्यापक रहे हैं और खोजपूर्ण अभ्यास करनेवाले भी हैं। इन्होंने अपने प्रत्येक प्रतिपादनके लिये जैसे पाश्चिमात्य विज्ञानके आधार दिये हैं उसी तरह अपने ग्रंथोंसे भी आधार दिये हैं। दोनों वचनोंको आमने सामने रखकर देखनेसे पता लगता है कि प्रो० पटवर्धनजीका कथन सत्य है इसमें संदेह नहीं है। प्रो० पटवर्धनजीने आज कई वर्षोंके मननसे यह लेखमाला लिखी है इसलिये इसमें प्रत्येक पहलूका अच्छा विचार हुआ है।

निबंधोंके विषय

मंत्रभाग, ब्राह्मणभाग, यज्ञसंस्था, देवताबुद्धि, ब्रह्म प्रकृतिवाद, मायावाद, परिणामवाद, वैदिक वाङ्मयका आलोचन, भार्गवी वारुणीविद्या, प्राणविद्या, पंचाग्निविद्या, कर्मविपाक, पुनर्जन्म, वैदिक समाज व्यवस्था, व्यक्ति तथा समाजके धर्म आदि विषयोंका विचार लेखकने यहां किया है और अपने धर्म ग्रंथोंके वचन तथा आधुनिक शास्त्रोंके तुलनात्मक वचन देनेमें किसी तरह संकोच नहीं दिखाया है। इसलिये पढनेवालेके सामने भारतीय तथा पाश्चिमात्य विचारधारा स्पष्ट रूपसे आती है और ज्ञानकी इच्छा जिसमें है उस पाठकको इन लेखोंसे बडा आनन्द प्राप्त होगा ऐसा मैं निःसंकोच कहता हूं।

ये लेख अच्छा विचार करके लिखे हैं तथापि मैं यही कहूंगा कि यह विषय अधिक खोजकी अपेक्षा करता है। कई विद्वान् जो पौर्वात्य और पाश्चिमात्य विद्यामें प्रवीण हैं, उनको एकत्रित होकर तत्त्वविचारकी दृष्टि धारण करके तथा पक्षपात छोडकर इन तुलनात्मक विषयोंका मनन करना चाहिये। बहुत खोज होनेपर ही सत्य सिद्धांतका दर्शन होनेकी संभावना है। इस तुलनात्मक विचारका अत्यंत महत्त्व है। पर आजतक किसी विद्वान्‌का लक्ष्य इस ओर गया नहीं था। सर्व प्रथम प्रो० पटवर्धनजीका लक्ष्य इस ओर गया और आपने अनेक वर्षोंके अथक परिश्रमसे ये निबंध लिखे हैं इसलिये इनका अभिनन्दन करना योग्य है।

यह इस तरहका प्रतिपादन सर्वथा नये ढंगसे किया है, और इसी कारण इन निबंधोंमें नवीनता है। इस कारण इसमें यदि कुछ दोष हुए होंगे तो उनका निराकरण आगामी संशोधक कर सकते हैं। तथापि प्रथम इस विषयका आविष्कार करनेका सब श्रेय प्रो० पटवर्धनजीको ही है। इस कारण इनको धन्यवाद देनेके साथ मैं ये निबंध विद्वानोंके सामने रखता हूं।

पारडी
दिनांक ३-२-५६

निवेदनकर्ता
श्री. दा. सातवलेकर,
अध्यक्ष- स्वाध्याय मंडल

आलोचना

अज्ञात प्राचीन कालसे प्राप्त प्रथम मौखिक रूपसे तथा बादमें कष्ट करके लिखितरूपसे वेदत्रयी यही संसारमें अत्यन्त प्राचीन ज्ञान विज्ञानका संग्रह है। यद्यपि मूल एक ही वेदसे चारों वेदोंका संहितीकरण त्रेतायुगके कालमें एक ही समय हुआ है तथापि पाश्चात्योंके मतसे उनमें ऋग्वेद ही प्राचीनतम है। उसमें ज्ञान और विज्ञानका समावेश है और उनको इसमें परा और अपरा यह नाम दिये हुए हैं। ऋग्वेदके प्रथम मंडलमें ही ऐसा विचार प्रकट किया है कि नक्षत्र आकाशमें बहुत उच्च स्थानपर रातमें दिखते हैं वह दिनमें कहां जाते हैं? ऐसे अनेक विचार उसमें क्रमशः मानवताके प्रगल्भ बुद्धिके अनुसार इतस्ततः बिखरे हैं। दसवें मंडलके पुरुष सूक्तमें संसारकी भौतिक एवं सामाजिक व्यवस्था दी है, उसी में के नासदीय सूक्तमें भौतिक ज्ञान याने अपरा विद्या यह मुख्यतः दी है। आगे चलकर भारतवर्षमें परा विद्याका माहात्म्य बढकर अपरा विद्या पीछे पड गई (परा और अपरा विद्या इन दोनोंसे मिलकर ही ब्रह्म विद्या होती है यह उपनिषदोंसे स्पष्ट है)। इंग्लैंड देशके विद्यमान तत्वज्ञ श्री जोडने ऐसा ही लिखा है कि भारतीय तत्वज्ञानने यानी परा विद्याने पाश्चात्य तत्व ज्ञानका पराभव किया है यानी उसे पिछडा दिया है। प्रो० पटवर्धनने अपने निबंन्धोंमें यह सिद्ध किया है कि अपरा विद्यामें भी भारतीय भौतिक ज्ञान आधुनिकतम पाश्चात्य संशोधनोंके बहुत आगे है और इसीकारण इस दावेका विचार भारतीय एवं पाश्चात्य ज्ञान विज्ञान वेत्ताओंको करना अत्यन्त आवश्यक है। हमारे अल्प मतिसे उनका ग्रंथ पढने पर उन्होंने इस दावेको इतना स्पष्ट सिद्ध किया है कि इस प्रश्नपर जोर देनेकी आवश्यकता ही नहीं रहेगी यह प्रतीत होगा।

प्राध्यापक श्री केशव अनन्त पटवर्धन एम. एस. सी. ने पाश्चात्य भौतिक विज्ञानमें प्रवीणता संपादन की, विशेषतः जीवशास्त्र यानी प्राणिशास्त्र तथा

वनस्पति शास्त्रसंबंधी प्रयाग विश्वविद्यालयसे अनेक वर्षों पूर्व परमोच्च पदवी प्राप्त करके उस सबंधमें प्राध्यापन कार्य भी प्रयाग म्युअर सेन्ट्रल कॉलेजमें अनेक वर्ष किया, साथ ही साथ उन्होंने प्राच्य वैदिक वाङ्मयका सूक्ष्म अध्ययन गत २० सालसे अव्याहत जारी रखकर उसमें जो अपरा विद्या है (अर्थात् जिसे भौतिक ज्ञान कहना चाहिये) वह अभी भी पाश्चात्योंने भौतिक ज्ञान प्राप्त किया है उससे बहुत आगे नहीं तो पीछे भी नहीं हैं, यह संशोधन साधार किया है व उसे एक संशोधनात्मक ग्रंथ रूपमें प्रस्तुत किया है। उस ग्रंथका परीक्षण या विश्लेषण करनेके हेतु मध्यभारत शासनने काशीके संस्कृत महाविद्यालयकी व्याकरणाचार्य, धर्मशास्त्री आदि पदवी प्राप्त श्री विनायक सखाराम टिल्लू, आचार्य राजकीय संस्कृत महाविद्यालय इन्दौर तथा उसी विद्यालयके विद्वान् सहकारी, एवं होल्कर महाविद्यालयके प्राध्यापक श्री विप्रदासजी इनकी समिति स्थापित की है व इस समितिको इस ग्रंथ पर अपना अभिप्राय शासनको प्रविष्ट करनेके हेतु आदेश दिया गया है। प्रस्तुत टिप्पणीके लेखकको इस समितिका निर्णय सहायक नियत किया है। शासनकी आज्ञामें मेरे कर्तव्यका पूर्ण स्पष्टीकरण नहीं है तथापि यह समझनेमें आपत्ति नहीं कि उपर्युक्त विद्वानोंके अभिप्रायमें सामंजस्य स्थापित करनेके हेतुसे ही मुझे प्रयास करना है ऐसा ही मध्य भारत राज्य सरकारका मूल उद्देश्य है।

आरंभमें यह विचार करना उपयुक्त होगा कि प्राध्यापक श्री पटवर्धनने संशोधन करके जो परिणाम निकाला है वह नूतन है अथवा इसके पूर्व भी किसीने इस प्रकारका या इस दिशा या दृष्टिकोणसे संशोधन किया है? श्री पटवर्धनके संशोधनकी मौलिकताका परिचय उनके संशोधन कार्य पर दृष्टि डालनेसे स्पष्ट रूपसे मिल जाता है क्योंकि उनका सिद्धांत यह है कि वैदिक ग्रंथोंमें भौतिक विज्ञान संबंधी जो निर्णय किये हैं उन्हें उन ग्रंथोंमें अपरा विद्या कहा है और वे परा विद्यासे भिन्न हैं। आज पाश्चात्य शास्त्रज्ञ भौतिक विज्ञान संबंधी आधुनिक उपलब्ध साधनोंसे जिन निर्णयोंपर पहुंचते हैं वे

ही सारे (निर्णय) वेदांतर्गत अपरा विद्याके नामसे हैं और उन्हीं विज्ञान विषयक चर्चाओंका उनमें प्राधान्य है ।

आधुनिक कालके आरंभमें अनुमानतः २००० वर्ष पूर्वसे भारतवर्षमें तथाकथित परा विद्याका प्रभाव राजकीय, सामाजिक एवं धार्मिक कारणोंसे बढा और उसका परिणाम यह हुआ कि प्राचीन ग्रंथोंके अपरा विद्या यानी वैज्ञानिक सिद्धांतोंको भी परा विद्याका ही स्वरूप दिया जाने लगा जिसका ज्वलंत उदाहरण सायणाचार्यके भाष्यमें मिलेगा । उपर्युक्त कारणोंसे अपरा विद्याके संशोधन साधनोंका आज २००० वर्षोंसे लोप हो गया । पाश्चात्य शास्त्रज्ञ बहुत साधारण बातोंसे आरंभ करके आज २००, ३०० वर्षोंमें संशोधनमें प्रगति करते चले गए और अब भी उनका यह क्रम चालू है । जिन साधनोंसे उन्होंने सिद्धांत बनाए हैं उन साधनोंका वर्णन भी सूक्ष्मतासे उपलब्ध है । भारतवर्षमें अतिप्राचीन कालमें संशोधन किये हुए वैज्ञानिक सिद्धांत तो वैदिक ग्रंथोंमें हैं लेकिन जिन बातों या साधनों परसे उन्होंने वे सिद्धांत स्थिर किये थे वे बातें विस्तृत रूपमें व क्रमशः जिन जिन ग्रंथोंमें थीं वे ग्रंथ आज तो भी हमें उपलब्ध नहीं हैं । यह परिस्थिति ध्यानमें रखकर श्री पटवर्धनने जिस विचार सरणीका उपयोग किया है स्पष्टतः वह नवीनतम होते हुए पूर्णतया संशोधनात्मक स्वरूपकी ही है ।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि जो आधार उन्होंने वैदिक वाङ्मयसे दिये हैं वे तर्कसम्मत हैं या नहीं । आधार तो उन्होंने बहुतसे और मुख्यतः दशोपनिषदोंसे ही दिए हैं, और हमें तो उनमें कहीं भी त्रुटि नहीं प्रतीत होती और विषयके सिद्ध करनेकी दृष्टिसे तो वे पूर्णतया समर्थ प्रतीत होते हैं, परन्तु अन्य विद्वानोंके मतसे वे कहांतक उनके सिद्धांतकी पुष्टि करते हैं, यह देखना आवश्यक है और उस पर तज्ज्ञोंका क्या कहना है इसका शोध होना ज्ञान विज्ञानकी दृष्टिसे तथा संसारके हितकी दृष्टिसे निःसंशय अत्यंत महत्त्वपूर्ण होते हुए अत्यंत आवश्यक हैं ।

इसके बाद यह प्रश्न उठता है, कि जो वैदिक विचार सरणी श्री पटवर्धनने प्रस्तुत की है वह आधुनिक शास्त्रीय विज्ञानकी कसौटी पर उतर

सकती है या नहीं याने उसे आधुनिक भौतिक शास्त्रीय ज्ञानका समर्थन प्राप्त है या नहीं, यद्यपि इन दो विचारधाराओंमें ५००० वर्षोंके काल खंडका अंतर है? वैदिक और आधुनिक पाश्चात्य विज्ञानमें जो विचारार्थ प्रस्तुत ग्रंथके लेखकने साम्यता बताई है या दोनोंमेंसे निकलनेवाले निष्कर्ष मूलभूत तत्वोंकी दृष्टिसे एक ही है ऐसा विधान किया है, उनका सूक्ष्म-रूपसे तथा राष्ट्रीय स्तरपर संशोधन होना अत्यंत महत्त्वपूर्ण है क्योंकि ऐसे उच्चतम प्रयत्नोंसे ही प्राचीनतम भारतीय वैज्ञानिक सिद्धांतोंको आजके वैज्ञानिक युगमें योग्य स्थान प्राप्त हो सकेगा।

इसके साथ इस प्रश्न पर भी ग्रंथकारने विचार किया है कि जो संपूर्ण ज्ञान ५००० वर्ष पूर्वके ग्रंथोंमें है उसकी जगह आज केवल भ्रमात्मक परा विद्याने कैसे प्राप्त कर ली और पूर्वकालीन भौतिक संशोधनं क्यों कर स्थगित हो गए? क्या उसका कारण यह है कि भौतिकसंशोधन उस कालमें पूर्णताको प्राप्त होनेसे, स्थगित हो गए या भारतवर्षमें अन्य ऐसी कोई घटना हुई कि जिससे केवल बुद्धिको संचालित करनेवाली यह अद्भुत परा विद्या ही, मानवीय चिंतनको शांति देनेवाली बनकर आगे बढी? यदि ग्रंथकारने अपना निष्कर्ष साधार बतानेमें सिद्धि प्राप्त कर ली हो तो क्या उससे वह प्रचलित वेदांत विचार सरणीको पूर्णतः विसर्जित करनेमें समर्थ हुई है? यदि ऐसा माननेको आधार मिले तो वह आधुनिक भारतीय या कदाचित् प्राच्य देशोंकी तात्त्विक विचार सरणीको आमूलाग्र बदलनेमें सिद्ध होगी ऐसा ही मानना पडेगा क्या? पाश्चात्य देशोंमें परिस्थिति यह है कि वहां केवल परा विद्याको वह स्थान प्राप्त नहीं है जो विज्ञान या अपरा विद्याको है। भारतवर्षमें अभी भी तात्त्विक दृष्ट्या यह जनमान्य है कि "परा" और 'अपरा' विद्या ही भारतीय ज्ञान और विज्ञान शास्त्रमें यानी भारतीय मूल तत्वज्ञानमें सम्मिलित हैं। तथापि आधुनिक भारतके विचारोंकी परिस्थिति इस प्रकारकी है कि श्री पटवर्धनने जो संशोधन स्थिर किया है वह प्रचलित आधार परंपराकी प्रवर्तक नहीं है ऐसा मानना पडता है।

इससे यह प्रश्न उपस्थित होता है कि यदि जो प्राचीन ग्रंथोंकी वेदांत संबंधी दृष्टि प्रस्तुत ग्रंथमें बताई गई हैं यह साधार है ऐसा यदि राष्ट्रके विद्वानोंने मान्य किया तो प्रचलित आचार धर्मोंको निरस्त करके या उनमें परिवर्तन करके नवीन विचार और आचार धर्म प्रचलित करना क्या आवश्यक नहीं है ? यह जो विचार प्रस्तुत ग्रंथकी विचार सरणीसे उत्पन्न होते हैं उन्हें निश्चित कर उनका शुद्ध स्वरूप राष्ट्रके सन्मुख प्रस्तुत करना योग्य है क्या ? और यह कार्य स्वतंत्र भारतको असंभव है क्या ? प्रत्युत यह प्रश्न गंभीर और हमारी मतिसे मौलिक महत्त्वका है ऐसा हमारा निश्चित मत है, अतएव राष्ट्रीय स्तर पर एवं आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टिकोणकी सहायता तथा सहयोगसे राष्ट्रीय संशोधनशाला स्थापित कर उनमें वैदिक तथा आनुषंगिक मूलभूत वैदिक वाङ्मयका संशोधन आवश्यक नहीं है क्या ? हमारी अल्प मतिसे तो वह आवश्यक है यह बात तो निर्विवाद ही है क्योंकि संशोधन सृष्टिमें ऐसा संशोधन संसारकी स्थिरता एवं उन्नतिके लिए महत्त्व पूर्ण होते हुए मूलभूत ही है ।

यदि ऐसा न किया तो पृथ्वी परकी अनेक संस्कृतियां जिस प्रकार नष्ट हो गई वैसी ही भारतकी संस्कृति भी इतिहास दाखल होनेकी पूर्णतः सम्भावना है । ऐसी घटना न हो और भारतवर्षकी संस्कृतिके इतिहासको देखते यह हम भारतीयोंका एक आवश्यक कर्तव्य होता है कि शीघ्रातिशीघ्र योग्य संस्था या शालाओंका निर्माण कर उनमें योग्य व्यक्तियोंकी नियुक्ति कर कार्य आरंभ किया जावे और ऐसे व्यक्तियोंकी परंपरा इस प्रकारके कार्य करनेमें कार्यक्षम हो सके इस दृष्टिसे योजना तैयार करके योग्य छात्रोंका चुनाव करनेका कार्य आरंभ होना चाहिये। यहां संशोधन शालाएं व उसकी सहायक शालाएं स्थापित करनेकी जो विचार सरणी प्रस्तुत की है उनका कार्य यह भी हो कि भिन्न भिन्न कारणोंसे जैसे भयंकर युद्धोंके कारण राष्ट्रके दुःखित जीवों या लोगोंको शान्त करनेके लिए नवीनतम ब्रह्मज्ञानकी विचार सरणी जैन, बौद्ध आदि अवैदिक संस्कृतियोंका परचक्रोंके कारणोंसे उत्पन्न

हुई परिस्थितिसे प्रादुर्भाव हुआ इनका भी विचार इस वैदिक सत्यज्ञानके संशोधनके साथ तुलनात्मक दृष्टिसे करना होगा।

महाभारतमें वर्णित महासमरका परिणाम यह हुआ कि वैदिक संस्कृतिमें क्रांति हुई। युद्धका जो परिणाम अर्जुनने गीतामें बताया था, वैसा ही हुआ। लोगोंके मन अशांत हो गए, भौतिक ज्ञान यानी विध्वंसक ज्ञान जनित तांडव देखकर सृष्टिका जो उनमें (वैदिक वाङ्मयमें) क्रम बताया गया था, वह सोचनेको जनता असमर्थ हो गई। शांति स्थापन करनेके हेतु चार्वाक, जैन, बौद्ध, नास्तिक आदि अनेक तत्त्वज्ञान जिसे ब्रह्म कहते हैं, वह फैला। इस प्रकारसे विघटित और विच्छृंखल समाजको शक्तिहीन देखकर अनेक पडोसी कम संस्कृतिके लोगोंने भारतवर्षीय लोगोंपर आक्रमण किया। उन्होंने मूर्तियोंका खंडन करके मूर्ति पूजाका वैयर्थ बताया। जैसे काश्मीरमें हुआ, वैदिक ब्राह्मण अनेक मुसलमान बन गये। तत्त्वज्ञानके प्रसारकोंने नये ब्रह्मके विचार प्रस्तुत करके उनका आधार वैदिक शास्त्रमें ढूंडा। इन सारे कारणोंसे सच्चा वैदिक ज्ञान पिछड गया। “ कलौ वेदान्तिनः भान्ति फाल्गुने बालका इव। ” यह परिस्थिति हो गई। इसी स्थितिमें वेदांतके उत्तमोत्तम परिस्कृत और तर्क आए और ब्रह्मज्ञान इनमें मिल गया। उससे भौतिक संघर्षसे उत्पन्न हुई भयंकर परिस्थितिमें संस्कृतिके मूल तत्त्वका रक्षण हुआ और मानसिक शक्ति मिटी, यह भी एक और प्रमुख कारण हो सकता है क्या ?

अतएव प्राध्यापक श्री पटवर्धनने अपने ग्रंथमें विद्वत्तापूर्वक सूचित किये हुए कार्योंको संचालित करनेके लिए भारतके शासनने राष्ट्रकी जो उच्चतम वैज्ञानिक संस्थाएं स्थापित की हैं, उन्हींकी कक्षामें यह कार्य मूलतः वैज्ञानिक होनेसे सौंपा जावे ऐसी इस टिप्पणी लेखकका मत है और वह मध्य भारत शासन निर्मित सामितिको भी मान्य होकर हमारी मध्य भारत राज्य सरकारको भी मान्य होगा ऐसी उसकी धारणा है।

इंदौर, मध्य भारत
७-१०-५४

मा. वि. किबे

लेखककी प्रस्तावना

वेदान्तशास्त्रका आधुनिक शास्त्रोंसे तुलनात्मक अध्ययन कर उन दोनों विचारधाराओंके प्रमुख प्रमुख प्रमेयोंमें कितना अधिक साम्य है यह सिद्ध कर उसे भारतीय शास्त्रज्ञ, भारतीय जनता और हमारी राज्य तथा केन्द्रीय सरकारके सन्मुख रख, इस प्रकारके तुलनात्मक अध्ययनका कितना महत्व है और इस प्रकारका प्रयत्न भारतीय वैदिक विद्वान् तथा भारतीय आधुनिक शास्त्रवेत्ताओं द्वारा ही हो सकता है इसे सिद्ध करनेका यह दूसरा प्रयत्न प्रस्तुत ग्रन्थ द्वारा राष्ट्रभाषामें किया जा रहा है। इसी विषयका प्रथम प्रयत्न मैंने १० वर्ष पूर्व आंग्ल भाषामें किया था और उसे प्रयाग विश्वविद्यालयको डॉक्टरेटकी पदवीके हेतु प्रेषित कर उस पदवीका मान प्राप्त किया है। इस दूसरे प्रयत्नमें मुझे कितनी सफलता मिली इसका निर्णय अपने पाठकों द्वारा ही, जब यह ग्रन्थ उनके हाथोंमें पडेगा, तब हो सकता है। तथापि इस ग्रन्थके विवेचनमें जिन कुछ बातोंका निर्देश नहीं हो सकता था उन बातोंका स्पष्टीकरण करनेका प्रस्तावनाके अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग नहीं था।

इन बातोंमेंसे पहली बात स्वयं ग्रन्थकार संबंधी है। मनुष्यकी बुद्धि बढते हुए अनुभव द्वारा शनैः शनैः विकसित होती है और इस प्रकारका बुद्धिविकास प्रत्येक व्यक्तिमें होता ही रहता है। इस निसर्ग नियमसे हम भी वंचित नहीं हैं। मैं स्वयं प्राणिशास्त्रका विद्यार्थी हूं। आधुनिक विद्यार्थीगण विद्यार्थी जीवनमें जो अभ्यास करते हैं उनके सामने अधिकतर यही उद्देश्य रहता है कि ' उच्च श्रेणीमें परीक्षामें उत्तीर्ण हों ' और इस कारण वे, किसी भी विषयके विद्यार्थी क्यों न हों, इसी एक दृष्टिकोणसे उनकी अभ्यास-शैली होती है। मैंने भी विद्यार्थी जीवनमें इसी दृष्टिकोणसे प्राणिशास्त्रका अध्ययन किया था। विद्यार्थी रूपमें अध्ययन समाप्त कर जब अध्यापकके नातेसे इस विषयका निरीक्षण किया तो ज्ञात हुआ कि मेरे अध्ययनसे प्राप्त

किये हुए ज्ञानमें बहुत त्रुटियां हैं। चिकित्सक बुद्धि होनेके कारण इन त्रुटियोंको पूरी करनेकी इच्छा उत्पन्न होना स्वाभाविक ही था और इस कारण इस विषयके मुख्य मुख्य सिद्धांतों तथा प्रमेयोंका सूक्ष्म दृष्टिसे अध्ययन करना प्रारंभ किया।

इस प्रकारके अध्ययनमें कहीं कहीं रसायनशास्त्र, भौतिकशास्त्र, भूगर्भ-शास्त्र, मानसशास्त्र आदिके संदर्भ आनेके कारण उन शास्त्रोंके उन अपेक्षित भागोंका भी परिशीलन किया गया जिनका संबंध जीव या प्राणिशास्त्रकी मुख्य मुख्य बातोंसे आता था। यह सब कार्य करनेका उद्देश्य केवल यही था कि, अपना विषय संपूर्ण रूपसे अपनी समझमें आ जावे। इतना सब करनेके बाद भी यह दिखाई दिया कि आगेसे आगे जाकर अन्तमें ऐसी भी बातें हैं जिनके विषयमें इन शास्त्रोंकी मति कुंठित हो जाती है। ब्राह्मण कुलमें उत्पन्न होने व ब्राह्मण वर्णका व्यवसाय कार्य करने तथा वैदिक संस्कृतिका अभिमान रहनेके कारण मुझे यह दृढ विश्वास था कि हमारे शास्त्रोंमें इन पाश्चात्य शास्त्रोंसे न छुडाये जानेवाले प्रश्नोंके हल मिल जावेंगे। इस दृष्टिसे सर्वप्रथम मैंने लोकमान्यजीके गीतारहस्यका अध्ययन करना शुरू किया और यह कार्य कई वर्ष जारी रहा।

इस ग्रन्थके कई पारायण करनेपर यह अनुभव आया कि इस ग्रन्थमें भी मुख्य मुख्य प्रमेयोंको सिद्ध करनेके लिये जगह जगह उपनिषदोंका हवाला दिया है, अतएव स्वाभाविकतः यह विचार आया कि उपनिषदोंका ही मूलमें अध्ययन करना आवश्यक है। जब मूल उपनिषद् वाङ्मयका स्वतंत्र रीतिसे अध्ययन करना शुरू किया तब जिस अपेक्षा तथा जिज्ञासासे इनका परिशीलन शुरू किया था वह तो पूरी हुई ही, साथ ही भिन्न ही आश्चर्यजनक अनुभव आया कि बहुतसे भाष्यकारोंने मंत्रोंका सच्चा सीधा अर्थ करनेके बदले मंत्रोंका अर्थ करनेमें एक अजीब खींचतान की है कि अर्थ समझने और समझानेवाले इन दोनोंको वह एक अत्यन्त परिश्रमका कार्य बन गया है। कदाचित् यह तत्कालीन स्थितिमें आजके आधुनिक तथा वैदिककालके वैदिक संशोधनात्मक शास्त्रीय ज्ञानके अभावका परिणाम

होगा। इस कारण भाषाके साधारण नियम ध्यानमें रखकर मंत्रोंके अर्थके संदर्भ स्पष्ट समझनेके प्रयत्न किये गए और इस कार्यसे एक मुख्य बात जो प्रतीत हुई वह यह है कि आधुनिक शास्त्रोंके अध्ययनसे जिन प्रश्नोंके उत्तर हमें नहीं मिल पाते थे वे भी सब मिल गए, और शास्त्रीय दृष्टिसे आधुनिक जीवशास्त्रका संपूर्ण विषय औपनिषदिक विज्ञानकी सहायतासे और वैदिक विज्ञानका संपूर्ण विषय आधुनिक शास्त्रोंकी सहायतासे पूर्ण तथा स्पष्ट रूपसे दृग्गोचर होने लगा।

यहांपर एक बात स्पष्ट कर देना उचित होगा कि इस प्रकारके मंत्रोंके अर्थकी संगति लगानेमें यदि हमारे पुराने वैदिक विद्वानोंने मंत्रोंके अर्थोंकी लगाई हुई संगतिसे विरोध दिखाई दिया तो वह विरोध श्रुति सिद्धांतोंको प्रामाणिक रूपसे स्पष्टीकरण करनेके हेतुसे ही हुआ है। विज्ञानशास्त्रसे परिपूर्ण तथा राष्ट्रप्रधान वैदिक तत्त्वज्ञान उपनिषदोंमें भरा हुआ है इस तत्त्वज्ञानका शुद्ध रूप स्पष्ट कर बतानेका प्रयत्न करना ही केवल हमारा उद्देश्य है और इस कार्यके करनेमें यदि हमें हमारे प्राचीन तथा आर्वाचीन विद्वानों तथा आदरणीय व्यक्तियोंके मतोंसे अंशतः प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूपसे विरोध दिखाई दिया तो उससे यह न समझना चाहिये कि हमारे मनमें किसी प्रकार भी उन महान विद्वान् व्यक्तियोंके लिये पूज्य बुद्धिकी न्यूनता है। यह केवल तात्कालीन ऐतिहासिक परिस्थितिका परिणाम है और यह समझ कर ही हम अपना कार्य किये जा रहे हैं।

वास्तवमें देखा जाय तो हमारा ऋषिप्रणीत वैदिक तत्त्वज्ञान विज्ञान-शास्त्रसे ओतप्रोत है। बुद्धोत्तर कालमें हमारी अध्ययन परंपरामें बहुत बडा खंड पड जानेसे हमारी आधिभौतिक शास्त्रोंकी अध्ययन परंपरा नष्टप्राय हो गई और इस कारण ब्रह्मविद्यामें इन दोनों ज्ञानों (ज्ञान, विज्ञान) का अन्तर्भाव होता है यह कल्पना भी कई लोगोंको सच्ची है यह विश्वास नहीं होता, परंतु प्राचीन वैदिक ऋषियोंको अपनी योगयुक्त बुद्धिसे यह तत्त्व पूर्णरूपसे ज्ञात होनेसे उन्होंने इन दोनों (ज्ञान, विज्ञान) को पूर्ण और न मालूम हो सके ऐसा जोड दिया था और यह बात उनके अनुभव-सिद्ध वचनोंसे स्पष्ट प्रतीत होती है। आज सूर्यमण्डलका अध्ययनके लिये

क्या करना ? इसका समोचित उत्तर यद्यपि हमारे यहां किसीको देते न आवे तो भी आधुनिक पाश्चात्य पंडितोंमें इस विषयका सांगोपांग अध्ययन चालू है और उसकी जानकारी प्राप्त कर लेनेसे उपर्युक्त प्रश्नका उत्तर सहजमें प्राप्त हो जाता है, मात्र सूर्यमण्डलका अभ्यास करनेवाले पाश्चात्य पंडितोंमें लेशमात्र भी आध्यात्म बुद्धि नहीं है यह हमें न भूलना चाहिये। हमारे यहां आध्यात्म बुद्धि है परंतु आधिभौतिक विज्ञान नहीं है और पाश्चात्योंमें आधिभौतिक ज्ञान है पर आध्यात्मिक बुद्धि बिलकुल नहीं है।

प्राचीन औपनिषदिक वाङ्मयका चिकित्सापूर्वक अध्ययन करनेसे हमारी आधिभौतिक ज्ञान विषयक उपेक्षा बुद्धि नष्ट होना संभव है, और यदि यह बात हो गई तो आज हमें दिख ही रहा है कि हम भारतियोंको आधिभौतिक ज्ञान संपादन करनेमें जरा भी देर नहीं लगेगी। व्यावहारिक उपयुक्तताकी दृष्टिसे आधिभौतिक ज्ञानकी आवश्यकता यद्यपि जंच गई तो भी आध्यात्मज्ञानकी पूर्णताके लिये उसकी कितनी अधिक आवश्यकता है यह बात उपनिषदोंके अभ्यासके बिना समझमें नहीं आ सकती। इन दोनों मार्गोंसे आधिभौतिक विद्याकी योग्यता यदि जंच जाय तभी भारतियोंके धर्मशील अन्तःकरणमें विज्ञानशास्त्रोंको योग्य स्थान प्राप्त हो सकेगा और तभी हिन्दू समाज सर्वांगीण उन्नतिके शिखरपर पहुंचनेमें समर्थ होगा, अस्तु।

प्रस्तुत लेखमालाके विचारोंको पाश्चात्य आंग्ल विद्वानों तथा शास्त्रज्ञोंके परिशीलनार्थ देनेपर उन्होंने इन विचारधाराओंको कुतुहलपूर्वक पढा और सर्वसाधारण विद्वानोंकी यह धारणा हुई कि पांच हजार वर्षके पूर्व ऋषियोंको आजके अमूप साधन सामग्रीकी सहायतासे निकाले हुए निष्कर्ष कैसे ज्ञात हो सकते थे जब कि उनके पास किसी प्रकारकी साधन सामग्री न थी। आज जो हम उनके वाक्योंको आधुनिक शास्त्रोंके प्रमेयों या सिद्धांतोंके रूपमें प्रकट करनेका प्रयत्न करते हैं वह वास्तवमें उन ऋषियोंका ज्ञान नहीं, परंतु वह हमारा शास्त्रीय ज्ञान है जिसे हम ऋषियोंके शब्दोंमें

रखनेका प्रयत्न करते हैं। हम इन पाश्चात्य विद्वानोंको यह स्पष्ट कहना चाहते हैं कि कोईसी भी भाषा हो वह मनुष्यके विचारोंको स्पष्ट रूपसे प्रकट करनेका साधन होती है और इस कारण किसी भी वाक्यका सरल और सीधा अर्थ यदि वह उस भाषाके नियमोंके आधारपर लगाया हुआ हो तो वह एक ही होगा वे दो नहीं हो सकते।

वैदिक वाङ्मयमें निर्देशित वैज्ञानिक निष्कर्ष हम किसी भी भाषामें उद्धृत करें और यदि वे निष्कर्ष आधुनिक शास्त्रीय निष्कर्षोंसे मेल खाते हुए दिखें तो हमें यही मानना पडेगा कि पांच हजार वर्ष पुराने ऋषियोंको इन शास्त्रीय नियमोंका संपूर्ण ज्ञान प्राप्त था। वह उन्होंने कैसे प्राप्त किया होगा यह अलग तथा संशोधनात्मक प्रश्न है, और तिसपर भी यदि इस प्रकारके एक दो वाक्य होते तो कहा जा सकता है कि वह काकतालीन न्यायका परिणाम है, परंतु यह याद रखना उचित है कि ऐसे सैंकडों वाक्य हैं और इससे कोई भी सहज ही अनुमान लगा सकता है कि वैदिक ऋषि उन सारे वैज्ञानिक सिद्धांतोंसे पूर्णतया परिचित थे और अंतमें हम यह दावेसे कहना चाहते हैं कि यदि पाश्चात्य शास्त्रज्ञ अपने ज्ञानको आगे बढाना चाहें तो वैदिक विज्ञान अत्यधिक उपयोगी होगा चाहे उसे वे आज भले ही न माने। सांप्रतकालमें आजतककी सारी शास्त्रीय प्रगति, नाना प्रकारके यंत्र व रसायन द्रव्य इत्यादि सामग्री प्रचुरमात्रामें तैयार रहनेसे, उनकी सहायतासे हो पाई है, परंतु जब इस प्रकारका कोई भी साधन उपलब्ध नहीं था उस उपनिषद् कालमें सृष्टि निरीक्षणकी कष्टतर तपस्या करके संपादन किये हुए बुद्धि वैभवसे, स्थूल रूपसे ही क्यों न हो, शास्त्रीय सिद्धांतोंका सच्चा सत्य संशोधन जिन्होंने किया तथा जिन्होंने जगत्में सर्वप्रथम शास्त्रीय दृष्टिकोण उत्पन्न किया, उन वैदिक ऋषियोंकी तथा तत्प्रणीत शास्त्रोंकी जितनी प्रशंसा की जाय उतनी कम है।

मैं आज २० वर्षसे उपनिषदों और आधुनिक विज्ञानशास्त्रोंके तुलनात्मक अध्ययनसे इसी निष्कर्षपर पहुंचा हूं कि आधुनिक शास्त्रज्ञ अपने संशो-

धनोंसे जिन मुख्य मुख्य निष्कर्षोंपर पहुंचे हैं वे सारे निष्कर्ष तो स्थूल रूपसे हमारे वैदिक ऋषियोंको ज्ञात थे ही परंतु इससे भी अधिक महत्त्वकी बात यह है कि आजके शास्त्रज्ञ अपने शास्त्रीय मार्गकी खोज करते हुए रुक गए हैं क्योंकि उन्हें उसके आगेका मार्ग स्पष्ट दृग्गोचर नहीं होता, उसी मार्गसे खोज करते हुए हमारे वैदिक ऋषि और कहीं आगे बढकर और भी उससे आगेके मार्गकी खोजके अनुभवोंको उन्होंने वैदिक वाङ्मयमें स्पष्ट रूपसे उद्धृत कर दिया है और इसी कारण हम स्पष्टरूपसे यह प्रतिपादन करनेका साहस करते हैं कि ऋषि निर्दिष्ट ये अनुभव आजके विद्वान् वैज्ञानिकोंको मार्गदर्शन करनेमें पूर्णतः सफल होंगे और समर्थ हैं।

मैं आधुनिक शास्त्रोंका विद्यार्थी होते हुए इस आध्यात्मिक शास्त्रोंके मंत्रजालमें कैसे पडा और आज कहां हूं यह एक रोचक इतिहास है। इन्दौर शहर राष्ट्रमें विद्वत्ता तथा विद्वानोंका केन्द्र माना जाता है, उसके ऐसे भागमें मैंने अपनी आयुका अधिकांश भाग बिताया जो मध्यवर्ती होनेके कारण वहां विद्वान् शास्त्री, पंडित, वैदिक, अग्निहोत्री आदिसे नित्य सम्पर्क रहता था और विशेषतः धार्मिक तथा श्रद्धावान परंपराके कारण ऐसे विद्वज्जनोंसे विचार विनिमयके प्रसंग नित्यशः आते ही रहते थे। इसी तरह इन्दौर एक प्रगतिशील तथा राजाश्रय प्राप्त हो सके ऐसा शहर होनेके कारण यहांपर बाहरसे प्रायः विद्वान् आया ही करते थे, इन विद्वानोंसे भी चर्चा द्वारा उनके ज्ञानसे लाभ उठानेका सौभाग्य प्राप्त हो जाता था।

इस सारी परिस्थितिका परिणाम यह हुआ कि जब मुझे वैदिक और आधुनिक विज्ञानशास्त्रोंका तुलनात्मक अध्ययन करनेकी जिज्ञासा हुई तब हमें बिना प्रयास ही अपनी आजकी वैदिक तथा पौराणिक विचारसरणीसे पूर्णरूपसे परिचय हो गया, और जिस समय मैंने अपना कार्य प्रारंभ किया तब मुझे इस दिशामें आनेवाली कठिनाईयोंका हल विद्वानों द्वारा प्राप्त हो जाता था। जिस प्रकार इस दिशामें इस प्रकारकी सुविधा बिना प्रयास प्राप्त थी उसी प्रकार दूसरी दिशामें भी हर प्रकारकी सुविधा उपलब्ध थी। डेली

कॉलेज तथा मेडिकल स्कूलमें प्राणिशास्त्र विषयके मुख्य अध्यापकके नाते नयासे नया आधुनिक शास्त्रीय ग्रन्थ प्राप्त कर लेना कठिन न था। इसी तरह यहांके होलकर कॉलेज तथा प्लँट रिसर्च इंस्टिट्युटके प्राध्यापकों तथा अन्य अधिकारियोंसे परिचय रहनेके कारण भी उनके पुस्तकालयोंसे कोई सी भी पुस्तक मंगवा लेना कठिन न था।

इस प्रकार आधुनिकसे आधुनिक शास्त्रीय साहित्यसे परिचित रहना सरल था। जिस प्रकार राष्ट्रके वैदिक विद्वानोंसे संपर्क प्राप्त कर उनसे विचार विनिमय करनेकी संधि सहज संभव थी इसी प्रकार राष्ट्रके विज्ञानवेत्ता तथा शैक्षणिक क्षेत्रके विद्वान् महानुभावोंसे प्रत्यक्ष रूपमें संपर्क करनेकी संधि थोडेसे प्रयत्नोंसे सफल हो सकी। इसवी सन् १९३६ में ऑल इंडिया सायन्स कांग्रेस असोसिएशनका वार्षिक अधिवेशन बुलवाने तथा १९४२ में ऑल इंडिया फेडरेशन ऑफ एज्युकेशनल असोसिएशन्सका वार्षिक अधिवेशन संपन्न कराने तथा उन्हें इन्दौरकी उच्च परंपरानुरूप सफलतापूर्वक सम्पन्न करनेका श्रेय हम स्थानीय मित्रों और अधिकारियोंके पूर्णतः मैत्रीपूर्ण सहयोगसे सफलतापूर्वक प्राप्त कर सके, और दोनों अधिवेशनोंमें स्थानीय लोकल सेक्रेटरी-कार्यवाहके नातेसे कार्य करनेके कारण राष्ट्रके इन दोनों क्षेत्रोंके विद्वान् महानुभावोंका प्रत्यक्ष परिचय हो सका। इन दो महान कार्योंको आद्योपांत सफलतापूर्वक सम्पन्न करनेसे जीवनमें एक बडी भारी सीख मिली और वह यह थी कि पूर्ण निःस्वार्थ बुद्धिसे कोईसा भी बडे से बडा कार्य करनेको उद्यत हो तो सज्जनोंका पूर्ण सहयोग प्राप्त होकर वह कार्य सुचारू रूपसे संपन्न हो जाता है और मैं अभिमानपूर्वक (यह गर्वोक्ति नहीं है) कह सकता हूं कि इतने कम (केवल ४००० प्रत्येक अधिवेशनके लिये) खर्चेमें और इतनी उत्कृष्टतापूर्वक इन्हीं संस्थाओंके वार्षिक अधिवेशन कहीं भी संपन्न होना कठिन है।

तात्पर्य यह कि हम इस प्रकार संपूर्ण रूपसे सुसज्ज होकर आयुष्यके ५० वें वर्षमें इन दो विचारधाराओंके तुलनात्मक अध्ययनके लिये कटिबद्ध हुए। इस विवरणसे कोई यह न समझ ले कि ये सारी बातें पूर्व संकेतानुसार तथा

चार और योजनापूर्वक की गई थीं। प्रत्येक मनुष्यकी आयुष्यमें जैसे
ठिन समय तथा समस्यात्मक प्रसंग आते हैं उसी तरह अभ्युदयकारक
था अपनी जीवनयात्राको सुयोग्य कर सफलतापूर्वक पार करनेमें उपयुक्त
ऐसे भी प्रसंग आते हैं और ऐसे प्रसंगोंसे समय समयपर लाभ उठाकर
था इन सारे कार्योंकी सांकल बना स्वतःके जीवनस्तरको ऊंचा उठानेके
यत्न करनेमें ही मनुष्यका पुरुषार्थ है ऐसा समझनेमें कोई आपत्ति
हीं है।

सौभाग्यवश इसी १९४२ वें वर्षमें गीताधर्म मंडल पूनाके संस्थापक
. पंडित सदाशिव शास्त्री भिडे कृत " उपनिषद् रत्नप्रकाश " यह पुस्तक
थ लगी और मेरे तुलनात्मक अध्ययनके प्रयत्नोंमें अबतक जो एक अंतिम
टे प्रतीत होती थी वह भी दूर हो गई। इस कार्यके शुरू करते ही सर्व
ाम यह अनुभव आया कि कार्यके क्षेत्रमें कुछ मर्यादा डाल उसका परीधि
ित करना अत्यंत आवश्यक है। प्राणिशास्त्रके विद्यार्थी होनेसे इस
लनात्मक अभ्यासके लिये प्रथम इसी क्षेत्रकी मर्यादा सीमित करनेका
श्चय किया और अगले चार वर्षोंमें इस विषयपर आंग्लभाषामें एक
बंधात्मक ग्रन्थ तैयार किया जिसमें यह दिखानेका प्रयत्न किया गया कि
र शास्त्रकी सारी शाखाओंके जो मुख्य मुख्य प्रमेय हैं उन सबोंका स्पष्ट
देश दशों उपनिषदोंमें सूत्ररूपमें पाया जाता है और केवल इतना ही नहीं
न् इन दो विचारधाराओंसे निकाले गए निष्कर्ष शब्दशः एक हैं और यह
ना भी चाहिये क्योंकि " सत्य " एक ही होता है चाहे वह किसी भाषा
किसी कालमें प्रस्तुत किया हुआ हो।

इस ग्रन्थके निर्माणके बाद एक अद्भुत अनुभव आया कि इस ग्रन्थको
उपनिषद्स् इन दी लाइट ऑफ मॉडर्न बायालॉजी ' (Upanishadas
the light of modern Biology) समझ कर उसपर मत
ार्शित करनेवाले व्यक्तियोंका मिलना एक कठिन समस्या है, क्योंकि
जके शास्त्रज्ञोंको वैदिक वाङ्मय तो अलग ही रहा संस्कृत भाषाका भी

गंध नहीं होता तथा हमारे शास्त्री, पंडित, वेदांती आदिको आंग्लभाषासे संपर्क जरा भी नहीं होता। वास्तवमें इस ग्रन्थमें जो विवेचन है उसे आधुनिक शास्त्रोंकी दृष्टिसे परीक्षण करनेकी इतनी आवश्यकता नहीं है जितनी वैदिक वाङ्मयकी दृष्टिसे और चूंकि वैदिक ज्ञान विज्ञाता आंग्लभाषा तज्ञ कम होते हैं इस कारण यह विचार निश्चित किया कि इसे थीसिसके रूपमें विश्वविद्यालयको प्रेषित किया जाय।

प्रयाग विश्वविद्यालयके स्नातक होनेके कारण मैंने उस विश्वविद्यालयसे यह पूछा कि वे इसे डॉक्टरेटकी पदवीके लिये परीक्षणार्थ स्वीकृत करेंगे या नहीं। वहां यह समस्या उत्पन्न हुई कि यह विषय न फॅकल्टी ऑफ सायंसके न फॅकल्टी ऑफ आर्टस्‌की ही कक्षामें आता है। अतः उन्होंने इसे परीक्षणार्थ लेना अस्वीकार कर दिया। तब स्वयं प्रयाग जाकर तत्कालीन उपकुलपति श्री डॉ. आर. डी. रानडेसाहबसे मिला और कुछ स्थूलरूपसे चर्चाके पश्चात् उन्होंने इसे परीक्षणार्थ स्वीकार करनेकी मेरी विनंती मान्य की। तीन सदस्योंकी एक समिति नियुक्त की जिसमें एक स्वयं वे भी थे। इस समितिने यह निर्णय दिया कि "थीसिसके आधारपर श्री पटवर्धनको पी. एच. डी. की परीक्षासे मुक्त किया जावे और उन्हें सूचना दी जावे कि डी. एस. सी. की पदवीके लिये वे किसी दूसरे विषयपर दूसरा थीसिस लिखें।" यह एक विचित्र बात हुई। हमें नई पदवीयें लेकर कहीं नई नौकरी तो ढूंढना ही नहीं थी। हमें तो अपना ग्रन्थ और उसमेंकी विचार-धाराका परीक्षण कराना था। पर अब और कुछ कर भी नहीं सकते थे।

इसके बाद यह विचार आया कि इन दो विचारधाराओंका साम्य तज्ञ जनताके सामने कैसे लाया जावे? इसी बीच महात्माजीके वधके कारण कुछ उथल पुथल मची और छः मास बाद सेवानिवृत्ति काल आया। गांधीवधके कारण महाराष्ट्र-ब्राह्मण इस नातेसे उच्च अधिकाररूढ मेरा कार्यकाल बढाया जाना, चाहे हम कितने भी योग्य तथा कार्यक्षम थे, संभव ही न था और सेवानिवृत्त हो हम अपने स्वतःके घरमें रहनेको

आगए। जिस प्रकार कॉलेजमें कार्यकाल बढना संभव न था उसी प्रकार मध्यभारत जैसे मरहठोंके हाथोंसे २५० वर्ष बाद स्वतंत्र हुए राज्यमें पुनश्च कार्य करनेको मिलना भी असंभव ही था, अतः आत्मज्ञान विकासकी ओर ही मुझे अपनी कार्यक्षमताको तथा बुद्धिको उपयोगमें लाना अनिवार्य हुआ और यह भी एक प्रभुकी योजना थी ऐसा ही कहना पडता है। अतः लेखन, वाचन, विद्वज्जनोंसे चर्चा आदिमें समय बिताया जाने लगा तथा विश्वविद्यालयने सुझाए हुए नये कार्यके विषयका विचार करनेकी संधि भी प्राप्त हुई। इसी अवसरपर मेरे दूसरे पुत्रकी पढाई समाप्त हुई व उसे मध्यवर्ती सरकारकी संशोधन संस्थामें स्थायीरूपसे उद्योग प्राप्त हो, वह वहां स्थायी हो जानेके कारण हम दोनों (पति पत्नी) के वानप्रस्थाश्रमकी शुरूवात हुई।

इसी वर्ष श्री शंकराचार्य (संकेश्वरपीठ) महाराजका इन्दौर आगमन हुआ व यहीं चातुर्मास बितानेका निश्चय हुआ। उनके "वेदांतशास्त्र" पर प्रवचन नियमित रूपसे सुननेकी संधि प्राप्त हुई। इन प्रवचनोंके सुननेसे मैं अपनी विचारधाराओंमें और भी दृढ हुआ। इन प्रवचनोंके अंतमें श्रीजीने प्रश्नोंके लिये चार दिन रखे थे। मैंने भी १५,२० प्रश्न लिखकर दे दिये थे। "यह प्रश्न महत्वपूर्ण हैं इस कारण इनपर अंतमें विचार करूंगा।" परंतु समयके अभावसे यह कार्य पूर्ण न हो सका, तथापि वर्ष डेढ वर्ष बाद जब श्रीजीका इन्दौर आगमन हुआ तब इन्होंने हमारी निश्चित की हुई विचारसरणीको, जिस विचारधाराके ऊपर हमने अपने विचारोंकी इमारत खडी की है, सुनकर उसे पूर्णतया सुसंगत तथा वेदांत-शास्त्रकी दृष्टिसे सही बताया। इस कारण हमने अपने कार्यको और उत्साहसे पूर्ण करनेका प्रयत्न जारी रखा। इसी प्रकार श्री पंडित श्री. दा. सातवलेकरजीसे कई दिनतक सम्पर्क होनेका अवसर प्राप्त हुआ और उनके प्रोत्साहनसे भी कार्यक्षमता और बढती गई। मैं इन दोनों पूजनीय विद्वानोंका अत्यंत आभारी हूं। इस प्रकार आज हाथमें लिये हुए इस

कठिनतम कार्यको परमेश्वरकी कृपासे ही पांच वर्षोंकी तपस्याके पश्चात् सुचारू रूपसे अपनी राष्ट्रभाषामें समाप्त कर जनता जनार्दनको अर्पण करनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ है।

इस ग्रन्थमें उधृत किये हुए विचारोंको जब जब अपने भारतीय मित्रों, सहयोगियों, वेदांतियों, आधुनिक शास्त्रज्ञोंके सामने रखनेपर उनकी जो जो प्रतिक्रियाएं हुई, या यों कहिये कि उन्होंने इसे जिस दृष्टिकोणसे देखा उसका भी कुछ विवरण इस स्थानपर देना अनुचित न होगा। यहांके वैदिक तत्वज्ञान पुरस्कर्ता हों ऐसे दो प्रकारके विद्वानोंके अनुभव आए। पाहिली कक्षामें वे लोग थे जो आजकलकी प्रचलित विचारधाराओंके बाहर यत्किंचित भी जानेका विचार नहीं करना चाहते अर्थात् आजकी प्रचलित भाषामें पुराणमतवादी जो अपनी विचारसरणीमें दृढसंकल्प हैं और इस कारण इस प्रकारकी किसी विषयकी ओर ध्यान देना वे व्यर्थ समझते हैं। यदि इनके पीछे ही लगकर विषयका परीक्षण करनेको बाध्य किया तो वे इस कार्यको आपके सहयोगके कारण करनेको तैयार हों जावेंगे, परंतु जब वे इसे देखना शुरू करते हैं तब एकदम चौंक जाते हैं।

क्योंकि संन्यास मार्ग और मायावादके विरुद्ध विचारसरणीको देखते ही उनका यह नितांत मत हो जाता है कि यह तो केवल लोकमान्य बाल गंगाधर टिळक, पंडित सदाशिव शास्त्री भिडे आदिके पंथके ही एक हैं। उनसे विनयपूर्वक हम स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि हमने लोकमान्य तथा भिडे शास्त्रीजीके ग्रन्थोंका पूर्ण उपयोग किया है और जैसे कोई अच्छा विद्यार्थी अपनी पाठ्य पुस्तकोंको बार बार पढता है उसी प्रकार इन दो ग्रन्थोंको सेंकडों बार आज बीस वर्षोंमें पढा होगा। यहांतक कि प्रत्येक मुख्य मुख्य विचारसरणीके वाक्यके वाक्य मुखस्थ हो गए और उनका उपयोग इस ग्रन्थमें वैसेके वैसा ही किया है और Lives of great men all remind us, we can make our life sublime, and parting leave behind us, foot prints on the sands of

time के अनुसार हम उनके दिखाए हुए रास्तेपर चलकर उसका जैसे कोई तैराक पटियेके ऊपर खडा होकर कुदनेके लिये उस पटियेके स्प्रिंगका उपयोग लेता है, उसी प्रकार हमने इन विद्वान् द्वयोंके अगाध ज्ञानका उपयोग किया है। हम इन दोनों प्रातःस्मरणीय विद्वानोंके अत्यंत ऋणी हैं और सादर, सविनय तथा प्रेमपूर्वक उन्हें साष्टांग प्रणिपात करते हैं कि उन्हींके दिव्य ज्ञानके द्वारा ही हमें दिव्य चक्षु प्राप्त हुए व उन्हींके दिखाए हुए ज्ञानदीपसे आगेके मार्गपर अग्रसर होनेमें हमें सहायता प्राप्त हुई। वास्तवमें देखा जाय तो संन्यास मार्ग तथा मायावादका विरोध इन विद्वानोंने किया है उसके कारण अलग हैं और हमारे विरोधके कारण अलग हैं। यदि उनके कारणोंके स्वरूपको धार्मिक या राष्ट्रीय कक्षामें रखें तो हमारे कारणोंको शास्त्रीय कक्षामें रखना होगा।

इस ग्रन्थकी विचारसरणीका परिशीलन करनेमें जो दूसरी भयंकर आपत्ति इन पुराणमतवादी वैदिक विद्वानोंके सन्मुख आती है वह यह है कि सद्यस्थितिके इस आपत्तिजनक जीवनकलहके कालमें किसी भी व्यक्तिको इतना समय ही नहीं है कि वह इस प्रकारके विचारणीय तथा गूढ विषयका विचार करनेके लिये समय दे सके। साथ ही साथ किसी भी तात्विक विषयके संशोधनात्मक दृष्टिसे कार्य करनेमें कई मुख्य मुख्य बातोंकी आवश्यकता होती है। उनमेंसे पहली बात है विचार स्वातंत्र्यकी, यह तो दुर्भाग्यवश आजके नवोदित स्वातंत्र्य कालमें रह ही नहीं गया है। जहां कहीं प्रचलित भेडिया-धसानी विचारसरणीसे इधर उधर खसके कि तुम्हें सांम्प्रदायवादी सिक्का लगा दिया जाता है और यही कारण है कि आज शुद्ध बुद्धिजीवी वर्ग ऐसी आपत्तिसे डरकर उसकी अन्वेषणात्मक कार्यक्षमता नष्ट हो जाती है, और व्यर्थ जाती है। ऐसे कार्योंको लगनेवाली दूसरी महत्वपूर्ण बात है सामर्थ्य और स्वास्थ्य। यह आजकी आर्थिक छीना झपटीमें कहीं रह ही नहीं गया है।

ईमानदार व्यक्ति अमीर हो या गरीब, उसे मानसिक स्वास्थ्यका पूर्ण अभाव है। ऐसे अमीरको जो उसके पास है उसे सम्हाल कर टिकाने तथा

पचासों प्रकारके टेक्सोंमेंसे प्रत्येकको ठीक ठीक समयपर चुकानेमें ही उसका सारा दिन चला जाता है तो मध्यम वर्ग "आज तो निभी कल कैसे निभेगी" इस चिंताके अतिरिक्त और कुछ विचार ही नहीं कर सकता। बन बैठी है यांत्रिक उद्योगोंमें लगे हुए वर्गकी ओर सूक्ष्म निरिक्षणसे तथा विचारपूर्वक देखा जाय तो हमारे नवोदित राष्ट्रके शहरी जीवनको नष्टभ्रष्ट करनेवाला तथा एकंदर सामाजिक जीवनको उलट पलट करनेवाला यही वर्ग है जो स्वतः तो परागंदा हो ही रहा है और अपने साथ शहरके मध्यम वर्गको नरकगर्तमें ढकेल रहा है। शहरी जीवनके सिनेमा गृह और होटलें इसके साक्षात् सबूत हैं।

आजकी मजदूर सभाएं, कामगार सभाएं, साम्यवादी, समतावादी, और अन्य सारी तथाकथित संस्थाएं और उनके अधिकांश नेता (भिन्न भिन्न वाद निर्माण कर "दुनियां झुकती है" उसको झुकानेवाला नेता बनना भी आज एक व्यवसाय हो गया है) स्वतःके स्वार्थसे प्रेरित हो उपद्रव, असंतोष, दुर्व्यवस्था, वैश्याव्यवसाय, व्यभिचार, असभ्य तथा अभद्र जीवन व्यतीत करनेवाले व्यक्तियोंको लोककल्याण या जनसेवाके पवित्र नामकी आडमें जो कुछ हो रहा है उसकी ओर हमारे राष्ट्रधुरिणोंने विचारपूर्वक ध्यान नहीं दिया है व राष्ट्रके नवनिर्माणमें जैसे जैसे यांत्रिक युगमें वृद्धि होती जायगी, उतनी ही यह समस्या भी अधिकाधिक जटिल होकर इसे सुधारनेके प्रयत्न करना और भी कठिन होता जायगा।

वास्तवमें देखा जाय तो राष्ट्रका सचमुच ही निचला वर्ग आज भी उसी गिरि और शोचनीय अवस्थामें है जैसे वह पिछले कालमें था और दुर्भाग्यवश उसके ओरकी पुरानी उपेक्षा आज भी उसी प्रकार कायम है। यांत्रिक कारीगरोंके उत्थान कार्यमें पैसा हाथ लग सकता है। इन गरीबोंके उद्धारके प्रयत्नोंमें क्या मिलनेवाला है? शास्त्रीय दृष्टिसे विचार करनेसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि मनुष्यकी इस जीवनमें दो प्रकारकी आवश्यकताएं होती हैं। एक शारीरिक और दूसरी मानसिक। शारीरिक आवश्यकताओंमें

अन्न, वस्त्र और निवासके लिये सुरक्षित स्थान, मानसिक आवश्यकताओंमें सबसे प्रमुख बात जो आती है वह यह है कि एकाकी जीवन न व्यतीत कर सकना, मनुष्य सृष्टिकी उत्क्रांतिमें उत्क्रांत हुए मिथुनका एक अंश है इसका दूसरा भाग है 'स्त्री' और 'स्त्री और पुरुष' ये दोनों मिलकर ही "मानव" संज्ञाको प्राप्त होते हैं। हमारे वैदिक शास्त्रवेत्ता ऋषियोंने बृहदारण्यकोपनिषद् (१,४,३) में कहा है—

(यस्मात्) एकाकी न रमते तस्मात् सः वै न रेमे। सः द्वितीयम् ऐच्छत्। यथा स्त्रीपुमांसौ संपरिष्वक्तौ एतावान् सः आस ह। सः इमं आत्मानं एव द्विधा अपात्स्यत्। ततः पतिश्च पत्नी च अभवताम्। तस्मात् स्वः अर्धवृगलम् एव (अस्ति)। तस्मात् अयम् आकाशः स्त्रिया एव पूर्यते इति याज्ञवल्क्यः आह स्म॥

अर्थ– "चूंकि अकेला मनुष्य रमता नहीं है (अर्थात् उसे अच्छा नहीं लगता) इससे वह जीवात्मा रममाण नहीं हुआ (उत्क्रांतिके) इस कालमें स्त्री व पुरुष एक दूसरेसे संलग्न होते हैं वैसे वह जीवात्मा था। अर्थात् उसका देह अर्धनारी नटेश्वर जैसा अबतक था। इसके पश्चात् उसने इस देहके ही दो विभाग किये (और इन्हींसे) पति व पत्नीकी जोडी तैयार की, इस कारण (स्त्री यह) इस पुरुषके देहका आधा बृगल अर्थात् भगल किंवा भकल है। इसी कारण इस पुरुषका आकाशरूपी खाली पडा हुआ भाग स्त्रीसे ही पूर्ण होता है। अर्थात् पति व पत्नी मिलकर ही मनुष्य पूर्ण होता है ऐसा याज्ञवल्क्यने कहा।" आधुनिक शास्त्रोंसे तुलनात्मक अध्ययनकी दृष्टिसे यह मंत्र अत्यंत महत्वपूर्ण है इतना यहां बता देना पर्याप्त है।

आज जो पाश्चात्य विचारके अंधानुकरणसे हमारे यहां भी स्त्री-पुरुष स्वातंत्र्य निर्माणकारी बातें प्रचलित हो गई हैं व प्रमुखतासे आगे बढ

रही हैं वे सारी आशास्त्रीय विचारधारापर आधारित हैं। यह बात हमें तभी सच्ची मालूम देगी जब पाश्चात्यवाले हमें बतावेंगे। हमारे वैदिक ऋषियोंने शास्त्रीय दृष्टिसे तथा पूर्ण अनुभवपूर्वक निकाले हुए निष्कर्ष हमें कब मान्य होने लगे? अस्तु। हमारे राष्ट्रमें यांत्रिक धंधोंमें लगे हुए अधिकांश मजदूरोंको, जिनकी संख्या लाखोंमें होते हुए ये सारे प्रायः बडे बडे शहरोंमें ही हैं, जबरदस्ती एकाकी जीवन व्यतीत करना पडता है हाथमें खूब पैसा और एकाकी बेजबाबदार युवा जीवन तो नरका नारायण बननेकी जगह नरका पशु बननेमें कितनी देर, और ऐसे पशुओंको चाहे उधर हांक कर ले जानेवाले तथाकथित पशुपालकोंकी भी क्यों कमी हो? खैर, हमारे राष्ट्रके धुरीण इस जटिल प्रश्नपर शास्त्रीय दृष्टिकोणसे विचार कर इस ओर स्वानुभवपूर्वक ध्यान दें तो राष्ट्रकार्य अधिक उपयोगी स्वरूपसे करनेमें सफल होंगे।

वास्तविकतः यह प्रश्न समाजशास्त्रज्ञोंका होनेसे उन्हींको इसे सोंपना युक्त है। हमें केवल इतना ही देखना है कि इस प्रकार जहां कौटुम्बिक जीवन, समाज जीवन, और राष्ट्रीय जीवन, इस अस्थिर परिस्थितिमें है वहां विचारों और तिसमें भी शास्त्रीय तथा तात्विक विचारोंमें अपनी शक्ति और बुद्धिका उपयोग करनेकी ओर यदि किसीकी भी प्रवृत्ति न हो सकी तो उसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। तात्पर्य यह है कि उपर्युक्त कारणानुसार परंपरागतिताके विचारसरणीवाले कट्टर वैदिक विद्वानोंसे हमारे प्रयत्नोंको देखकर उनका स्पष्ट मत लेना असंभव ही हो गया। अब राष्ट्रके उन व्यक्तियोंमेंसे जिन्हें अपनी पुरानी संस्कृति, पुरातन विद्या तथा वैदिक तत्व-ज्ञानकी ओर श्रद्धा है तथा साथ ही साथ जो आधुनिक शास्त्रीय विचार-धाराओंसे अपरिचित नहीं है उनमेंसे कुछने, जिन्हें थोडी बहुत अनुकूल परिस्थिति प्राप्त है, हमारे कार्यकी विचारसरणीको देख इस कार्यका केवल कौतुक ही नहीं किया वरन् उन्होंने अपने ये विचार स्पष्ट प्रदर्शित किये कि ये नवीनतम शास्त्रीय सत्य संशोधनात्मक विचार राष्ट्रीय विद्वानोंके सामने जितनी जलदी आवें उतनी ही जल्दी राष्ट्रको उनका उपयोग होनेकी

संभावना है। इस प्रकारके शाब्दिक प्रोत्साहनसे यद्यपि यह काम नहीं होनेवाला था तथापि उसका उपयोग यह अवश्य हुआ कि हमारी कार्य-क्षमता द्विगुणित हो गई और अधिक उत्साहसे हम काम करते रहे।

भारतीय आधुनिक शास्त्रज्ञोंके विषयमें केवल इतना ही कहना है कि उन्हें आधुनिक शास्त्रोंकी विचारसरणी पूर्णतया ज्ञात है ही परंतु "वैदिक विज्ञान तो अलग रहा उन्हें संस्कृत भाषासे भी यत्किंचित भी परिचय नहीं है।" यह कहकर छूट जाते हैं। इन सारी प्रतिक्रियाओंसे हमारे सामने जो जटिल प्रश्न खडा हुआ वह यह था कि आगे क्या। आज छः वर्ष घर बैठकर और पल्लेकी पूंजीके जोर पर उपर्युक्त सारी समस्याओंको पार करते हुए यह तपस्यात्मक बौद्धिककार्य किया परंतु इसकी तत्वप्रणालीके सत्यासत्यताकी परख करा, इसे जनता जनार्दनके हाथों कैसे सौंपना। तो विचार किया कि पुनः प्रयाग विश्वविद्यालयको प्रेषित कर उनसे निश्चित कराए गए विद्वानोंसे इसका परीक्षण करावें। आज दो वर्ष उनसे विनंती करते हो गए, परंतु अभीतक सभी अधिकारी इसे परिक्षणार्थ स्वीकार करनेको इस कारण राजी नहीं हो रहे हैं कि यह विषय उनके एक भी फॅकल्टीकी कक्षामें नहीं आता। (वही आठ वर्ष पुराना कारण)। हमने सब प्रकारके प्रयत्न किये (चँसलर) कुलपति, (व्हाइस चॅन्सलर) उपकुलपति, (मिनी-स्टर) शिक्षण मंत्री इत्यादिको लिखकर स्पष्ट किया कि इस विषयका परी-क्षण उसी विश्वविद्यालयके भूतपूर्व उपकुलपति श्री डॉ. आर. डी. रानडे महोदय कर सकते हैं, परंतु अभीतक भी हमारी विनंती स्वीकार होनेके लक्षण दिखाई नहीं देते हैं।

राष्ट्रमें शास्त्रीय ज्ञान (विज्ञान) के विषयोंको प्रेषित कर उसकी ओर जनताका ध्यान आकर्षित कराया जा सके ऐसी दूसरी संस्था है– इंडियन सायंस कांग्रेस असोसिएशन। इस संस्थाके आज १८, २० वर्षोंसे स्थाई सदस्य होनेके कारण उनसे विनंती की कि वैदिक विज्ञान पर लिखे हुए निबंधोंके पढे जानेके लिये अपनी संस्थामें प्रबंध निर्माण किया जाय। इस

विनंतीको "समितीकी कौंसिलकी कार्यकारिणीमें रख उनका निर्णय आपको सूचित किया जावेगा" यह उत्तर आजसे दो वर्ष पहले आया। आज तक कोई निर्णयकी सूचना हमारे पास नहीं पहुंची है। इस वर्ष हमने दो पेपर "वैदिक विज्ञान" पर लिख उन्हें पढे जानेकी अनुमति मांगी है। राष्ट्रकी तीसरी मुख्य संस्था जो निमसरकारी संस्था होते हुए उसका निर्माण ही वैज्ञानिक संशोधनके हेतु हुआ है और जिसके अधिकारमें आज राष्ट्रमें १४–१५ राष्ट्रीय संशोधन संस्थाओंका निर्माण हुआ है, इस संस्था-द्वारा हमारे वैदिक विज्ञान संशोधन कार्यको जनताके सन्मुख लाए जाने विषयक प्रयत्न किये गए। उनसे कुछ पत्रव्यवहारके पश्चात् उन्होंने मांग की कि, "कुछ नमूनेके तौर साहित्य भेजें" जिससे उन्हें इस बातके ठहरानेमें सुविधा हो कि वे क्या कर सकते हैं। परिणामतः एक संपूर्ण अध्याय उनकी तरफ भेजा गया और कुछ अवधि जानेपर मैं स्वयं दिल्ली गया। इस तीसरे प्रयत्नमें भी हम असफल रहे, क्योंकि कौंसिलके उन अधिकारियोंने उस निबंधको परिक्षणार्थ दिल्लीमें जहां जहां भेजा वहां वहांसे यह उत्तर मिला कि विषय उनकी कक्षाके बाहरका होनेसे वे उसे परीक्षण करनेमें असमर्थ हैं।

तत्पश्चात् उन लोगोंने हमें "नॅशनल इंस्टीट्यूट ऑफ सायंसेस" की ओर जानेको कहा पर वहां भी यही गति होगी, इस विचारसे हम नहीं गए। तत्पश्चात् हरिद्वार, ऋषिकेश आदि स्थानोंके विद्वानों तथा वैदिक संस्थाओंके आचार्योंसे विचार विमर्ष कर हम वापिस आ गए। इस प्रकार भारत वर्षकी तीनों प्रमुख विज्ञान संस्थाओं द्वारा, जिनकी उत्पत्ति ही इसी उद्देश्यसे हुई है कि उनके द्वारा राष्ट्रमें वैज्ञानिक संशोधन और उसका प्रसार हो, हमने तुलनात्मक अध्ययनके कारण निर्माण की गई वैज्ञानिक विचार-सरणीको जनताके अवलोकनार्थ रखनेके आज दो वर्षोंसे सतत किये हुए प्रयत्न सारे विफल हुए। इन असफलताओंने हमें निष्प्रभ या हताश तो न किया परंतु इससे हम कोई नया रास्ता ढूंढ निकालनेके प्रयत्न करनेके

लिये प्रेरित हुए और हमने निश्चय किया कि अपने प्रयत्नोंको नए सिरेसे शुरूवात करनी चाहिये। एतावतः हमने अपने राज्य मध्य भारत सरकारसे विनंती की कि क्या उनके पास ऐसी कोई यंत्रणा है या क्या वे ऐसी कोई निर्माण कर सकते हैं जो हमारे इस तुलनात्मक अध्ययनसे निर्माण किये हुए ग्रन्थका परीक्षण कर सके। सौभाग्यवश उनके एक उच्च अधिकारीसे संपर्क हुआ और एक वैदिक तथा आधुनिक शास्त्रज्ञोंकी समिति निर्माण कर उसकी तरफ हमारे कार्यका परीक्षण तथा हमसे चर्चा कर अंतमें एक अहवाल राज्य सरकारको सादर करनेका कार्य सौंपा गया।

इस कार्यको कार्यान्वित करनेके हेतु 'मध्य भारत सरकारने एक 'रिसर्च स्कीम' के अंतर्गत इसे लेकर उसके परीक्षणकी सुभिताके उद्देश्यसे रु. २००) प्राचार्य संस्कृत महाविद्यालयको ग्रन्थकी टंक प्रतियां निकलवानेके लिये सौंपे। ये टंक प्रतियां निकलनेपर परिक्षणार्थ चर्चा कार्य दिसंबर १९५३ में आरंभ हुआ, और अक्तूबर १९५४ तक चर्चाएं चलीं। इस परीक्षण समितिके अध्यक्ष एवं निर्णय सहायकके नाते श्री. मा. वि. किबेजीने तुरन्त ही अपनी ओरसे सारे अध्यायोंका संक्षिप्त सारांश देकर संपूर्ण विषयपर एक आलोचनात्मक टिप्पणी अक्तूबर १९५४ में ही सादर कर दी। अन्य विद्वानोंको इसी कार्यके लिये आगेके और दस महिनोंका समय लगा, और जुलाई १९५५ में ग्रन्थ विषयक अपने विचार उन्होंने भी सारे अध्यायोंके सारांश सहित ३०–४० पंक्तियोंमें राज्य सरकारको प्रेशित किये।

इस बीच मध्य भारत सरकारकी शासन सुविधाके कारण जिन उच्चाधिकारियोंद्वारा यह 'रिसर्च स्कीम' निर्माण की गई थी वे बदल दिये गए। उनके स्थानोंपर जो नए उच्चाधिकारी आए उन्होंने यह कह कर कि 'शास्त्रीय संशोधनोंकी जांचका कार्य संशोधन संस्थाओंका है राज्य सरकारें संशोधन संस्थाओंका स्थान नहीं ले सकती' इस 'रिसर्च स्कीम' का संपूर्ण कार्य स्थगित कर दिया। इस कारण सारी चर्चाएं उनसे निकाले गए सारे निष्कर्ष तथा विद्वज्जनोंद्वारा किये गए बौद्धिक परिश्रम सारे ही व्यर्थ गए।

❀

यदि यह महानुभाव पुराने पत्रव्यवहारके अवलोकनका थोडा कष्ट लेते तो उन्हींकी राज्य सरकारने विचारपूर्वक प्रारंभ की हुई योजनाको अधूरी ही स्थगित कर राज्य सरकारकी अनिश्चित तथा विसंगत कार्यप्रणालीकी प्रदर्शिनी न करना पडती। अस्तु। तात्पर्य यह कि म. भा. राज्यके इंद्रजालमें फंसनेसे इस ग्रन्थमें प्रस्तृत किये गए विषयोंको जनता जनार्दनके संमुख रखनेका कार्य दो वर्षोंतक व्यर्थके लिये स्थगित रखना पडा। एतावतः सारी वैज्ञानिक संस्थाएं, तथा राज्य सरकार द्वारा निष्क्रियतापूर्ण तथा निराशाजनक वातावरण दिखाए जानेपर इस बीस वर्षकी तपस्यासे प्राप्त की गई वैदिक संपत्तिको राष्ट्रको सौंपनेका कार्य व्यक्तिगत रूपमें ही करवाना पड रहा है इसीका खेद है। अस्तु।

अब अंतमें थोडासा इस ग्रन्थकी रचना तथा उसमें प्रतिपादित विषयका स्पष्टीकरण यहां प्रस्तुत करनेका प्रयत्न करेंगे। आजके समाजकी साधारणतः यह धारणा है कि हिन्दू धर्म तात्विक रूपसे व्यक्तिप्रधान होनेसे हममें राष्ट्र धर्मकी कल्पनाका प्रादुर्भाव पाश्चात्योंके सहवासके कारण ही हुआ है। उसी तरह आज बीसवीं सदीमें शास्त्रीय ज्ञानकी प्रगति जो जगत्‌में दिखाई देती है उसका श्रेय भी पाश्चात्योंके पल्लेमें डालकर आज भारतवर्ष भी जो विज्ञान शास्त्रोंमें प्रगति कर रहा है वह भी पाश्चात्योंकी ही देन है इस प्रकार सर्वसाधारण समझ होना आजकी परिस्थितिमें एक स्वाभाविक बात है क्योंकि ऐतिहासिक कालमें अर्थात् बुद्धकालसे आजतकका भारतवर्षका इतिहास इसी विचारसरणीको पुष्टि देनेवाला ही है। परंतु वास्तवमें देखा जाय तो भारतके संपूर्ण इतिहासमें यह एक आगंतुक परिस्थिति निर्माण हुई है, मूल वैदिक संस्कृतिके श्रुति तथा स्मृतिकालमें इसके बिलकुल विपरीत परिस्थिति थी।

बुद्धोत्तरकालमें हमारे अध्ययन परंपरामें बडा खण्ड पडनेसे आधिभौतिक विद्याओंकी अध्ययन परंपरा नष्टप्राय हो गई व इसी कारण विद्यमान विचारसरणी निर्माण हुई दिखती है। विज्ञानशास्त्र विषयक संशोधनात्मक

प्रगति पाश्चात्य राष्ट्रोंने पिछले तीन सौ वर्षोंमें कर संसारको जो शास्त्रीय विचारधाराका मार्ग दिखाया है उससे भी अधिक ठोस तथा महत्त्वपूर्ण विचारसरणी आजसे कमसे कम पांच हजार वर्ष पूर्व हमारे वैदिक ऋषियोंने संसारमें केवल उत्पन्न ही नहीं की थी वरंच उस विचार सरणीपर आधारित वैज्ञानिक संशोधनोंसे, मानवताके हितार्थ, पूर्ण लाभ उठाकर और अनुकूल तथा योग्य समाज रचना कर उसे प्रात्यक्षित रूपमें संसारके सन्मुख रख दिया था। इन सारी बातोंको आजके समाजके सामने रखनेका इस ग्रन्थमें अल्पसा प्रयत्न किया गया है। और साथ ही साथ यह भी स्पष्ट करनेका प्रयत्न किया गया है कि इसी दिशामें यदि आधुनिक विज्ञान तथा वैदिक विज्ञानके तुलनात्मक अध्ययनका उपक्रम नवोदित स्वतंत्र भारतमें निर्माण हुआ तो खडतर तपस्या तथा सहस्रों वर्षोंके अनुभवसे प्राप्त किये हुए हमारे वैदिक ऋषियोंके ज्ञान विज्ञानसे आज भी मानव हितार्थ पूर्ण लाभ उठाया जा सकता है।

यहांपर हम यह बताना उचित समझते हैं कि इस ग्रन्थके भिन्न भिन्न अध्यायोंकी रचना उपर्युक्त विवरणमें बताए हुए ध्येयको सामने रखकर ही की गई है। इस कार्यके करनेमें दो तीन विचारोंकी ओर पूर्ण ध्यान दिया गया है। पाहिली बात यह है कि वे मौलिक सिद्धांत जिनपर हम आजके वेदांतियोंकी विचारसरणीसे सहमत नहीं हैं उन्हें शुरूसे ही स्पष्ट करनेका प्रयत्न किया है। इस कार्यके करनेसे एक बात अवश्य हो गई है कि वाचक इस ग्रन्थको पढना शुरू करता है तभीसे उसकी यह धारणा होने लगती है कि यह ग्रन्थकर्ता भी उसी विचारधाराका अनुयायी है जो इस शताब्दिकी शुरूवातमें हमारे माननीय लोकमान्य तिलक महोदयने प्रस्तुत की थी। हम हमारे वाचकोंको पुनः स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि यद्यपि प्राथमिक अध्यायोंके परिशीलनसे इस प्रकारकी धारणा होना संभव है तो भी जैसे जैसे आगेके अध्याय पढे जावेंगे वैसे वैसे यह स्पष्ट होता जायगा कि तिलक महोदय और उनके अनुयाायियोंका आजके वेदांत विचारसरणीसे

विरोध यदि राष्ट्रीय, सामाजिक, या धार्मिक तत्वोंपर आधारित है तो हमारा विरोध पूर्णतया शास्त्रीय (आधुनिक तथा वेदकालीन) तत्वोंपर आधारित है।

दूसरी बात यह ध्यानमें रखी गई है कि जिन मौलिक सिद्धांतोंपर हम आधुनिक वेदान्तियोंसे सहमत नहीं हैं उन सिद्धांतोंपर आधारित जितने अनुशंगिक विषय है, उन सभी विषयोंकी शास्त्रीय दृष्टिको स्पष्ट करना पडा है और इस कार्यके करनेमें यह प्रयत्न किया गया है कि इस प्रकारके सारे ही अनुषंगिक विषयोंको लेकर उनके विषयमें सत्य शास्त्रीय दृष्टिकोण क्या है वह स्पष्ट रूपसे निश्चित कर बताया जावे। तीसरी महत्वपूर्ण बात जिसकी ओर पूर्ण ध्यान दिया गया है वह यह है कि हमने अपने स्वतःके मतोंके प्रदर्शन करनेका कहीं भी प्रयत्न नहीं किया है जितने भी विषयोंका प्रतिपादन किया है वे सारे औपनिषदिक या वैदिकशास्त्र विज्ञान तथा आधुनिक शास्त्रोंके आधारोंपर ही प्रस्थापित किये हुए हैं। और केवल इतना ही नहीं वरन् उन्हीं विषयोंको सिद्धांतरूपसे प्रस्थापित किया है जिन्हें आधुनिक शास्त्र तथा औपनिषदिक विज्ञान इन दोनोंसे पूर्ण समर्थन प्राप्त है। इन सारी बातोंको ध्यानमें रखते हुए एक और महत्त्वपूर्ण प्रश्नको प्राधान्य दिया गया है कि स्थान स्थानपर उन सारे प्रश्नोंपर इस बातके संकेत दिये गए हैं कि आधुनिक शास्त्र और औपनिषदिक (वैदिक) विज्ञानके तुलनात्मक अध्ययन करनेसे उन विषयोंको और अधिक स्पष्ट किया जा सकता है। इस प्रकारके ग्रन्थकी रचनामें जहांतक हो सका है व्यर्थके अलंकारात्मक शब्द बाहुल्यसे बचनेका भी प्रयत्न किया है और उसका उद्देश्य केवल यही है कि विद्वान् वाचकको किसी भी अध्यायके विषयकी संपूर्ण रूपरेखा थोडीसी अवधिमें ही प्राप्त हो सके।

इस ग्रन्थकी भाषाके विषयमें भी संक्षेपमें स्पष्ट कर देना उचित समझते हैं कि यह ग्रन्थ वास्तविकतः वैदिक विज्ञानके भिन्न भिन्न संशोधन स्थलों तथा तौलनिक अभ्यासके लिये उपयुक्त हों ऐसे प्रश्नोंके निर्देशके हेतु

लिखा गया है। इस प्रकारका उपक्रम राष्ट्रमें पूर्णतया नवीनतम तथा प्रथम बार ही किया होनेसे स्वतंत्र भारतके अधिकसे अधिक व्यक्तियोंको ग्रन्थमें प्रसारित विचारधाराओंसे सुगमतापूर्वक परिचित किया जावे यह प्रमुख उद्देश है और इस कारण ग्रन्थमें साधारणतः बहुजन समाजकी बातचीतकी हिंदी भाषाका ही उपयोग किया गया है। यह भाषा ग्रन्थ नहीं है और राष्ट्रके हिंदी प्रेमियोंसे नम्र निवेदन है कि वे भाषाकी दृष्टिसे देखनेके बदले इसमें प्रथित विचारधाराओंको ही प्रमुख स्थान देकर इस ग्रन्थको पढनेकी कृपा करें। अब हम प्रत्येक अध्यायमें विवेचन किये हुए विषयको संक्षेपमें प्रस्तुत करनेका प्रयत्न करेंगे—

प्रथम अध्याय " विषय प्रवेश " में यह सिद्ध करनेका प्रयत्न किया गया है कि हमारे प्राचीन वेदकालीन ऋषि तितिक्षात्मक आध्यात्मिक विवेकी सामर्थ्यवाले तथा प्रतिकारात्मक भौतिक सामर्थ्य संपन्न थे अर्थात् वे ब्रह्म वर्चस्वी थे और इसी कारण उन्होंने भारतको उत्कर्षकी परमावधिको पहुंचा दिया था। विज्ञानशास्त्र या भौतिकशास्त्र भ्रमोत्पादक होनेसे परमार्थकी दृष्टिसे वे सर्वथैव त्याज्य हैं यह गलत फहमीकी परंपरा आज दो हजार वर्षोंसे बराबर चलती आई है और हमारा दृढ विश्वास है कि आज जो हमारे राष्ट्रको शोचनीय स्थिति प्राप्त हुई है वह अधिकांश हमारे वैदिक वाङ्मयके सत्यस्वरूपको न जाननेसे हुई है। यह स्थिति बदलकर राष्ट्रमें शुद्ध स्वातंत्र्य, तेजस्वी बुद्धि, आधिभौतिक और आध्यात्मिक विद्या आदि दिव्य राष्ट्रीय सद्गुणोंका पुनरूज्जीवन हो यही युक्त है और इस कारण यह नितांत आवश्यक है कि वैदिक विज्ञानको आधुनिक विज्ञानकी सहायतासे संशोधन कर उसके दिव्य शास्त्रीय प्रमेयोंको संसारके सामने रख मानवता हितार्थ उनसे पूर्ण लाभ उठाया जावे।

दूसरे अध्यायमें परा और अपरा विद्या या ज्ञान और विज्ञानके विषयका विवेचन करते हुए यह सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है कि दशोपनिषदोंके अनुसार चारों वेद, छः हों वेदांग तथा सारे ब्राह्मणग्रन्थ, जो एक प्रकारसे

चारों वेदोंपरके टीकाग्रन्थ हैं, या अपरा विद्या हैं। तो यह प्रश्न सहज निर्माण होता है कि परा विद्या कहां पाई जा सकती है और इस प्रश्नका समर्पक उत्तर दशोपनिषदोंपर ही आधारित इस प्रकार दिया गया है कि वेदोंके विज्ञानसे अर्थात् अपरा विद्यासे जीव, जगत्, परमेश्वरका पारस्परिक संबंध स्पष्ट समझ कर इस वैज्ञानिक ज्ञानको ध्यानोपासना या सेवोपासनासे अपने स्वतःके दैनंदिन व्यवहारमें उतार कर उन गूढ वैज्ञानिक तत्त्वोंका स्वानुभव प्राप्त करना ही परा विद्या है। और इन दो विद्याओंके योग्य संगमको वैदिक कालमें ब्रह्म विद्या यह संज्ञा प्राप्त थी और इस ब्रह्म विद्या द्वारा प्राप्त होनेवाला अभ्युदय निःश्रेयस् प्राप्तिका, वैदिक संस्कृतिने, मनुष्यका ध्येय निश्चित किया था। हमारा आज दो हजार वर्षोंसे प्रचलित वेदांत यद्यपि व्यक्तिको मोक्षदायक हुआ है ऐसा मानें तो भी वह राष्ट्रको पारतंत्र्यकी शृंखलामें जकडा देनेवाला ही सिद्ध हुआ है। यह बात क्यों, कैसे, कब और किस कारणसे हुई इन बातोंका संशोधनात्मक उत्तर प्राप्त करनेके प्रयत्न करना स्वतंत्र भारतके लिये नितांत आवश्यक है।

तीसरे और चौथे अध्यायमें ब्राह्मण ग्रन्थोंके निर्माणकी कारण परंपरा तथा उनके द्वारा अग्निहोत्र और यज्ञ संस्थाको निर्माण कर उससे मंत्रों और तत्कथित कर्मोंको संलग्न करनेके शास्त्रीय या वैज्ञानिक कार्यका विवेचन है। इसमें यह सिद्ध किया है कि यज्ञ एक विधान है जिसके द्वारा यजमान देवताओंको तृप्त कर अपना अभिलषित आनंद प्राप्त करता है। इसमें कई औपनिषदिक उद्धरण देकर यह स्पष्ट किया है कि, (१) ब्राह्मण ग्रन्थ और उससे संलग्न यज्ञ संस्थाका निर्माण त्रेतायुगमें हुआ, (२) यह यज्ञ विद्या ही प्रतिष्ठा प्राप्तिकी साधन थी, (३) यज्ञवेदिके इष्टकाओंका इहलोक, अन्तरिक्षलोक और आमुष्मिक लोकोंसे और उसी तरह आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक विषयोंसे संबंधोंका विवेचन, (४) यज्ञ द्वारा देवताओंको प्रसन्न करना या देवतारूप हो जानेका अर्थ, (५) ब्रह्मयज्ञमें अग्निहोत्र और तन्मूलक साक्षात् सोमादि यज्ञोंकी अनावश्यकता

और अन्तमें (६) ब्रह्मविद्या मूलक पुरुष यज्ञमें मनुष्यके नित्यके व्यवहार ही यदि वे नितांत शुद्ध रूपसे किये जांय तो वे ही अमृतत्व प्राप्तिके सर्वश्रेष्ठ साधन हैं। इन सारी बातोंको बताकर अन्तमें यह स्पष्ट किया है कि ब्रह्मयज्ञ या आध्यात्मयज्ञ ही मुख्य प्राप्तीय वस्तु है और आचार, प्रधान श्रौतधर्म केवल उसे स्पष्ट करनेके हेतुसे स्थापन की हुई, एक प्रकारसे उसका 'प्रॅक्टिकल डीमांस्ट्रेशन' या, उसकी नकल है। इस विषयमें उत्पन्न होनेवाले अनेक महत्त्वपूर्ण प्रश्नोंका निर्देश कर यह स्पष्ट किया है कि इन प्रश्नोंके संशोधनात्मक प्रयत्न राष्ट्रीय दृष्टिसे कितने महत्त्वपूर्ण हैं।

पांचवें या देवता बुद्धिके अध्यायमें सर्वप्रथम यह बताया गया है कि आर्योंके तत्त्व संशोधनका उगम स्थान देवता बुद्धि और तदनुषंगिक यज्ञ धर्म ही है। इसके पश्चात् देवता शब्दकी वैदिक व्याख्या स्पष्ट की है और उसके पश्चात् शरीरस्थ और सृष्टिगत देवताओंका पारस्परिक संबंध स्पष्ट किया है। आत्मतत्व या ब्रह्मतत्व ही पिंड ब्रह्मांडमें संघटन (आधिभौतिक) प्रकाशन (आधिदैविक) व नियमन (आध्यात्मिक) करनेवाली मूल आधारभूत शक्ति है। यह बताकर व्यष्टि समष्टिगत देवताओंका पारस्परिक संबंध स्पष्ट किया है। अन्तमें यह बताया है कि मोक्ष यह वस्तु चिद्रूप आत्माको प्राप्त होनेवाली चीज नहीं है। परंतु वह जडबुद्धिको प्राप्त होनेवाली प्रक्रिया है क्योंकि वह जड होते हुए चैतन्यसे ही उत्पन्न हुई होनेके कारण आत्मज्ञानपूर्वक किये गए कर्तव्योंके आचरणसे उसका जडत्व नष्ट होकर वही चैतन्य स्वरूप हो जाती है और यही मानव जीवनकी परमावधि है।

छठे अध्यायमें सृष्टि और ब्रह्मतत्वका कार्यकारण संबंध बताते हुए यह स्पष्ट किया है कि ब्रह्म ही सृष्टिका उपादान तथा निमित्त कारण किस प्रकार है, और यही औपनिषदिक ब्रह्म प्रकृतिवाद है। उसके पश्चात् सांख्यमतकी रूपरेखा बताकर फिर मायावादकी कल्पनाका उद्भव ब्रह्म प्रकृतिवादके विवर्तसे कैसे हुआ यह स्पष्ट कर फिर मायावादकी रूपरेखाको बताते

हुए यह स्पष्ट करनेका प्रयत्न किया है कि इस विचारसरणीके ही कारण आजका हमारा समाज व्यक्तिप्रधान बनते बनते राष्ट्रघातकी किस प्रकार बना। इसके बादमें यह बतानेका प्रयत्न किया गया है कि इन सारी बातोंका प्रादुर्भाव ऐतिहासिककालमें होनेके कारण इसी कालमें भारतका अधःपतन हुआ है। भारतके इतिहासमें और भी तीन महत्वपूर्ण कालखंड हैं, जिनमें अभ्युदयपूर्वक निःश्रेयस् प्राप्तिका तेजस्वी ध्येय वैदिक संस्कृतिका था। इस प्रकारकी औपनिषदिक कालकी ब्रह्मविद्यासे प्राप्त होनेवाली विचारधारामें परिवर्तन होकर वह ऐसा निस्तेज क्योंकर बनी इस विषयका राष्ट्रीय स्तरपर संशोधनकी आवश्यकताको बताकर यह अध्याय पूर्ण किया है।

इसके आगेके अर्थात् वैदिक संस्कृतिके वाङ्मयके ऐतिहासिक सिंहावलोकनके अध्यायमें स्पष्ट किया गया है कि इसके ऐतिहासिक दृष्टिसे चार भाग किये जा सकते हैं। पहले मंत्रकाल जिसमें ऋषियोंने मंत्रोंका साक्षात् किया। दूसरा ब्राह्मणकाल या त्रेतायुग जिस कालमें ऋषियोंने यज्ञ संस्था निर्माण कर वैदिक वाङ्मयकी शास्त्रीय रचना की और उसी शास्त्रीय ज्ञानके आधारपर समाज रचनाका महान कार्य किया। तीसरा कालखंड है स्मृतिकाल, सूत्रकाल, गीताकाल या द्वापर। वास्तवमें देखा जाय तो इस कालका यह सारा वाङ्मय संपूर्णतयः वैदिक या विशेषकर औपनिषदिक तत्वज्ञानपर ही आधारित है। ब्रह्मवर्चस्वी वैदिक तत्वज्ञानके विरुद्ध सांख्योंके रूपमें उत्पन्न हुई संन्यास मार्गीय विचारधाराका इस कालमें प्रथम आक्रमण हुआ दिखता है जिसे वैदिक संस्कृति खाकर हजम (पचा) कर गई ऐसा कहा जा सकता है।

चौथा कालखंड है, अपना ऐतिहासिक कालखंड इसके विवेचनमें बौद्ध, जैन धर्म तथा शांकर, रामानुज इत्यादि सांप्रदायोंके निर्माणकी कारण परंपराका विवेचन करते हुए यह स्पष्ट करनेका प्रयत्न किया है कि ब्रह्मवर्चस्वी वैदिक तत्वज्ञानके विरुद्ध संन्यास मार्गीय विचारधाराओंके बराबर

आक्रमण होते गए हैं। परन्तु मूल तेजस्वी वैदिक विचारधाराने वैदिक संस्कृतिको आज दिनतक जीवित तथा प्रभावशाली बनाए रखनेका प्रयत्न किया है। अबतकके सात अध्यायोंमें प्रस्तुत किये हुए विवरणको ग्रन्थका पूर्वार्ध कह सकते हैं। अगले सात अध्यायोंको ग्रन्थका उतरार्ध कहा जा सकता है और उस भागके पहले तीन अध्यायोंमें ब्रह्मविद्याके उपसिद्धांतोंकी रचना जिन शास्त्रीय (सायंटिफिक) पद्धतियोंपर आधारित हैं उनका विवेचन है और अगले या अन्तके चार अध्यायोंमें इन पहले तीन अध्यायोंके शास्त्रीय तत्वज्ञानपर आधारित वैदिक संस्कृतिने निश्चित किये हुए आचार धर्म विषयक मौलिक सिद्धांतोंका विश्लेषण है जिनमें कर्मविपाक, पुनर्जन्म, वैदिक समाजरचना आदि विषय सम्मिलित हैं।

इस उत्तरार्धके पहले अध्यायमें तैत्तिरीय उपनिषदांतर्गत भार्गवी या वारूणी विद्याके विवेचनमें यह स्पष्ट किया है कि उपनिषदोंमें मूलतः बुद्धिवादको ही प्राधान्य दिया हुआ है। इसके उपरांत ब्राह्मी स्थितिका वर्णन कर वैदिक ऋषियोंने बुद्धियोग और उपासना मार्गका मेल कैसे मिलाया है वह बताते हुए यह स्पष्ट किया है कि ब्रह्मतत्वका ज्ञान संपादन करनेका साधन इस नाते संशोधनात्मक शास्त्रीय पद्धतिकी अभ्यासात्मक तपश्चर्या ही वैदिक ऋषियोंको मुख्यतः अभिप्रेत है। दूसरे अध्यायमें प्राणविद्याका विवेचन करते हुए यह स्पष्ट किया है कि आधुनिक विज्ञानशास्त्र और प्राचीन वेदांत शास्त्रोंने किये हुए सारे संशोधन प्रायः एक ही तरहके प्रमेय प्रस्थापित करते हैं। प्राणविद्यामें आए हुए मिथुन शब्दको स्पष्ट करते हुए बादमें प्राणतत्वके आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक स्वरूप समझानेका वर्णन है। बादमें प्राणकी उत्पत्ति, स्थिती, उत्क्रांति तथा पिंड ब्रह्मांडके धारण आदि विषयोंका वर्णन है। इसके पश्चात् उपासना मार्गके शास्त्रीय स्वरूप तथा षोडशकलात्मक पुरुषका विवेचन कर प्राणविद्याका ब्रह्मविद्यामें अन्तर्भाव समझा, अन्तमें वेदांतविद्या प्रतिपादित बुद्धियोग, पातंजलयोग, तथा भक्तियोगका पारस्परिक संबंध तथा आधुनिक शास्त्रोंमें इन मार्गोंके विषयकी विचारसरणी तथा तुलनात्मक अध्ययनका महत्त्व बताया है।

अगले अध्यायमें ब्रह्मविद्याके उपसिद्धांतोंकी रचनाको स्पष्ट करनेवाली तीसरी वैदिक शास्त्रीय पद्धति है। यही पंचाग्नि विद्याके नामसे प्रसिद्ध है जिसमें सृष्टिकी उत्पात्तिक्रमके पांच मूल तत्त्व ठहराकर उन्हें होम हवनके रूपकसे वर्णन किया है। वैदिक ऋषियोंके इस शास्त्रीय विचारधाराको आधुनिक शास्त्रीय प्रमेयोंमें योग्य स्थान प्राप्त करा देनेका उत्तरदायित्व भारतीय शास्त्रज्ञोंपर है। इसके पश्चात् पितृयाण और देवयान, स्वर्ग और अमृतत्व, सद्योमुक्ति और क्रममुक्ति आदि विषयोंका विवेचन करते हुए पितृयाण मार्गके संबंधमें आए हुए संवत्सर, मास, पक्ष, दिवस आदि कालवाचक शब्द वास्तविकतः देवतावाचक कैसे हैं यह समझाते हुए मनुष्यलोक, पितृ-लोक, देवलोक इन शब्दोंके व्यावहारिक तथा शास्त्रीय स्वरूप स्पष्ट किये हैं, और अन्तमें 'प्रजाकाम' इस शब्दसे गोत्र पुत्र परंपरा ही अमृतत्व प्राप्तिका मार्ग कैसे है यह स्पष्ट कर यह अध्याय समाप्त किया है।

कर्मविपाकके अध्यायमें प्रथम पिछले अध्यायके पितृयाण व देवयान मार्गोंका और स्पष्टीकरण करते हुए बादमें कर्मोंकी उत्पत्ति तथा उनके भिन्न भिन्न वर्गीकरणोंको समझाया है। फिर पिंडगत आत्माके तीन अन्न, वाणी, मन, प्राण इनको शुद्ध बनाकर उन्हें देवतारूप प्राप्त करा देना ही मनुष्यके आयुष्यकी इति कर्तव्यता कैसे है यह स्पष्ट किया है। बादमें नाम, रूप, कर्म इन तीन तत्वोंमें पिंडब्रह्माण्डान्तर्गत सारे गुणधर्मोंका समावेश कैसे करते आता है यह बता, प्राण यह आत्माका सगुण स्वरूप कैसे है यह स्पष्ट किया है। इसके आगे प्रारब्ध संचित और क्रियमाण कर्मोंका विवेचन शास्त्रीय तथा वैदिक विज्ञानके दृष्टिकोणको सामने रखते हुए किया गया है और पुनर्जन्मके प्रश्नको लेकर उससे इन कर्मोंके संबंधके विषयकी शुरूवात कर अध्याय समाप्त किया है।

इसके बादमें पुनर्जन्मके अध्यायको शुरू करते हुए मानवताके भवि-तव्यके विषयमें पाश्चात्य शास्त्रज्ञोंकी विचारधाराको बताते हुए इस अध्या-यमें यह स्पष्ट किया है कि पाश्चात्य शास्त्रज्ञोंसे न छुडाए जानेवाले दो

प्रश्नोंमेंसे एक प्रश्नको वैदिक ऋषियोंने कैसे छुडाया है। बादमें पुनर्जन्म विषयक चार्वाक, सांख्य और प्रचलित वेदांतियोंकी विचारधाराओंको बता बादमें वेदांत विचारधारा और आधुनिक शास्त्रीय विचारधारा एक ही सिद्धांत कैसे प्रस्थापित करते हैं यह स्पष्ट किया है। बुद्धकालसे हमारे राष्ट्रकी वैदिककालीन अध्ययन परंपरामें आधिभौतिक विज्ञानकी अध्ययन परंपरा नष्ट होनेसे सच्चे वैदिक तत्वज्ञानकी भयंकर हानि हुई है और यही कारण है कि मृत्यु और पुनर्जन्म इन दो बिलकुल भिन्न प्रक्रियाओंको एकमें मिलानेका अशास्त्रीय तथा अवैदिक कार्य हुआ। यही कारण है कि इन अध्यायोंद्वारा वैदिक विज्ञानका संशोधन आधुनिक शास्त्रोंकी सहायतासे कर उसे संसारके सामने प्रस्तुत करनेका कार्य नवोदित भारत करे यह विनंती करनेका साहस कर रहे हैं।

अंतिम दो अध्यायोंमें वैदिक समाज रचनाके विषयका शास्त्रीय विवेचन है। आधुनिक शास्त्रज्ञोंसे न छुडाये जानेवाले दो प्रश्नोंको हमारे ऋषियोंने कैसे हल किया है यह बताते हुए यह सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है कि पहले प्रश्नका सही हल न मालूम होनेके कारण भिन्न भिन्न धार्मिक सांप्रदायोंका संसारमें किस प्रकार निर्माण हुआ है और दूसरे प्रश्नका शास्त्रीय हल न मालूम होनेके कारण राजनैतिक सांप्रदायोंका निर्माण क्योंकर हुआ। इसके पश्चात् व्यक्ति धर्म और समाज धर्मोंकी वैदिककालीन शास्त्रीय मर्यादाओंका विश्लेषण करते हुए यह बताया है कि वैदिक तत्वज्ञानानुसार मनुष्यने इस जगत्में सौ वर्ष कर्म करते हुए जीवित रहनेकी इच्छा क्यों करनी चाहिये तथा योग्य रीतिसे व्यक्तिगत जीवन व्यतीत करनेसे ही मनुष्य तीनों ऋणोंसे कैसे मुक्त हो सकता है। इन्हीं अध्यायोंमें उस दूसरी गलतफहमीका जो आजकी विचारसरणीमें प्रचलित है, उल्लेख करते हुए यह स्पष्ट किया है कि आधुनिक शास्त्र तथा वैदिक विज्ञान ये दोनों अमृतत्व प्राप्तिके विषयमें एक ही विचार कैसे उधृत करते हैं। अध्याय तथा ग्रन्थको समाप्त करते हुए यह सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है कि आधुनिक शास्त्रोंकी सहायतासे वैदिक विज्ञानका संशोधन होना अत्यंत

महत्वपूर्ण है क्योंकि इस प्रकारके संशोधनात्मक कार्यसे आधुनिक शास्त्रज्ञ इन दो प्रश्नोंके हल पा सकेंगे और तब मानवताके आगेके उद्धारका मार्ग निश्चित किया जा सकेगा।

आजतक हम भारतियोंकी हमारे वैदिक वाङ्मयकी ओर देखनेकी परंपरासे बिलकुल ही भिन्न दृष्टिकोणसे देखनेका कदाचित यह बिलकुल ही नया तथा पहला ही प्रयत्न होनेसे यह संभव है कि अपनी निर्धारित विचार सरणीका स्पष्ट रूपसे प्रस्तुत करनेमें हमारे राष्ट्रके विद्वानोंके परंपरागत विचारसरणीको धक्का पहुंचाते हों परंतु यहां हम स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि हमारा उद्देश्य उन्हें यत्किंचित भी दुखानेका नहीं है। हम तो केवल यही प्रतिपादन करना चाहते हैं कि हमारे पूर्वजोंने हमें प्रदान किये हुए ज्ञान भंडारको इस नए दृष्टिकोणसे देखनेमें क्या हमारा, हमारे राष्ट्रका तथा सम्पूर्ण मानवताका अधिक कल्याण हो सकता है? और यदि इस प्रकारके लाभ होनेकी आशा प्रतीत हुई तो हमने आज बीस वर्षोंसे की हुई आभ्यासिक तपश्चर्या सार्थक हुई ऐसा समझ हम उन सारे कष्टोंको भूल जावेंगे। यह भी संभव है कि इस प्रकारके नये उपक्रममें हमने वे ही बातें बार बार उद्धृत की हों, क्योंकि आद्योपांत सारा कार्य नोट्स निकालना, रफ ड्राफ्ट करना, उसे सुधारना और अंतमें उसकी फेअर कॉपी करना यह सारा कार्य मुझे ही करना पडा है और इस कारण हम आशा करते हैं कि ऐसी भूलोंके लिये हमारे पाठक हमें क्षमा करेंगे।

इस कार्यके करनेमें जिन जिन विद्वानोंके ग्रन्थोंका परिशीलन करनेका प्रयत्न किया है उन ग्रन्थोंके नाम स्थान स्थानपर दे दिये हैं। हम इन सारे ग्रन्थकर्ताओंके आभारी हैं। आंग्लभाषामें जो इसी विचारधाराका पहला ग्रन्थ हमने अपने सेवाकालमें लिखा था, उसे कई भारतीय तथा कई आंग्ल विद्वानोंने पढनेका कष्ट कर हमें उपकृत किया है। पिछले छः वर्षोंके सेवा-निवृत्ति कालमें तपस्यात्मक भावनासे अपनी राष्ट्रभाषामें लिखे हुए इस दूसरे ग्रन्थके अध्याय पढकर और उनपर विचार विनिमय कर हमें सतत प्रोत्सा-

हित करनेके लिये हमारे आदरणीय वयोवृद्ध विद्वान् श्रीमंत सरदार मा. वि. किबे साहबने जो कष्ट उठाए हैं तथा इसी प्रकार हमारे मित्र पंडित गणेशदत्तजी शास्त्रीजीने कई अध्याय पढ उनपर विचार विनिमयके प्रयत्न किये हैं। इन दोनों महानुभावोंके हम अत्यंत आभारी हैं। इन अध्यायोंकी भाषाको सुव्यवस्थित स्वरूप देनेका जो प्रयत्न हमारे श्री जी. डी. सिंहने किया है, वैसे ही इसकी टाइप प्रतियां निकलवानेकी जो सहायता श्री बी. आर. वझे साहबने की है, इन दोनोंके हम आभारी हैं।

अंतमें मध्यभारत सरकारने एक विद्वानोंकी समिति निर्माण कर, जो कार्य विश्वविद्यालय, ऑल इंडिया सायंस कॉंग्रेस असोसिएशन, तथा कौंसिल ऑफ् साइंटिफिक अॅन्ड इंडस्ट्रियल रिसर्च, इन तीन राष्ट्रकी प्रमुख शास्त्रीय संस्थाओंसे न हो सका उस कार्यको (अधूरा ही क्यों न हो) कर हमारे ऊपर जो उपकार किया है उस ऋणसे हम कभी मुक्त नहीं हो सकते। इसी तरह इस समितिमें नियुक्त श्री पंडित विनायक शास्त्री टिल्लु, श्री पंडित भागीरथ शास्त्री, श्री पंडित गजानन शास्त्री, श्री पंडित विप्रदासजी तथा श्री सरदार किबे साहब इन सभी विद्वज्जनोंने इस परीक्षणके कार्यमें जो मैत्रीपूर्ण भाव तथा पूर्णतः सहयोगसे कार्य किया है उसके लिये उन्हें धन्यवाद देकर हम प्रस्तावनाको पूर्ण करते हैं। इति।



ॐ

[अनुक्रमणिका]

प्रथम अध्याय (पृष्ठ १-११)

विषय प्रवेश

मानवी जीवनक्रममें कर्म, उपासना और ज्ञान इन तीनोंकी आवश्यकता। दिव्य राष्ट्रीय सद्गुणोंके पुनरुज्जीवनसे ही राष्ट्रोद्धार संभव। उपनिषद् राष्ट्र-धर्मकी नींव। केवल पिंड या शरीरके विचारसे ब्रह्मविद्या अपूर्ण। इसी कारण सृष्टिज्ञान या आधिभौतिक ज्ञानकी आवश्यकता। ब्राह्मणभागसे मंत्रभाग अधिक महत्वपूर्ण। मंत्रभागमें आधिभौतिक और आध्यात्म ज्ञानके सहाध्यायका महत्व। कृष्णद्वैपायनने विज्ञान शास्त्रको दिया हुवा महत्व। ' ब्राह्मण ' याने विद्योपजीवी वर्ग। विद्यासे अमृतत्व प्राप्ति और अविद्यासे मृत्युसे तर जाना। विश्वामित्रद्वारा वशिष्ठकी कामधेनु हरणकी कथाका तात्पर्य। वैदिककालमें भारतियोंकी विज्ञान शास्त्रोंमें प्रगति। उस कालमें उनका अन्य देशोंमें पर्यटण। अश्वपति राजाका उसके राज्यकी उच्चतम समाज रचनाका वर्णन। आर्यावर्तकी भारतीय युद्धतक वैभवशाली स्थिति। बादमें उस स्थितिमें आया हुवा शैथिल्य। वैदिक तत्वज्ञानमें बुद्धकालसे मायावादी तत्वज्ञानका प्रवेश। बुद्धोत्तरकालमें उसे आया हुवा महत्व और उसके राष्ट्र जीवनपर परिणाम। आधुनिक वेदान्तने विज्ञानको अपनी कक्षासे निकाल देनेके परिणाम। ब्रह्मस्वरूप हो जाना और सर्व मनोरथ पूर्ती ही ब्रह्मविद्याके फल। इन्हींको निश्रेयस और अभ्युदय इन दो संज्ञाओंका दिया जाना। पाश्चात्य राष्ट्रोंमें अभ्युदयको तथा पौर्वात्योंमें निश्रेयसको दिया हुवा महत्व। औपनिषद् कालमें इन दोनोंका उत्कृष्ट समन्वय। ऐतिहासिक-कालका एकांगी तत्वज्ञान और उसके परिणाम। भारतके अवनतिकी कारण परंपरा। श्री लोकमान्य तिलकको कर्मयोग शास्त्रको प्रतिपादन करनेकी आवश्यकता प्रतीत होना। इस ग्रंथमें पुराण मतवादियों तथा आधुनिक

सुधारक विचारधाराओंसे दिखाई देनेवाला विरोध। आधुनिक शास्त्रोंके संशोधनोंसे वैदिक ऋषियोंके वैज्ञानिक संशोधन अधिक महत्वपूर्ण। तौलनिक अभ्यासकी आवश्यकता तथा उसका महत्व।

अध्याय दूसरा (पृष्ठ ११-३९)

परा और अपरा विद्याविषयक प्रश्न

प्रत्येक धार्मिक सांप्रदायके दो भाग। तत्वज्ञान या विचार और आचरण या आचार। वैदिक धर्मके मूल तत्वोंका उपनिषदोंमें विवेचन। ब्रह्मसूत्रोंमें औपनिषदिक वचनोंकी सिद्ध की हुई एकवाक्यता। उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और गीताको प्रस्थानत्रयीकी संज्ञा प्राप्त होना। वैदिक वाङ्मयके दो भाग– मंत्र और ब्राह्मण। ईशोपनिषद्को अन्य उपनिषदोंसे अधिक महत्व। मुंडकोपनिषद्में चारों वेद और छहों वेदांगोंको अपरा विद्या कहा जाना। यदि ये अपरा विद्या है तो परा विद्या कौनसी? दस उपनिषद् किस किस मंत्रभाग, ब्राह्मणभाग या आरण्यकोंके अंश हैं। मुंडकोपनिषद्का उपक्रमोपसंहारकी दृष्टिसे विश्लेषण। वैदिक कर्मयोग अर्थात् कर्म उपासना और ज्ञान इनका समन्वय। परा विद्याकी व्याख्या। ज्ञानकी परोक्ष और अपरोक्ष अवस्थाएं। वेदांत शास्त्रमें ब्रह्मतेज या ब्रह्मवर्चस्वकी महत्ता। एक ही प्रस्थानत्रयीसे भिन्न भिन्न धार्मिक सांप्रदायोंका निर्माण। इनके उत्पत्तिके कारण परंपराका विवेचन। आजके वेदान्तने अभ्युदयको ब्रह्मविद्याकी कक्षासे निकाल देना। इसके राष्ट्रोन्नतिपर होनेवाले परिणाम। राष्ट्रकी विज्ञान संस्थाओंको वैदिक विज्ञानकी खोज करनेकी विनंती। इन दोनों विज्ञानोंके तौलनिक अभ्यासका महत्व।

अध्याय तीसरा (पृष्ठ ४०-५४)

ब्राह्मण ग्रन्थ -- यज्ञ संस्था (पूर्वार्ध)

वेद शब्दका अर्थ। ब्राह्मण ग्रन्थोंकी उत्पत्ति। वेद मंत्रके साथ उसका दृष्टा ऋषि, उसकी देवता तथा उसके छंदका उल्लेख। ऋषि, देवता तथा

छंदका स्पष्टीकरण। अग्निहोत्र संस्थांका निर्माणकाल। अग्निहोत्र संस्थाके ऋत्विज, अग्नि आदि। यज्ञयाग युक्त श्रौत धर्म। त्रेतायुग, त्रयी विद्या आदि शब्दोंका स्पष्टीकरण। त्रेतायुगमें वैदिक वाङ्मयकी शास्त्रीय रचना कार्य। यज्ञ संस्थाके निर्माणका उद्देश। एक वेदका चार वेदोंमें बांटा जाना। इस शास्त्रीय तत्वज्ञान द्वारा होनेवाली समाजोन्नति। स्मृतिकालमें पंच महायज्ञोंकी महति। यज्ञानुष्ठानके विधिका विवेचन। अग्नि, ऋत्विज, ग्रह, अतिग्रह, दीक्षा, उपसद, सामग्री, देवता, सवन विधि आदिका विश्लेषण। यज्ञसंस्थाकी शास्त्रीय उपयुक्तता। सांत और अनंत स्वर्ग। यज्ञसंस्था विषयक भिन्न भिन्न प्रश्नोंका निर्माण। इन सारे प्रश्नोंकी आधुनिक शास्त्रोंकी सहायतासे संशोधनकी आवश्यकता तथा महत्व।

अध्याय चौथा (पृष्ठ ५५-७२)

ब्राह्मण ग्रन्थ – यज्ञ संस्था (उत्तरार्ध)

भारतियोंकी वैदिक वाङ्मयकी उपेक्षा। औपानिषदिक मंत्रोंके यज्ञसंस्था विषयक उद्धरण। मुंडकोपनिषद् द्वारा ज्ञानयुक्त कर्मका प्रतिपादन। कठके उद्धरणोंसे ब्रह्मविद्या संपादन ही मनुष्यका ध्येय। अग्नि विद्याका अर्थ ही विज्ञानशास्त्र। यज्ञकी तीनों इष्टकाओंका इहलोक, अन्तरिक्षलोक तथा आमुष्मिक लोक, वैसे ही आधिभौतिक, आधिदैविक व आध्यात्मशास्त्र तथा ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेदसे संबंध। बृहदारण्यकके उद्धरणोंसे देवतारूप हो जानेका अर्थ। मुक्तावस्था तथा ब्रह्मविद्यामें अग्निहोत्र तथा सोमादि यज्ञोंकी अनावश्यकताका प्रतिपादन। पिंड ब्रह्मांड स्थित देवताओंका तथा यज्ञस्थ देवताओंका साम्य। छांदोग्यके उद्धरणोंसे पुरुष यज्ञका स्पष्टीकरण तथा उसका श्रेष्ठत्व। इन चारों उपनिषदोंके उद्धरणोंसे निकाले हुए निष्कर्ष। यज्ञसंस्थाके निर्माण विषयक शास्त्रीय दृष्टिकोण। आधुनिक शास्त्रोंकी सहायतासे इसमें संशोधन किये जानेकी नितांत आवश्यकता तथा उसका महत्व।

अध्याय पांचवा (पृष्ठ ७३-९३)

देवता बुद्धि

ब्रह्मतत्वका विचार करनेकी दो पद्धतियां। आर्योंके तत्वसंशोधनका उगम स्थान देवता बुद्धि तथा तदनुषंगिक यज्ञ धर्म। सृष्टिचक्र चलानेवाली शक्तियों अर्थात् देवताओंका वर्गीकरण। संघटक शक्ति, प्रकाशक शक्ति तथा नियामक शक्ति। इन्हीको दिये हुए नाम आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्म शक्ति या देवता। देवता शब्दकी शास्त्रीय व्याख्या। शरीर-शास्त्र तथा सृष्टिशास्त्रके तुलनात्मक अभ्यासकी आवश्यकता तथा उसका महत्व। सृष्टिगत और शरीरस्थ देवताओंका पारस्परिक संबंध। ब्रह्मतत्व और आत्मतत्वकी एकरूपता। मधु ब्राह्मण द्वारा व्यष्टिगत और समष्टिगत देवताओंका संबंध। यज्ञकी देवताओंमें सर्वश्रेष्ठ देवता। इसीके आधारपर ब्रह्म सिद्धांतकी स्थापना। ब्रह्मविद्याका फल ब्रह्मस्वरूप हो जाना। भिन्न भिन्न सृष्टिगत देवताओंसे भिन्न भिन्न शरीरस्थ देवताओंकी उत्पत्ति। मोक्ष यह प्रक्रिया चिद्रूप आत्माको प्राप्त होनेवाली नहीं वरंच जड बुद्धिको प्राप्त होनेवाली परिस्थिति। उसके प्राप्तिके मार्ग। शास्त्रीय दृष्टिकोणसे देवता बुद्धिके अध्यायका महत्व। आधुनिक शास्त्रीय दृष्टिकोणसे उसके पूर्ण संशोधनकी आवश्यकता।

अध्याय छठा (पृष्ठ ९४-११४)

ब्रह्म प्रकृतिवाद, मायावाद, तथा सांख्योंके परिणाम-वादका सामान्य स्वरूप

सृष्टि और ब्रह्मतत्वका स्पष्ट स्वरूप बताना ही वेदान्त शास्त्रका मुख्य विषय। भिन्न भिन्न उपनिषदोंसे इस विषय संदर्भके उद्धरण। श्रीमत् आद्य शंकराचार्यजीका इस विषयपर मत। कार्यकारणभावकी चिकित्सा। सृष्टिरूप कार्यका ब्रह्म ही आदि कारण। ब्रह्मसूत्रोंमें ब्रह्मतत्वसे सृष्टिके

*

उत्पत्तिका क्रम। यही ब्रह्म प्रकृतिवाद। सांख्यवादका सामान्य स्वरूप। मायावादकी ब्रह्म प्रकृतिवादके विवर्तसे उत्पत्ति। मायावादी कल्पनाओंका समाजके व्यवहार और आचार धर्मपर परिणाम। राष्ट्रमें उत्पन्न हुए व्यक्तिवादी जीवनके परिणाम। भारतके इतिहासके ऐतिहासिक कालके पहलेके दो बडे बडे कालखण्ड– श्रुति और स्मृतिकाल। इन कालखंडोंमें इष्ट और पूर्त या व्यक्ति धर्म और समाज धर्मकी निश्चित की हुई मर्यादा। वैदिक संस्कृतिका अभ्युदयपूर्वक निःश्रेयस् प्राप्ति यही मानवी जीवितका निश्चित किया हुआ ध्येय। मूल औपनिषदिक वाङ्मयका स्वतंत्र बुद्धिसे अभ्यास करनेकी आवश्यकता। संन्यासधर्म और मायावाद इन दोनोंका शुद्ध वैदिक स्वरूप। इस लेखमाला द्वारा लेखकने सुझाई हुई संशोधनात्मक कार्यकी राष्ट्रीय दृष्टिसे नितांत आवश्यकता।

अध्याय सातवां (पृष्ठ ११५-१३६)

वैदिक संस्कृतिके वाङ्मयका ऐतिहासिक सिंहावलोकन

वैदिक संस्कृतिका प्राचीनत्व। वैदिक संस्कृतिके इतिहासके चार कालखंड। संहिताकाल, मन्त्रकाल या कृतयुग। वेद शब्दका अर्थ पूर्ण ज्ञान। वेदोंका अपौरुषेयत्व। ब्राह्मणकाल अर्थात् त्रेतायुग। इसमें यज्ञधर्मकी प्रस्थापना। इस कालके ऋषियोंने किया हुआ शास्त्रीय कार्य। मन्त्रभाग यदि ' फंडामेंटल सायंसेस ' कहे गए तो ब्राह्मणभाग ' अप्लाइड सायंसेस ' हैं। वैदिक संस्कृतिके प्राचीनत्व तथा उसके आजतकके जिवंत अस्तित्वका कारण उसकी शास्त्रीय रचना। तीसरा कालखण्ड स्मृतिकाल, गीताकाल या द्वापर। इस कालखंडमें संन्यासमार्गी सांख्योंका वैदिक संस्कृतिसे संघर्ष। वैदिक संस्कृतिका सांख्य विचारधाराको आत्मसात कर उसे पचा जाना। वैदिक संस्कृतिके द्वापर कालखंडमें भारतकी वैभवशाली स्थिति। चौथा ऐतिहासिक काल। इस कालखंडमें संन्यासमार्गी बौद्ध तथा जैन विचारधाराओंसे संघर्ष। श्री आद्य शंकराचार्यके संन्यासमार्गी मायावादसे मूल वैदिक विचार-

धाराको प्राप्त हुई विकृति। इस विकृत विचारसरणीको आगे आए हुए प्रभुत्वके कारण राष्ट्रपर होनेवाले परिणाम। ब्रह्मतेजसे सजी हुई वैदिक कालकी वैदिक संस्कृतिके पुनरुज्जीवनकी आवश्यकता। राष्ट्रीय दृष्टिसे ऐसे कार्यका आत्यंतिक महत्त्व।

अध्याय आठवां (पृष्ठ १३७-१६२)

औपनिषदिक बुद्धिवाद 'भार्गवी वा वारुणी विद्या'

वैदिक ऋषियोंने की हुई ब्रह्मविद्याके उपसिद्धांतोंकी रचनाकी तीन शास्त्रीय पद्धतियाँ। सारे उपनिषदोंने बुद्धिवादको दिया हुआ प्राधान्य। श्रुतिका तात्पर्य निश्चित कर उसका वाक्यार्थ करनेमें बुद्धिकी स्वतंत्रता। क्षेत्र क्षेत्रज्ञ विचार द्वारा योगयुक्त शुद्ध बुद्धिकी निश्चित व्याख्या। आत्मा, अहं प्रत्यय, बुद्धि, मन, इन्द्रिय, विषय आदिका पारस्परिक संबंध। उपनिषदोंमें आए हुए चार महावाक्योंका स्पष्टीकरण। ब्राह्मी स्थितिका वर्णन तथा उसके प्राप्तिके तेजस्वी वैदिक साधन। बुद्धिवादमें अद्भुत कल्पनाओंको कोई स्थान नहीं। उपासना मार्ग और बुद्धियोगका पारस्परिक संबंध और इनके द्वारा ब्रह्मविद्या शास्त्रकी सर्वांग परिपूर्ण रचना। वरुण ऋषिने भार्गव ऋषिको समझाई हुई ब्रह्मविद्याकी संशोधनात्मक शास्त्रीय पद्धति। भौतिक तथा आध्यात्मिक शास्त्रोंकी अभ्यासात्मक तपश्चर्या। इसी विचारधाराके सिध्यर्थ दिये हुए दो औपनिषदिक उदाहरण। इस अध्यायमें आए हुए शास्त्रीय भागकी आधुनिक शास्त्रदृष्ट्या संशोधनकी आवश्यकता तथा उसका राष्ट्रीय-दृष्ट्या महत्त्व।

अध्याय नववां (पृष्ठ १६३-१८७)

प्रश्नोपनिषदन्तर्गत प्राण विद्या

औपनिषदिक विचारधारापर आधारित आचरणधर्म द्वारा त्रेता और द्वापरमें उच्च कोटिकी समाजोन्नति। वैदिक संस्कृतिने श्रुति वाक्योंको प्रत्यक्ष

प्रमाणके समान ही मानना। आधुनिक शास्त्रोंके संशोधनात्मक प्रयोगोंसे निकाले हुए निष्कर्ष और वेदान्तशास्त्र द्वारा निकाले हुए सिद्धांतोंका प्रायः एकसा ही होना। इस कारण दोनों शास्त्रोंके तुलनात्मक अभ्यासका महत्त्व। मिथुन इस शब्दका स्पष्टीकरण करते हुए सूर्य चंद्र, शुक्ल कृष्ण पक्ष इत्यादि मिथुन इस कक्षामें कैसे आते हैं इसका स्पष्टीकरण। वैदिक साधन चतुष्टय। प्राणके आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक स्वरूपोंका स्पष्टीकरण प्राणका शरीरसे संबंध। प्राण, अपान, व्यान, समान और उदानका शरीरमें कार्य। शरीरस्थ देवता और उनकी कार्यक्षमता अर्थात् मानसशास्त्रका विषय। उपासना मार्गका शास्त्रीय स्वरूप। षोडशकलात्मक पुरुष। प्राणविद्या यह वैदिक ऋषियोंने पिंड ब्रह्मांडका सूक्ष्म निरीक्षणोंसे निकाले हुए निष्कर्षोंका संकलीकरण। प्राण विद्याके आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक विवेचन ब्रह्मविद्याके ही अंग। वेदान्तने प्रतिपादन किया हुआ बुद्धियोग और उसका पातंजल योग, भक्ति योग इत्यादिसे संबंध। इस अध्यायके परिशीलनसे आधुनिक शास्त्रों और वेदान्त शास्त्रके तुलनात्मक अभ्यासकी आवश्यकता तथा उसका आत्यंतिक महत्त्व।

अध्याय दसवां (पृष्ठ १८८-२१५)

पंचाग्नि विद्या (आधिदैविक विद्या)

प्रवाहण जैबिलीने अरुणी वंशके श्वेतकेतुको पूँछे हुए पांच प्रश्न। पंचाग्नि विद्या अर्थात् सृष्ट्युत्पत्तिक्रमकी पांच मुख्य सीढियां। इनका तथा इनके मूल तत्त्व अर्थात् द्युलोक, पर्जन्य, पृथिव, पुरुष और स्त्री इनका होमहवनके रूपक द्वारा वर्णन। वैदिक ऋषियोंकी इस विचारधाराको आधुनिक शास्त्रीय रीतिमें बिठाए जानेका महत्व। पंचाग्नि विद्याकी फलप्राप्ति। मनुष्यको देवयान मार्गसे मोक्ष प्राप्ति। सकाम बुद्धिसे कर्म करनेवालेको पितृयाण मार्ग द्वारा स्वर्ग सुख। केवल अज्ञानीको अधोगति प्राप्त होना, सद्योमुक्ति और क्रममुक्तिका तुलनात्मक विवेचन। अमृतत्व प्राप्तिका देवयान मार्ग क्रममुक्तिपर आधारित। देवयान, पितृयाण मार्गोंके विवेचनमें आए हुए संवत्सर, मास, पक्ष, दिन-

रात आदि कालवाचक शब्दोंको देवतावाचक ही समझनेकी आवश्यकता। देवयान अर्थात् देवताओं द्वारा प्राप्त होनेवाला और पितृयाण अर्थात् पितृ परंपरासे प्राप्त होनेवाला मार्ग। इन दोनों मार्गोंका एक दूसरेको पूरक होनेके संबंधी विवेचन। पितृयाण मार्गका प्रश्नोपनिषदन्तर्गत प्रजाकाम इस शब्दसे संबंध। गोत्र पुत्र परंपरा ही अमृतत्व प्राप्तिका मार्ग। दशरथ, दिलीप, जरत्कारु आदि पौराणिक उदाहरण। इस महत्वपूर्ण शास्त्रीय विषयको आधुनिक शास्त्रीय दृष्टिकोणसे परीक्षण कर उस विषयको आधुनिक शास्त्रीय परिभाषामें स्पष्ट किये जानेकी आवश्यकता। इस प्रकारके कार्यका राष्ट्रीय दृष्टिसे अत्यंत महत्व।

अध्याय ग्यारहवां (पृष्ठ २१६-२५१)

कर्मविपाक प्रक्रिया

वैदिक धर्मके आज दिखनेवाले दो अंग। कर्मकांड या पूर्व मीमांसा और ज्ञानकांड या उत्तर मीमांसा। यज्ञ संस्थाको आया हुआ गौणत्व। उसके स्थानपर पंच महायज्ञोंको आया हुआ महत्त्व। लोकमान्यसे पुरस्कृत निष्काम कर्मयोग। देवयान और पितृयाण मार्गोंको मिथुनकी कक्षा प्राप्त। कर्मकी मूल उत्पत्ति तथा मनुष्यका सर्वप्रथम कर्म बंधनमें आना ये दोनों बातें अनिश्चित। कर्मके भाग। प्रारब्ध, संचित और क्रियमाण। लोकमान्यने किये हुए कर्मके विभाग। आरब्ध और अनारब्ध। परमेश्वरसे सात अन्नोंकी उत्पत्ति। खाद्य, पेय, होम, हवन, वाणी, मन, प्राण। वाणी, मन, प्राणमें मनुष्यकी सारी शक्तियोंका समावेश। जल व चंद्रसे प्राण, द्युलोक व आदित्यसे मन, तथा पृथ्वि व अग्निसे वाणीकी उत्पत्ति। मनुष्यका कर्तव्य इन्हें शुद्ध रखना। नाम, रूप और कर्म इन तीन तत्त्वोंमें ब्रह्मांडान्तर्गत सारे गुणधर्मोंका समावेश। इन तत्त्वोंका प्राण द्वारा आत्मतत्वसे संबंध। आत्मा और प्राणकी एकरूपताका स्पष्टीकरण। संचित कर्मोंकी आधुनिक शास्त्रीय परिभाषा। प्रारब्ध कर्मोंकी आधुनिक शास्त्रीय परिभाषा। क्रियमाण कर्मोंका

विवेचन। स्वातंत्र्य और सामर्थ्यसे मनुष्यको नरका नारायण बननेकी पात्रता। कर्मविपाक प्रश्नकी शास्त्रीय उपपत्ति सिद्ध करनेके लिये आजके वेदांतकी पुनर्जन्म कल्पना असमर्थ तथा अनावश्यक। तुलनात्मक अभ्याससे इस प्रश्नका निष्कर्ष निश्चित करनेका राष्ट्रीय दृष्टिसे अत्यंत महत्व।

अध्याय बारहवां (पृष्ठ २५३-३०१)

पुनर्जन्म

मन्त्र, ब्राह्मण, आरण्यक व उपनिषद् इनका पारस्परिक संबंध। सृष्टिके उत्क्रांति विषयक पाश्चात्य और पौर्वात्य दृष्टिकोणोंमें साम्य। हक्स्ले मतानुसार मानवके भविष्यको उज्ज्वल करनेके मार्गमें दो मुख्य शास्त्रीय आपत्तियां। वैदिक संस्कृतिने अभ्युदयपूर्वक निःश्रेयस् प्राप्ति ही मानव जीवितका ठहराया हुआ ध्येय। इसके प्राप्त्यर्थ वैदिक संस्कृतिने निश्चित किये हुए साधनोंद्वारा हक्स्ले साहबके दोनों आपत्तिजनक प्रश्नोंका हल। पुनर्जन्मके विषयमें चार्वाक, सांख्य तथा प्रचलित वेदांतका मत। इसी विषयपर आधुनिक शास्त्रीय दृष्टिकोण। इसका पांच हजार वर्ष पूर्वके वैदिक ऋषियोंके निष्कर्षोंसे साम्य। वैदिक विचारधाराके अनुसार अमृतत्व प्राप्तिका स्पष्टीकरण। बृहदारण्यकके तीसरे और चौथे अध्यायोंपर आधुनिक पुनर्जन्मकी कल्पनाका निर्माण। इस गलत विचारसरणीकी अशास्त्रीयता तथा अवैदिकता। प्रचलित पुनर्जन्मकी कल्पनासे कई औपनिषादिक मन्त्रोंका समन्वय लगाना कठिन। 'पूर्णात् पूर्णमिदं ...' इस शांति मन्त्रका शास्त्रीय स्पष्टीकरण। बुद्धोत्तर कालमें वैदिक अध्ययन परंपरासे आधिभौतिक शास्त्रोंकी अध्ययन परंपराका नष्ट होना। प्रचलित वेदान्तने मृत्यु और पुनर्जन्म इन दो भिन्न प्रक्रियाओंको एकमें मिलानेके अशास्त्रीय तथा अवैदिक प्रयत्न। इस गलतीके कारण राष्ट्रमें भिन्न भिन्न धार्मिक सांप्रदायोंका निर्माण। इस महत्वपूर्ण प्रश्नपर प्रकाश डालनेके हेतु राष्ट्रमें वैदिक संशोधन मंडलकी राष्ट्रीय स्तरपर स्थापन करनेकी विनंती। इस प्रकारके संशोधनसे मानवताके हितार्थ विश्वमें होनेवाला महत्वपूर्ण कार्य।

अध्याय तेरहवां (३०१-३३८)

वैदिक समाज व्यवस्था

(इष्ट धर्म, आश्रम धर्म, व्यष्टि धर्म, या व्यक्ति धर्म)

पांच हजार वर्ष पूर्वका औपनिषदिक विज्ञान और आजका आधुनिक विज्ञान इन दोनोंके मतानुसार मृत्यु और पुनर्भव या पुनर्जन्म ये भिन्न भिन्न प्रक्रियाएँ। पिछले दो ढाई हजार वर्षोंसे इन्हें मिलानेकी भयंकर भूल। प्रस्थानत्रयीपर आधारित भिन्न भिन्न सांप्रदायोंका निर्माण भी इसी कारण। पुनर्जन्मकी आजकी विचारसरणीको जिस कारण मानना पडता है वे सारे प्रश्न शास्त्रीय दृष्टिकोणसे आज छुडाए जा सकते हैं। उनके लिये इस शास्त्र विरोधी तथा अवैदिक कल्पनाकी कोई आवश्यकता नहीं है। भारत स्थित भिन्न भिन्न राजकीय विचारसरणियोंके स्वरूप। व्यक्तिवाद, समाजवाद तथा साम्यवादी विचारधाराओंके स्वरूप। वैदिक ऋषियोंने व्यक्ति तथा समाजकी निश्चित की हुई मर्यादा। मनुष्यकी जीजिविषा याने जियंत रहनेकी नैसर्गिक इच्छा। वैदिक संस्कृतिका आदेश सौ वर्ष कर्म करते हुए जीवित रहनेकी इच्छा करना। इष्ट धर्म, आश्रम धर्म, या व्यक्ति धर्मकी रूपरेखा। व्यक्ति धर्मका योग्य पालन करनेके लिये वैदिक ऋषियोंने निश्चित किये हुए तीन धर्म स्कंध या तीन आश्रमकाल। मनुष्यका जीवन ही एक महान यज्ञ। इन तीन आश्रमोंमें किये हुए कर्तव्याचरणोंसे तीन ऋणोंसे मुक्ति। तौलनिक अभ्याससे इन सारे प्रश्नोंको शास्त्रीय स्वरूप प्राप्त करा देनेकी आवश्यकता।

अध्याय चौदहवां (पृष्ठ ३३९-३७१)

वैदिक समाज व्यवस्था

(पूर्त धर्म, वर्ण धर्म, समष्टि धर्म या समाज धर्म)

इशोपनिषद्के पहले मन्त्रका विश्लेषण। जीवन सामग्री जिस सत्तासे प्राप्त करना हो वह योग्य मोबदला देकर ही प्राप्त करनेकी आवश्यकता। वैदिक धर्मका राजनैतिक, आर्थिक तथा सामाजिक व्यवहारोंसे घनिष्ट संबंध। मनुष्य जो भी कर्म करता है उसके दो विभाग। व्यक्ति धर्म और

समाज धर्म। इन दोनोंको शास्त्रीय पद्धतिसे किये जानेकी आवश्यकता। योग्य रूपसे किये जानेपर इन्हीं कर्मोंसे अभ्युदयपूर्वक निःश्रेयस् प्राप्ति। पाश्चात्य शास्त्रज्ञोंसे न छुडाए गए दूसरे प्रश्नको वैदिक ऋषियोंने कैसे छुडाया इसका विवरण। व्यक्ति धर्मसे समाज धर्मका श्रेष्ठत्व। व्यक्ति धर्मकी फलश्रुति तथा समाज धर्मकी फलश्रुति। वैदिक ऋषियोंने इन दोनोंका किया हुआ शास्त्रीय समन्वय। इसके कारण प्राप्त होनेवाली अभ्युदयपूर्वक निःश्रेयस् प्राप्ति ही मनुष्यके जीवितका वैदिक संस्कृतिने निश्चित किया हुआ ध्येय। आधुनिक (पिछले ढाई हजार वर्षोंसे) वेदांतने की हुई दूसरी शास्त्रीय गलती। व्यक्तिगत मोक्षकी कल्पना और उसके साधनार्थ चतुर्थाश्रम (संन्यासाश्रम) का अवैदिक निर्माण। यह विचारसरणी अशास्त्रीय तथा वेद बाह्य। इसका अशास्त्रीयत्व ईशावास्य, छांदोग्य तथा बृहदारण्यक उपनिषद्से सिद्ध, इस शास्त्रीय युगमें शास्त्रीय कल्पनाओंको ही महत्व। इस कारण शास्त्रीय दृष्टिकोणसे वैदिक विज्ञानका संशोधन कर उसके महत्वपूर्ण प्रमेयोंको आधुनिक शास्त्रीय भाषामें संसारके सामने रखनेका महत्वपूर्ण कार्य। इस प्रकारके उद्योगसे विश्वके मानवको होनेवाला उच्च कोटिका लाभ।



ॐ

ऋषियोंके विज्ञानकी श्रेष्ठता !

१ विषय प्रवेश

मानव जीवन-क्रममें कर्म, उपासना और ज्ञान इन तीन महान् तत्त्वोंकी आवश्यकता होती है, और इन तीनों तत्त्वोंके संयोगसे ही मानव जिवन कृतार्थ होता है, ऐसा वैदिक सिद्धांतका निश्चित मत है । सद्यःस्थितिमें हमारे प्राचीन वैदिक वाङ्मयका सत्यस्वरूप स्पष्टतः न समझा जानेके कारण, हमारे समाजकी स्थिति अत्यंत ही दुर्बल तथा शोचनीय हो गई है। इस परिस्थितिको बदल कर राष्ट्रमें शुद्ध स्वातंत्र्य, तेजस्वी बुद्धि, आधिभौतिक और आध्यात्मिक विद्या, धार्मिक नीति और शरीर-सामर्थ्य आदि दिव्य राष्ट्रीय सद्गुणोंका जो कि वैदिक धर्मके मुख्य तत्त्व हैं, पुनरुज्जीवन हो, यही राष्ट्रोद्धारकी दृष्टिसे युक्त है। इन तत्त्वोंका विवेचन हमारे उपनिषदोंमें अत्यंत मार्मिकतासे व्याख्यात होनेके कारण हमारे उपनिषद् भारतीय राष्ट्रधर्मकी नींव हैं, ऐसा समझनेमें कोई आपत्ति नहीं है। उपनिषद् कर्ता ऋषियोंने उपनिषदोंमें "ब्रह्म सिद्धांत"को सांगोपांग स्थिर करके "ब्रह्मविद्या" का स्वरूप स्पष्ट और परिपूर्ण किया है। वैदिक संस्कृतिके प्राचीन इतिहाससे यह स्पष्ट है, कि इस ब्रह्मविद्याके योगसे ही वैदिक धर्म तेजस्वी बनकर संपूर्ण जगत्का मार्ग-दर्शक हुआ था। ब्रह्मविद्याके "परा" और "अपरा" विद्या ये दो अंग हैं। ब्रह्मतत्त्वके केवल स्वरूपका जिसमें विवेचन होता है वह परा विद्या है, और पिंडब्रह्मांडका अर्थात् सर्व सृष्टिके स्थूल और सूक्ष्म स्वरूपका जिसमें विवेचन होता वह अपरा विद्या है।

इन दोनों विद्याओंको आधुनिक कालमें आधिभौतिक और आध्यात्मिक विद्याएं ऐसे नामाभिधान प्राप्त हुए हैं। केनोपनिषद्के (खं. २, मं. १) से स्पष्ट

है, कि केवल पिंडका अर्थात् शरीरका विचार करनेसे ब्रह्मतत्त्वका संपूर्ण स्वरूप पूर्णतः समझा नहीं जा सकता, पिंडके साथ साथ ब्रह्मांडका अर्थात् सृष्टिका विशेष विचार करना अति आवश्यक है। इंद्रिय और आत्मा इनका संबंध बराबर ज्ञात होनेसे चिद्दशकी कल्पना की जा सकती है, परंतु इतने ही ज्ञानको पूर्ण ब्रह्मज्ञान समझना भूल होगी। अर्वाचीन वेदांत ग्रन्थोंमें मुख्यतः 'शरीर व आत्मा' इन्हीं विषयोंको महत्त्व दिया हुआ दिखाई देता है। यद्यपि 'पिंड और ब्रह्मांड' शब्द योजना रूढ है, तथापि सृष्टिका कोई भी विशेष विचार नहीं करता। ब्रह्मज्ञानका अभ्यास करनेके बारेमें अर्वाचीन कालमें रूढ हुई 'एकदेशीय प्रणाली' निरुपयोगी है। यह बात इस मंत्रके पहिले वाक्यसे स्पष्ट प्रतीत होती है। पिंड और ब्रह्मांडके निरीक्षणसे ही ब्रह्म तत्त्वका अभ्यास करना होता है, और इसी कारण आधिदैविक और आध्यात्मिक दृष्टिसे ही उसका विचार किया जाना चाहिये, यह केनोपनिषद्के (के. २-५) से स्पष्ट है। इस मंत्रमें भौतिक सृष्टिका विवेकपूर्वक, और बार बार निरीक्षण करनेको कहा गया है।

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति। न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः॥
भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः। प्रेत्याऽस्माल्लोकादमृता भवन्ति॥

इससे यह मानना आवश्यक हो जाता है, कि भौतिक सृष्टिका अभ्यास ब्रह्मविद्याके ज्ञानके लिये अत्यंत आवश्यक है, यह बात इस उपनिषद्को पूर्णतः मान्य है। विद्युत् शक्ति जैसा आधिदैविक तत्व, और अंतःकरण जैसा आध्यात्मिक तत्व- ये ब्रह्मतत्वको पहचाननेके सविशेष चिन्ह हैं, ऐसा केनोपनिषद्के चोथे खंडमें स्पष्ट बताया है।

दशोपनिषदोंमें ईशावास्योपनिषद् सबसे छोटा है। इसमें केवल अठारह ही मंत्र हैं। वैदिक धर्ममें सर्व प्रमाणोंमें श्रुतिप्रमाण अत्यंत श्रेष्ठ माना जाता है। श्रुतिमें 'मंत्र और ब्राह्मण' ऐसे दो भागोंका समावेश किया जाता है। इसमें ब्राह्मण भागसे मंत्रभागको 'अधिक श्रेष्ठत्व' प्राचीन ग्रंथकारोंने प्रदान किया है। एतावतः मंत्र और ब्राह्मण भागमें एकाध प्रश्नपर यदि

विरोध दिखाई दिया, तो ब्राह्मण भागके वाक्योंमें थोडी बहुत खींचतान करके भी उसे मंत्रभागके वाक्यार्थसे सम्यक् मेल स्थिर कर लिया जाता है, और यही मंत्रभागके श्रेष्ठत्वका लक्षण है। दशोपनिषदोंमें अन्य सारे उपनिषद् ब्राह्मण भागके ही हैं, परंतु ईशावास्योपनिषद् प्राचीन ऋषियोंने मंत्र भागमें ही माना है, और इस कारण यदि ईशोपनिषद्के विरुद्ध कोई भी महत्वका विषय या वचन अन्य उपनिषदोंमें दिखाई दे, तो उसका तात्पर्य ईशोपनिषद्के अविरोधी हो ऐसा ही लगाना पडता है, ऐसा वैदिक ऋषियोंका अभिप्राय प्रतीत होता है। इस दृष्टिकोणसे देखनेसे ईशोपनिषद् शेष सारे उपनिषदोंकी जड है। इस कारण, इसमें प्रतिपादित सिद्धांत ही ब्रह्म विद्याके मूल सिद्धांत ठहरते हैं। प्रस्तुत उपनिषद्में ब्रह्मज्ञानको विज्ञानशास्त्रकी नितांत आवश्यकता है, ऐसा निःसंदिग्ध भाषामें कहा गया है। किंबहुना, अध्यात्मविद्या और आधिभौतिक विद्या इन दोनोंका सहाध्ययनसे यदि उनका मेल न मिलाया गया, तो इनमें निरूपित प्रत्येक विद्या एकांगी बनकर कल्याणकारी होनेके बजाय हानिकारक ही होती है ऐसा इस उपनिषद्में स्पष्टरूपसे निर्देश किया गया है। इसी सिद्धांतका अनुवाद उपनिषद् वाङ्मयमें कई स्थानोंपर किया हुआ है, और इससे यह स्पष्ट तात्पर्य निकाला जा सकता है कि, ज्ञान और विज्ञान विषयक ईशोपनिषद्का सिद्धान्त उपनिषद्कालमें सर्वमान्य हो गया था।

ब्रह्मविद्यामें विज्ञानशास्त्रका महत्व कम न होने पाये, इस विषयमें वैदिक ऋषियोंने जैसी चिंता की थी, उसी तरह पुराण मुनि कृष्णद्वैपायनने भी की हुई दिखाई देती है। महाभारतके भीष्म-युधिष्ठिर संवादमें उपर्युक्त उपनिषद्के सिद्धांतका उद्घाटन महाभारतकारने किया है।

प्रश्न— संप्रदीप्तेषु देशेषु ब्राह्मणे चाति पीडिते।
अवर्षति च पर्जन्ये मिथोभेदे समुत्थिते॥
सर्वस्मिन् दस्युसाद्भूते पृथिव्यामुपजीवने।
केन स्विद्ब्राह्मणो जीवेत् जघन्ये काल आगते॥

*

अर्थ- युधिष्ठिर पूछते हैं- 'कि सारे देशकी अनवस्था हो गई हो, और बुद्धिमान वर्ग, सुशिक्षित वर्ग, अत्यंत पीडित हुआ हो, उसी तरह अकालकी दशा होकर आपसमें सबोंका बेबनाव और जनताकी उपजीविकाके साधन पराये लोगोंके हाथमें हों, तो ऐसे घोर संकटकालमें सुशिक्षित वर्गको अपना जीवनक्रम किस मार्गसे चलाना चाहिये ?' इस प्रश्नमें धर्मराजने आपत्तिकालके पांच कारण बताए हैं। वे सभी महत्वके हैं, और भारतवर्षकी सद्यःस्थितिमें वे लगभग सारे ही लागू होते हैं। इस प्रश्नमें पूछा गया है, कि ब्राह्मणोंको ऐसे आपत्कालमें किस प्रकारसे जीवन व्यतीत करना चाहिये। यहां आये हुए ब्राह्मण शब्दसे ब्राह्मण जातिका पक्षपात किया है ऐसा समझना यथार्थ न होगा। यहां ब्राह्मण शब्दसे समाजका बुद्धिजीवी या विद्योपजीवी सुशिक्षित वर्ग ही अभिप्रेत है। इस प्रकारके अर्थका ब्राह्मण शब्दका प्रयोग ऋषिप्रणीत वाङ्मयमें अनेक स्थानोंपर पाया जाता है, और इस वर्गमें प्रायः त्रैवर्णिकोंका समावेश होता है, या कमसे कम ब्राह्मण और क्षत्रिय इन दोनों वर्णोंका इस शब्दमें समावेश होता है ऐसा कहनेमें निश्चय ही कोई आपत्ति नहीं है। समाजके सुशिक्षित वर्गका जीवनक्रम यदि निर्दोष और तेजस्वी हो, तो उससे राष्ट्रका बचाव होनेमें कोई आपत्ति नहीं आती। इसी अभिप्रायका प्रश्न अन्तिम वाक्यमें है। युधिष्ठिरके इस विस्तार पूर्वक पूछे हुए प्रश्नका उत्तर भीष्मपितामहने एक ही वाक्यमें दिया है, वह इस तरह है—

"विज्ञानबलमास्थाय जीवितव्यं भवेत् तदा।"

भीष्मपितामह कहते हैं, हे राजन्! 'ऐसे घोर आपत्तिके समय विज्ञान सामर्थ्यके आश्रयसे ही ब्राह्मण-सुशिक्षित-वर्गको अपना जीवन व्यतीत करना चाहिये।' इन प्रश्नोत्तरोंमें विवक्षित आपत्तिके स्वरूपकी ओर ध्यान देनेसे प्रतीत होता है, कि यह वैयक्तिक आपत्ति नहीं, वरन् सामाजिक या सचमुचमें राष्ट्रीय आपत्ति है। और इस आपत्तिके प्रतिकारार्थ विज्ञान-शास्त्रका ही उपयोग किया जाता है, ऐसा महाभारतकारका सिद्धांत है।

और यह मतप्रणाली ईशोपनिषद्के मतप्रणालीसे मिलती है यह पृथक्से बतानेकी आवश्यकता नहीं है।

मनुष्य विज्ञानके सामर्थ्यसे मृत्युसे बच जाता है ऐसा ईशोपनिषद्के ग्यारहवें मंत्र—

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्यया अमृतमश्नुते॥ ईश. ११

में स्पष्ट कहा गया है। मृत्युसे पार हो जाना अर्थात् संकटोंका निवारण करना ही है। संकटोंको पार करनेके साधारणतः दो मार्ग होते हैं। पहला यह है, कि उन्हें शांततासे सहन करते रहना, और दूसरा आघातको प्रत्याघात करना, अर्थात् पहला "तितिक्षा" और दूसरा "प्रतिकार" करना। इन दोनों मार्गोंके लिये मनुष्यको सर्वदा तैयार रहना आवश्यक है, चाहे वह निस्पृह हो, या सकाम वृत्तिका हो। सकामवृत्तिके मनुष्यको तो स्वार्थके कारण सदा ही आपत्तियोंका सामना करना पडता है, परन्तु स्वार्थत्यागी मनुष्यको संकटोंसे झगडनेका क्या कारण है ऐसा कोई कहे, तो उस प्रश्नका उत्तर यही है कि, ब्रह्मज्ञानके योगसे मनुष्य वैयक्तिक सुखका त्याग भले ही कर दे, परन्तु उसे समाजधर्मका त्याग करते नहीं बनता, और समाजधर्मके कारण हो तो भी उसे सामाजिक आपत्तियोंसे झगडा करना ही पडता है।

ज्ञानोत्तरकालमें जैसे देहधर्म नहीं छूटते, वैसे समाज धर्म भी नहीं छूटते; और इसी कारण ज्ञानी मनुष्यको भी तितिक्षा तथा प्रतिकार इन दोनों सामर्थ्योंसे तैयार रहना पडता है। चूंकि प्रतिकार सामर्थ्य अधिकतर विज्ञानशास्त्रपर ही अवलम्बित रहता है, अर्थात् विज्ञानशास्त्रमें जिसकी प्रगति अधिक हो वही यशस्वी रीतिसे प्रतिकार कर सकता है; ऐसा ही आजतकका जगत्का अनुभव है।

यहां एक प्राचीन कथाका दिग्दर्शन करना अप्रासंगिक न होगा। वाल्मीकि रामायणमें एक प्रसंग है, जिसमें वशिष्ठ ऋषिके चरित्रसे ब्रह्म-

तेजका स्वरूप कैसा होता है वह हमें स्पष्टरूपमें दिखाई देता है। जब विश्वामित्र ऋषि उनकी कामधेनु चुरा के गये, तब वसिष्ठ ऋषि चुपचाप तो रहे ही नहीं, परन्तु उन्होंने अपना ब्रह्मदण्ड हाथमें लेकर कहा—

" पश्य ब्रह्मबलं दिव्यं मम क्षात्रियपांसल । "

और विश्वामित्रको आह्वान किया, और विद्युत्‌शक्तिके प्रयोगसे उन्होंने विश्वामित्रको युद्धमें परास्त किया। इस प्रकार ब्रह्मदण्डसे ब्रह्मवर्चस्वका उग्र स्वरूप प्रकट करनेवाले वसिष्ठ ऋषि योग्य समय आनेपर " ब्रह्मर्षे स्वागतं ते अस्तु " ऐसा कहकर विश्वामित्रसे प्रेमपूर्वक आचरण करनेको तैयार होते हैं। यही ब्रह्मवर्चस्वका वैशिष्ट्य है। वसिष्ठ ऋषिने अस्त्र-विद्याके भौतिक सामर्थ्यसे विश्वामित्रको पराभूत किया, और अध्यात्म-ज्ञानके विवेक सामर्थ्यसे प्रसंग आनेपर पराकाष्टाकी सौम्यता भी धारण की। यही ब्रह्मवर्चस्व है, और ब्रह्मतेजका स्वरूप इसीसे स्पष्ट होता है।

भारतीय उस कालमें अन्य समकालीन लोगों या राष्ट्रोंसे विज्ञानशास्त्रोंमें अत्यंत प्रवीण थे, और इसी कारण वे सारे संसारमें विजयी हुए थे। द्रोणाचार्यके पास सारे जगत्‌से तरुण वर्ग क्षात्रधर्मका शिक्षण लेनेको आते थे, ऐसा वर्णन महाभारतमें पाया जाता है; और यह बात उपर्युक्त कथनका समर्थन करती है। प्रतिकार सामर्थ्यपर ही समाजस्वास्थ्य निर्भर रहनेसे इसी समाजस्वास्थ्यके लिये, अर्थात् सामाजिक आपत्तियोंका निवारण करनेके लिये, श्रुतिने विज्ञानशास्त्रोंको अपनानेका बार बार और सच्चे अंतः-करणसे उपदेश किया है। उस कालमें सामाजिक जीवनकी योग्य कल्पना अत्यंत जागृत रहनेसे, ज्ञानार्जनको जैसे शरीरस्वास्थ्यकी आवश्यकता होती है, उतनी ही समाजस्वास्थ्यकी भी होती है, ऐसा इस विज्ञानशास्त्र विषयक उपदेशसे वैदिक ऋषियोंका अभिप्राय व्यक्त होता है।

इससे यह स्पष्ट है, कि उपनिषद् कर्ता ऋषियोंने ब्रह्मविद्याकी रचना इस प्रकार की थी कि, जिससे मनुष्यकी विवेक शक्ति तथा उसकी प्रति-कार शक्ति इन दोनोंका पूर्ण विकास होकर मनुष्यका जीवनव्यवहार और

परमार्थ इन दोनोंमें पूर्ण तेजस्वी हो जाय। यही कारण है कि मृतप्राय अर्जुनको इसी ब्रह्मविद्याने सजीव, उत्साहयुक्त और कर्तव्य तत्पर किया। उसी तरह इसी ब्रह्मविद्याके प्रभावने ही कर्तव्य पराङ्मुख हुवे दाशरथी रामचंद्रको कर्तव्य परायण बनाया। ब्रह्मविद्याका यह ओजस्वी अमृत रस समाजके सभी स्तरोंमें बहते रहनेके कारण ब्राह्मणसे शूद्रतक सारा समाज सुसंघटित, तेजस्वी, प्रतिकारक्षम तथा धर्मशील प्रवृत्तियोंका बना। यही ब्रह्मविद्याका फल था, और ब्रह्मविद्याका यह फल भारतीय उत्कर्षके रूपमें सारे जगत्को प्रत्यक्ष अनुभवके रूपसे प्रतीत हो रहा था; ऐसा कहनेमें कोई अनौचित्य नहीं है।

उस कालमें ज्ञानविज्ञानकी लेन देन भारतीयोंने सारे संसारमें प्रचलित कर रखी थी, और ब्राह्मण-क्षत्रिय भिन्न भिन्न कारणोंसे, सारे जगत्का प्रवास करते थे, और इसी कारण अपने राष्ट्रके बाहर क्या क्या चल रहा है, उससे वे पूर्णतः परिचित रहते थे। यही सब कारण हैं, कि उस समय भारतका उत्कर्ष परमावधिको पहुंचा हुआ था, और इस चरमोत्कर्षके कालमें संपत्ति, यशस्वीकर्तृत्व, अप्रतिहत सत्ता, और शुद्ध नीति, इन राष्ट्रीय सद्गुणोंमें भारतीय जनता सारे जगत्में उच्चश्रेणीकी ठहरी हो तो, उसमें किंचित् भी आश्चर्य नहीं है। इन सारे उत्कर्षोंका मूल कारण हमारी ओजस्वी ब्रह्मविद्या ही थी, इसमें यत्किंचित् भी संदेह नहीं है। इस स्थानपर छांदोग्योपनिषद्में आई हुई अश्वपति राजाकी एक कथाका निर्देश करना अप्रासंगिक न होगा।

एक समय उपमन्युपुत्र प्राचीनशाल, पुलुषपुत्र सत्ययज्ञ, भल्लवपुत्र इंद्रद्युम्न, शर्कराक्ष पुत्र जन, अश्वतराश्व पुत्र बुडिल ऐसे पांच ऋषियोंकी एक समितिमें 'आत्मा और ब्रह्म' इस विषयपर चर्चा प्रारम्भ हुई। उपनिषद्में इन पांचों ऋषियोंको महाशाल तथा महाश्रोत्रिय ऐसे विशेषण दिये हुए हैं, जो उनकी संपन्नता तथा विद्वत्ताके निर्देशक हैं। उनकी चर्चामें उपर्युक्त विषयका निर्णय न होने पाया, इससे उन सारे ऋषियोंने उद्दालक

ऋषिके पास जानेका ठहराया क्योंकि वह वैश्वानर विद्यामें निष्णात समझे जाते थे। जब ये पांचों उद्दालक ऋषिके पास गए, तो उसने मनमें सोचा, कि इन श्रीमान् और महाविद्वान ऋषियोंका मैं सम्भवतः पूर्णतः समाधान न कर पाऊंगा, इस कारण उसने उन पांचों ऋषियोंसे कहा कि "महाराज! यह कैकय देशका राजा अश्वपति संप्रति वैश्वानररूप आत्मतत्व अच्छी तरह जानता है; तो चलो, अपन सब उसीके पास चलें। इस प्रकार वे सब ऋषिगण उसीके पास गए। (छां० ५।११।५)

उस राजाने उन सब ऋषियोंका पृथक् पृथक् सत्कार करवाया, और फिर प्रातःकाल उनके पास जाकर कहा— "मेरे देशमें कोई चोरी नहीं करता, अर्थात् कभी चोरी नहीं होती, कोई कृपण नहीं है, कोई मद्य नहीं पीता, कोई गृहस्थ अग्निहोत्रके बिना नहीं है, कोई भी अशिक्षित नहीं है, कोई भी पुरुष व्यभिचारी नहीं है, तो व्यभिचारिणी स्त्री कहांसे हो? मैं सम्प्रति एक यज्ञ कर रहा हूं, उस यज्ञके प्रत्येक ऋत्विज्को जितनी दक्षिणा दूंगा, उतना ही धन आपमेंसे प्रत्येकको दूंगा, तो आप लोग यहां आनंदसे रहें।" बादमें छहों ऋषियोंने उसके पास जानेका मुख्य उद्देश्य बताया, और तत्पश्चात् अश्वपति राजाने वैश्वानर विद्या उनको सांगोपांग समझाई। इस कथाका यहां उल्लेख करनेका मुख्य उद्देश्य यह है, कि ब्रह्मविद्याका ओजस्वी अमृतरस समाजके सभी स्तरोंमें बहते रहनेसे किस उच्चकोटिकी समाजव्यवस्था दिखाई दे सकती है यह प्रत्यक्ष रूपमें बताया जा सके।

भारतीय युद्धतक आर्यावर्तकी यह वैभवशाली स्थिति अधिष्ठित थी। भारतीय युद्धमें आर्योंका नाश हुआ था, तो भी वे पराये राष्ट्रोंसे जीते जानेवाले नहीं थे, यह दुनियां पूर्णरूपसे समझे हुए थी। इस प्रकार भारत अकुतोभय हो जानेसे भारतीयोंके शेष जगत्से संबंध रखनेकी आवश्यकता नहीं-ऐसी धारणा हुई होनी चाहिये। यह कारण हो, या अन्य कोई भी कारण हो; परंतु यह स्पष्ट है, कि जिस भारतवर्षमें पहिले भिन्न भिन्न राष्ट्रोंसे द्रोणाचार्यके पास शिक्षणके हेतु विद्यार्थी आते थे, और जिस

भारतसे अनेक भारतीय किसी न किसी कारणसे दूसरे देशोंमें जाया करते थे, ये दोनों बातें आगे न रहीं, और धीरे धीरे वे सर्वथा ही बंद हो गईं। इसके और आगेके कालमें तो 'नौ खंड पृथ्वी और दसवां खंड काशी' ऐसा शास्त्रार्थ रूढ हो गया, और क्षत्रियोंके राजसूयादि यज्ञ और ब्राह्मणोंके तीर्थाटन हिंदुस्तानके हिंदुस्तानमें ही सीमित रह गए। इस कारण साधारणतः भारतीय युद्धके बाद दूसरे देशोंमें ज्ञानविज्ञान विषयक क्या क्या प्रगति हुई उसकी हमें गंधवार्ता भी न रही, ऐसा प्रतीत होता है।

इस प्रकार आर्योंका शेष जगत्से संबंध कम कम होते जानेके कारण, और उसी तरह "केन" (२,५) में बताये हुए उपदेशकी ओर दुर्लक्षके कारण–भारत ज्ञानविज्ञानमें निर्बल होता गया, और प्रवासके अभावसे प्रमादग्रस्त आर्योंको केनोपनिषद्में दी हुई श्लोककी सूचनाकी स्मृति न रही। जैसे जैसे सृष्टि निरीक्षण कम हुआ वैसे ही वैसे बुद्धिवाद पिछडता गया, और बुद्धिवादके स्थानपर भावनाने धीरे धीरे आक्रमण किया। इसके परिणामस्वरूप विज्ञानशास्त्रकी सारी बातें अद्भुत सामर्थ्य या दैवी सामर्थ्यकी ठहरा दी गई, और वैज्ञानिक प्रयोग एक प्रकारके जादूके प्रयोग हैं, ऐसा माना जाने लगा। पुराणग्रन्थोंमें दिये हुए अस्त्रविद्याओंके वर्णन पढनेसे उपर्युक्त कथनकी, या विचारधाराकी सत्यता जंच सकती है। बादमें धीरे धीरे आध्यात्मज्ञानमें भी भावुकवृत्तिका प्रवेश होकर इस शास्त्रका सारा प्रदेश भी इसने अधिकारमें कर लिया, ऐसा समझना कोई अशुद्ध न होगा।

उपर्युक्त विवेचनके बाद यहांपर अब स्पष्ट शब्दोंमें बताना पडता है, कि हमारा आजका मायावाद ही इस सारे भाविक वेदांतका निदर्शक है। श्री गौतमबुद्धके पूर्वसे ही हमारे तत्वज्ञानमें मायावादी कल्पनाओंका प्रवेश होना आरंभ हो गया था। गौतमबुद्ध और उनके शिष्योंने मायावादी कल्पनाओंका संकलन कर उसके आधारपर शून्यवादकी प्रस्थापना की, और इसी मायावादी तत्वज्ञानको सर्वकर्म संन्यासके साथ जोड देनेसे, पहलेसे ही विस्खलित हिन्दुसमाजमें बौद्धोंका यह तत्वज्ञान प्रभावशाली हुआ; और

इसी कारण वैदिक संस्कृतिके ब्रह्मवर्चस्वकी पूर्ण हानि हुई। आगे चलकर बौद्धोंका यह शून्यवाद पिछड गया, परंतु मायावादकी श्रृंखला जो भारतीय संस्कृतिके गलेमें पड गई थी, वह मात्र आगे निकल न सकी, अपितु निक्षिप्त हो-गलेमें अटकी ही रह गई।

कुछ समय पश्चात् वैदिक पंडितोने शून्यवादपर विजयश्री प्राप्त कर ली, परंतु वे भी इस मायावादके जालसे न छूट सके। बुद्धिवादका पूर्णरूपसे पुरस्कार करनेवाले श्रीमत् आद्य शंकराचार्यने भी अंशतः मायावादको स्वीकार कर लेनेसे आचार्यके बादके सुशिक्षित वर्गने मायावादको सर्वतः उपरिसिद्ध मानकर ही पिछले हजार बारह सौ वर्षोंमें संस्कृत, मराठी, हिन्दी, बंगाली इत्यादिमें सर्व प्रकारका पारमार्थिक वाङ्मय निर्माण किया। उपनिषद्कालमें यह धारणा थी, कि ब्रह्मतत्वका अभ्यास पिंडब्रह्मांडके निरीक्षणकी सहायतासे ही किया जा सकता है, वहां बादमें मानवी जीवन व सर्व व्यवहार सर्वथैव मिथ्या होनेसे उनका त्याग करना ही आवश्यक है, यह धारणा रूढ होकर उसकी पकड पक्की हो जानेसे हिन्दु समाज सभी बातोंमें उदासीन, संन्यस्त तथा मुक्तद्वारी बन गया। उसी प्रकार जो बातें उपनिषद्कालमें पापकारक समझी जाती थीं, वे ही बुद्धोत्तरकालमें पुण्यकारक समझी जाने लगी।

उदाहरणार्थ ईशोपनिषद्के पहले ही मंत्रमें दी हुई स्वावलंबन तथा स्वामित्वविषयक शिक्षा एक ओर ही रह गई, और विना कष्ट किये अनायास मिली हुई जीवन सामग्रीपर उपजीविका करनेकी ओर विद्वानोंतककी प्रवृत्ति होने लगी। बुद्धकालके भिक्षु सांप्रदायने अपने निर्वाहके हेतु कष्ट करना-हीन स्थितिका कर्म है, यह समझ उत्पन्न कर दी थी,-वही स्थिर रह गई। इस तरह ईशोपनिषद्के पहले ही मंत्रके सिद्धांतोंको भूलकर केवल व्यक्तिका ही नहीं, अपितु हमारे संपूर्ण समाजके ब्रह्मवर्चस्वकी कल्पना पूर्णतः नष्ट हो गई ऐसा कहनेमें कोई आपत्ति नहीं। यही कारण है कि, हमारी आज दिखनेवाली वैदिक संस्कृति धर्मशील, परंतु कर्म शून्य, वैराग्यसंपन्न परंतु निस्तेज, ज्ञानयुक्त परंतु सामर्थ्यहीन, और बुद्धिमान परंतु कर्तव्यशून्य हो गई।

केनोपनिषद्‌का दूसरा खंड, जिसमें केवल पांच ही मंत्र हैं, वेदांतशास्त्रकी दृष्टिसे अत्यंत ही महत्वका है। इस खंडका अभ्यास विचारपूर्वक करनेसे वेदांतशास्त्रके अनेक जटिल प्रश्नोंको कैसे सुलझाना यह बहुत अच्छी तरह समझमें आ जावेगा। वेदांतग्रन्थोंमें परब्रह्म या परमेश्वरका वर्णन प्रारंभ हुआ कि, वह परमेश्वर (परब्रह्म) कर्ता होते हुए अकर्ता है, देखनेवाला होते हुए न देखनेवाला है, भोक्ता होते हुए अभोक्ता है। इस प्रकारके अनेक वाक्य दिखाई देते हैं; अर्थात् वर्णनकी ऐसी पद्धति है, कि एक वाक्यसे एक क्रिया दिखाई जाती है, तो दूसरे वाक्यसे सर्वथा उसका विरोध किया जाता है।

इस प्रकारकी वर्णनशैलीका अर्वाचीन कालमें अतिरेक हो गया है। ऐसे वर्णनोंको पढनेसे वाचक यदि गडबडा जाय, और इस प्रकारके घोटालेकी भाषाशैलीसे स्तंभित होकर यदि यह जिज्ञासु विद्यार्थी किसी प्रस्थानत्रयीमें निष्णांत हो ऐसे पुराने मतवाले विद्वान्‌के पास जाय, तो वह मायावादी सांप्रदायिक विचारसरणीवाले विद्वान् फिर इसी तरहके वाक्य बोलने लगते हैं, और यदि इसपर भी पूछनेको आनेवाले जिज्ञासु शिष्यकी बुद्धिको उनका मायावादी ब्रह्मज्ञान पटता नहीं है, ऐसा उन्हें दिखाई दिया, तो कहने लगते हैं कि, केवल शास्त्राध्ययन या वेदांतशास्त्रके अध्ययनसे ब्रह्मज्ञान नहीं होता, उसे सद्‌गुरु कृपाकी आवश्यकता होती है। और इतनेसे यदि काम न हुआ, तो कहने लगते हैं कि, पूर्वजन्मके पातक अदृष्ट कर्मरूप ब्रह्मज्ञानके प्रतिबंधक हैं, और गुरु शुश्रुषाकी तपश्चर्यासे जबतक उन प्रतिबंधक पातकोंका क्षय नहीं होता, तबतक ब्रह्मज्ञान होना संभव ही नहीं है।

इस प्रकार ' अदृष्ट ' के अद्‌भुत कल्पनाका हौवा देखकर, तीव्र बुद्धिका जिज्ञासु यह समझ कर कि, वेदांत एक भावुक भावनाओंका विषय है, उससे वह सदाके लिये विमुख हो जाता है। मायावादके इस प्रकारके भ्रामक घोटालेसे आजतक अनेक बुद्धिवादी लोग निराशासे अपनी ब्रह्मविद्याकी जिज्ञासा छोड उससे हाथ धो बैठे हैं। और इस प्रकार हमारे

वैदिक संस्कृतिकी हानि कितनी हुई है, इसका अनुमान लगाना कठिन है। जब हम किसी वस्तुको शास्त्र कहते हैं, तो वह भावनाधीन हो ही नहीं सकती। औपनिषद् विद्या एक शास्त्र है, अर्थात् वह बुद्धि गम्य ही होना चाहिये। वह यदि जादूका मंत्र होता, तो उपनिषद् विद्या अर्थात् मंत्रविद्या कहकर इसे भावनाके स्वाधीन किया होता तो कोई आपत्ति न थी, परंतु जिस उपनिषद् विद्याको भारतमुनि कृष्णद्वैपायन और ब्रह्मसूत्रकार बादरायणाचार्य जैसे जगत्वंद्य ऋषियोंने शास्त्र ठहराया है, तो वह उपनिषद् 'शास्त्रविद्या' बुद्धिग्राह्य न होकर भावनाग्राह्य है, ऐसा कहना उस शास्त्रकी योग्यता कम करना है। परंतु मायावादी सांप्रदायके कारण यह वेदांतशास्त्र भावनाग्राह्य ठहराया गया, और भाविक प्रणालीके कारण ही ऊपर निर्दिष्ट परस्पर विरोधी वाक्योंसे आत्मा या परमात्माके वर्णन करनेकी प्रथा रूढ हो गई, और इस रूढिके कारण शास्त्राभ्ययन किये विना हर कोई वेदांत चर्चा करनेका साहस करने लगा, और ब्रह्मविद्या जैसे सर्वोत्तम बुद्धिग्राह्य शास्त्रका 'ब्रह्म' घोटाला हो गया।

वस्तुतः केनोपनिषद्के दूसरे खंडमें और उसी प्रकार अन्य उपनिषदोंमें भी कई स्थानोंपर जीवात्मा ब्रह्मस्वरूप है, ऐसा ही मंत्रद्रष्टा ऋषियोंने गृहीत भावार्थ मानकर सारा विवेचन किया हुआ है, शुद्ध ब्रह्मतत्व इंद्रियग्राह्य नहीं, परंतु बुद्धिग्राह्य है यह अन्तिम मंत्रमें स्पष्टरूपसे बताया है। उसी तरह परा और अपरा विद्या अर्थात् ज्ञान और विज्ञानका परस्पर पोषक तत्व, तथा अपरा विद्या अर्थात् विज्ञानशास्त्रका ब्रह्मविद्यांतर्गत योग्य स्थान इसी खंडमें स्पष्टरूपसे बताकर विवेक, तौलनिक अभ्यास, तथा सृष्टि निरीक्षण जैसे साधनोंसे ब्रह्मतत्वका ज्ञान संपादन करनेका मार्ग श्रुतिने प्रत्येक प्रयत्नशील मनुष्यके लिये खुला कर दिया है।

'ब्रह्म स्वरूप' हो जाना ही ब्रह्मज्ञानका फल है ऐसा तैत्तिरीय उपनिषद् के पहले ही मंत्रमें बतलाया है—

ॐ ब्रह्म विदाप्नोति परम्। तदेषाभ्युक्ता। सत्यं ज्ञान-मनन्तं ब्रह्म। यो वेद निहितं गुहायां, परमे व्योमन् सो अश्नुते सर्वान्कामान्सह। ब्रह्मणा विपश्चितेति॥

अर्थ– ब्रह्मज्ञानी श्रेष्ठ स्थान प्राप्त कर लेता है, अर्थात् ‘ ब्रह्मस्वरूप ’ हो जाता है। उस विषयमें यह ऋचा कही गई है कि, ब्रह्म सत्यस्वरूप, ज्ञान-स्वरूप, और अविनाशी है, यह गुहामें स्थित ब्रह्म जो जानता है, वह ज्ञान-मय ब्रह्मस्वरूपसे पूर्णकाम हो जाता है। इसी मंत्रमें आये हुए प्राचीन ऋचा में ब्रह्म प्राप्तिके साथ सर्व मनोरथ पूर्तिका निर्देश किया हुआ है, अर्थात् ब्रह्मस्वरूप हो जाना और सर्व मनोरथ पूर्ति यही ब्रह्मज्ञानका अन्तिम फल (साध्य) है। इस प्रकारका अमृतत्वका स्वरूप श्रुतिने ही कहा होनेसे इन दोनों अंशोंको ही अभ्युदय निश्रेयस् यह शब्दयोजना बादमें शास्त्रकार अस्तित्वमें लाये। औपनिषद् विद्यामें अभ्युदय और निःश्रेयस्में विरोध है, ऐसा कहीं नहीं दिखाई देता। यह एक उत्तरकालीन सांप्रदायिक कल्पना है, जो श्रुतिको यत्किंचित् भी अभिप्रेत नहीं है। वैदिक संस्कृतिने अभ्युदय-पूर्वक निश्रेयस् प्राप्ति–यही मानवीय जीवनका ध्येय निश्चित किया हुआ है। इसमें मनुष्यकी ऐहिक आकांक्षाओंका योग्य स्थान होनेसे उनके भौतिक और आध्यात्मिक सामर्थ्योंका पूर्ण विकास होकर व्यवहार और परमार्थ इन दोनों दृष्टिसे मनुष्य कृतार्थ होता है।

वैदिक धर्मका यह ध्येय मनुष्यकी पारमार्थिक बुद्धिको जैसा पटता है, उसी तरह वह उसकी व्यवहार प्रवण बुद्धिका समाधान करनेमें समर्थ रहता है, परंतु मायावादने निःश्रेयस् प्राप्तिकी कल्पना अभ्युदयकी कक्षासे निकालकर पृथक् कर दी, और केवल निश्रेयस् प्राप्तिका यह नग्न बुचा ध्येय समाजके सामने रखा, और उसके प्राप्त्यर्थ मायावादी वेदांतमार्गका अवलंबन करनेको कहा। बौद्धिक कष्ट करनेको स्वभावतः मनसे अप्रसन्न मानवसमाजको जगन्मिथ्यात्वकी कल्पना तात्काल प्रिय विदित हुई, और ऐहिक, धार्मिक तथा तात्विक सर्व प्रकारके वाङ्मयमें जगन्मिथ्यात्वका प्रसार बहुत ही तीव्रतासे प्रारंभ हुआ। अभ्युदय शून्य निश्रेयस् प्राप्तिके ध्येयसे, और उसके मायावादी साधनोंसे औदासिन्यका गहरा अंधकार फैला, और विज्ञानशास्त्रविषयक समाजकी बौद्धिक दृष्टि लुप्तप्राय हुई। सद्गुणका

रूप धारण की हुई भोली भावनाका उपयोग सारे समाजके हृदयपर चालू हुआ, और बुद्धिकी जिज्ञासा कम हुई। संशोधनात्मक कार्य लंगडा पडा, और भारतीयोंका देशदेशांतरोंका प्रवास भी बंद हुआ। इस प्रकार अनेक सामाजिक दुर्गुणोंसे पछाडा हुआ भारतीय समाज, यदि सैकडों वर्षोंकी पारतंत्र्य श्रृंखलामें जकडा गया तो उसमें आश्चर्य ही क्या है ?

इस स्थानपर एक ऐसा प्रश्न सहज ही सामने आता है कि, भारतमें सद्यःस्थितिके विपरीत अर्थात् निश्रेयस्‌की कल्पना छोड, यदि ध्येय इस दृष्टिसे केवल अभ्युदयका ही स्वीकार किया गया होता, तो क्या हुआ होता ? इस प्रश्नका उत्तर यह है, कि निश्रेयस् रहित अभ्युदयसे भी हानि ही हुई होती। इसके पश्चात् कोई जिज्ञासु और ऐसा भी प्रश्न पूछ सकता है, कि तुलनात्मक दृष्टिसे केवल निश्रेयस् या केवल अभ्युदय इनमेंसे अच्छा कौनसा– अर्थात् इन दो ध्येयोंमेंसे किसको अपनानेसे देश, समाज, या राष्ट्रकी कम हानि हुई होती ? इस प्रश्नका विचार करनेसे दिखाई देता है, कि संन्यास-मार्गियोंने केवल निश्रेयस्‌का ही ध्येय, समाजके सामने रखनेके कारक वह उदासीन, कर्तव्यशून्य, दुर्बल तथा परतंत्र हुआ, यह यद्यपि सत्य है, तथापि इस ध्येयके कारण उसकी परमार्थलालसा नष्ट नहीं होने पाई, और इस कारण भावुक मनोवृत्तिसे ही क्यों न हो, उसकी नीतिनिष्ठा वैयक्तिक स्वरूपसे भी चालू रही, अर्थात् संन्यासमार्गी ध्येयनिष्ठासे उसकी व्याव-हारिक हानि हुई, परंतु उसकी नैतिक हानि नहीं होने पाई; यह बात माननी पडती है।

इसके विपरीत, यदि समाज केवल अभ्युदयको ही ध्येय मानकर उसके पीछे लगा होता, तो वह पराक्रमी, तार्किक बुद्धि चाहनेवाला, तथा वैभव-शाली अवश्य हुआ होता, परंतु साथ ही साथ उसका नैतिक अधःपतन किस कोटिको पहुंचा होता, इसकी केवल कल्पना ही नहीं की जा सकती है। सैकडों वर्षोंके पारतंत्र्यकी श्रृंखलासे जकडा हुआ समाज ऐसा भी कह सकता था कि, एक बार नैतिक अधःपतन हुआ तो कोई विशेष आपत्ति

नहीं, पर इस पारतंत्र्यकी आपत्तिसे तो छुटकारा मिलना ही चाहिये था, परंतु शांत चित्तसे भविष्यकालपर दृष्टि रखकर विचार करनेवाले विवेकशाली मनुष्यको यही स्वीकार करना पड़ेगा, कि भौतिक अधःपतनसे नैतिक अधःपतन कहीं अधिक हानिकारक है अर्थात् संन्यासमार्गीय मायावादियोंके ध्येयसे जो समाज तथा राष्ट्रकी हानि हुई हैं उससे कहीं अधिक हानि हमारे राष्ट्रकी हुई होती, यदि हम केवल अभ्युदयके ही पीछे लगे होते। इतना ही इस तुलनात्मक विवरणसे तात्पर्य निकलता है।

वास्तवमें देखा जाय तो हमारी प्राचीन वैदिक संस्कृतिका ध्येय इस प्रकारका एकांगी न होनेके कारण इनमें आपातित कोई भी दोष उसके ध्येयपर लगाया नहीं जा सकता। अभ्युदय और निःश्रेयस् इन दोनों अंगोंसे पूर्ण ध्येयका मार्ग एकांगी होना संभव ही नहीं है। परमार्थकी दृष्टिसे व्यवहार चाहे कितना ही कम मूल्य या श्रेणीका ठहरे, या ठहराया जाय; परंतु व्यावहारिक स्वास्थ्यकी आवश्यकता परमार्थको नहीं रहती है, ऐसा कोई भी प्रांजल बुद्धिका मनुष्य नहीं कहेगा। वैसे ही व्यक्तिका व्यावहारिक स्वास्थ्य उसके सामाजिक उत्कर्षपर ही अवलंबित है, यह बात उतनी ही सत्य है, और इसी कारण समाज ही वास्तवमें अभ्युदयका स्थान है यह निर्विवाद सिद्ध होता है। मनुष्य अपने जीवनक्रमको स्वतंत्ररूपसे प्रारंभ करता है, तभीसे स्वतःके, पारमार्थिक उन्नतिके तथा सामाजिक उन्नतिके कर्तव्य उसपर आ पडते हैं; और उन्हें वह किसी प्रकारसे टाल नहीं सकता।

ऐसे दोहरे ध्येयके समान उनके मार्ग भी द्विविध होनेसे, वे आचरणकी दृष्टिसे कठिन होंगे— ऐसा समझनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। हमारे प्राचीन वैदिक धर्मने इन मार्गोंकी रचना इतनी कुशलतापूर्वक की है कि "एका क्रिया द्व्यर्थकरी बभूव" इस उक्तिके अनुसार एक ही मार्गसे निःश्रेयस् और अभ्युदय ये दोनों ध्येय उसको प्राप्त हो सकते हैं। वैदिक कालमें वैयक्तिक कर्मको 'इष्ट' और राष्ट्रीय, सामाजिक, कर्मोंको 'पूर्त' ऐसे

नाम दिये जाते थे। वैदिककालके अनन्तर " इष्टापूर्त " के बदले " वर्णाश्रम " यह शब्द-योजना अस्तित्वमें आने लगी, और स्मृतिकालमें वर्णाश्रम धर्म यह तत्व सर्वसम्मत हुआ।

यहां इष्टके अर्थका आश्रम और पूर्तके अर्थका वर्ण शब्द है। अर्थात् वैदिककालका 'इष्टापूर्त', स्मृतिकालका 'वर्णाश्रम' और वर्तमानकालके 'व्यक्तिधर्म' व 'राष्ट्रधर्म' ये तीनों प्रकारकी शब्दयोजना मानवीय कर्मोंके दो विभागोंकी बोधक है। योगयुक्त बुद्धिसे इस धर्म "कर्तव्यों" का आचरण किया जाय, तो समाजका अर्थात् राष्ट्रका उत्कर्ष- अभ्युदय और व्यक्तिका उत्कर्ष या परम कल्याण, निश्रेयस् प्राप्त होकर मनुष्यका जीवन सार्थक होता है। वैदिक धर्ममें उपदेश किये हुए इस मार्गसे ध्येय संपादन करना हो, तो जो बौद्धिक सामर्थ्य लगता है, वह ब्रह्मविद्याके बिना न मिलनेके कारण तात्विक दृष्टिसे ब्रह्मविद्या ही वास्तविक रूपमें उसका साधन है, ऐसा ठहरता है। निष्काम स्वधर्माचरण, स्वकर्तव्याचरण, और ब्रह्मविद्या एकार्थ प्रतिपादक होकर भी ये दो शब्द यद्यपि भिन्न दृष्टिगोचर होते हैं तथापि पहला अंतरंग और दूसरा बहिरंगका द्योतक है। इतना ही उसमें अंतर है, और मनुष्यके पारमार्थिक जीवनके वे अंतर्बाह्य स्वरूप हैं, ऐसा समझनेमें कोई आपत्ति नहीं है।

इस लेखमें अबतक जो विवेचन किया गया है, उसमें कई संशोधनात्मक प्रश्नोंका उद्घाटन होता है। ऐतिहासिक दृष्टिसे इस बातका पता लगाना महत्वका होगा, कि क्या भारतीय युद्धतक वैदिक ब्रह्मविद्याकी शिक्षा- जिसका विवरण हम ऊपर कर आए हैं, भारतमें अन्य राष्ट्रोंके युवकोंको दी जाती थी? परा और अपरा विद्या, या ज्ञान और विज्ञान, इन 'दोनोंके मेलको ही ब्रह्मविद्या' कहा जाता था, और इस ब्रह्मविद्याका ज्ञान भारतसे ही दूसरे राष्ट्रोंको उस समय पहुंचा होगा; क्योंकि तब दूर देशान्तरसे तरुण विद्यार्थीगण विद्यार्जनार्थ भारत आया करते थे। यह महाभारतसे स्पष्ट प्रतीत होता है। यदि यह सच है, तो भारतीय युद्धके पश्चात् बुद्ध

कालतक, और आगे आजतक पाश्चात्य राष्ट्रोंमें ऐसी कौनसी घटनाएं हुई, जिनके परिणामस्वरूप ब्रह्म विद्याके एक ही अंगको, (अभ्युदयको) वहां महत्त्व मिलता गया, और उसे उन्होंने पूर्ण रूपसे अपनाया; यहांतक कि आज भिन्न भिन्न विज्ञानशास्त्रोंमें पाश्चात्य राष्ट्रोंने जो प्रगति की है, वह अवर्णनीय है।

उसी प्रकार यह प्रश्न भी विचारणीय है कि, जिस भारतके ऋषियोंने अभ्युदय निःश्रेयस् युक्त ब्रह्म विद्याकी रचना भारतमें करके उसकी तत्त्व-प्रणालीको अपनानेकी शिक्षा भारतियोंको दी, और जिसके परिणामस्वरूप भारतीय समाज आदर्श बनकर उत्कर्षकी परमावधिको पहुंचा, उसी भारतमें भारतीय युद्धके बाद और साधारणतः बुद्ध कालतक ऐसे कौन कौनसे ऐतिहासिक संघर्षात्मक परिवर्तन हुए, जिनके कारण ब्रह्म विद्याके एक अंगका भारतमें ही पूर्णतः लोप हो गया? यह सब ऐतिहासिक प्रश्न हैं, जिन्हें इतिहासज्ञ ही समाधान कर सकते हैं।

वेदविहित अद्वैत ब्रह्म सिद्धांतको पुनरुज्जीवन प्रदान करनेवाले आद्य शंकराचार्यका भी इस राष्ट्रीय आपत्तिकी ओर ध्यान क्यों नहीं गया कहा नहीं जा सकता। या यदि गया भी हो तो, उनके जैसे अद्वितीय विद्वान्‌को देश काल परिस्थितिको देखकर सम्भवतः यही उचित प्रतीत हुआ होगा, कि निःश्रेयस्‌को ही अपना लेनेसे कमसे कम राष्ट्रका नैतिक अधः-पतन तो नहीं ही होगा, और नैतिकताकी ज्योति यदि स्थित रही, तो योग्य समय आनेपर दूसरे अंग (अभ्युदय) को भी अपनाकर पूर्ण ब्रह्म विद्या—अर्थात् निःश्रेयस् युक्त अभ्युदयके द्वारा राष्ट्र अपना उद्धार कर लेगा। यह भी एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है जिसका उत्तर समय तथा विद्वज्जनोंके विवेचन कार्य ही दे सकते हैं।

एक और भी महत्त्वपूर्ण विषयका विश्लेषण करना उचित होगा। उपर्युक्त विवरणमें मायावादी विचारसरणी, जो विज्ञानशास्त्र, भौतिकशास्त्र, भ्रमोत्पादक अर्थात् परमार्थ दृष्टिसे सर्वथैव त्याज्य समझी जाती है के विरुद्ध प्रतिपादन

करनेसे हम पुराणमतवादी विद्वानोंके रोषके पात्र हो रहे हैं। हम उनसे निवेदन करना चाहते हैं कि, हम स्वतः वैदिक धर्मानुयायी हैं, और अद्वैत सिद्धांत हमें पूर्णतः मान्य है उसी प्रकार हमें भी अपनी संस्कृतिका अत्यधिक अभिमान है, परंतु अन्य विचारवंतोंके समान हमारे भी सामने यह प्रश्न उपस्थित होता है, कि यदि हमारा धर्म और संस्कृति अन्य धर्मों या संस्कृतियोंसे उच्च कोटिकी है, तो जिस भारतने वैदिक तथा औपनिषदिक कालमें सर्व भूमंडलमें श्रेष्ठत्व प्राप्त कर लिया था, वही भारत आज हजार बारह सौ वर्षसे परतंत्रताकी शृंखलामें क्यों फंसा हुआ था? और आज भी इसे जो स्वातंत्र्य प्राप्ति हुई है, वह कुछ इसके कार्यसे नहीं, अपितु वह विजयी राष्ट्रकी निर्बलताओंके कारण हुई है, और इसी कारण वह खंडित स्वातंत्र्य ही है। इससे साधारण बुद्धिका मनुष्य भी अनुमान लगा सकता है, कि हमारी आजकी तत्त्वप्रणालीमें, हमारे तत्वज्ञानमें, या तत्प्रतिपादित आचार धर्ममें कहीं तो भी दोष या त्रुटी आई होनी चाहिये? वह त्रुटी क्या है, इसका पता लगाए बिना तो उसका उपचार हो ही नहीं सकता, और आज सैकडों वर्षोंके पारतंत्र्यके बाद जो हमें स्वातंत्र्य प्राप्ति हुई है, इस समय यदि हमने इस सांस्कृतिक तथा राष्ट्रीय प्रश्नकी ओर ध्यान न दिया तो फिर कब देंगे? सम्भवतः यही कारण हो, कि सर्व आयुष्य राजकीय तथा राष्ट्रीय क्षेत्रमें जीवन व्यतीत कर लोकमान्य तिलकको, भारतीय तत्त्वज्ञानकी त्रुटिका अनुभव कर राष्ट्रोद्धारके हेतु, गीताजीकी शरण लेनी पडी, और उन्होंने अपने " श्री भगवद्गीता रहस्य " में कर्मयोग शास्त्रका सिद्धांत सप्रमाण और सशास्त्रपद्धतिसे सिद्ध कर भारतीय जनताको अर्पण किया। उस ग्रन्थमें उस महान् व्यक्तिने यह स्पष्ट कर बताया है कि, कर्मसंन्यास जैसा कर्मयोग भी स्वतंत्रतः मोक्षदायक होते हुए लोकसंग्रहकी दृष्टिसे अधिक श्रेष्ठ है। गीता रहस्यके महत्त्वपूर्ण प्रकाशनके बाद और भी राष्ट्रीय विचारधारावाले विद्वानोंने लोकमान्यके " कर्मयोग शास्त्र " के प्रसारके उद्देश्यसे पुनामें गीताधर्म मंडलकी प्रस्थापना की। इसी मंडलकी तत्त्वनिष्ठा इस प्रकार है–

" श्रीमद्भगवद् गीतामें अभिप्रेत, और श्री लोकमान्य तिलकद्वारा गीता रहस्यमें प्रतिपादन किया हुआ कर्मयोग हिन्दुओंके सनातन वैदिक धर्मका अंतरंग है, और इस कर्मयोगके प्रसारसे हिन्दुओंके राष्ट्रधर्मका जीर्णोद्धार होकर राष्ट्रकी सर्वांगीण उन्नति होगी, ऐसा गीताधर्म मंडलको भरोसा है। "

इस मंडलका प्रचार कार्य करते समय इसके एक प्रस्थापक पंडित सदाशिव शास्त्री भिडेको यह अनुभव आया, कि गीतार्थके पुष्ट्यर्थ स्थान स्थान पर उपनिषदोंका उपयोग करना पडता है, और उन्होंने सोचा कि कोई ऐसी शंका उपस्थित कर सकता है, कि यद्यपि भगवद्गीता यह ग्रंथ सभीके लिये प्रमाण है, और लोकमान्यके मतानुसार उसका तात्पर्य सिद्ध होता भी हो, तथापि यह व्यासप्रणीत ग्रन्थ है, वह श्रुति नहीं है।

प्रस्थानत्रयीमें समाविष्ट होनेके कारण अन्य सारे प्रमाणोंसे गीताका प्रामाण्य अधिक हो तो भी गीतासे प्रत्यक्ष श्रुतिको अर्थात् उपनिषदोंको प्रमाणकी दृष्टिसे अधिक मान देना अवश्य है, और उपनिषदोंमें कर्मयोग साक्षात् मोक्षदायक नहीं है, अपितु कर्म संन्यास ही साक्षात् मोक्षदायक है ऐसा प्रतिपादन हो तो गीताका तात्पर्य कर्मयोगपर हो भी, तो उसका कोई मूल्यवान महत्व नहीं; क्योंकि वेदांतशास्त्रकी दृष्टिसे श्रुतिको ही " प्रत्यक्ष प्रमाण " ऐसी संज्ञा प्राचीन दर्शनकारोंने दी है। आज साधारणतः विद्वानोंका यह विचार है, कि गीता-तात्पर्य भले ही कर्मयोगपर हो, परंतु उपनिषदोंका तात्पर्य तो संन्यासपर ही है।

इस विचारधाराको बदलनेका केवल यही एक मार्ग है, कि स्वतंत्र बुद्धिसे मूल उपनिषद् वाङ्मयका अभ्यास किया जाय। इसी शुद्ध और पवित्र उद्देश्यसे भिडे शास्त्रीजीने " उपनिषद् रत्न प्रकाश " नामक ग्रंथका प्रकाशन किया कि मूल औपनिषदिक वाङ्मयका स्वतंत्र बुद्धिसे परिशीलन करनेकी प्रवृत्ति, समाजके बुद्धिजीवी वर्गमें उत्पन्न हो। हमारी अल्प मतिसे पौर्वात्य और पाश्चात्य विज्ञान शास्त्रोंके तुलनात्मक अभ्यास

*

करनेवाले विद्यार्थियोंको मार्गदर्शन कर सके, इस दृष्टिकोणसे यह एक अद्वितीय ग्रंथ है। यह ग्रंथ मराठी भाषामें होनेसे इसका उपयोग अन्य भाषावाले विद्यार्थी नहीं कर सकते, यह बडी खेदकी बात है। आशा है कि ऐसे अमूल्य ग्रंथका संस्करण शीघ्र ही राष्ट्रभाषामें हो जिससे अन्य भारतीय जनता इन रत्नोंसे वंचित न रहे।

एक ओर इस प्रकार हम पुराने विद्वज्जनोंके रोषके पात्र हुवे थे, तो दूसरी ओर हमने वर्णाश्रम धर्मकी उपयुक्तताका प्रतिपादन कर आधुनिक पाश्चात्य विचारधाराओंवाले सुशिक्षित वर्ग जो धर्म निरपेक्ष राज्य, वर्णहीन समाज, तथा जातीयताको नष्ट करनेका प्रतिपादन करते हैं, उनकी विचारधाराओंके विरुद्ध जाकर एक और आपत्ति मोल ले ली है। हम इन आक्षेपकोंको इतना ही बता देना चाहते हैं, कि प्राचीन अर्थात् वैदिक कालमें ऋषियोंने ब्रह्मतत्वका अभ्यास सृष्ट पदार्थोंके निरीक्षणसे ही किया हुआ है, ऐसा उपनिषदोंमें स्थान स्थानके प्रतिपादनसे स्पष्ट होता है, अर्थात् सृष्टिज्ञान और पिंडज्ञान ही ब्रह्मविद्या प्राप्त करनेके अद्वितीय साधन हैं, यह सिद्ध होता है।

आधुनिक कालमें पाश्चात्य राष्ट्रोंमें विज्ञान शास्त्रोंकी अत्यधिक प्रगति हुई है, तो भी पूर्व ग्रह त्याग कर निस्पृह वृत्तिसे तुलनात्मक अभ्यास किया जाय, तो प्रतीत होगा कि आधुनिक शास्त्रोंकी प्रगति ऋषिप्रणीत शास्त्रोंके आगे तो गई ही नहीं है, अपितु उससे ये बहुत कुछ पीछे ही है। ऐसे कई प्रश्न हैं जिनके विषयमें आधुनिक शास्त्रज्ञोंकी मति कुंठित हो गई है, परंतु इन्हीं प्रश्नोंके उत्तर हमें उपनिषदोंमें स्पष्ट रूपसे मिलते हैं। हमारा केवल जीवशास्त्र ‘Biology’ विषयक शास्त्रोंका तुलनात्मक अभ्यास होनेसे हम निःसंकोच बता सकते हैं, कि जीवशास्त्र विषयक आधुनिक शास्त्रज्ञोंके सारे निष्कर्ष दशोपनिषदोंमें स्पष्ट दिखाई देते हैं। इतना ही नहीं परंतु इन्हीं सारे प्रश्नोंपर आधुनिक शास्त्रज्ञोंके निष्कर्षोंके आगेके प्रमेयोंपर विश्लेषण दिखाई देते हैं। एक ढंगसे यह कहा जा सकता है, कि

हमारा वैदिक वाङ्मय आधुनिक शास्त्रोंकी प्रगति परखनेकी कसौटी है, जिसपर प्रत्येक आधुनिक शास्त्रके निष्कर्षको कसकर देखा जा सकता है, कि उसमें सत्यांश कितना है, और उसीका शुद्ध तथा सत्य स्वरूप क्या है।

इसी प्रकार हमारे यहांकी सर्व आधुनिक समस्याएं चाहे ये कोड बिल हो या संतति नियमन, सगोत्र विवाह हो या श्राद्ध संस्था, गुण कर्मसे जाति या जन्मसे, ऐसे सारे प्रश्नोंके निष्कर्ष इस कसौटीपर कसकर पहचाने जा सकते हैं। इन्हीं सारे कारणोंसे हम हमारे राष्ट्रीय नेताओंसे विनंति करनेका साहस करते हैं, कि इस रत्नमयी खानके संशोधनकी ओर वे ध्यान दें और भारतका स्वतंत्र नवोदित राष्ट्र ऐसी एक योजनाकी नींव डाले, जिससे इन दोनों पौर्वात्य और पाश्चात्य शास्त्रोंका तुलनात्मक अभ्यासका उपक्रम प्रारम्भ होकर उसकी परिपक्व अवस्थामें जो फल निष्पत्ति हो, उससे अपने राष्ट्रके साथ साथ अन्य राष्ट्रोंका तथा सारी मानव जातिका उत्कर्ष होकर उसका कल्याण हो सके।



अध्याय १ रा

परा और अपरा विद्याविषयक एक प्रश्न

यदि हम किसी भी धार्मिक सम्प्रदायका निरीक्षण करें, तो स्वभावतः उसके दो भाग दिखाई देते हैं। पहला तत्वज्ञानका, और दूसरा आचरणका। पहलेमें पिंड ब्रह्मांडके निरीक्षणसे परमेश्वर-स्वरूप क्या निष्पन्न होता है यह बताकर फिर मोक्ष किसे कहते हैं, इस बातका शास्त्रीय रीतिसे निर्णय किया जाता है, और दूसरेमें इस मोक्षकी प्राप्तिके लिये मनुष्यको इस जगत्में किस भांति रहना चाहिये इसका निरूपण होता है।

वैदिक धर्म भी केवल तंत्रप्रधान नहीं है, वरन् इस धर्मके गूढ तत्त्व क्या हैं, इसपर प्राचीन समयमें ऋषियोंने उपनिषदों द्वारा सूक्ष्म विचार प्रगट किये हैं। शुद्ध स्वातंत्र्य, तेजस्वी बुद्धि, आधिभौतिक और आध्यात्मिक विद्या, धार्मिक नीति और शरीर सामर्थ्य इत्यादि राष्ट्रिय सद्गुण ही वैदिक धर्मके मूल तत्व हैं और इन सारे तत्वोंका विवेचन उपनिषदोंमें पूर्णतः रहनेके कारण ही, हमारे उपनिषद् वैदिक धर्मकी, या यों कहिये कि आर्योंके राष्ट्र धर्मकी नींव ही मानी जाती है, परंतु ये उपनिषद् भिन्न भिन्न ऋषियोंसे भिन्न भिन्न समय संग्रहित किये जानेके कारण उनमें भिन्न भिन्न प्रकारकी विचारधाराएं प्रतीत होती हैं, और ऐसा ज्ञात होता है, मानों ये भिन्न भिन्न विचारधाराएं एक दूसरेके विरुद्ध हैं। उपनिषदोंपर लिखा हुआ अत्यंत प्राचीन टीका ग्रन्थ 'ब्रह्म सूत्र' या 'उत्तर मीमांसा' है, और ऐसा अनुमान किया जाता है कि भगवान व्यास महर्षि ही इसके प्रणेता हैं।

कुछ संशोधकोंके मतसे बादरायण ऋषि उत्तर मीमांसाके प्रणेता हैं। इनके 'ब्रह्म सूत्रों' या 'शारीर सूत्रों' में सारे उपनिषदोंकी विचारधाराओंमें एक वाक्यता है यह स्पष्ट कर दिखाया गया है, और इसी कारण उपनिषदोंके बराबर ही 'ब्रह्म सूत्र' भी वैदिक धर्ममें प्रमाण माने जाते हैं; परंतु इन दोनों प्रमाण ग्रन्थोंसे वैदिक धर्मके तत्वज्ञानका विचार पूर्णतः हो

सकता है, ऐसा नहीं समझा जाता, क्योंकि सारा औपनिषदिक ज्ञान प्रायः वैराग्य परक या निवृत्ति परक होनेसे उनमें और 'ब्रह्म सूत्र,' जो उपनिषदोंका भाष्य ग्रन्थ है, उसमें भी वैदिक प्रवृत्ति मार्ग प्रतिपादक तात्विक प्रतिपादन नहीं पाया जाता। इसी कारण जब श्री भगवद्गीतामें वैदिक धर्मका प्रवृत्ति मार्ग प्रतिपादक विवरण संगृहित हुआ, तब भगवद्-गीता उपनिषदों और ब्रह्मसूत्रोंके तत्वज्ञानकी पूर्ति करनेवाला ग्रन्थ माना जाने लगा। इस तरहसे उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और गीता, इन तीनों ग्रन्थोंको 'प्रस्थानत्रयी' संज्ञा प्राप्त हुई। उपनिषद् श्रुति प्रस्थान, ब्रह्मसूत्र—न्याय—प्रस्थान और गीता स्मृति—प्रस्थान; बौद्ध धर्मके पश्चात् भारतमें वैदिक धर्मके जितने भी सम्प्रदाय प्रचलित हुए, उन सबके आचार्योंने इस प्रस्थानत्रयी-पर भाष्य लिखकर यह बतानेकी चेष्टा की, कि इन ग्रन्थोंसे उनका ही सम्प्रदाय संमत है, और दूसरे सम्प्रदाय सम्मत नहीं हैं।

वैदिक वाङ्मय साधारणतः दो विभागोंमें बांटा जा सकता है। वे दो भाग हैं— मंत्र और ब्राह्मण। आरण्यकों और उपनिषदोंका ब्राह्मण भागमें समा-वेश होता है। मंत्र भाग सिद्ध वाङ्मय समझा जाता है। ब्राह्मण भागमें मंत्रोंका अर्थ निर्णय किया गया है, याज्ञिक अनुष्ठानोंके विस्तृत विवरण दिये गए हैं, और नाना उपाख्यान कहे गए हैं। वेद प्रामाण्यकी दृष्टिसे मंत्र भागसे ब्राह्मण भाग गौण समझे जाते हैं। वेदोंकी प्रत्येक शाखाके मंत्र—संहिता, ब्राह्मण और आरण्यक ऐसे तीन भाग होते हैं। उपनिषदोंका समावेश आरण्योंमें होता है। इस प्रकार हर शाखामें उपनिषद् होते हैं, और फिर जितनी शाखा उतने उपनिषद् होने चाहिये, यह मान्य करना पडता है। परंतु ब्रह्मसूत्रकार श्री बादरायणाचार्यने, तथा भाष्यकार श्री आद्य शंकराचार्यने अपने ग्रन्थोंमें केवल दस उपनिषदोंका ही परामर्श लिया है, इससे यह कहा जा सकता है, कि अन्य उपनिषदोंको उन्होंने गौण माना होगा। इन दस उपनिषदोंके अनुक्रमके विषयमें एक परंपरागत श्लोक है—

ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुंड, मांडुक्यतित्तिरः।
ऐतरेयश्च छांदोग्यो बृहदारण्यकं तथा॥

यह कहांका श्लोक है, यह पता नहीं चलता। यहां हमने भी इन्हीं दशों उपनिषदोंको ही विचारमें लिया है। किसी मनुष्यको यदि पहचानना हो, तो उसके गलेके ऊपरका भाग ही मुख्यतः देखना पडता है। मुखाकृति देखे बिना मनुष्यको पूर्णतः पहचाना नहीं जा सकता। दशोपनिषदोंमें भी मुंडक नामसे प्रसिद्ध उपनिषद् ही दशोपनिषद् विहित ब्रह्म विद्याकी पूर्णतः पहचान करा देनेवाला है, ऐसा उसके नामसे प्रतीत होता है। वास्तवमें देखा जाय तो उपनिषदोंमें विवरण किये हुए ब्रह्मविद्याकी पूर्ण रूपरेखा इस उपनिषद्में पाई जाती है, ऐसा कहना अनुचित न होगा।

इस मुंडकोपनिषद्के आरंभमें ही शौनक ऋषिने जो प्रश्न किया है और आंगिरस् ऋषिने जो उत्तर दिया है, वह अत्यंत महत्वका है। प्रश्न है कि "किस तत्वके जान लिये जानेपर जो कुछ देखने, सुनने, अनुमान करनेमें आता है, इस सबको 'अर्थात् सारे विश्वको' जाना जा सकता है?" सारा मुंडकोपनिषद् इसी प्रश्नका उत्तर है– यह कहना अनुचित न होगा। आंगिरस् ऋषिने उत्तर दिया, हे शौनक "ब्रह्म ऋषियोंका कहना है, कि परा और अपरा नामसे जो दो विद्या प्रसिद्ध हैं, इन दोनोंको प्राप्त करनेसे ही मनुष्य सब कुछ जान सकता है।" बादमें यह भी स्पष्ट किया कि "चारों वेद, ऋग्, यजु, साम, अथर्व तथा उनके छः अंग शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष और छंद ये सब अपरा विद्या हैं। जिसके द्वारा अविनाशी परब्रह्म परमात्माका ज्ञान प्राप्त होता है, वह परा विद्या है।"

इस तरह ब्रह्मविद्याके अपरा और परा विद्या ये दो अंग हैं, और मनुष्यका ज्ञान पूर्ण होकर उसे ब्रह्म साक्षात्कार होनेके लिये ये दोनों विद्याएँ आवश्यक हैं ऐसा आंगिरस् ऋषिका कहना है। कुछ दूसरे उपनिषदोंमें इन्हें विद्या और अविद्या ये दो नाम दिये गए हैं। गीता व अन्य उपनिषदोंमें इन्हें ज्ञान व विज्ञान कहा है। लोकमान्यने अपने गीतारहस्यमें ज्ञान और विज्ञानकी व्याख्या इस प्रकार की है, सृष्टिके अनेक व्यक्त पदार्थोंमें एक ही अव्यक्त मूल द्रव्य है, यह जिससे समझता है, वह ज्ञान है, और एक ही

मूलभूत अव्यक्त द्रव्यसे भिन्न भिन्न व्यक्त पदार्थ प्रत्येक किस किस प्रकार पैदा होते हैं, यह जिससे जाना जाता है, वह विज्ञान है। अंग्रेजीमें इन्हीं दोनोंको 'फिलॉसफी' और 'सायन्स' कहा जाता है।

अब यहां यह प्रश्न उपस्थित होता है, कि यदि चारों वेद और छहों वेदांग ये अपरा विद्या हैं, तो परा विद्या कहां पाई जा सकती है? कल्याणके उपनिषद् अंकमें जहां इस मंत्रकी व्याख्या की गई है, वहां बताया गया है कि, जिसके द्वारा अविनाशी परब्रह्म परमात्माका ज्ञान होता है वह परा विद्या है, और उसका वर्णन भी वेदोंमें है। अतः उतने अंशको छोडकर अन्य सब वेद और वेदांगोंको अपरा विद्याके अंतर्गत समझना चाहिये। इस उक्तिसे चिकित्सक बुद्धिका समाधान नहीं होता, क्योंकि ऐसी ही वस्तु-स्थिति होती तो आंगिरस् ऋषिको ऐसा कहनेसे कोई नहीं रोकता था। कई भाष्योंमें इसी तरहकी विचारसरणी पाई जाती है।

गीताधर्म मण्डलके संस्थापक कै. भिडे शास्त्रीजीने इस प्रकारसे इस प्रश्नका समाधान किया है कि, "ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद ऐसा जो स्पष्ट उल्लेख ऋषिने किया है तो उस उस वेदके केवल संहिता 'मन्त्र' और ब्राह्मण ग्रन्थोंको ही अपरा विद्या समझना चाहिये, और उपनिषदोंको परा विद्या; क्योंकि जिस समय उपनिषदोंका निर्माण हो रहा था, उस समय उसमें कथित अपरा विद्यामें उनका अन्तर्भाव होना संभव ही न था और इसी कारण जो भी सारे वेदोंको अपरा विद्यामें सम्मिलित किया गया है तो भी उपनिषदोंको परा विद्या कहनेमें कोई आपत्ति नहीं है।" पंडित भिडे शास्त्रीने उपर्युक्त प्रश्नका सन्तोषप्रद उत्तर देनेका यथासम्भव प्रयत्न किया है, फिर भी इससे भी पूर्ण समाधान नहीं होता।

कोई कह सकता है, कि इस प्रश्नपर व्यर्थ ही वाद करनेकी आवश्यकता ही क्या है? सभीको मान्य है, कि वैदिक वाङ्मय उच्च कोटिके ज्ञानका भण्डार है, फिर उसे तुम चाहे अपरा कहो चाहे परा। यह सब सत्य है,

तो भी यह मानना ही होगा– कि जिस दृष्टिकोणसे हम इन ग्रंथोंको देखेंगे और पढ़ेंगे, उसी दृष्टिसे हम उसमें विषयोंकी व्युत्पत्ति लगानेका प्रयत्न करेंगे। यदि वे अपरा विद्या अर्थात् शास्त्र या 'Science' हैं तो हम उन्हें इस दृष्टिसे देखेंगे कि उसमें ऐसे कौन कौनसे शास्त्रीय विषय हैं, जिनका सांगोपांग विवेचन किया गया है, जिनका कि मानव जीवनसे संबंध है, और यदि वे परा विद्या या दर्शन हैं, तो उन्हें उसी दृष्टिकोणसे देखना पड़ेगा।

श्री बादरायणाचार्यने, तथा श्री आद्य शंकराचार्यने अपने ग्रन्थोंमें केवल दशोपनिषदोंका ही परामर्श लिया है। इस निबंधमें भी उन्हीं दशोपनिषदोंको लेकर ही विचार करनेका प्रयत्न किया जायगा। अब हम यह देखनेका प्रयत्न करेंगे कि ये दशउपनिषद् वैदिक वाङ्मयके किस किस भागमें पाए जाते हैं—

१. ईशोपनिषद्– शुक्ल यजुर्वेद संहिताका यह चालीसवां अध्याय है, इसका पहला मंत्र "ईशावास्यम्" इस वाक्यसे आरम्भ होता है, इस कारण इसका यह नाम है।

२. केनोपनिषद्– सामवेदके तलवकार शाखाका यह नववां अध्याय है। इसका पहला शब्द "केन" होनेसे इसका नाम केनोपनिषद् रखा गया है।

३. कठोपनिषद्– कृष्ण यजुर्वेदके तैत्तिरीय ब्राह्मणके अंतिम तीन अध्यायोंको काठक ब्राह्मण कहते हैं। काठक ब्राह्मणका कठोपनिषद् एक भाग है, और इसीसे इसको यह नाम दिया गया है।

४. प्रश्नोपनिषद्– अथर्व वेदकी पिप्पलाद शाखीय ब्राह्मणके अंतर्गत यह उपनिषद् है। यह प्रश्नोत्तरके रूपमें होनेसे उसका यह नाम है।

५. मुंडकोपनिषद्– यह उपनिषद् अथर्ववेदकी शौनकी शाखामें है। जैसे शरीरमें मूंड वैसे ही उपनिषदोंमें यह सबसे श्रेष्ठ होना चाहिये इसीसे इसको यह नाम दिया गया है।

६. मांडूक्य उपनिषद्– यह भी अथर्व वेदांतर्गत है। मांडूक्य यह नाम इसके द्रष्टाऋषिका होगा ऐसा अनुमान है।

७. तैत्तिरीयोपनिषद्– कृष्ण यजुर्वेदके तैत्तिरीय शाखाके अंतर्गत तैत्तिरीय आरण्यक है, और इस आरण्यकके १० अध्याय हैं, और उसके ७, ८, ९ अध्यायोंको तैत्तिरीय उपनिषद् कहते हैं।

८. ऐतरेयोपनिषद्– ऋग्वेदके शाकल शाखामें समाविष्ट ब्राह्मणको ऐतरेय ब्राह्मण कहते हैं। और उसके आरण्यकके पांच भाग हैं। इसके द्वितीय भागके ४, ५, ६ अध्यायोंको ऐतरेयोपनिषद् कहते हैं।

९. छांदोग्योपनिषद्– सामवेदके तलवकार शाखाके अंतर्गत छांदोग्य ब्राह्मण है, और उसके दस अध्याय हैं। उसके पहले और दूसरे अध्यायोंको छोडकर बाकी ८ अध्यायोंको छांदोग्योपनिषद् कहते हैं। सामवेदके कौथुमी शाखाका ब्राह्मण ४० भागोंमें है, और उसके ३३–४० भागोंको छांदोग्योपनिषद् कहते हैं।

१०. बृहदारण्यकोपनिषद्– शुक्ल यजुर्वेदकी वाजसनेय 'माध्यंदिन' और काण्व नामकी दो संहिताएं हैं, और उन दोनोंके ब्राह्मण ग्रन्थोंको शतपथ ब्राह्मण कहते हैं। इसके १४ कांड हैं, और १४ वें कांडको आरण्यक कहते हैं। इसके अंतिम ६ अध्यायोंको बृहदारण्यकोपनिषद् कहते हैं।

ऊपर बताए हुए विवरणसे यह प्रतीत होता है, कि उपनिषद् ग्रन्थोंका स्वतंत्र निर्माण नहीं हुआ है, परंतु वे संहिता, ब्राह्मण और अरण्यकोंके ही भाग हैं, और इन्हें उन उन ग्रन्थोंसे निकालकर "उपनिषद्" संज्ञा दे दी गई है। ईशावास्य संहिता ग्रन्थका भाग है, केन, कठ, मुंड, मांडूक्य, प्रश्न व छांदोग्य ब्राह्मण भागोंके अंश हैं, तथा बृहदारण्यक, तैत्तिरीय और

ऐतरेय ये आरण्यकोंके अंश हैं, परंतु आरण्यक स्वयं ही ब्राह्मण भागमें समाविष्ट हैं, इससे यह कहा जा सकता है, कि ईशावास्यको छोडकर बाकी ९ उपनिषद् ब्राह्मण भागमें ही पाए जाते हैं। कै. पं. भिडे शास्त्रीके कथनानुसार यदि मंत्र और ब्राह्मण अपरा विद्या मानी गई, तो उपर्युक्त विवरणानुसार उपनिषद् भी अपरा विद्या ही माने जाने चाहिये, और फिर यह प्रश्न रहता ही हैं, कि परा विद्या कौनसी है, और वह वेदोंमें ही पाई जा सकती है, या सम्पूर्ण कहीं अन्यत्र।

उपनिषदोंके सम्पूर्ण और स्वतंत्र अभ्याससे परा विद्याके विषयमें जो कुछ भी अल्प बुद्धिसे हमें समझमें आया है, वह हम विद्वानोंके सामने रखनेका प्रयत्न करते हैं। सबसे पहले हम यह देखनेका प्रयत्न करेंगे कि, जिस उपनिषद्में यह प्रश्न आया है, उसीके निरीक्षणसे हमें इस प्रश्नका उत्तर मिलता है, या नहीं। मुंडकोपनिषद्के तीन मुंडक या अध्याय हैं, और हर मुंडकके दो दो खंड हैं। इस प्रकार तीनों मुंडकोंके ६ खंड है। प्रत्येक खंडमें १०-१३ तक मंत्र हैं, और सारे उपनिषद्की मंत्र संख्या ६५ हैं। अब हम प्रत्येक खंडका सारांश देकर फिर देखेंगे, कि उसके परिशीलनसे क्या तात्पर्य निकलता है?

मुन्डक १, खंड १— इस खंडके पहले और दूसरे मंत्रमें गुरु-शिष्य परंपरा है, और तीसरे मंत्रमें शौनक ऋषिका प्रश्न है। चौथे मंत्रमें आंगिरस् ऋषिका उत्तर है कि "ब्रह्म विद्या जिसे कहते हैं उसे प्राप्त करनेके लिये परा और अपरा इन दोनों विद्याओंकी आवश्यकता है" ऐसे पुराने विद्वान् और ब्रह्मवेत्ता लोग कहते आए हैं। पांचवें मंत्रमें यह कहकर कि चारों वेद और छःहों वेदांग अपरा विद्या हैं। बादमें 'अथ परा' अर्थात् छठे मंत्रसे परा विद्याका ही विवेचन है। इसी विवेचनके अन्तर्गत अंतिम चार मंत्रोंमें ब्रह्म तत्वकी व्याख्या और उस अक्षर ब्रह्मसे क्षर, अपर या सगुण ब्रह्मकी उत्पत्ति बताते हुए उदाहरण देकर यह स्पष्ट किया है, कि परब्रह्म परमात्मा ही जगदुत्पत्तिका दोनों 'निमित्त' और 'उपादान' कारण है।

मुन्डक १, खंड २– "तदेतत्सत्यं" इस वाक्यसे दूसरे खंडका प्रारंभ है। अर्थात् यह बताया गया है, कि सगुण ब्रह्म या यह विश्व सत्य है, और फिर यह बताया है कि जिन प्राकृतिक नियमोंसे इस समस्त विश्वकी उत्पत्ति हुई है, और जिन नियमोंपर यह सृष्टिचक्र चल रहा है, उन सारे नियमोंको, और उनके सारे सिद्धांतोंको, यज्ञ संस्थासे संलग्न कर अग्निहोत्रके रूपमें प्रस्थापित करनेका कार्य प्राचीन ऋषियोंने ब्राह्मण ग्रन्थोंमें किया है; यह बताकर फिर ज्ञानपूर्वक किये हुए कर्मोंके फल, ज्ञानशून्य कर्म करनेसे उत्पन्न होनेवाला धोखा, अज्ञानके दुष्परिणाम, और ज्ञानशून्य कर्माचरणसे उत्पन्न होनेवाले हीन फल यह सब बताकर यह स्पष्ट किया है, कि वेदविद्यासंपन्न मनुष्य केवल कर्म करनेसे प्राप्त होनेवाले स्वर्गादि लोकोंकी अनिश्चितता पहचानकर और सच्चा आत्मतत्व इस पद्धतिसे प्राप्त नहीं हो सकता, यह जानकर आत्मस्वरूपको स्पष्टतः समझनेके लिये विधिवत् ब्रह्मनिष्ठ गुरुके पास जावे; और वह ज्ञानसंपन्न गुरु ऐसे प्रशांतचित्त और शमान्वित 'इंद्रिय निग्रही और शुद्ध अंतःकरणवाला' योग्य शिष्यको सत्यस्वरूप परमात्माका ज्ञान हो, ऐसी विद्या यथाशास्त्र सिखावें।

मुन्डक २, खंड १– प्रथम मुन्डकके प्रथम खंडमें तीन उदाहरण देकर "ब्रह्मतत्व ही सृष्टिका उपादान और निमित्त कारण" है, यह बताया जा चुका है; उसीका प्रस्तुत खंडमें सविस्तार विवेचन "तदेतत्सत्यं" कह कर किया है। भावरूप और अभावरूप विशेषणोंसे ब्रह्म स्वरूपका वर्णन करके भावरूप या सगुण ब्रह्म अष्टधा कैसे हैं यह बताया है 'इसीको गीतामें अष्टधा प्रकृति कहा है' और आगे इन आठों तत्वोंके समुच्चयको ही विराट् पुरुषका रूपक देकर इन तत्वोंसे ही सारा विश्व, और उसके अंदरकी सारी जीवसृष्टि पांच टप्पों या सोपानों 'Stages' में कैसे उत्पन्न हुई है, यह बताया है। 'इसीको पंचाग्नि विद्या कहा गया है।' इस खंडके अन्तमें इस जगत्में उत्पन्न हुई वस्तुओंकी जो सूची 'List' दी है, वह मनुष्यके व्यक्ति धर्म और समाजधर्मकी दृष्टिसे बडे महत्वकी है। इस खंडके अंतमें यह

यह बताया गया है कि " गुहायां " अर्थात् बुद्धि स्थित ब्रह्मतत्वको जो जान लेता है, उसका सब अज्ञान नष्ट हो जाता है।

मुन्डक ३, खंड १— पिछले खंडके अन्तमें बताया गया है, कि मनुष्यकी बुद्धि भी ब्रह्मतत्वका निवासस्थान है। इस खंडमें यह दिखाया है कि पिन्ड और ब्रह्मांडका ज्ञान ' विज्ञान (Science) ' संपादन करनेसे जो बुद्धि तेजस्वी और निर्मल हो गई हो, उसीमें बादमें जो ' ब्रह्म साक्षात्कार ' होता है, वही मनुष्यका अंतिम साध्य है; और इसे प्राप्त करनेके लिये मंत्र ३ और ४ में उपासना मार्गकी आवश्यकता दो रूपकों द्वारा बताई गई है, और अंतमें यह स्पष्टरूपसे बताया है, कि शुद्ध और पूर्णतः विकसित बुद्धिमें ही ब्रह्म साक्षात्कार होता है, क्योंकि वह स्वसंवेद्य है।

मुन्डक ३, खंड १— ब्रह्मतत्वके मूल स्वरूपका स्पष्ट निदर्शन करनेके लिये प्रथम जीवात्मा और परमात्माको दो पक्षियोंका रूपक देकर एक ही वृक्ष ' विश्व और पिन्ड ' से उनका संबंध दिखाया है, और बादमें बताया है, कि सत्य, ब्रह्मचर्य, तपश्चर्या, और ज्ञान विज्ञान, इन साधनों ' साधन चतुष्टय ' से अंतःकरण शुद्ध होनेके पश्चात् उपासना मार्गका अवलंबन करना कितना आवश्यक है। वेदविद्यासे चित्त शुद्धि होती है, तो ध्यानधारणासे ब्रह्म साक्षात्कार होता है; क्योंकि ब्रह्मतत्व स्वसंवेद्य है, और यही ' परा विद्या ' है, जो आत्म-निष्ठ गुरुसे प्राप्त हो सकती है, और इसके पश्चात् वह पुरुष ' परमेश्वर स्वरूप ' ही हो जाता है।

मुन्डक ३, खंड २— सकाम कर्मोंको त्याग कर निष्काम बुद्धिसे परमेश्वरकी उपासना करनेवाला मनुष्य ही पूर्ण काम कहलाता है, क्योंकि उसकी वासनाएं यहीं विलीन हो जाती हैं, यह खंडके प्रारंभमें बताया गया है। आगे स्पष्टतः यह बताया है, कि आत्मा केवल व्याख्यान, तर्क वितर्क या बहुत प्रवचनोंके श्रवणमात्रसे प्राप्त नहीं हो सकता, इसी प्रकार दुर्बल मनुष्यसे, या ज्ञानहीन तपश्चर्या करनेवालोंसे भी प्राप्त नहीं किया जा सकता। विद्वान् और विवेकी मनुष्य बल, अप्रमाद और ज्ञानयुक्त कर्मोंके

साधनोंसे प्रयत्न करे, तो उसका जीवात्मा ब्रह्म स्वरूपमें प्रवेश करता है, और इसके पश्चात् वे ज्ञानसे परिपूर्ण, कृतकृत्य, वैराग्यसंपन्न, और सम-बुद्धि पुरुष विश्वमें ही प्रवेश करते हैं; अर्थात् सारे विश्वको आत्मस्वरूपसे ही देखते हैं। ऐसे ब्रह्म ज्ञानियोंके कुलमें कोई ज्ञानहीन नहीं होता और वे सब प्रकारके दुःखोंसे मुक्त हो जाते हैं। अंतमें यह बताया गया है कि ऐसे कर्तव्यतत्पर, विद्वान्, ब्रह्मपरायण व श्रद्धावान् पुरुष- जिन्होंने अग्निकी श्रेष्ठ उपासना की है, उन्हींको ब्रह्मविद्याका उपदेश करना चाहिये। यही श्रेष्ठ ज्ञान पहले आंगिरस् ऋषिने शौनक ऋषिको बताया है। जिसने व्रता-चरण नहीं किया, उसे यह समझमें नहीं आ सकता।

अब उपर्युक्त सारांशको उपक्रमोपसंहारकी दृष्टिसे परीक्षण करके देखेंगे, कि क्या तात्पर्य निकलता है। इस उपनिषद्के शुरूके दो मंत्रोंमें गुरु-शिष्य परंपरा है। तीसरेमें प्रश्न पूछा गया है, चौथेमें उत्तर है, और पांचवेंमें यह बताकर कि चारों वेद और छःहों वेदांग अपरा विद्या हैं। छठेसे परा विद्याका निरूपण प्रारम्भ हुआ है। उपक्रमकी दृष्टिसे यह उपनिषद् परा और अपरा विद्याओंके विवेचनके ही लिये हैं यह कहना ही उचित है। उपसंहारात्मक विवरण अंतिम खंडमें है, जिसमें यह स्पष्ट बताया है, कि व्याख्यान, प्रवचन, श्रवण या ज्ञानहीन कर्मसे ब्रह्म प्राप्ति नहीं होती, परंतु वेदविद्यासंपन्न, ब्रह्मपरायण और श्रद्धावान् पुरुषको ब्रह्म प्राप्त्यर्थ परा विद्या आत्मनिष्ठ गुरूसे प्राप्त हो सकती है। यही श्रेष्ठ ज्ञान प्रारम्भमें बताई हुई गुरु परंपराके अंतिम गुरु आंगिरस्ने शिष्य शौनकको दिया।

अब अभ्यास या पुनरुक्तिकी दृष्टिसे देखें, तो वेद और वेदांगोंसे अपरा विद्या प्राप्त होती है। परन्तु परा विद्या किसे कहते हैं, और वह कैसे प्राप्त की जा सकती है, यह विषय मुन्डक १, खंड २ के अंतमें, मु० २ खं० २ में, मु० ३, खं० १, और मु० ३, खं० २ के अंतमें पाया जाता है, और उन सबोंका निष्कर्ष यही है, कि ब्रह्मतत्व जैसे ब्रह्मांडमें है, वैसे ही पिन्डमें है, और इसी कारण वह स्वसंवेद्य है। यदि कोई मनुष्य प्रशांतचित्त और शमान्वित

होकर आत्मनिष्ठ सद्गुरूके पास जावे, तो वह उसे ब्राह्मी स्थिति या मनुष्यका उच्चतम ध्येय परा विद्याके द्वारा प्राप्त करवा दे। अभ्युदय और निःश्रेयस् प्राप्ति यही इन दोनों विद्याओंकी अपूर्वता है, और उसी प्रकार उसके कुलमें ज्ञानहीन कोई न होगा यह उसका फल है। इस उपनिषद्के समग्र अध्ययनसे स्पष्ट होता है, कि परा विद्या किसे कहना चाहिए, यह विषय प्रतिपादन करना ही इस उपनिषद्का उद्देश्य है।

प्रथम खंडमें प्रश्न और उत्तर और अपर या सगुण ब्रह्मकी परब्रह्मसे उत्पत्ति, दूसरे खंडमें इस सगुण ब्रह्मकी सत्यता और उसकी धारणाके यज्ञसंस्थासे संलग्न नियमोंके जाननेके लिये अग्निहोत्र द्वारा होनेवाला ज्ञानयुक्त कर्म और अन्तमें ब्रह्म साक्षात्कारके लिये परा विद्या आत्मवित् गुरूसे प्राप्त करनेकी रीति है। दूसरे मुंडकके पहले खंडमें सगुण ब्रह्म या जगत्की साग्र उत्पत्ति, और दूसरे खंडमें उपासना "परा विद्या" की आवश्यकता और आत्माका बुद्धिमें स्थान तथा उसका स्वसंवेद्यत्व, तीसरे मुन्डकके प्रथम खंडमें ज्ञानका तथा ब्रह्म साक्षात्कारके हेतु शुद्ध बुद्धिका महत्व, और बुद्धिवादकी पूर्णता, और दूसरे खंडमें निष्काम कर्म, और उपासनासे प्राप्त होनेवाली ब्राह्मी स्थिति, तथा इस परा विद्याकी प्राप्तिके लिये योग्य गुरूका महत्व बताया गया है।

मंत्र, ब्राह्मण तथा उपनिषदोंमें मानवीय जीवनको आधारभूत जो तीन तत्व हैं उन्हें संकलित करके—

कामात्मता न प्रशस्ता न चैवेहास्त्यकामता।
काम्यो हि वेदाधिगमः कर्मयोगश्च वैदिकः॥

मनुने 'वैदिक कर्मयोग' शब्द योजना की है और ज्ञान कर्म और उपासना ये ही वे तीन तत्व हैं, इसमेंसे एक भी कम हो तो मानव जीवन कृतार्थ नहीं हो सकता, यह नितांत वैदिक सिद्धांत है। किसी वैदिक भागमें ज्ञानको प्राधान्य दिया हुआ है, तो किसीमें कर्म तथा किसीमें उपासना; परंतु इससे यह नहीं समझना चाहिये, कि उस उस स्थानपर अन्य दो

तत्वोंको गौण माना है। उपनिषदोंमें तो इन तीनों तत्वोंकी एकसी ही आवश्यकता और उपयुक्तता स्पष्ट करके दिखा दी है। इस दृष्टिसे इस प्रश्न-पर संकलित रूपसे विचार करनेपर स्पष्ट प्रतीत होता है, कि यद्यपि ब्रह्म-विद्यामें सर्वतोपरि बुद्धिवादको प्राधान्य दिया गया है, तथापि ब्रह्मज्ञानके साथ साथ ब्रह्मोपासनाका भी स्थान स्थानपर पूर्णतः विचार करके उसका महत्व दिखाया गया है।

ब्रह्मज्ञान यद्यपि बुद्धिग्राह्य है, तो भी इस ब्रह्मप्रवण बुद्धिको उपासनाके जोड़, साथ या सहयोगकी आवश्यकता है, ऐसा ही श्रुतिका उपदेश है। उपासनासे भावनाका विकास होकर उसका दिव्य सामर्थ्य प्रकट होता है, और इस सामर्थ्यका उपयोग व्यवहार और परमार्थ इन दोनों मार्गोंमें अत्यंत उपयुक्त होता है। उपासनाके मुख्य दो प्रकार होते हैं, एक सेवारूप उपासना, और दूसरी ध्यानरूप उपासना। इस संसारमें विहित कर्तव्य कर्मोंको यदि निःस्वार्थ बुद्धिसे किया जावे, तो उनसे परमेश्वरकी ही सेवा समान होती है। इस प्रकारकी सेवारूप उपासनासे ज्ञानसंपादन, ज्ञानपरिपाक और लोकसंग्रह होकर ब्रह्म साक्षात्कारका मार्ग सुलभ हो जाता है। ध्यानोपासनाके तीन अंग हैं– ज्ञान, ध्यान और जप। ज्ञानके बिना ध्यान नहीं हो सकता, और ध्यानके बिना जपकी सार्थकता नहीं होती। जब ज्ञानसे ध्येय निश्चित होता है, तब उस ध्येय वस्तुके प्रति प्रेमका संवर्धन होना आवश्यक हो जाता है, और इस संवर्धन करनेके निमित्त ध्यान ही एकमात्र साधन है।

अब इस ध्यानके सातत्यको अवस्थित रखनेके लिये अर्थात् मनोवृत्तिको एक ही वस्तुपर स्थिर रहनेके लिये जपका उपयोग होता है। एक शब्द या वाक्यका मन ही मन उच्चार करनेको जप कहते हैं। जिस शब्द या वाक्यका जप करते हैं, उसीको मंत्र कहा जाता है, और अर्थ जाने बिना मंत्रका उच्चार या जप व्यर्थ है। ध्यान और ज्ञान इन दोनोंसे संयुक्त, ऐसा जप करनेसे भावनाओंका विकास होता है, और उनका दिव्य सामर्थ्य प्रगट होता है। ऐसे जपानुष्ठानको जिससे बुद्धिकी साम्यावस्था प्राप्त होती है, ध्यानोपासना कहते हैं।

प्रस्तुत उपनिषद्के मुं० १, खं० १; मुं० १, खं० २ और मुं० २, खं० १ में वेदोंमें उल्लिखित कर्मों 'सृष्टिकी उत्पत्ति, और उसकी रचना व कार्य' को समझनेके लिये विज्ञानका महत्त्व, अर्थात् ज्ञानयुक्त कर्मका आदेश है। मुं० २ खं० २, मंत्र ३,५ में सेवोपासना 'अपरा विद्या' की आवश्यकता बताई है, तो मुं० २, खं० २, मंत्र ४,६ में ज्ञानयुक्त ध्यानोपासनाको भी अर्थात् 'परा विद्या' को भी ब्रह्मवर्चस्व प्राप्त करनेका साधन बताया है। इस प्रकार 'ज्ञानमय कर्म' अपरा विद्या या 'विज्ञान' और ज्ञानयुक्त उपासना 'परा विद्या' या 'ज्ञान' ये दोनों मिलकर ही ब्रह्मविद्या है, यह स्पष्ट दिखा दिया गया है।

वास्तवमें औपनिषदिक विद्याको भारतमुनि कृष्णद्वैपायन तथा ब्रह्मसूत्रकार बादरायणाचार्य इन जैसे जगत्‌वंद्य आचार्योंने शास्त्र ही कहा है, और इससे जो ज्ञान प्राप्त होता है, वह शास्त्रीय ज्ञान या विज्ञान ही है। श्रुतिका सुसंबद्ध वाक्यार्थ, उसमें वर्णित मुख्य सिद्धांतोंकी बौद्धिक युक्तिवादसे सिद्ध होनेवाली उपपत्ति, और दृष्टांत रूपसे इन दोनों बातोंसे मेल खानेवाला व्यावहारिक नियमोंका अनुभव, और अंतमें इन तीनों बातोंका सुसंगत रीतिसे किये हुए विवेचनसे जो विषय बुद्धिको पटता है, वही शास्त्रप्रचीति या प्रत्यय है। इस प्रकार शास्त्रीय ज्ञान प्राप्त होनेके बाद तुलनात्मक मनन, पिंड ब्रह्मांडका निरीक्षण, और वैयक्तिक और सामाजिक आचरण इन साधनों द्वारा पूर्वोक्त शास्त्रीय ज्ञानका जो अनुभव आने लगता है, या उस ज्ञानका जो परिपाक होने लगता है, वही आत्म प्रचीति है।

प्रत्येक ज्ञानकी परोक्ष व अपरोक्ष नामकी दो अवस्थाएं होती हैं। ब्रह्मज्ञानको भी परोक्षसे अपरोक्षमें जाना पडता है। परोक्षका अर्थ अप्रत्यक्ष या शाब्दिक ज्ञान, यह ज्ञान वेद वेदांगोंसे प्राप्त होता है। परोक्ष ज्ञानके पश्चात् पिंड ब्रह्मांडका निरीक्षण, और विहित कर्तव्याचरणसे ही ज्ञानका परिपाक होनेको अर्थात् ज्ञानको अनुभवकी स्थिति प्राप्त होनेको 'अपरोक्ष ज्ञान' कहा जाता है। शास्त्राध्ययनसे जो ज्ञान प्राप्त होता है, वह परोक्ष वा

शाब्दिक होनेसे स्थिर नहीं होता, और इसे जब अनुभवकी स्थिति प्राप्त होती है, उसीको ज्ञानका परिपाक कहते हैं; और इस परिपाकमें लगनेवाला काल साधककी पात्रता, और प्रयत्न पर अवलंबित रहता है। शास्त्रप्रचीति, परोक्ष वा शाब्दिक ज्ञान ही– अपरा विद्या है, और आत्म प्रचीति, अपरोक्ष ज्ञानका अनुभव अथवा परिपाक– परा विद्या है।

प्रतिबोधविदितं मतममृतत्वं हि विन्दते।
आत्मना विन्दते वीर्यं विद्यया विन्दते अमृतम् ॥ केन. २-४

अर्थात् वेदोंके विज्ञानसे जीव जगत् परमेश्वरका पारस्परिक संबंध समझकर 'अपरा विद्या' इस जगत्में अपने व्यवहारोंको आचरण या कृति द्वारा उस ज्ञानको सेवोपासनासे 'परा विद्या' व्यवहारमें लाकर बुद्धिकी साम्यावस्था प्राप्त करना क्या; अथवा जो पिंडमें है वही ब्रह्मतत्व ब्रह्मांडमें है इस वेदप्रणीत 'अपरा विद्या' ज्ञानके पश्चात् ध्यानोपासनासे 'परा विद्या' बुद्धिकी साम्यावस्था प्राप्त करना क्या, दोनों 'ब्रह्म विद्या' हैं, जिनसे ब्रह्मवर्चस्व या अभ्युदयपूर्वक निःश्रेयस् प्राप्त होता है। तात्पर्य यह है, कि वेद और वेदांगोंके विज्ञानसे 'अपरा विद्या' जो ज्ञान प्राप्त होता है, उस ज्ञानको इंद्रिय, मन, बुद्धि, अहंकार द्वारा व्यावहारिक वा पारमार्थिक आचरणोंमें, या कृतिमें लानेको 'ज्ञान या परा विद्या' कहा गया है, यह स्पष्ट हो जाता है।

इस विचारसारणीको पुष्टि देनेवाले उदाहरण हमें दशोपनिषदोंमें कई मिलते हैं। जैसे जानश्रुति रैक्व, गौतम सत्यकाम, सत्यकाम उपकोसल, नारद सनत्कुमार इत्यादि इन कथानकोंके अध्ययनसे वेदप्रणीत विज्ञानके साथ साथ सेवोपासनाकी आवश्यकतापर स्पष्ट प्रकाश पडता है। इसी प्रकार इन्हीं दस उपनिषदोंमेंसे एक संपूर्ण उपनिषद्–मांडूक्योपनिषद्, प्रश्नोपनिषद्के दो अध्याय तथा अन्य उपनिषदोंमें कई स्थानोंपर ज्ञान, ध्यान और जप, अर्थात् ध्यानोपासनाके तीनों तत्वोंका शास्त्रशुद्ध विवरण पाया जाता है।

*

मंत्रभाग हो या ब्राह्मणभाग, उसमें पदे पदे ब्रह्मतेजकी मुक्तकंठसे प्रशंसा की हुई दिखाई देती है। ब्रह्मवर्चस्व ' ब्रह्मवर्चस् ' ब्रह्मतेजके वाचक शब्द हैं, और हमारे नित्य कर्ममें " ब्रह्मवर्चसं मह्यं दत्त्वा ", " ब्रह्म-वर्चसी भूयासम् " ऐसे पद आये हुए हैं। तैत्तिरीय उपनिषद्की भृगु-वल्लीमें ब्रह्मवर्चस् ब्रह्मविद्याका फल है, ऐसा स्पष्ट उल्लेख है, और ' परा और अपरा विद्या दोनों मिलकर ही ब्रह्मविद्या ' कहलाती है। यही कारण है, कि परा और अपरा विद्या जैसे महत्त्वपूर्ण विषयका ऊहापोह इस छोटेसे निबंधमें किया है।

वाल्मीकि रामायणमें कथा है, कि जब वशिष्ट ऋषिकी कामधेनु विश्वा-मित्र ले जाने लगे, और लडनेको प्रस्तुत हुए, तब वशिष्ट हातमें ब्रह्म दंड लेकर बोले " पश्य ब्रह्मबलं दिव्यं मम क्षत्रीयपांसक " और इस विद्युत् शक्तिके प्रयोगसे विश्वामित्रको परास्त कर अपनी कामधेनु छुडा लाए। बादमें योग्य समयपर " ब्रह्मर्षे स्वागतं तेस्तु " कहकर विश्वामित्रको ब्रह्मर्षि कह-कर स्वागत किया। वशिष्टजीके चरित्रके इस उदाहरणसे हमें आधिभौतिक तथा आध्यात्मिक सामर्थ्यका संगम स्पष्ट दिखाई देता है, और यही ब्रह्म-वर्चस्व है, जो परा और अपरा विद्याओंसे प्राप्त होता है। वशिष्ट, आंगिरस्, पिप्पलाद, अरूणि, याज्ञवल्क्य आदि उपनिषद्कर्ता ऋषियोंने ब्रह्मविद्या शास्त्रकी रचना की, और इसी ब्रह्मविद्याकी शक्तिपर भारतवर्षको उन्नतिके शिखरपर पहुंचाया, और रामराज्यकी स्थापना कर समाजके चरित्रको इति-हासमें उज्वल कर दिखाया। इस प्रकार राष्ट्रोन्नति ' अभ्युदय ' और मोक्ष ' निःश्रेयस् ' ये दोनों ब्रह्मविद्यासे कैसे प्राप्त हो सकते हैं, इसे सोदाहरण विश्वके सामने रखा।

इस स्थानपर कोई ऐसी शंका उपस्थित कर सकता है, कि क्या आज-तकके आचार्योंको किसी ग्रन्थके निरीक्षणमें काम आनेवाली ऊपर बताई हुई उक्तियां अवगत न थीं ? इसका उत्तर यही देना पडेगा, कि ऐसा समझ-ना भारी भूल होगी। सभी आचार्य ' शंकर, मध्व, वल्लभ आदि ' अप्र-तिम विद्वान् और बुद्धिमान् थे; परंतु उनके प्रस्थानत्रयीको देखनेके दृष्टि-

कोणमें ही मूलभूत अंतर था, और इसका कारण यही था, कि बुद्धकालमें तथा बादमें जबसे मायावादका वर्चस्व प्रारम्भ हुआ, ब्रह्मविद्यासे विज्ञान-शास्त्रको (अपरा विद्याको) निकाल बाहर कर दिया गया; और इस कारण वैदिक संस्कृतिको जो हानि पहुंची है, उसका अनुमान लगाना भी कठिन हो गया है। ज्योतिष्, पदार्थ विज्ञान इत्यादि भौतिक विज्ञानों-की ब्रह्मविद्याको आवश्यकता है, ऐसा कोई कहने लगे, तो विद्वान् कहलाने-वाले लोग भी उसका उपहास करते दिखाई देंगे। ऐसी अवस्थामें माता समान श्रुतिका ही आश्रय लेनेसे समाधान प्राप्त हो सकता है। केन (२–५)

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति। न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः॥
भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः। प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति॥

पाश्चात्य विद्वानोंके प्रयत्नोंसे आज जो भिन्न भिन्न विज्ञानशास्त्रोंमें प्रगति दिखाई देती है, वह उस समय उन्हें उपलब्ध न थी। यह वैज्ञानिक दृष्टि-कोण उपनिषद्कर्ता ऋषियोंके समयमें भी था, यह उपनिषदोंके सूक्ष्म-दर्शनके अभ्याससे स्पष्ट प्रतीत होता है। यदि वे आचार्य इस समय जीवित होते, तो इसी प्रस्थानत्रयीपर उनके भाष्य भिन्न होते, क्योंकि उनकी विचारधारामें आजका नवीन दृष्टिकोण होता, और अनुमान तो यह है कि, प्रस्थानत्रयीपर होनेवाले उनके भाष्योंमें जो विभिन्नता दिखाई देती है, वह नहीं दिखाई देती। दशोपनिषदोंमें पचासों बातें ऐसी हैं, जिनको हम आज आधुनिक विज्ञानकी सहायतासे स्पष्टतः प्रत्यक्ष प्रमाणरूपमें दिखा सकते हैं, परन्तु इन्हीं शास्त्रीयदृष्टिसे सरल बातोंको समझानेके लिये हमारे इन आचार्योंको भयंकर प्रयास और बुद्धिकौशलको काममें लाना पड़ा, और इसी कारण एक ही प्रस्थानत्रयीको भिन्न भिन्न आचार्योंने भिन्न भिन्न दृष्टिकोणोंसे देखनेसे सम्प्रदायोंका निर्माण हुआ।

प्राचीनकालमें ब्रह्मतेजसे सजी सजाई यह वैदिक संस्कृति ऐसी निस्तेज और सामर्थ्यहीन कैसे हुई, इसका उद्वेगाश्चर्य होना असंभव नहीं है, और

इसी उद्वेगमें वे कह देते हैं, कि इस वेदांतने ही हमारी संस्कृतिको तेजोहीन किया, और इसी कारण वेदांत और उससे संलग्न धर्मको छोडे बिना हमारे राष्ट्रका उद्धार नहीं हो सकता। एक प्रकारसे यह आक्षेप यथार्थ है। साधारणतः ऐतिहासिक दृष्टिसे देखें, तो सातवीं शताब्दिमें– जब कि उच्च कोटिका वेदांतशास्त्र निर्माण हो रहा था, उसी समय बाहरी आक्रमणोंसे भारतीयोंकी पराधीनताका प्रथम प्रारम्भ हुआ, बारहवीं शताब्दिमें– जब कि इसी प्रकारके उच्च कोटिके वेदांतग्रन्थोंकी रचना दक्षिणमें चल रही थी, तो उसी समय दूसरी ओर देवगिरिके दाक्षिणी साम्राज्यका विध्वंस हो रहा था। इसी कारण इन सारे आक्षेपकोंको उत्तर देना कठिन नहीं है। वेदांतने तो राष्ट्रको डुबाया नहीं, परंतु पहले राष्ट्रने वेदांतको डुबाया, और फिर स्वयं डुबा।

इसका विवरण ईशावास्य तथा केनोपनिषद्के स्वतंत्र अभ्याससे पाया जा सकता है। वैदिक ऋषियोंने राष्ट्रोन्नति 'अभ्युदय' तथा 'मोक्ष' निःश्रेयस्के प्राप्त्यर्थं ही ब्रह्मविद्या शास्त्रकी रचना की थी। ऋषिप्रणीत ब्रह्मविद्या जैसी व्यक्तिको मोक्षप्रद थी, और राष्ट्रको अभ्युदयकारक थी, वैसी ही वह उत्तरकालमें व्यक्तिको मोक्ष प्राप्त करा देनेवाली तो रही, क्योंकि इस कालमें पैदा हुए संत समुदाय 'तुकाराम, सूरदास, ज्ञानदेव, मीरा, एकनाथ, तुलसीदास' इसके साक्षात् प्रमाण हैं, परंतु वह राष्ट्रको अभ्युदयकारक नहीं हुई, और इसका प्रमाण इतिहास है। इससे यह स्वाभाविक निष्कर्ष निकलता है, कि इस ब्रह्मविद्यामें कहीं न कहीं अपूर्णता उत्पन्न हुई होना चाहिये। इस अपूर्णताके कारणोंका निदर्शन शास्त्रीय दृष्टिकोणसे उपनिषद् तथा अन्य वैदिक वाङ्मयके स्वतंत्र अभ्यास करनेसे हो सकता है।

इस तरहके उपक्रम भारतमें कई स्थानोंपर हो रहे हैं, परंतु वे प्रयत्न वैयक्तिक होनेके कारण अपूर्ण हैं। इन सब प्रयत्नोंको संकलित करनेकी अत्यंत आवश्यकता है, जिससे ठोस कार्य निदर्शनमें आ सके। इसी प्रकार

भारतमें शास्त्रोंकी प्रगतिके लिये जो सरकारी और बिन सरकारी संस्था जैसे— Universities; Indian Science Congress Association, Council of Scientific and Industrial Research, National Institute of Sciences हैं उनको भी इस दिशामें कार्य करना अत्यंत आवश्यक है, क्योंकि प्रथम यह उनके कार्यक्षेत्रमें आता है, और साथ साथ राष्ट्रोद्धारकी दृष्टिसे भी यह एक महत्वपूर्ण कार्य है।



अध्याय ३ रा

ब्राह्मण ग्रन्थ और यज्ञसंस्था

[पूर्वार्ध]

यह सभी जानते हैं, कि ' वेद ' विश्वसाहित्यमें प्राचीनतम हैं । वेदोंको वेद इसलिये कहा जाता है, कि ' वेद ' शब्दका अर्थ है– ' ज्ञान ' अर्थात् वेद ईश्वरीय पूर्ण ज्ञान है । वेदोंके मुख्यतः दो भाग हैं। पहलेको मंत्र या संहिता भाग कहते हैं, और दूसरेको ब्राह्मण भाग । वेदमंत्रोंका दूसरा नाम है ' श्रुति ' । श्रुतिका अर्थ है, सुना हुआ । वेद मंत्रोंको संहिता भी कहते हैं, और संहिताका अर्थ है समीपता । वेदोंका मन्त्र या संहिता भाग अपौरूषेय या सिद्ध वाङ्मय है, ऐसा साधारणतः समझा जाता है । वेदोंके ब्राह्मण भागमें मंत्रोंका अर्थ निर्णय किया गया है, याज्ञिकीय अनुष्ठानोंके विस्तृत विवरण दिये गए हैं, और नाना उपाख्यान भी कहे गए हैं । तपोधन ब्राह्मणोंने ब्राह्मण भागका संकलन और संस्करण किया है, उसी कारण उस भागका नाम ' ब्राह्मण ' या ब्राह्मण ग्रन्थ है ।

ब्राह्मण शब्दका एक अर्थ ' यज्ञ ' भी है, और यज्ञ प्रतिपादक होनेके कारण भी उनका नाम ब्राह्मण पडा है। जिस ऋषिने, जिनके वंशमें या जिनके शिष्योंने जिस ब्राह्मण ग्रन्थका उपदेश दिया है, उन्हींके नामपर प्रायः उस ग्रन्थका नामकरण भी हुआ है। ' ब्राह्मणों ' के जो अंश अरण्य या विपिनमें पठित और उपदिष्ट हैं, उनका नाम आरण्यक है, और इन ब्राह्मणों या आरण्यकोंके जो भाग गहन गम्भीर हैं, और सूक्ष्म मनन चिन्तनसे परिपूर्ण हैं, उनका नाम ' उपनिषद ' है। साधारणतः ब्राह्मणों और आरण्यकोंको ' कर्मकांड ' कहा जाता है, और उपनिषदोंको ' ज्ञानकांड ' ।

प्रत्येक वेदमंत्रके साथ उसके ऋषिका नाम होता है। " ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः " ये ऋषि मन्त्रद्रष्टा कहे जाते हैं। ' मननात् मन्त्रः '

अर्थात् जिसका अर्थ मननसे स्पष्ट हो, वह ' मंत्र ' कहलाता है। जिस ऋषिने हृदयकी गम्भीर एकाग्रतासे जिस मन्त्रके अर्थका साक्षात किया, वह उस मन्त्रका द्रष्टा कहा गया। वेदकी जिस ऋचाके जो ऋषि मन्त्रद्रष्टा हैं, उस ऋषिके निर्मित शास्त्रोंमें उस मन्त्रका अर्थ स्पष्ट होता है। वैदिक मंत्रोंके विनियोगके समय उसकी देवताका भी उच्चार करना पडता है, ऐसा वैदिक धर्मका परिपाठ है। ' या तेनोच्यते सा देवता ' सर्वानुक्रमणीमें देवता शब्दका यह अर्थ बताया गया है, कि जिस मंत्रके द्वारा जिसका वर्णन हुआ है, वह उस मंत्रकी देवता है। अर्थात् ऋषि लोग जिस देवताकी जिस मंत्रसे उस मंत्रार्थके दर्शनकी इच्छासे स्तुति करते हैं, वही उस मंत्रकी देवता है। " ऋषि " एवं ' देवता ' के समान हम वेदोंके ' छन्दों ' को भी स्मरण रखते हैं। वेदोंके स्वरात्मक रूपकी रक्षा छंदसे होती है, और छंद मंत्रदर्शनके लिये सहायक होते हैं।

वैदिक मंत्रोंमें कर्मोंके वर्णन प्रधानरूपमें पाए जाते हैं, और उनमें अनेक देवता और उनका सामर्थ्य, नाना प्रकारकी कथाएं, और इतिहास भी मिलते हैं, कुछ ऐतिहासिक कथानकोंकी घटना प्रत्यक्ष रूपमें हुई है, और कई कर्म व्यवहारिक स्वरूपके एवं प्रत्यक्ष फलदायक हैं। बादमें ऐतिहासिक कथानकोंको दंतकथाका स्वरूप आया, और व्यावहारिक स्वरूपके कर्मोंका केवल आचारमें परिवर्तन हुआ। इस कारण प्राचीन वैदिक मंत्रोंकी व्यावहारिक उपयुक्तता कम होने लगी। बहुतसे विद्वानोंका मत है कि ऐसी परिस्थितिमें मंत्रोंमें वर्णन किये हुए कर्म, और वे मंत्र इन दोनोंकी परंपरा नष्ट न हो जाय, इस उद्देश्यसे तत्कालीन विद्वान् ऋषियोंने ब्राह्मण ग्रंथोंका संस्मरण और संकलन कर उनमें उन सब कर्मोंको उनके मंत्रोंसहित अग्निहोत्रसे संलग्न कर दिया। वास्तविक वैदिक धर्ममें एक अग्निकी उपासना अनादिकालसे प्रचलित थी, परन्तु बादमें ब्राह्मण ग्रंथोंमें किये हुए विस्तृत विवरणानुसार अग्निहोत्रमें तीन अग्निकी उपासना होती है, और उनके नाम हैं—

गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि और आहवनीय। अग्निहोत्रमें तीन कर्म मुख्य होते हैं। (१) हवन करना। (२) देवताओंको आवाहन करना। (३) कर्म देवता इत्यादिका महात्म गायन; इन तीनों प्रकारके कर्मोंको करानेवाले वैदिक मंत्र भी तीन प्रकारके होते हैं। (१) विनियोगके (२) गद्य (३) गानेके, इन्हीं तीनों तरहके कर्मोंको करानेवाले ब्राह्मणोंको सामान्यतः ऋत्विज् कहते हैं, और इस प्रकारकी की हुई उपासनाको 'अग्निहोत्र' यह संज्ञा दी गई है। भगवान दाशरथी रामचंद्रजीका सुराज्य और स्वराज्यका काल यही था, जब कि समाज सुसंगठित होकर राज्यसंस्था भी सुस्थिर हुई थी। इसी कालको "त्रेतायुग" कहते हैं। इसी कालमें अग्निहोत्र और यज्ञसंस्थाका प्रारम्भ हुआ, और इसी अग्निहोत्र संस्थाके संस्थापनार्थ वेद जो प्रथम एक ही था चार भागोंमें बांट दिया गया। इन्हीं भागोंको ऋक्, यजु, साम और अथर्वण् कहते हैं। इन चारों भागोंके मंत्र अनादि हैं, क्योंकि वे पहले एक ही थे। अग्निहोत्रसे ही बादमें अनेक प्रकारके यज्ञ-याग अस्तित्वमें आए; और इसी सारे यज्ञयाग युक्त धर्मको "श्रौत धर्म" के नामसे जाना जाने लगा। श्री रामचंद्रजीके कालमें इस प्रकारके श्रौत-धर्मके कालका प्रारंभ हुआ, और उसका पूर्ण उत्कर्ष हुआ। साधारणतः श्रीकृष्णके कालमें बहुतांशसे इस श्रौतधर्मका अपकर्ष हुआ था।

तो साधारणतः यह कह सकते हैं, कि त्रेतायुगमें जब मनुष्यका साधन 'तप' के स्थानपर 'यज्ञ' हुआ तब उपरोक्त विवरणानुसार "अग्निहोत्र या यज्ञसंस्था" के कार्यकी सुविधाके लिये प्राथमिक एक ही वेदको चार भागोंमें बांट दिया गया, और—

ऋग्वेदेन होता करोति। यजुर्वेदेनाध्वर्युः॥
सामवेदेनोद्गाता। अथर्वणा ब्रह्मा॥

अर्थात् यज्ञमें होता ऋग्वेदसे, अध्वर्यु यजुर्वेदसे, उद्गाता सामवेदसे, और ब्रह्मा अथर्ववेदसे अपने अपने अंशका काम पूर्ण करते हैं। साधारणतः लोग 'त्रेता' या 'त्रयी विद्या' जैसे वाक्योंसे यह समझते हैं, कि पहले

तीन ही वेद थे। ऋक्, यजु और साम और अथर्ववेदको बादका मानते हैं। उन्हें त्रयी विद्या या वेदत्रयका अर्थ ही नहीं समझा, ऐसा कहना पडता है। अथर्व, आंगिरस् और छांदस् ये तीन नाम अथर्ववेदके हैं, और ये नाम चारों वेदोंमें आते हैं। त्रयी विद्या वाक्यका स्पष्टीकरण महाभारतके शांतिपर्वमें मिलता है।

त्रयी विद्यामवेक्षेत वेदे सूक्तमथांगतः।
ऋक्सामवर्णाक्षरतः यजुषा अथर्वणस्तथा॥

यहां चारों वेदोंके नाम लेकर उनमें त्रयी विद्या है, ऐसा स्पष्ट कहा गया है। एतावतः वेद त्रयी कहा जानेका कारण यह है, कि मंत्र तीन प्रकारके हैं। (१) हवन करनेके (२) देवताओंको आवाहन करनेके और (३) कर्म, देवता इत्यादि विषयोंका महात्म्य गायन करनेके, और इन तीन प्रकारके मंत्रोंके कारण तथा उपासना त्रय-ज्ञान, कर्म, उपासनाके प्रतिपादनके कारण ही चारों वेदोंको "त्रयी विद्या" नाम प्राप्त हुआ है।

उपर्युक्त कथनानुसार श्री रामचंद्रजीके लंकातक सारा दक्षिण देश पादाक्रांत करनेके बाद ही भरतखंडमें वैदिक धर्म सुप्रतिष्ठित हुआ, और उसके पश्चात् ही आर्योंके राष्ट्रोन्नतिका वास्तवमें प्रारम्भ हुआ। इस समयतक वैदिक समाजमें प्रचलित तत्वज्ञानको वैदिक ऋषियोंने शास्त्रीय ढंगसे सुसंघटित नहीं किया था। प्रथम यज्ञयाग रूप श्रौतधर्मकी सहायतासे उन्नतिका कार्य आरंभ हुआ और फिर आंगिरस्, भरद्वाज, कश्यप, आरुणि आदि ऋषियोंने वेदांत विषयकी शास्त्रीय रचना करनेका कार्य तीव्रतासे प्रारंभ किया। तत्वज्ञानकी शास्त्रीय रचना करनेके प्रयत्नमें तात्विक सिद्धांतोंका संशोधन, व अन्य सिद्धांतोंसे उसकी तुलना, और अनुभव सिद्ध व्यावहारिक नियमोंसे सुसंबद्ध हों, ऐसी उनकी उपपत्ति, ये सारी बातें देखनी पडती हैं।

वैदिक ऋषियोंने ये सारे प्रयत्न शतकानुशतक किये, और इन विचारधाराओंको जब शास्त्रीय स्वरूप प्राप्त होने लगा, अर्थात् जब उनका निश्चित

अनुक्रम, और उपपत्ति, समाजके सन्मुख रखनेकी योग्य तैयारी हुई, तब ही उस विचारसारणीको ग्रन्थका स्वरूप प्राप्त होनेका समय आया। इससे यह स्वाभाविक निष्कर्ष निकलता है, कि इस प्रकार निर्माण हुए ब्राह्मण ग्रंथोंमें उद्धृत विचारधाराएं इन्हीं ग्रन्थोंके निर्माणके बहुत पहलेसे स्पष्टतः प्रकट हुई होनी चाहिये, और ऐतिहासिक दृष्टिसे ब्राह्मण (तथा आरण्यक और उपनिषद्) ग्रन्थोंके निर्माणका काल, और उनमें ग्रथित विचारधाराओंका काल सर्वथा ही भिन्न होने चाहिये। ऐतिहासिक संशोधन करनेवाली संस्थाओं और व्यक्तियोंने इस प्रश्न या विषयका संशोधन करना राष्ट्रीय दृष्टिसे एक महत्वका कार्य होगा।

पहले वेद एक ही था, परंतु जब वेदमंत्रोंको अग्निहोत्रसे संलग्न करनेका प्रचंड कार्य प्राचीन तपोधन ऋषियोंनें ब्राह्मण ग्रन्थोंको निर्माण करके किया, उसी समय अग्निहोत्र या यज्ञसंस्थाको शास्त्रीय स्वरूप देनेके उद्देश्यसे ही एक ही वेदको चार भागोंमें बांटा, और उन्हें ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्वण वेद संज्ञाएं दी गई। यों कहा जा सकता है, कि ब्राह्मण ग्रंथ, मंत्र या संहिताभागमें दिए हुए कर्मोंका स्पष्टतः विवरण करनेवाले, एक प्रकारके टीका ग्रन्थ ही हैं; क्योंकि वेदों (मंत्रों) में वर्णन किये हुए कर्मों (उन मंत्रोंसहित) की परंपरा, और उनमें कथित ज्ञान नष्ट न हो जाय, इस उच्चतम उद्देश्यसे ही इन महान् ऋषियोंने मंत्रोंसहित उनमें वर्णन किये हुए कर्मोंको अग्निहोत्र या यज्ञसंस्थासे संलग्न करनेका कार्य किया। हमारे तपोधन ऋषियोंके इस प्रकांड शास्त्रीय तथा अत्यंत महत्वपूर्ण कार्यपर अधिक प्रकाश डालनेके लिए संशोधनात्मक कार्य करनेकी कितनी अधिक आवश्यकता है, यह स्पष्ट प्रतीत होता है।

वास्तवमें देखा जाय, तो अग्नित्रयपर प्रस्थापित यह विद्या, और उससे संलग्न कर्म, आचार और व्यावहारिक उपयुक्तताकी दृष्टिसे अत्यंत महत्वके ही हैं, क्योंकि इतने परिश्रमपूर्वक किये गए इस तत्वज्ञानके संशोधन और तदनुकूल आचारोंसे ही हमारा तत्कालीन समाजकर्तव्य परायण और

सामर्थ्यसंपन्न हुआ था, और भारतवर्षकी यशोदुंदुभी सारे संसारमें गूंज उठी थी, यह बात एक ऐतिहासिक सत्य है। आज भी सारे लोग " राम-राज्य " को उत्कर्षकी परमावधि ही मानते हैं। श्री रामचंद्रजीके लंकातक सारा दक्षिण देश पादाक्रांत करनेके पश्चात् ही वैदिक धर्म सारे राष्ट्रमें सुप्रतिष्ठित हुआ, और उसके बाद ही आर्योंके सच्चे राष्ट्रोन्नतिके कार्य प्रारंभ हुए। सर्वप्रथम जो यज्ञयाग रूप श्रौत धर्मकी सहायतासे उन्नतिका कार्य प्रारंभ हुआ था, उसीसे फिर बादमें तत्वज्ञान, धर्मशास्त्र (अर्थात् नियम और विधान), राजकारण, व्यापार इत्यादि तात्विक और व्यावहारिक शास्त्रोंके मेलसे वैदिक संस्कृतिका भाग्य-रवि उच्च कोटिके उत्कर्षको पहुंचा। उस कालके यज्ञ एक प्रकारसे विद्वान् लोगोंके संमेलनसे ही थे, और धार्मिक, राजकीय, आर्थिक, इत्यादि सर्व प्रकारके राजकीय, सार्वजनिक तथा राष्ट्रीय प्रश्नोंपर सांगोपांग चर्चा कर निर्णय देनेवाला यज्ञमंडप एक महान् क्षेत्र ही बन गया था, यही कारण था कि व्यावहारिक और पारमार्थिक ऐसे दोनों दृष्टिकोणोंसे यज्ञयागोंकी उपयुक्तता समाजको जंची हुई थी, और समाज उन सब आचारोंको श्रद्धापूर्वक करता था।

यज्ञानुष्ठानका हिन्दू संस्कृतिके साथ बडा ही घनिष्ठ संबंध है। ऋषियोंने हिन्दू जीवनमें यज्ञ विधानके द्वारा जो दिव्य भावनाकी सुसरिता प्रवाहित की, वह अविरत गतिसे त्रेतायुगसे आजतक बहती चली आ रही है। विवाहित दंपती हिन्दू संस्कृतिके अनुसार केवल अपने ही गार्हस्थ्य जीवनकी सुखसमृद्धिके लिये उत्तरदाई नहीं, किन्तु समस्त ब्रह्मांडकी सुख-समृद्धिके लिये उत्तरदायी है। यह महत्ता संसारकी किसी जातिमें नहीं पाई जाती है। वैदिक धर्मका पंचमहायज्ञ इस विधानका प्रत्यक्ष प्रमाण है।

यज्ञ और महायज्ञमें यह भेद है कि साधक अपने ऐहिक और पारलौकिक कल्याणके लिये जो यज्ञ करता है जैसे पुत्रेष्टियाग 'ऐहिक' और अग्निहोत्रादि (पारलौकिक) उनको यज्ञ कहते हैं। और जो जगद् या विश्वके कल्याण या हित और मंगलके हेतु किये जाते हैं, उन्हें महायज्ञ कहते हैं।

ये महायज्ञ पांच प्रकारके हैं। ये पंचमहायज्ञ आर्य जातिके गृहस्थाश्रमके नित्य कर्म हैं—

(१) ऋषियज्ञ– दैवी जगत्के संचालकोंमें ज्ञानके प्रवर्तक होनेसे भृगु, आंगिरस्, वशिष्ठ आदि महर्षियोंका स्थान सबसे ऊंचा है। उनके ज्ञानके संवर्धनके लिए नित्य यज्ञ करना प्रत्येक गृहस्थका कर्तव्य है, और ऐसे ऋषियोंकी तृप्तिके लिए किये जानेवाले यज्ञको 'ब्रह्म यज्ञ' या 'ऋषि यज्ञ' कहते हैं। (२) देवयज्ञ– अष्टवसु, एकादश रुद्र, द्वादश आदित्य, इंद्र, वरुण आदि दैवी शक्तियोंके संवर्धनके लिये नियमितरूपसे देवयज्ञ करनेकी आज्ञा है। (३) पितृयज्ञ– पितृगण एक प्रकारके देवता हैं। उनकी कृपासे कुल, वंश और मनुष्य समाजका कल्याण होता है। इनके संवर्धनके लिये जो यज्ञ किया जाता है, उसे पितृयज्ञ कहते हैं। (४) भूतयज्ञ– मनुष्यके अतिरिक्त संसारकी अन्य जीवसृष्टि भी है। स्वेदज, उद्भिज, अण्डज, और जरायुज। हिन्दू धर्मके महत्व, आचार और उदारताकी व्यापकताका यह ज्वलंत प्रमाण है, कि वह कृतज्ञताके वश होकर चतुर्विध भूतसंघके कल्याणके लिये प्रतिदिन भूतयज्ञका आदेश देता है। (५) नृयज्ञ– मनुष्य जीवजातिका एक अंग है, इस कारण कर्तव्य बुद्धिसे भोजनके पहले जो कोई आ जाय उसको अन्नादिसे तृप्त करना ही नृयज्ञ है। अतिथि सेवा भी इस महायज्ञका अंग माना गया है। इस प्रकार यज्ञ हमारे वैयक्तिक और सामाजिक जीवनका प्रधानस्वरूप था, इस जीवनकी पवित्र झांकी श्रौतसूत्रों, ब्राह्मणों, आरण्यकों और उपनिषदोंमें मिलती है—

(बृहदा. १-४-१६) तथा तदेतत्सत्यम्—

मंत्रेषु कर्माणि कवयो यान्यपश्यंस्तानि त्रेतायां बहुधा सन्ततानि। तान्याचरथ नियतं सत्यकामा, एष वः पंथाः सुकृतस्य लोके ॥ मुंडक १।२।१।

अर्थ— " वह विश्व सत्य है। विद्वान् ऋषियोंको वेदमंत्रोंमें जो जो कर्म दिखे, उन्हें अग्नित्रय (अग्निहोत्र) पर अनेक प्रकारसे विस्तृत कर

दिया गया है। (अनेक प्रकारके यज्ञोंका वर्णन किया हुआ है) हे शुभ इच्छा धारण करनेवाले ऋषियों उन यज्ञकर्मोंका आप शुद्ध बुद्धिसे आचरण करो। इस जगत्में यही आपका पुण्य (सत्कर्म) का मार्ग है। " मुंडकोपनिषद्कर्ता ऋषिका यह आदेश है। प्रस्तुत मंत्रमें त्रेतायुगमें अग्निहोत्रकी जो व्यवस्था की गई थी, उसीका उल्लेख है, और मंत्रके दूसरे वाक्यका स्पष्ट अभिप्राय यह है; कि " सत्यकाम मनुष्य यदि शुद्ध बुद्धिसे इस श्रौत धर्मका आचरण करे, तो उससे उन्नतिका लाभ होगा।"

अब यदि यज्ञ ही हमारी संस्कृतिके आधारस्तंभ हैं, तो यज्ञस्वरूपका ज्ञान, तथा उनके अनुष्ठानके विधिका यहां संक्षिप्त विवेचन करना अनुचित न होगा। साधारणतः निम्नलिखित बातें, विषय, और कर्म, यज्ञानुष्ठानोंमें दिखाई देते हैं—

(१) अग्निहोत्र तीन अग्निका होता है उनके नाम— गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि, और आहवनीय अग्नि; इन तीन अग्नियोंके तीन अलग अलग कुण्ड होते हैं।

(२) अग्निकुंड या यज्ञवेदिके इंटोंकी विशिष्ट रचनाको ' चयन ' कहते हैं, और चयनके कई प्रकार होते हैं। यज्ञविद्यामें इष्टका या इंटोंकी रचनाको बहुत ही महत्व दिया है, और भिन्न भिन्न यज्ञमें अग्निकुंडकी रचना भिन्न भिन्न प्रकारकी होती है।

(३) द्रव्य— सामान्यतः तेल, दही, दूध, सोमलता, यवागु (चावल या जौ की लपसी) भात, घी, कच्चे चावल, फल और जल ये द्रव्य ही वैदिक यज्ञोंमें उपयोगमें लाए जाते हैं।

(४) देवता— देवता आधिदैविक शक्तियां हैं, जो यज्ञको सर्वथा व्याप्त करके मंत्रके रूपमें अभिव्यक्त होती हैं।

(५) अग्निहोत्रमें तीन कर्म मुख्य होते हैं। [१] देवताओंका आवाहन करना [२] हवन करना और [३] कर्म देवता इत्यादिका महात्म गायन करना।

(६) अग्निहोत्रमें कर्म करनेवाले ब्राह्मणोंको ऋत्विज् कहा गा
श्रौत धर्ममें अठारह प्रकारके इस कर्मका वर्णन किया
और ये अठारह भेद ऋत्विजोंकी संख्यासे मेल खाते हैं
अध्वर्यु, उद्गाता और ब्रह्मा ये चार यज्ञमें काम करनेवाले
ऋत्विज् होते हैं, और इनमेंसे हरएकको तीन तीन सहायता
करनेवाले दूसरे ऋत्विज् होते हैं। इस प्रकारसे ऋत्विजोंकी
संख्या सोलह होती है, और इसमें यजमान और यजमान पत्नी
ये दो मिलानेसे इनकी संख्या (१८) अठारह हो जाती है।
होता ऋग्वेदके मंत्रोंसे अपना कार्य पूर्ण करता है, अध्वर्यु यजुर्वेदके मन्त्रोंसे आहुतियां देता है, उद्गाता सामवेदके मंत्रोंसे देवता, कर्म इत्यादिका महत्व गायन करता है और ब्रह्मा अथर्ववेदकी सहायतासे यज्ञका संरक्षण करता है।

(७) ग्रह और अतिग्रह— सोमरस प्राशन करनेके पात्रोंको ग्रह और अतिग्रह संज्ञाएं दी गई हैं।

(८) सोमयागोंमें सोम सवनकी एक विधि होती है, और इसके तीन विभाग होते हैं। पहले विभागको प्रातः सवन कहते हैं। प्रातः सवनमें गायत्री छंद होते हैं। गायत्री मंत्रमें चोवीस अक्षर होते हैं, और इस प्रातः सवनमें 'वसु' देवता संबंधित होते हैं। दूसरा माध्यंदिन सवन–माध्यं दिन सवन त्रिष्टुप् छंदरूप होता है, और इसमें (४४) चौंवालीस अक्षर होते हैं, और इससे रुद्र देवता संबद्ध होते हैं। तीसरा सायं सवन, इस सवनमें जगती छंद होता है, और उसमें ४८ अक्षर होते हैं। इससे आदित्य देवता संबद्ध हैं।

(९) यज्ञोंमें दीक्षा [या यज्ञव्रत], उपसद [पयःपान विधि है], स्तोत्र व शस्त्र [विशिष्ट मंत्र], दक्षिणा [ऋत्विजोंको दी जानेवाली], सोमरस निकालनेकी विधि, तथा अवभृत स्नानकी विधि भी होती है।

उद्गाता (सामवेद) स्तुतिगायन- [प्राण-वायु]

उत्तर

अग्निकुंडके ईंटोंकी विशिष्ट रचनाको " चयन " कहते हैं।

पूर्व

अध्वर्यु (यजुर्वेद)
विनियोग
[नेत्र-सूर्य]

पश्चिम

होता
(ऋग्वेद)
आवाहन
[वाणी-अग्नि]

दक्षिण

ब्रह्मा (अथर्वा) निरीक्षण [मन-चन्द्र]

ॐ

(१) अग्निहोत्रमें तीन अग्निकी उपासना होती है वे नीचे दिये हैं—

यज्ञमें	...	१ गार्हपत्य	२ आहवनीय	३ दक्षिणाग्नि
ब्रह्मांडमें	...	१ पृथ्वी	२ सूर्य	३ वायु
पिंडमें	...	१ अपान	२ प्राण	३ व्यान

(२) अग्निहोत्रके नित्य होममें दो आहुतियोंका हवन मुख्य होता है, प्रश्नोपनिषद्‌में (४–३।४) श्वास और उच्छ्‌वासको ही दो आहुतियोंका रूपक दिया है, और ब्रह्मांडमें आकाश तथा पिंडमें समान वायु ही इन आहुतियोंकी गतिकी समानता रखता है, यह बताया गया है।

(३) प्रत्येक यज्ञका कुछ फल भी होता है। पिंडमें उदान सामर्थ्य अर्थात्‌ वीर्य ही आध्यात्म यज्ञका फल है, और ब्रह्मांडमें भी उदान ही अर्थात्‌ तेज या विद्युत ही यज्ञका फल बताया गया है।

(४) यज्ञमें सोमरस प्राशन करनेके पात्रोंको ग्रह और अतिग्रह कहा जाता है। इनकी संख्या आठ होती है। याज्ञवल्क्य ऋषिने बृहदारण्यक उपनिषद्‌में आध्यात्म यज्ञमें पिंड स्थित आठ ग्रह और आठ अतिग्रह बताए हैं। वे ये हैं—

ग्रह— (१) प्राण (२) वाणी (३) जिह्वा (४) नेत्र
(५) श्रोत्र (६) मन (७) हाथ (८) त्वचा।

अतिग्रह— (१) अपान (२) नाम (३) रस (४) रूप
(५) शब्द (६) इच्छा (७) कर्म (८) स्पर्श।

(५) यज्ञमें सोम सवन विधिके तीन भाग होते हैं। इस विधिका सादृश्य लेकर छांदोग्यमें आध्यात्म यज्ञमें मनुष्यके आयुके तीन विभाग कर पहले २४ वर्ष प्रातःसवन (ब्रह्मचर्याश्रम), दूसरी २४ से ६८ अर्थात्‌ ४४ वर्ष माध्यान्यसवन (गृहस्थाश्रम) और ६८ से ११६ अर्थात्‌ ४८ वर्ष सायंसवन (वानप्रस्थ आश्रम) संज्ञाएं दी हैं।

(६) छांदोग्यमें इसी अध्यायमें आगे अध्यात्मयज्ञकी दीक्षा और यज्ञ व्रतोंको नियमित और सात्विक आहारके सदृश्य बताया है। स्तोत्रों और

यज्ञोंको हंसना, खेलना, स्त्री संभोग इत्यादि बताया गया है। व्रत, दान, सरलता, अहिंसा जैसे व्यवहारोंको अध्यात्मयज्ञमें दक्षिणा माना है। पुत्रोत्पत्तिको सोमरस निकालनेके समान, और मृत्युको अवभृत स्नानके समान माना गया है।

उपर्युक्त सब विषयोंपर इस लेखके उत्तरार्धमें अधिक प्रकाश डाला जावेगा।

ऊपरके विवरणमें कुछ कुछ मुख्य बातें ही दी गई हैं। इसके अतिरिक्त और भी बहुतसी हैं, जिनका उल्लेख करना बडा आवश्यक नहीं है।

एवं गुणविशिष्ट यज्ञ एक विधान है, जिसके द्वारा देवताओंको तृप्त कर यजमान अपना अभिलाषित आनन्द प्राप्त करता है। स्वर्गलोक प्राप्ति यज्ञानुष्ठानका एक मुख्य उद्देश्य है। 'स्वर्ग' इस शब्दके उत्तरकालीन वेदांत ग्रन्थोंमें अनेक प्रकारके अर्थ किए गए हैं। कहीं कहीं स्वर्गके वर्णन चैनबाजी या विलासकी परमावधिके दर्शक हैं। वैदिक वाङ्मयमें आए हुए 'स्वर्ग' शब्दके मूलभूत कल्पनाका सूक्ष्म विचार करनेसे प्रतीत होता है, कि वेदांतशास्त्र जिसे ब्राह्मी स्थिति कहता है, उसीको प्राचीन वैदिक भागमें 'स्वर्ग' संज्ञा दी गई है, और इसी अभिप्रायसे केनोपनिषद् कर्ता ऋषिने स्वर्ग शब्दको अनंत 'अविनाशी' विशेषण देकर स्वर्ग ब्रह्मविद्याका फल है, ऐसा स्पष्ट कहा है।

यो वा एतामेवं वेदापहत्य पाप्मानमनन्ते स्वर्गे लोके ज्येये
प्रतितिष्ठति प्रतितिष्ठति ॥ केन ४।९

इस प्रकार अनंत व सांत दो प्रकारके स्वर्ग अभिप्रेत थे, यह निष्कर्ष इससे निकलता है; और फिर विलासी अतएव सांत स्वर्गको भिन्न कोटिका कहना पडता है। श्रौतधर्मके लोप होनेके समय विलासिताके स्वर्गकी कल्पना स्पष्टतः आगे आई होगी। वास्तवमें अनंत या अविनाशी स्वर्ग ही स्वर्ग शब्दकी मूलभूत कल्पना है, और इस स्वर्गकी अर्थात् ब्राह्मी स्थितिके व्यावहारिक और पारमार्थिक दृष्टिसे, दो स्वरूप निश्चित करके एकको अभ्यु-

*

[सु]ख और दूसरेको निःश्रेयस् नाम दिये गए हैं। यद्यपि ये नाम सूत्रकालके हैं, [त]ो भी इसका मूल तत्व बहुत प्राचीन है, इसमें कोई सन्देह नहीं है। [म]न्त्रद्रष्टा ऋषियोंको स्वर्ग शब्दसे अविनाशी स्वर्ग ही अभिप्रेत था, और [इ]सी कारण इसके तत्वके आधारपर ही वैदिक धर्मका उत्कर्ष कर बताया था।

अबतक इस लेखमें जो विवेचन हुआ है, उसमें निम्नलिखित प्रश्नोंपर [प्र]काश डालनेका प्रयत्न किया गया है। (१) वेद शब्दसे हमें जिस [स]ाहित्यका बोध होता है उसके दो भाग हैं। पहला मंत्र या संहिता भाग [औ]र दूसरा ब्राह्मण भाग। (२) मन्त्रभाग अपौरूषेय है, ऐसी साधारणतः [स]ारे आस्तिक लोगोंकी भावना है। (३) ब्राह्मण ग्रन्थोंका संस्मरण और [सं]कलन प्राचीन ऋषियों द्वारा हुआ है। (४) इन ब्राह्मण ग्रन्थोंमें ऋषियोंने [मं]त्रभागमें दिये हुए कर्मोंको उनके मंत्रोंसहित अग्निहोत्र या यज्ञसंस्थासे [सं]लग्न करनेका महान् कार्य किया है। (५) एक अग्निकी उपासना वैदिक [ध]र्ममें अनादि कालसे थी पर अग्निहोत्रमें तीन अग्निकी उपासना होती [है]। (६) अग्निहोत्र या यज्ञसंस्थाकी सुविधाके लिये ही वेद जो प्रथम [ए]क ही था, चार भागोंमें बांट देनेका प्रचंड और शास्त्रीय दृष्टिसे रचनात्मक [का]र्य हमारे प्राचीन ऋषियोंने ही किया। (७) इस यज्ञ-याग रूप श्रौत [ध]र्मके तत्वज्ञानसे ही उस समय हमारी राष्ट्रोन्नति हुई, और वैदिक संस्कृ-[ति]का भाग्यरवि उच्च कोटिके उत्कर्षको पहुंचा था। (८) इसी कालको [त्रे]तायुग कहते हैं, क्योंकि इसी समय "त्रयी विद्या" का प्रसार हुआ [थ]ा। (९) ब्राह्मण ग्रन्थोंके कुछ भागको बादमें आरण्यक नाम प्राप्त हुआ, [औ]र कुछ काल पश्चात् ब्राह्मण या आरण्यकोंके कुछ हिस्सोंको उपनिषद् [सं]ज्ञा दी गई। (१०) इस प्रकार त्रेतायुगसे आजतक यज्ञ ही हमारी [वै]दिक संस्कृतिके मूलाधार या आधारस्तंभ हो गए हैं।

उपर्युक्त विवरणके सूक्ष्म निरीक्षणसे कई महत्वपूर्ण प्रश्न और भी निर्माण होते हैं, वे ये हैं—

(१) वेदमंत्र अनादि हैं, हमारे प्राचीन ऋषियोंनें दिव्य दृष्टिसे इन्हें

समझा, और आत्मसात किया था। यह कार्य ऐतिहासिक दृष्टिसे किस समय हुआ होगा?

(२) प्राचीन वैदिक कालमें एक ही अग्निकी उपासना थी, उसके स्थान पर अग्निहोत्रसंबंधी तीन अग्निकी उपासना प्रसृत करनेकी आवश्यकता क्यों प्रतीत हुई?

(३) अग्निहोत्र संस्थाके प्रस्थापनार्थ ही ब्राह्मण ग्रंथोंका निर्माण हुआ, या इनके निर्माणका और भी कोई उद्देश्य था?

(४) ब्राह्मण ग्रंथोंसे कुछ अंश निकाल कर उन्हें आरण्यक संज्ञा दी गई। यह कार्य किस कारणसे किया गया और कब?

(५) इन ब्राह्मण और आरण्यकोंके कतिपय अध्यायोंको अलग निकाल उन्हें उपनिषद् कहा गया, यह काम कब और किस उद्देश्यसे किया गया?

(६) प्रत्येक वेदमंत्रके साथ उसके द्रष्टा ऋषिका नाम होता है, और मंत्रोंके विनियोगके समय उसके देवताका उच्चार करना पडता है, और वैसे ही उसके छंदका स्मरण रखा जाता है। ब्राह्मण ग्रन्थोंके निर्माणके बाद अर्थात् एक ही वेदके चार भागों (ऋग्, यजु, साम और अथर्वण) के किये जानेके बादमें यह परंपरा प्रचलित हुई, या इस कालके पहले भी वह परंपरा प्रचलित थी?

(७) प्राचीन ऋषियोंने मंत्रभागमें दिये हुए कर्मोंको उनके मंत्रों-सहित अग्निहोत्रसे संलग्न करनेका कार्य किया, उसमें उनका मूल उद्देश्य क्या था?

(८) प्राचीन वैदिक कालमें जो एक ही वेद था, उस समय वेदकी शाखाएं थीं, या एक ही वेदके चार भाग जब किये गए, उसके बाद प्रत्येक वेदकी भिन्न भिन्न शाखाएं हुई?

(९) अग्निहोत्र आधारित यज्ञसंस्थामें कौनसी ऐसी अद्भुत शक्ति थी, कि यज्ञ मंडपमें सामाजिक, आर्थिक, राजकीय, इत्यादि सब प्रकारके प्रश्नों-पर वादविवाद करके निष्कर्ष निकाला जा सकता था?

(१०) यदि यज्ञ और तत्संबंधी तत्वज्ञान इतना महत्वका था, कि उसके कारणसे हमारी तत्कालीन वैदिक संस्कृति उच्च कोटिके शिखरपर पहुंच

गई थी, तो उसी तत्वज्ञानका संशोधन, और तत्सम आचरण करनेमें आज क्या आपत्ति है?

उपर्युक्त प्रश्नोंके समान और भी अनेक जटिल प्रश्न निर्माण होते हैं। अब हम एक स्वतंत्र राष्ट्रके अंग हैं, और हम सबको, चाहें वे किसी भी राजकीय मतप्रणाली अपनाए हुए हों, या वे किसी भी वैदिक संप्रदायके हों, आज भी हमें अपनी संस्कृतिका अभिमान है। हमारे राष्ट्रीय नेताओंका कर्तव्य है, कि जिस प्रकार वे आज व्यावहारिक शास्त्रीय विषयोंके अनुसंधानमें दिलचस्पी लेते हैं, और आज राष्ट्रमें ऐसी चौदह पंद्रह अनुसंधान शालाएं (संस्थाएं) निर्माण की गई हैं, उसी प्रकार एक भव्य "राष्ट्रीय वैदिक रिसर्च इन्स्टीटयुट" का भी निर्माण करें। इस तरहके कार्य हमारे देशमें सदैव ही राजाश्रयसे चलाए जाते थे, क्योंकि वैयक्तिक आर्थिक शक्ति ऐसे कार्योंके लिये नितांत ही अपूर्ण होती है। आजतक हमारे यहां अनेक मांडलिक राजा थे, और उनमेंसे कुछ ऐसे कार्यमें सहानुभूति दिखाकर पर्याप्त मात्रामें आर्थिक सहाय भी करते थे। अब वे भी नहीं रहे, पाश्चात्य राष्ट्रोंके समान हमारे देशके धनिक वर्गमें अभी तक इस ढंगकी उदात्त भावनाओंका प्रादुर्भाव नहीं हुआ है।

हमारे राष्ट्रमें इस समय कुछ संस्थाएं अवश्यमेव हैं, जहां प्राचीन इतिहास संशोधन तथा अन्य विषयोंमें कार्य हो रहा है। परंतु भारत जैसे विशाल राष्ट्रके लिये ऐसी पांच चार संस्थाओंका होना नहीं के बराबर है। हमारे वैदिक ग्रन्थ विज्ञान शास्त्रोंका विवरण करनेवाले वैज्ञानिक ग्रन्थ हैं। यह हमने "परा और अपरा विद्या" लेखमें स्पष्टतः सिद्ध कर दिया है। इसलिये अनुरोध है, कि राष्ट्रकी "शास्त्रीय अनुसंधान शाखा" इस ओर ध्यान देकर ऐसे कार्यके लिये "अनुसंधान शाला" का उपक्रम कर उसे पर्याप्त मात्रामें आर्थिक सहायता देनेका आयोजन करे। इस लेखके उत्तरार्धमें जो ऊपर प्रश्नावली दी हुई है, उन प्रश्नोंपर हमारी अल्पमतिसे प्रकाश डालनेका प्रयत्न किया गया है।

अध्याय ४ था

ब्राह्मण ग्रंथ और यज्ञसंस्था

[उत्तरार्ध]

इस लेखमालाके दूसरे अध्यायमें (परा और अपरा विद्या विषयके लेखमें) यह दिग्दर्शित करनेका प्रयत्न किया है, कि चारों वेद (ऋग्, यजु, साम, अथर्व) और छः हों वेदांग (ज्योतिष, कल्प, निरुक्त, छंद, व्याकरण, शिक्षा) अपरा विद्या है, या विज्ञान है। अब इस लेखमें "ब्राह्मण" ग्रन्थोंके विषयमें कुछ विचार विद्वानोंके सन्मुख रखनेका प्रयत्न किया जा रहा है।

इस लेखके पूर्वार्धमें हमने इस बातको दिखलानेका प्रयत्न किया है कि ब्राह्मण ग्रन्थ और अग्निहोत्र या यज्ञसंस्था इनका पारस्परिक संबंध, तथा उनसे संलग्न अन्य बातोंके संशोधनात्मक कार्य ऐतिहासिक दृष्टिकोणसे तो महत्वके हैं ही, इसके अतिरिक्त ऐसे संशोधनात्मक कार्यका राष्ट्रीय दृष्टिसे अत्यंत महत्व है; क्योंकि भारतीय संस्कृति मुख्यतः इन्हींपर आधारित है। भारतने आज हजार डेढ हजार वर्षके बाद अब स्वतंत्रता प्राप्त कर ली है। हमारे भिन्न भिन्न राजकीय तथा सामाजिक और धार्मिक संस्थाओंके नेताओंको भारतीय संस्कृतिका अभिमान तथा गौरव है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी अपनी विचारधाराकी पुष्टिके लिये इस संस्कृतिका अंशात्मक उपयोग करता है, परंतु वे ग्रन्थ जो हमारी संस्कृतिके आधारस्तंभ या मूलाधार हैं, उनसे हमारे अधिकांश नेताओंका यत्किंचित् भी परिचय नहीं है।

पुराने मतवाली भारतीय जनताको इस बातका विश्वास तथा श्रद्धा है, कि हमारी संस्कृति उच्च कोटिकी है, और इस श्रद्धा 'अंध श्रद्धा' के कारण बुद्धिकी कसौटीपर उसकी जांच करनेकी आवश्यकता ही नहीं समझते। यहांतक कि उनके विचारसे ये बातें उनकी कक्षाके बाहर हैं, और

इस कारण वे उस ओर कार्य करना व्यर्थ समझ कर प्रयत्न ही नहीं करते। नवीन मतवाले, जो अपने आपको बुद्धिवादी कहते हैं, और जो साधारणतः पाश्चात्य विचारधाराके अनुयायी हैं, यह समझते हैं, कि हमारे वैदिकग्रन्थ तथा उससे संबंधित अन्य वाङ्मय एक दंतकथाओंका, तथा अन्य मन घडंत कथानकोंका संग्रह है। उसमें कहीं कहीं जो व्यावहारिक दृष्टिसे उपयुक्त बातें दिखती हैं, वे कदाचित् उन ४००० या ५००० वर्ष पूर्वके कालमें उपयुक्त हों, परंतु आजके नवीन शास्त्रीय युगमें उनका कोई महत्व नहीं है; और व्यावहारिक उपयुक्तताकी दृष्टिसे तो वे सर्वथा ही अनुपयुक्त हैं। इस तरह आस्तिक, नास्तिक तथा अन्य बुद्धिवादी हमारी संस्कृतिके स्रोतकी ओरसे संपूर्णतः मुंह मोडे हुए दिखाई देते हैं। हमारे स्वतंत्र भारतके बुद्धिजीवी वर्गकी यह निष्क्रियता दूर हो, और वे सब इस वाङ्मयको नए दृष्टिकोणसे देखें, और उसमें कथित विज्ञानसे राष्ट्रको नवजीवन प्राप्त करानेमें सहायता लें, इस उच्चतम उद्देश्यसे ही इन लेखोंद्वारा प्रयत्न किया जा रहा है।

अब हम दशोपनिषदोंसे ही उन भागोंको उद्धृत करेंगे, जिनमें अग्निहोत्र या यज्ञसंस्थासे संबंध रखनेवाले विषयोंकी चर्चा हो; और फिर उनके सूक्ष्म निरीक्षणसे इस बातके देखनेका प्रयत्न करेंगे, कि जो प्रश्न इस लेखके पूर्वार्धके अन्तमें दिए हुए हैं, उन प्रश्नोंपर, तथा उनसे संबंधित अन्य बातोंके विषयमें क्या निष्कर्ष निकलता है—

मुंडकोपनिषद्

तदेतत्सत्यम् - मंत्रेषु कर्माणि कवयो यान्यपश्यंस्तानि त्रेतायां बहुधा सन्ततानि। तान्याचरथ नियतं सत्यकामा एष वः पंथाः सुकृतस्य लोके ॥ मुंडक १।२।१

"वह 'विश्व' सत्य है। वेदमंत्रोंमें विद्वान् ऋषियोंने जो जो कर्म देखे, उन्हें अग्नित्रयपर 'अग्निहोत्र' कई प्रकारसे विस्तृत किये हुए हैं 'कई प्रकारके यज्ञ वर्णन किये हुए हैं' हे शुभ इच्छा धारण करनेवाले ऋषियों के

यज्ञकर्म तुम सब शुद्ध बुद्धिसे आचरण करो। इस जगत्में यही तुम्हारे लिये पुण्य ' सत्कर्म ' का मार्ग है। "

प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म।
एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्युं ते पुनरेवापि यन्ति॥
मुंडक १।२।७

" ' यज्ञमें ' जो ज्ञानरहित केवल कर्म अठारह प्रकारका वर्णन किया हुआ है, वह यज्ञरूप अदृढ नौकाएं हैं। जो अज्ञानी लोग यह ' ज्ञानहीन कर्म ' ही परम श्रेय है, ऐसा प्रशंसापूर्वक समझते हैं, वे मूढ जन्ममरणके फेरमें पड जाते हैं। "

उपर्युक्त दो मंत्रोंका निरीक्षण करनेसे यह स्पष्टतः जाना जा सकता है कि—

१– वैदिक कालमें पहले एक ही अग्निकी उपासना, अनादिकालसे चालू थी, परंतु वैदिक मंत्रोंमें दिग्दर्शित सारे कर्मोंको अग्निहोत्र, और यज्ञसंस्थासे कई प्रकारसे संलग्न करनेका कार्य प्राचीन ऋषियोंने किया। इस कार्यका विधिवत् विवरण और प्रतिपादन ब्राह्मण ग्रन्थोंको निर्माण कर उनमें किया गया है, और इन सारे ही अग्निहोत्रादि यज्ञ कर्मोंको ज्ञानयुक्त बुद्धिसे करनेका आदेश ऊपर दिये हुए पहले मंत्रमें दिया हुआ है।

२– दूसरे मंत्रसे यह निष्कर्ष निकलता है कि, केवल कर्म ही को श्रेय समझनेवाले लोग महा मूर्ख हैं। कल्याणकी दृष्टिसे ज्ञानविरहित कर्म व्यर्थ ही है। अठारह यह संख्याके विषयका महत्वपूर्ण विश्लेशण पंडित सातवलेकरजीने अपने " पुरुषार्थ प्रबोधिनी " ग्रन्थमें उत्तम रीतिसे किया है। यहां केवल इतना बता देना पर्याप्त है, कि किसी भी यज्ञमें सोलह ऋत्विज् और यजमान और यजमान पत्नि ये दो– ऐसे अठारह कर्म करनेवाले व्यक्ति होते हैं।

३– श्रौतधर्ममें कर्मोंसे जिनकी बनावट हुई है, ऐसी यज्ञरूपी नौकाएं बडी धोकेकी हैं, क्योंकि श्रौतधर्मकी रचनामें कर्म और उनकी शिस्त

'नियम' इन्हींको अधिकाधिक महत्व प्राप्त होता रहा। इससे सर्वतोपरी कर्मठ वृत्तिको ही प्राधान्य मिलने लगा होगा, और इसी धोकेसे बचनेके लिए इस मंत्रमें सूचित किया गया है। इस मंत्रमें आए हुए "श्रेयस्" शब्दसे उसे अंतिम साध्यका साधन ही समझना उचित होगा। एवं गुण विशिष्ट सारे यज्ञकर्म ज्ञानयुक्त ही हों, यह स्पष्ट है।

कठोपनिषद्

स्वर्गे लोके न भयं किंचनास्ति, न तत्र त्वं न जरया बिभेति।
उभे तीर्त्वाऽशनायापिपासे शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके॥
कठ. १।१।१२

स्वर्गलोकमें किसी प्रकारका भय नहीं रहता। वहां तू अर्थात् मृत्यु नहीं होती, और लोग बुढापेसे नहीं डरते हैं। क्षुधा और तृषा इन दोनों बाधाओंसे रहित, शोकसे पार होकर लोक स्वर्गलोकमें आनंद पाते हैं।

स त्वमग्निः स्वर्ग्यमध्येषि मृत्यो
प्रब्रूहि त्वं श्रद्दधानाय मह्यम्॥
स्वर्गलोका अमृतत्वं भजंते
एतद्द्वितीयेन वृणे वरेण॥ कठ. १।१।१३

हे यमधर्म! तू स्वर्गप्रद अग्निको जानता है, तो तू मुझ जैसे श्रद्धावान्को वही स्पष्ट कर बता। स्वर्गलोकमें रहनेवाले 'क्रमसे' अमृतत्व अर्थात् मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं। इसलिये दूसरे वरदानके रूपमें तुमसे उसीको समझानेकी विनंती करता हूं।

प्र ते ब्रवीमि तदु मे निबोध, स्वर्ग्यमग्निं नाचिकेतः प्रजानन्।
अनन्तलोकाप्तिमथो प्रतिष्ठां विद्धि त्वमेतन्निहितं गुहायाम्॥
कठ. १।१।१४

हे नचिकेता! अविनाशी पदप्राप्त करा देनेवाला, और सर्वाधार, ऐसे

स्वर्गप्रद अग्निको जाननेवाला मैं तुझे उसे स्पष्ट कर बताता हूं। तू उसे मुझसे समझ ले। यह ज्ञान गुहामें रहनेसे गुह्य है, यह तू ध्यानमें रख।

लोकादिमग्निं तमुवाच तस्मै या इष्टका यावतीर्वा यथा वा।
स चापि तत्प्रत्यवदद्यथोक्तमथास्य मृत्युः पुनरेवाह तुष्टः॥

कठ. १।१।१५

यमधर्मने उसे 'नचिकेताको' सारे व्यवहारोंका आदिकारण- ऐसा जो अग्नि 'अग्नि विद्या' जो जैसी और जितनी इष्टका 'ईंट इत्यादि सामग्री' होती हैं, सब बताया। नचिकेताने भी जो जो बताया था, उसे दोहराकर सुनाया। इसपर संतुष्ट होकर यमधर्मने कहा—

त्रिणाचिकेतस्त्रिभिरेत्य संधिं त्रिकर्मकृत्तरति जन्ममृत्यू।
ब्रह्मजज्ञं देवमीड्यं विदित्वा निचाय्येमां शांतिमत्यन्तमेति॥

कठ. १।१।१७

जिसने नाचिकेताग्निकी त्रिवार उपासना की है, और उन तीनों तत्वोंका परिचय करके, और तीनों मार्गोंसे कर्म करनेवाला साधक व्यक्ति जन्म-मरणसे तर जाता है। वेदोंसे उत्पन्न प्रकाशमान और स्तुत्य अग्निदेवको जानकर, और विचारपूर्वक उसका अनुभव लेनेपर 'उसे' अक्षय शांति प्राप्त होती है।

उपरोक्त पांच मंत्रोंसे जो जो बातें स्पष्ट होती हैं वे ये हैं—

१- नचिकेताके पूछे हुए प्रश्नोंसे यह स्पष्ट प्रतीत होता है, कि ब्रह्मविद्या संपादन करना ही उसका मुख्य उद्देश्य था।

२- स्वर्गप्रद अग्निविद्याका वर मांगते समय उसने अपने ध्येयका स्पष्ट उल्लेख किया है। स्वर्ग या अभ्युदय यह अमृतत्व प्राप्त करनेका एक उच्च-तम साधन समझकर ही उसने उसे जाननेकी इच्छा की है। यों कह सकते हैं, कि स्वर्ग, अग्निविद्याका साक्षात् फल है, और अमृतत्व स्वर्ग द्वारा क्रमसे प्राप्त होनेवाला होता है; यह उसे ज्ञात था।

३– अग्निविद्यासे मनुष्यको स्थिरता प्राप्त होती है। और इसीसे उसे प्रतिष्ठा कहा है। अग्निविद्या अथवा यज्ञविद्याका विज्ञानशास्त्रमें ही अंतर्भाव होता है, यह स्पष्ट है, और विज्ञानशास्त्रका अभ्युदय– अर्थात् स्वर्ग– यही फल है, यह नचिकेता तथा यमधर्म इन दोनोंके भाषणोंसे स्पष्ट प्रतीत होता है।

४– पंद्रहवें मंत्रका 'लोकादि' यह विशेषण महत्वका है। यह प्रश्न उत्पन्न होता है, कि अग्निविद्या सारे व्यवहारोंका आदिकारण कैसे है? वैदिक कालकी समाजस्थितिका विचार करनेसे यह विदित होता है, कि उस कालमें अग्निविद्याको समाजधर्ममें अग्र स्थान प्राप्त हुआ था, और उसी प्रकार यज्ञसंस्था ही राष्ट्रधर्मकी भी केन्द्र बनी हुई थी। बडे बडे यज्ञ तत्कालीन राष्ट्रीय सभाएं थीं। अग्नि ही यज्ञसंस्थाका मूल होनेसे उस कालमें वैयक्तिक और सामाजिक व्यवहारोंमें अग्निविद्याको कितना महत्व था, यह उपनिषदोंके निरीक्षणसे स्पष्ट प्रतीत हो जाता है।

५– इस दृष्टिसे १७ वाँ मंत्र अत्यंत महत्वका है और इसका अर्थ संपूर्णतः समझनेके लिये तैत्तिरीय ब्राह्मणके तीसरे अष्टकके ग्यारहवें प्रपाठकमें संपूर्ण नचिकेत कथा दी हुई है, उसे पढना अत्यंत आवश्यक है। उसमें नचिकेताग्निमें लगनेवाली इष्टकाओंका वर्णन है। उसके निरीक्षणसे यह स्पष्ट प्रतीत होता है, कि प्रथम इष्टकासे इहलोक व तत्संबंधी देवता 'शक्ति' इस अग्निकी उपासना करनेवाले व्यक्तिको प्राप्त होती है, अंतरिक्षलोक और उसकी देवता 'शक्ति' की प्राप्ति दूसरे इष्टकाका फल है, और आमुष्मिक लोक तीसरी इष्टकाका। इस छोटेसे लेखमें इसका अधिक विवरण अप्रासंगिक होगा, परंतु यहां इतना कह देना आवश्यक है कि, इहलोक अर्थात् भूलोकके व्यवहारोंमें जिस जिस शक्ति अर्थात् शास्त्रोंका संबंध आता है, वे ही इहलोकके देवता हैं, और इसी प्रकार अन्य लोकोंके विषयमें समझना उचित है।

इस प्रकार नाचिकेत अग्निका चयन करनेवाले यजमानको आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक इन तीनों विद्याओंका पर्याप्त ज्ञान होना

चाहिये। नचिकेताग्निका इन तीनों शास्त्रोंसे संबंध होनेसे इन तीनोंका उससे 'संधि' या संयोग अथवा परिचय होना चाहिये यह "त्रिभिरेत्य संधिम्" इस पदका अर्थ स्पष्ट है। कुछ टीकाकारोंने 'त्रिभिः' इस पदसे तीनों वेद उपदिष्ट हैं, ऐसा सुझाया है। उपर्युक्त विवेचनकी ओर ध्यान देनेसे वह तीनों वेदोंके अर्थसे भी मेल खाता है, ऐसा दिखता है। ऋग्वेदमें सूर्य, पर्जन्य आदि भौतिक देवताओंका वर्णन होनेसे आधिभौतिक शास्त्रमें उसका समावेश करनेमें कोई आपत्ति नहीं दिखती है। और प्राचीन ऋषियोंने वैसा किया भी है।

उसी प्रकार आधिदैविक विद्या और यजुर्वेदका संबंध बताया जा सकता है। गायनपूर्वक देवता स्तुति करनेवाले सामवेदमें आध्यात्मिक, अर्थात् मानसशास्त्र इत्यादिका अंतर्भाव हो सकता है, यह बतलाना कठिन नहीं है। अतएव इन तीनों प्रकारके शास्त्रोंकी दृष्टिसे, तीनों वेदोंको ग्रहण करना ही उचित प्रतीत होता है।

६– इसी सत्रहवें मंत्रके दूसरे भागमें बताया गया है, कि वेदोंसे उत्पन्न प्रकाशमान और स्तुत्य अग्निको जानना यह 'अपरा विद्या' या विज्ञानका विषय है, और सूक्ष्म विचारपूर्वक उसका अनुभव करना 'परा विद्या' या ज्ञानका विषय है।

बृहदारण्यकोपनिषद्

इस उपनिषद्का संपूर्ण तृतीय अध्याय एक यज्ञसभाका वृत्तांत है। जनक राजाने एक यज्ञ किया, और इसके निमित्त बडे बडे विद्वानोंको एकत्रित किया। इस यज्ञमें आमंत्रित लोग केवल विद्वान् ही न थे, परंतु उसमें समाजके नेता भी थे। इन सबमें श्रेष्ठ, अर्थात् सबमें अग्रेसर कौन है, इसके जाननेके उद्देश्यसे राजाने एक सहस्र गौएं बांधीं, और प्रत्येक गायके सींगोंके बीचमें दो दो होन 'सुवर्ण मुद्रा' बांधे, और घोषणा की, कि "हे परमपूज्य ब्राह्मणों! आपमें जो सर्वश्रेष्ठ और उच्च कोटिका विद्वान् हो; "वही इन गौओंको ग्रहण करे"। एकत्रित ब्रह्मवृंदोंमेंसे बहुत देरतक किसीका

साहस नहीं हुआ, कि वह गौएं ले जावे । कुछ देर बाद याज्ञवल्क्य ऋषिने अपने शिष्यको उन गौवोंको छोड ले जानेको कहा ।

इसपर शेष सब ऋषि क्रोधित होकर याज्ञवल्क्यसे कहने लगे "हम सबमें श्रेष्ठ, ऐसा तुम अपनेको क्या बडा ब्रह्मिष्ठ समझते हो ?" याज्ञवल्क्यने उत्तर दिया- "जो ब्रह्मिष्ठ हो, उसे हम दंडवत करते हैं । हम तो केवल गौवोंकी इच्छा करते हैं ।" इसपर वहांके विद्वानोंमें बडी खलबली मच गई, और वे ऋषिगण याज्ञवल्क्यकी परीक्षा लेनेके हेतुसे उससे प्रश्न पूछनेको प्रस्तुत हुए । इस लेखमें केवल दो ऋषियोंके प्रश्नोंकी चर्चा की गई है, एक अश्वल ऋषि और दूसरा आर्तभाग ऋषि ।

याज्ञवल्क्येति होवाच यदिदꣳसर्वं मृत्युनाप्तꣳसर्वं मृत्युनाभिपन्नं केन यजमानो मृत्योराप्तिमतिमुच्यत इति होत्रर्त्विजाग्निना वाचा वाग्वै यज्ञस्य होता तद्येयं वाक्सोऽयमग्निः स होता स मुक्तिः साऽतिमुक्तिः ॥ बृहदा. ३।१।३

"उस अश्वल ऋषिने कहा, कि हे याज्ञवल्क्य ! जो यह सब मृत्युसे व्याप्त हुआ है, वैसे ही यह सब मृत्युसे आक्रांत 'अधिकारमें' है । अब यह किस मार्ग अथवा साधनसे इस मृत्युकी कक्षासे छूटता है ?' याज्ञवल्क्य उत्तर देता है "अग्नि व वाणी एतत्स्वरूप होता नामका जो ऋत्विज् हैं, उसकी सहायतासे 'छूटता' है, क्योंकि जो वाणी है वही अग्नि है, वही होता है, और वही छुटकारेका मार्ग है । इसी कारण वाणी ही अतिमुक्तिका साधन है, अर्थात् सर्व बंधनोंसे मुक्त करानेवाली हैं, ऐसा ही समझना चाहिये ।" श्रौतधर्ममें भिन्न भिन्न यज्ञोंके फल देवता रूपकी प्राप्तिमें होते हैं । यज्ञ करके मनुष्य देवता रूप हुआ, कि उसे अतिमुक्ति मिल गई, ऐसी समझ रूढ है ।

इसी अभिप्रायसे यजमान मृत्युकी कक्षासे किस मार्गसे छूटता है, यह अश्वल ऋषिका प्रश्न है । अग्निहोत्र व तन्मूलक सोमादि यज्ञ ब्रह्मविद्यामें आवश्यक न रहनेसे, श्रौतधर्ममें यज्ञयागादिसे मिलनेवाली अतिमुक्ति

प्राप्त करनेका साधन ब्रह्मविद्यामें नहीं है और इस तरह ब्रह्मविद्यामूलक वेदांतधर्म श्रौतधर्मसे निम्न श्रेणीका है, यह सिद्ध करनेका प्रयत्न अश्वल ऋषिने इस प्रश्नको पूछकर किया है, यह स्पष्ट है। याज्ञवल्क्यने अपने उत्तरमें बताया है, कि जैसे यज्ञमें होता, जो स्तोत्र कहता है, वही अति-मुक्तिके साधन समझे जाते हैं, वैसे ही ब्रह्मविद्यामें भी अतिमुक्तिका साधन वही है, केवल उसका स्वरूप भिन्न है। अग्नि यह वाणीकी देवता होते हुए तात्विक दृष्टिसे उन दोनोंका ऐक्य है।

वाणी जब पूर्ण निर्दोष हो जाती है, तब वह देवता रूप, अर्थात् अग्नि रूप ही हो जाती है, ऐसा बृहदारण्यकके पहले अध्यायमें '१।३।१२' बताया है। मानव जीवन क्रम पवित्र हो तो, वह एक महत्वपूर्ण यज्ञ ही है, और वाणी इस आध्यात्मयज्ञकी 'होता' है और निर्दोष वाणीका स्वरूप अग्नि है। इस वाग्देवताकी सहायतासे ही मनुष्य अतिमुक्ति संपादित करता है। इस प्रकार श्रौतधर्मसे ब्रह्मविद्यासे प्राप्त होनेवाला अतिमुक्तिका मार्ग अधिक श्रेष्ठ है, यह याज्ञवल्क्यने अपने उत्तरोंसे सिद्ध किया है।

इसी तरह अगली तीन ऋचाओंमें याज्ञवल्क्यने यह समझाया है कि 'बृह. ३।१।४' चक्षु व आदित्य एतत्स्वरूप ऋत्विज्, जो अध्वर्यु है उसकी सहायतासे यजमानको अतिमुक्ति प्राप्त होती है, क्योंकि जो चक्षुरिन्द्रिय वही आदित्य, वही अध्वर्यु, और वही अतिमुक्तिका साधन है। कारण कि जो ये चक्षुरिन्द्रिय, वही आदित्य, वही अध्वर्यु, और वही छुटकारेका मार्ग है। आध्यात्म यज्ञमें चक्षु ही अतिमुक्ति अर्थात् सर्व बंधनोंसे मुक्त करानेवाला है, यह समझना चाहिये।

'बृह. ३।१।५' प्राण व वायु एतत्स्वरूप, जो उद्गाता नामका ऋत्विज् है, उसकी सहायतासे यजमानको अतिमुक्ति मिलती है, क्योंकि जो प्राण है, वही वायु, वही उद्गाता, वही मुक्तिका मार्ग, और वही 'प्राणशक्ति' अतिमुक्ति है।

'बृहदा. ३।१।६' मन व चंद्र एतत्स्वरूप जो ब्रह्म नामका ऋत्विज् है, उसकी सहायतासे यजमानको अतिमुक्ति प्राप्त होती है। मन ही आध्यात्म

यज्ञका ब्रह्मा है। जो यह मन है, वही चंद्र, वही ब्रह्मा, और वही छुटकारेका मार्ग अर्थात् अतिमुक्ति है।

इस तरहसे ब्रह्मांडस्थित देवता 'शक्ति' पिंडस्थित इंद्रिय, और यज्ञके अन्तर्गत विनियुक्त ऋत्विजोंका साम्य प्रस्थापित करके दिखाया गया है—

ब्रह्मांड—	अग्नि	सूर्य	वायु	चन्द्र
पिंड —	वाणी	नेत्र	प्राण	मन
यज्ञ —	होता	अध्वर्यु	उद्गाता	ब्रह्मा

इनसे अगले चार मंत्रोंमें ऋत्विजोंके कार्य, आहुति और सामग्री विषयक अश्वल ऋषिके प्रश्न हैं। इन सबके निरीक्षणसे यह बात स्पष्ट होती है, कि श्रौतधर्मका ऐसा कटाक्ष था, कि कोई भी यज्ञ अग्निहोत्रमूलक 'होता' इत्यादि ऋत्विजोंसे युक्त, और होम हवनके स्वरूपका ही होना चाहिये। इसके विरूद्ध औपनिषदिक ब्रह्मविद्याका यह कहना है, कि ज्ञानविज्ञानपूर्वक शुद्धाचरण करनेवाले ब्रह्मवेत्ताका जीवनक्रम भी यज्ञ ही है। वाणी, नेत्र, प्राणतत्व और मन ये तत्व निर्दोष होकर इनका पूर्ण विकास होनेपर जो परिस्थिति निर्माण होती है, वही सचमुचमें यज्ञ है। इसी दृष्टिकोणसे याज्ञवल्क्य ऋषिने वाणी, नेत्र, प्राण और मन ये ही आध्यात्म यज्ञके सचमुच ऋत्विज हैं, ऐसा समुचित उत्तर दिया हैं।

अपना अपना कार्य सही सही करके, जैसे ऋत्विजगण यज्ञसंस्थाका कार्य पूर्ण करते हैं उसी प्रकार वागादि तत्व, और उनके देवता, अपना काम सही सही करने लगें तो मनुष्यके जीवनक्रमको यज्ञकी योग्यता प्राप्त हो जाती है, और इन आध्यात्मिक ऋत्विजोंकी सहायतासे ही विहितकाल जीवित्वका, अर्थात् पवित्र जीवनक्रमका लाभ होकर वह मनुष्य कृतार्थ हो जाता है, ऐसा याज्ञवल्क्य ऋषिका अभिप्राय है। याज्ञवल्क्यके इस मार्मिक उत्तरसे अश्वल ऋषिकी मति कुंठित हो गई, तथापि उसने सामग्री इत्यादि विषयक और चार प्रश्न किये। याज्ञवल्क्यने इन प्रश्नोंके भी समुचित उत्तर

दे दिये, जिससे अश्वल ऋषिका सम्यक् समाधान हुआ। इस प्रकार ब्रह्म विद्याका श्रेष्ठत्व प्रस्थापित होनेपर अश्वल ऋषि वादविवादसे निवृत्त हुए।

अथ हैनं जारत्कारव आर्तभागः पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति होवाच कति ग्रहाः कत्यतिग्रहा इति। अष्टौ ग्रहा अष्टावतिग्रहा इति ये ते अष्टौ ग्रहा अष्टावतिग्रहाः कतमे ते इति॥

बृहदा. ३।२।१

"अश्वल ऋषिके बाद जरत्कारूके पुत्र आर्तभाग नामके ऋषि याज्ञवल्क्यसे प्रश्न पूछनेको प्रस्तुत हुए। उन्होंने पूछा कि हे याज्ञवल्क्य! तुम्हारे अध्यात्म या ब्रह्म यज्ञमें 'ग्रह सोम पात्र' कितने हैं, और उसी प्रकार अतिग्रह (जिन सोम पात्रोंका दुबारा उपयोग किया जाता है) कितने हैं? उत्तर- आठ ग्रह और आठ अतिग्रह। प्रश्न- वे आठ ग्रह और आठ अतिग्रह कौन कौनसे हैं?"

अगले आठ मंत्रोंमें (३-२-२।३।४।५।६।७।८।९) याज्ञवल्क्यने निम्नांकित ग्रह और अतिग्रह बताए हैं—

ग्रह- प्राण, वाणी, जिह्वा, नेत्र, कान, मन, हाथ, त्वगिंद्रिय।

अतिग्रह- अपान, नाम, रस, रूप, ध्वनि, इच्छा, कर्म, स्पर्श।

इस प्रकार यह स्पष्ट है, कि मनुष्यके इंद्रिय विषय संयोगसे चलनेवाले सारे व्यवहारोंका यज्ञमें समावेश होता है। नारायणोपनिषद्के अंतिम खंडमें आध्यात्म यज्ञका वर्णन है। उस विवरणमें यही विचारप्रणाली अपनाई हुई दिखती है। मनुष्यके अंतःकरणमें ईश्वरोपासनाकी बुद्धि प्रकट होनेपर तथा ज्ञानविज्ञानके योगसे अंतःकरण शुद्ध होनेपर मनुष्यका जो व्यवहार होता है, वही 'अध्यात्म यज्ञ' है, यही उसका आशय है।

इसके बाद आर्तभाग ऋषिने और भी प्रश्न पूछे, परंतु उन प्रश्नोंका इस लेखमें संबंध न होनेसे यहां उन्हें नहीं दिया जा रहा है। सारे प्रश्नोंके उचित उत्तर पानेपर आर्तभाग ऋषि वादविवादसे निवृत्त हुए।

छांदोग्योपनिषद्

पुरुषो वाव यज्ञस्तस्य यानि चतुर्विंशति वर्षाणि तत्प्रातःसवनं। चतुर्विंशत्यक्षरा गायत्री गायत्रं प्रातःसवनं तदस्य वसवोऽन्वायत्ताः प्राणा वाव वसव एते हीदंसर्वं वासयन्ति ॥ छांदो. ३।१६।१

"पुरुष ही यज्ञ है, उसके (जीवनके) जो (पहले) २४ वर्ष वही प्रातःसवन (यज्ञमें सोम सवनकी एक विधि) है। गायत्री मन्त्र २४ अक्षरोंका है। प्रातःसवनमें गायत्री छंद होता है, और इस प्रातःसवनमें वसु देवता संबद्ध रहते हैं। प्राणशक्ति- यही वसु देवता है। क्योंकि प्राण ही इस सारे शरीरको कार्यान्वित रखते हैं।" अगले दो मंत्रोंमें, अर्थात् (३।१६।२-३ में) जीवनके अगले दो भागोंका साम्य यज्ञके माध्यं दिन और सायं सवनसे दिखाया है—

प्रातः सवन	माध्यान्ह सवन	सायं सवन
वसु देवता	रुद्र देवता	आदित्य देवता
२४ अक्षरोंका गायत्री छंद	४४ अक्षरोंका त्रिष्टुप् छंद	४८ अक्षरोंका जगती छंद
जीवनके पहले २४ वर्ष	आयुके अगले ४४ वर्ष	आयुके अन्तिम ४८ वर्ष
(ब्रह्मचर्याश्रम)	(गृहस्थाश्रम)	(वानप्रस्थाश्रम)

और इस प्रकार पुरुष यज्ञ, और श्रौत यज्ञका संपूर्ण साम्य दिखाया गया है।

स यदशिशिषति यत्पिपासति यन्न रमते ता अस्य दीक्षाः ॥

छांदो० ३।१७।१

"वह पुरुष, जो कुछ खानेकी इच्छा करता, या पीनेकी इच्छा करता है (परंतु) यदि वह उन्हें सुखोपभोगकी इच्छासे नहीं करे तो वे ही उसकी दीक्षा (यज्ञव्रत) हैं।"

अथ यदश्नाति यत्पिबति यद्रमते तदुपसदैरेति ॥

छांदो० ३।१७।२

" वैसे ही जब वह भोजन करता है, पानी पीता है, और उसमें रममाण होता है (एक तरहसे सुख प्राप्त कर रहा हो, ऐसा दिखता है) तब वे बातें उसके उपसद (यज्ञका पयःपान विधि) तुल्य समझना चाहिये । "

अथ यद्धसति यज्जक्षति यन्मैथुनं चरति स्तुतशस्त्रैरेव तदेति ॥
छांदो० ३।१७।३

" वैसे ही वह हंसता है, उपहार करता है, स्त्री समागम करता है, वे सब उसके स्तोत्र व शस्त्रतुल्य हैं । "

अथ यत्तपो दानमार्जवमहिंसा सत्यवचनमिति ता
अस्य दक्षिणाः ॥ छांदो० ३।१७।४

" वैसे ही वह जो व्रत, दान, सरलता, अहिंसा और सत्य भाषणादि करता है, वही उसकी दक्षिणा (यज्ञोंमें ऋत्विजोंको दी जानेवाली दाक्षिणा) के तुल्य समझना चाहिए । "

तस्मादाहुः सोष्यत्यसोष्टेति पुनरुत्पादनमेवास्य
तन्मरणमेवावभृथः ॥ छांदो० ३।१७।५

" यज्ञमें सोमरस निकालते हैं, तब सोमरस निकाला, ऐसा कहते हैं, वैसे ही आत्मयज्ञ या पुरुषयज्ञके सन्तति उत्पादनको समझना, और मरण ही अवभृत (यज्ञ समाप्ति दर्शक) स्नान है । "

छांदोग्योपनिषद्के तीसरे अध्यायके १६ वें खण्डके ऊपरी तीनों मन्त्र ऐतरेय महिदास ऋषिके हैं, और १७ वें खण्डके सारे मंत्रोंमें अंगिरस्के पुत्र घोर ऋषिने देवकीपुत्र कृष्णको बताया हुआ ज्ञान है। इन दोनों खण्डोंमें मानव व्यवहार ही यज्ञस्वरूप कैसे हैं, यह सविस्तार बताया है। सोलहवें खण्डमें मानव आयुष्यके तीन भाग बनाकर यज्ञका वर्णन किया है, और बादमें यह पुरुषयज्ञ जाननेवाले ऐतरेय महिदास ऋषिने कहा है, कि " हे रोगादि पीडाओं ! तुम मुझे पीडा क्यों दे रहे हो ? मैं मरनेवाला नहीं हूं । " और वह ११६ वर्ष जीवित रहा। सत्रहवें खण्डमें यज्ञकर्मकी मुख्य मुख्य बातें मानव आयुष्य क्रमसे मिलाकर बताई हैं ।

*

इस विवेचनका उद्देश्य यही है, कि यज्ञार्थ किये हुए कर्म मनुष्यको बंधनकारक नहीं होते हैं। परन्तु वे उसे कल्याणकारक ही होते हैं, ऐसा श्रुतिका सिद्धान्त है। इसीका गीताने भी अनुवाद किया है (गी० ३।९) सत्रहवें खण्डके पहले मन्त्रमें बताया गया है, कि जितना शरीर, मन व बुद्धि ये अच्छी व तेजस्वी रहे, उसी अनुपातसे मनुष्यको अन्न, पाणी इत्यादि ग्रहण करना चाहिये। इसीको यज्ञमें पाली जानेवाली मर्यादा-दीक्षा कहा है। मनुष्यको जीवनमें ऊपर बताई हुई मर्यादाओंका उल्लंघन कारणवश करना पडता है, यद्यपि ऐसा करनेमें उसका कोई हेतु भोगविलास (ऐशबाजी) का नहीं होता।

दूसरे मन्त्रमें ऐसे कर्मोंको उपसद संज्ञा दी है। तीसरे मन्त्रमें आत्म-संयमन, तप, दान, अहिंसा इत्यादिको दक्षिणा कहा है; वह भी ठीक ही है। प्रत्येक आश्रममें किये जानेवाले विहित अर्थात् नियत स्वरूपके कर्मोंका, इस पुरुषयज्ञमें, विरोध नहीं माना गया है। उदाहरणार्थ जिस प्रकार श्रौत यज्ञमें सोमरस निकालना एक विहित विधि मानी जाती है, उसी प्रकार पुरुषयज्ञमें-गृहस्थाश्रममें प्रजोत्पादनका कर्म भी एक विहित विधिके ही तुल्य माना गया है। और जैसे श्रौत यज्ञमें अवभृत-स्नान यज्ञ समाप्ति दर्शक है, उसी प्रकार पुरुषयज्ञकी समाप्ति मरण है।

ऊपर हमने चार उपनिषदोंमेंसे कुछ कुछ खंडोंको उद्धृत किया है, जिनका संबंध यज्ञसंस्थासे है। इनके अतिरिक्त और भी बहुतसे योग्य और उपयुक्त स्थल हैं। परन्तु अभी इतने ही अपने विवेचनके लिये पर्याप्त होनेसे अधिक उदाहरण नहीं दिये गए हैं। अब हम देखेंगे, कि इनके निरी-क्षणसे क्या तात्पर्य निकलता है।

१- यह एक संशोधनात्मक ही प्रश्न रहेगा, कि प्राचीनतम ऋषियोंने वेदोंका कब, किस कालखण्डमें साक्षात् किया। हम लोग जिसे ' कृत ' या ' सत्ययुग ' कहते हैं, वही यह काल होना चाहिये। हमारे पुराण कथित इतिहासके अनुसार रामचंद्रजीका सातवां अवतार है। इस कालके

पहले ही जो जो ज्ञान संकलित हुआ वह वेदमंत्रोंके रूपमें द्रष्टा ऋषियों द्वारा संगृहित हुआ होगा। इस पुरातन कालमें वेद एक ही था, और उस समय एक ही अग्निकी उपासना प्रचलित थी।

२– उपर्युक्त कालमें यह (वेद) ज्ञान, यद्यपि व्यक्तिगत रूपमें प्रभावित हुआ था, और इसके उदाहरण हमें उस कालखंडके कथानकोंमें मिलते हैं, तथापि सामूहिक दृष्टिसे, या राष्ट्रीय दृष्टिसे, या समष्टि रूपसे, उसे महत्त्व प्राप्त नहीं हुआ था; और इसी कारणसे समाजोन्नति (जिसे राष्ट्रोन्नति कहते हैं) पूर्ण रूपसे नहीं हो पाई थी।

३– त्रेतायुगमें जब रामचंद्रजीने लंकावकका देश पादाक्रांत कर स्वराज्य और सुराज्य स्थापित किया, वही समय वैदिक संस्कृति तथा राष्ट्रीय दृष्टिसे बड़े ही क्रांतिका काल समझा जाना चाहिये। इसी कालमें ब्राह्मण ग्रन्थोंका संकलन और संस्मरण होकर अग्निहोत्र और यज्ञसंस्था पूर्ण रूपसे प्रस्थापित हुई, और यज्ञमंडप ही सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक तथा राष्ट्रीय प्रश्नोंपर अनुसंधान करनेके केन्द्र बन गए।

४– सार्वभौम सत्ता, स्थाई और निर्भय जीवनक्रम, धनधान्य समृद्धि, और उत्तम समाज व्यवस्था, इत्यादि बातोंसे जो सुस्थिरता पाई जाती है, वह भारत वासियोंको पूर्ण रूपसे प्राप्त हुई और साथ ही साथ उनके वैयक्तिक और सामाजिक व्यवहारोंमें भी अन्तर हुआ, व यज्ञयाग रूप श्रौतधर्म उत्कर्षकी चरम सीमाको पहुंचा। परंतु " अत्यारूढी भवति महतामप्यपभ्रंशानि " कालिदासकी उक्तिके अनुसार यज्ञधर्मकी अत्यारूढी उसके विकृतिकी कारणीभूत हुई। उत्तरोत्तर यज्ञधर्म बहुजन समाजसे दूर होते गया, और यज्ञयागोंका व्यावहारिक स्वरूप, और फल लुप्तप्राय होकर वे केवल पारलौकिक (अपूर्व या अदृष्ट) फल देनेवाले हैं, यह समझ रूढ होती गई होगी, और तभीसे यज्ञयाग रूप श्रौतधर्मकी अवनति प्रारंभ हुई।

५– इस कालके १०००,५०० वर्ष बाद कुछ ' ब्राह्मण ' भागको ' आरण्यक ' संज्ञा दी गई, और इसका कारण यही प्रतीत होता है, कि यज्ञ-

संस्थामें कर्मठ वृत्तिका प्रादुर्भाव हो जानेसे सच्चे और निरिच्छ विद्वान् ऋषियोंको ऐसे समाजसे परान्मुख होकर मनन, चिंतन तथा स्वाध्यायकी आवश्यकता प्रतीत होकर उन्होंने आरण्यक भागको पृथक् कर लिया होगा। वैदिक धर्मकी दृष्टिसे यह भी महत्त्वका काल होना चाहिये जिसका अनुसन्धान करना आवश्यक है।

६- ब्राह्मण कालमें मनुष्यके जीवनक्रमका यज्ञ ही बडा भारी आधार था। वह आधार बादमें नष्ट होनेसे समाजकी दिशाभूल होने लगी। वैदिक परंपराकी चिंता न करके तत्त्वज्ञानका प्रतिपादन करनेवाले "सांख्य" मतावलंबी आगे आने लगे होंगे। ऐसे समयमें वैदिक ऋषियोंने औपनिषद् विद्या प्रकट न की होती, तो वैदिक धर्मकी परंपरा समूल नष्ट हो जाती। परन्तु वैदिक संस्कृतिमें उस समय भी पर्याप्त जीवनतत्त्व विद्यमान होनेसे तत्कालीन स्थितप्रज्ञ ऋषियोंने वैदिक वाङ्मयका फिरसे योगयुक्त बुद्धिसे परिशीलन कर उपनिषद् विद्या प्रस्थापित की, और मानव-जीवन-क्रमकी डगमगाती नैयाको आश्रय देकर आध्यात्म विद्याके पैरोंपर उसे खडा कर वैदिक संस्कृति और वैदिक धर्मियोंका जीवन स्थिर और सफल किया।

७- मुंडकोपनिषद्के उद्धरणमें आंगिरस् ऋषि शौनक ऋषिको जो ब्रह्मविद्याका विषय समझा रहे थे, उसका अंश है; तो कठोपनिषद्के उदाहरणमें नाचिकेत यमधर्म संवाद है। बृहदारण्यकके उद्धरणोंमें याज्ञवल्क्यकी तत्कालीन ऋषियोंसे यज्ञसंस्थाके सिद्धांत तत्त्वोंपर चर्चा है, तो छांदोग्यके पहले तीन मंत्र ऐतरेय महिदास ऋषिके हैं, और अगले पांच मंत्रोंमें आंगिरस् ऋषिके पुत्र घोर ऋषिने देवकीपुत्र कृष्णको बताया हुआ ज्ञान है।

८- श्रौतधर्म प्रतिपादक ऋषियोंकी यह विचारसरणी थी, कि हरएक यज्ञ अग्निहोत्र मूलक, अध्वर्यु, होता, इत्यादि ऋत्विजोंसे युक्त, और होम हवनके स्वरूपका ही होना चाहिये। उस समयके इस आचारप्रधान श्रौतधर्ममें ब्रह्मविद्या प्रतिपादक औपनिषद् धर्मने एक प्रकारकी क्रांति उत्पन्न कर दी थी। इस धर्मके आचार्योंका यह कथन था, कि वाणी, नेत्र, प्राण,

और मन, निर्दोष व पूर्ण विकसित होनेसे जो परिस्थिति निर्माण होती है वास्तवमें वही यज्ञ है।

९- इस विचार धाराके अनुसार वास्तवमें ब्रह्म विद्यान्तर्गत ब्रह्मयज्ञ या अध्यात्म यज्ञ ही मुख्य हैं, और आचारप्रधान श्रौतधर्म इसके (अध्यात्म यज्ञ) मुख्य मुख्य तत्वोंका निदर्शन या स्पष्टीकरण करनेका मार्ग है ऐसा यदि कोई अनुमान करे, तो इसमें कोई अनुचित बात नहीं दिखाई देती है। यह एक अत्यंत महत्वपूर्ण प्रश्न है, जिसे वैदिक वाङ्मयके निष्णात विद्वानोंके सन्मुख संशोधनार्थ रखा जाता है।

१०- श्रौतधर्ममें पृथक् पृथक् यज्ञोंके फल, देवतारूप प्राप्तिमें होता है; अर्थात् यज्ञ करके मनुष्य देवतारूप हो गया, कि उसे अतिमुक्ति मिल गई, ऐसा विश्वास रूढ था। श्रौतयज्ञ कर्मसे जो पुण्य प्राप्त होता है, उसीको अपूर्व कहते हैं। इस अपूर्वकी सहायतासे ही यजमान स्वर्ग प्राप्ति करता है, ऐसा श्रौतधर्मका मत है।

११- अध्यात्म यज्ञमें पिंड ब्रह्मांडका संबंध होनेसे ज्ञानविज्ञानपूर्वक शुद्धाचरण करनेवाले ब्रह्मवेत्ताका जीवनक्रम यज्ञरूप ही है, इसी विचार-सरणीसे याज्ञवल्क्यने वाणी, प्राण, नेत्र, व मन, यही चारों अध्यात्म यज्ञके सच्चे ऋत्विज हैं, ऐसा प्रतिपादन कर यह बताया है, कि यही चारों निर्दोष व पूर्ण विकसित हो जानेसे जो परिस्थिति निर्माण होती है, वही सचमुच अतिमुक्ति है; व इन आध्यात्मिक ऋत्विजोंकी सहायतासे विहित कालजीवन (जीवित्व) का अर्थात् पवित्र जीवनक्रमको प्राप्त होकर मनुष्य कृतार्थ होता है, ऐसा स्पष्ट प्रतिपादन याज्ञवल्क्यने किया है।

१२- छांदोग्यके उद्धरणोंसे शुद्ध मानव व्यवहार ही यज्ञस्वरूप कैसे है, यह स्पष्ट दिग्दर्शित किया गया है, और श्रौतयज्ञकी भाषामें उसे स्पष्ट कर बताया है। श्रौतयज्ञके मुख्य मुख्य कर्मोंका, मनुष्यके जीवन-क्रमकी मुख्य मुख्य बातोंसे साम्य दिखाए जानेके कारण एक अत्यंत महत्व-

पूर्ण प्रश्न उपस्थित हो जाता है। वह यह है, कि अग्नित्रयपर प्रस्थापित यज्ञसंस्थाकी निर्मिति ब्राह्मण, ग्रन्थोंद्वारा क्यों की गई ? पिंड ब्रह्मांडके अन्तर्गत अविनाशी शुद्ध और स्वयं प्रकाश ऐसे परब्रह्म परमात्माका ज्ञान संपादन करना, यही मनुष्यमात्रके जीवनका मुख्य उद्देश्य होना चाहिये, और वह उद्देश्य अग्निहोत्र संस्थाकी स्थापनासे कैसे साध्य होता है, यही वह प्रश्न है ? यह एक संशोधनात्मक विषय प्रतीत होता है, और इसके लिये वेदविद्याप्रवीण विद्वानोंके सहयोगकी आवश्यकता है।

१३– साधारणतः ऐसा प्रतीत होता है, कि पिंड स्थित जो जो कर्म दीखते हैं, उन कर्मोंका ब्रह्मांडान्तर्गत कर्मोंसे पूर्ण साम्य है, और इसी कारण "जो पिंडी सो ब्रह्मांडी" ऐसे महावचन कहे गए हैं। पिंडगत और ब्रह्मांडगत कर्मोंको यज्ञके रूपसे प्रस्तुत कर उनको अग्निहोत्र संस्थासे संलग्न करनेका कार्य त्रेतायुगमें प्राचीन ऋषियोंने किया। इस श्रौतधर्मको वैदिक आचार धर्ममें श्रेष्ठ स्थान देकर उसे वैदिक धर्मके अनुयाइयोंका विहित कर्म है, इस प्रकार उसकी प्रस्थापना की। एक प्रकारसे यह कहा जा सकता है, कि अग्निहोत्र या यज्ञसंस्थाके सारे कर्म, पिंड ब्रह्मांडान्तर्गत कर्मों या नियमोंके प्रत्यक्ष कर दिखाये जानेवाली क्रिया है; अर्थात् यज्ञके कर्म, पिंड ब्रह्मांडान्तर्गत कर्मों या नियमोंके 'प्रॅक्टिकल डिमॉन्स्ट्रेशन' हैं; और यही कारण है, कि मुंडकोपनिषद्‌में इन्हें अचकूल नौकाओंकी उपमा दी गई है; और यह स्पष्ट कहा गया है, कि ये सारे कर्म ज्ञानयुक्त ही किये जाने चाहिये। केवल कर्मठ वृत्तिसे उन्हें करना व्यर्थ है।

१४– अंतमें यह कहना अत्यंत आवश्यक प्रतीत होता है, कि ये सारी अत्यंत जटिल, और वैसी ही महत्वपूर्ण समस्याएं हैं; और इसी कारण अन्वेषण, अनुसंधान तथा संशोधनात्मक कार्योंकी अत्यंत आवश्यकता है। हमारी अल्पबुद्धिसे जो दिखाई दिया, उसे राष्ट्रके सामने अत्यंत नम्रतापूर्वक निवेदन करनेका साहस किया है। इसमें यदि कुछ तथ्य हो, तो इस दिशामें अधिक कार्य कर सत्य संशोधन करना राष्ट्रका कर्तव्य है।

अध्याय ५ वां

देवता बुद्धि

पिंड ब्रह्मांडात्मक सृष्टिके विचार शुद्ध ब्रह्मतत्वसे प्रारम्भ होते हैं। क्रम क्रमसे ये विचार इस नामरूपात्मक सृष्टिरूप वृक्षके सिरेकी ओर जाकर सृष्ट पदार्थोंके बाह्य आकार तथा उनके व्यवहारिक उपयोगोंतक पहुंचते हैं। उस मूल तत्वसे उत्पन्न ब्रह्म दृष्टिसे ये स्थूल, सूक्ष्म और कारण इन स्वरूपोंमें विभाजित सारा जगत् ब्रह्ममय ही ठहरता है। यह जैसे जडसे सिरेतक जानेवाली ब्रह्म विचारकी, एक पद्धति या रीति है, इसी प्रकार सिरेसे प्रारंभ होकर जड या मूल तत्वतक जानेवाली एक दूसरी रीति भी वेदांतशास्त्रमें प्रसिद्ध है।

पहली पद्धति या रीतिमें 'कारण व कार्य' इनके अभेदसे कारण ही कार्यरूपसे प्रगट होता है ऐसा सिद्ध होता है, अर्थात् शुद्ध ब्रह्मसे सगुण ब्रह्म प्रगट हुआ। इसलिये सगुण यह कार्य ब्रह्म हुआ, तो भी वह शुद्ध ब्रह्मसे पृथक् नहीं है, ऐसा ही ठहरता है; और यही तात्विक दृष्टि सारे कार्य प्रपंचमें लागू होती है। उपर्युक्त विवरणमें निर्देश की हुई दूसरी पद्धतिमें भी कार्यकारणका अभेद मानकर ही अवशिष्ट इस सम्बन्धसे कारणका विचार करना होता है, और अन्तमें जिसका पृथक्करण नहीं कर सकते ऐसा निरवयव तत्व अवशिष्ट रहता है, वही परब्रह्म है। पृथक्करणमें अवशिष्ट तत्वसे प्राप्त हुई ब्रह्म दृष्टि 'कार्य कारण' के अभेदके कारण सर्व सृष्टिपर लागू होती है। अवशिष्ट रहा हुआ– मूल तत्व– सर्व विकारोंसे, या सर्व गुणधर्मोंसे अलिप्त रहता है। उत्पन्न होना, वृद्धि होना, परिपक्व होना, घिसना, नाश होना इत्यादि कोई भी विकार, इस मूलतत्वको स्पर्श नहीं कर सकते हैं।

निर्विकार निरामय, ऐसे ब्रह्मतत्वसे ही, इस पिंड ब्रह्मांडात्मक सृष्टिका विस्तार हुआ है। और इस कारण उस मूलतत्वका ज्ञान संपादन करनेके

काममें इस पिंड ब्रह्मांडात्मक सृष्टिका विचार किये बिना चारा नहीं है ऐसा सिद्ध होता है। विज्ञानकी उपपत्तिकी दृष्टिसे ब्रह्मांडके विचारको जैसा महत्त्व प्राप्त होता है, वैसे ही अनुभवकी दृष्टिसे पिंडगत विचारोंको महत्त्व देना पडता है; और इन्हींका अपरा और परा विद्याके नामसे स्थान स्थानपर निर्देश किया गया है।

परब्रह्मसे आकाशादि संपूर्ण सृष्टि उत्पन्न हुई, और इस सृष्टिक्रममें मानव प्राणी उत्पन्न हुआ—

तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः। आकाशाद्वायुः।
वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी। पृथिव्या ओषधयः।
ओषधीभ्योऽन्नमन्नात् पुरुषः॥ (तैत्तिरीय २-१)

सारे जगत्‌का मूल ब्रह्मतत्त्व ही होनेसे, बुद्धिमान् मनुष्यों द्वारा किया हुआ पदार्थ संशोधन ब्रह्म वस्तुतक जा पहुंचना क्रमप्राप्त ही था। मनुष्यके तत्त्व संशोधनका क्रम अधिकतर सृष्ट पदार्थके बाह्य स्वरूपसे ही प्रारंभ होता है, और पहली बातकी पूर्तिके लिये दूसरीका, और दूसरीकी पूर्तिके लिये तीसरी बातका संशोधन करना क्रमप्राप्त ही होता है। जगत्‌के पुराने तथा नए आस्तिक तत्त्ववेत्ताओंके तत्त्व संशोधनका इसी ढंगसे प्रारंभ हुआ है, ऐसा दिखाई देता है। सर्व बाह्य पदार्थोंकी समृद्धि होते हुए मानव मनमें तत्त्व संशोधनकी जिज्ञासा क्यों उत्पन्न हुई, यह एक प्रश्न सचमुचमें विचार करने योग्य है।

इस विषयमें एक मत इस प्रकारका है, कि उपभोग साधनोंकी समृद्धि हो जानेसे कुछ थोडेसे लोगोंमें तो भी सुखोपभोग विषयक तृप्ति हो जाती है, और इस तृप्तिके कारण उनके मनकी दृष्टि दूसरी ओर मुड जाती है। इस कारण उपभोग वस्तुके अतिरिक्त इस सृष्टिमें दूसरी भी कोई बात है या नहीं, ऐसी उनके मनमें जिज्ञासा उत्पन्न होती है; और फिर यहींसे उनका तत्त्व संशोधन प्रारम्भ होता है। यह मतप्रणाली सर्व तत्त्व वेत्ताओंको मान्य नहीं है। इस जगत्‌में हमें तत्त्वज्ञानके अनेक सम्प्रदाय प्रचलित

दिखाई देते हैं। इनमेंसे बहुतसे तत्ववेत्ताओंको अपना मार्ग भौतिक शास्त्रोंसे ही निकालना पडा है, और इस कारण जडवाद, अज्ञेयवाद, शून्य-वाद—जैसे सम्प्रदायोंका प्रसार हुआ है। इन तत्ववेत्ताओंने तत्व जिज्ञासाका प्रादुर्भाव प्रायः दुःखमूलात्मक ही माना है। लगभग सर्व प्रकारकी मानव उन्नतिमें स्पर्धा, और जीवनकलह ही कारणीभूत हुई हैं, यह माननेमें उनके मतसे कोई आपत्ति नहीं है। विवाहसंस्था, कुटुम्बसंस्था, या समाजरचना इत्यादि सारी बातें भी इन्हीं दो कारणोंसे उत्पन्न हुई हैं, ऐसा पाश्चात्य विद्वानोंका स्पष्ट मत है।

मनुष्यकी भौतिक उन्नतिको स्पर्धा या संकट कारणीभूत हुई हैं, ऐसा माननेमें कोई आपत्ति नहीं है। परन्तु तत्व जिज्ञासाके प्रथमावतारका प्रारंभ भी केवल इन्हीं कारणोंसे हुआ है, ऐसा हम आर्योंके वेदांतविद्याके इतिहासको देखकर नहीं कह सकते हैं। ब्रह्मविद्याके इतिहासके सूक्ष्म निरीक्षणसे स्पष्ट प्रतीत होता है, कि आर्योंके तत्व जिज्ञासाको सुखदुःखादि मानवीय मनो-धर्म अप्रत्यक्ष या परंपरागतितासे भले ही कारणीभूत हों, परंतु वास्तवमें आर्योंके तत्व जिज्ञासाका उद्‌गम स्थान क्या है, या उनके तत्व जिज्ञासाका प्रारंभ कहांसे हुआ, आदि बातें ऋषिप्रणीत वेदांतविद्याके इतिहासके सूक्ष्म निरीक्षणसे ही स्पष्ट ज्ञात हो सकती हैं।

जगत्‌के व्यवहारोंमें मानव कितना भी विजयी हुआ, तो भी वह सर्व शक्तिमान् नहीं कहा जा सकता है। साधन सामग्रीके बाहुल्यसे मानवका सामर्थ्य कई गुना बढा है, ऐसी प्रतीति इस भौतिकशास्त्रके उत्कर्ष युगमें स्वाभाविक है। इतना होते हुए यही कहना पडता है, कि ५००० वर्ष पूर्वके कालमें मानव जितना असमर्थ था, उतना ही आज भी है, केवल असम-र्थताके प्रदर्शित होनेके प्रकारोंमें अन्तर हुआ है। मनुष्य प्रयत्न करते हुए उसके सामर्थ्यकी कक्षाके बाहरवाली बातोंसे जब उसके प्रयत्नोंमें बाधा आती है, उस समय अपयशके भयसे उसे सहायता इत्यादिकी अपेक्षा होती है। विद्युत्, मेघ, वायु, सूर्य, अग्नि, जल, पृथ्वी इत्यादिकी ओरसे

उसके मार्गमें बराबर संकट आते ही रहते हैं, और ऐसे ही समय वह किंकर्तव्यमूढ बने बिना नहीं रहता। क्योंकि विद्युत्, सूर्य, अग्नि इत्यादि शक्ति उसकी सीमाके बाहरकी होती हैं, और यही कारण है, कि वह उनकी प्रार्थना करने लगता है।

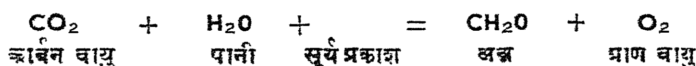
इसका अर्थ यह नहीं है, कि प्राप्त संकटसे पार पानेके प्रयत्नोंको छोडकर वह देवताओंके भजनमें लग जाता है; अपितु उसे अपने प्रयत्नोंमें पर्याप्त यश प्राप्ति हो, इस मर्यादित हेतुसे ही प्राचीन वैदिक ऋषियोंने इन शक्ति देवताओंकी प्रार्थना की है, ऐसा प्राचीन वैदिक सूक्तोंसे सिद्ध होता है, और इस दृष्टिकोणसे यही स्पष्ट है, कि वैदिक ऋषियोंके हृदयमें उत्पन्न होनेवाली देवताबुद्धि ही आर्योंके वेदांतविद्याका बीज है, यह कहना जरा भी अनुचित नहीं है। इस देवताबुद्धिसे प्रथम 'यज्ञ विद्या' और उसीसे यह 'वैदिक विद्या' प्रगट हुई। इस विवेचनसे स्पष्टतः सिद्ध होता है, कि आर्योंका वेदांत प्रत्यक्ष सुखदुःखात्मक संवेदनाओंसे उत्पन्न नहीं हुआ है, अपितु देवताबुद्धि और तद्‌आनुषंगिक यज्ञधर्म ही हमारी तत्त्व जिज्ञासाका, या 'वेदांत विद्या' का उद्गम स्थान है।

यह कहना अनुचित न होगा, कि इस सृष्टि चक्रको चलानेवाली शक्तियां अनेक तथा असंख्य हैं; तथापि उनका वर्गीकरण कर शास्त्रकारोंने उनकी संख्या परिमित की है। प्रश्नोपनिषद्‌के द्वितीय प्रश्नमें इस विषयका विवेचन है। इसमें भार्गव ऋषिने प्रश्न पूछा है, कि "भगवन् कत्येव देवाः प्रजां विधारयन्ते, कतर एतत् प्रकाशयन्ते, कः पुनरेषां वरिष्ठः।" अर्थ– भगवान्! कितने देव प्रजाको धारण करते हैं? कौनसे देव इन्हें प्रकाशित करते हैं? और इनमेंसे कौनसा देव सर्व श्रेष्ठ है?

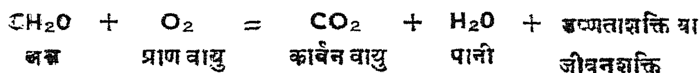
इस मंत्रमें भार्गव ऋषिने जो प्रश्न पूछा है, उसके तीन विभाग किये जा सकते हैं। सृष्टिके प्रत्येक पदार्थमें, फिर चाहे सजीव हों या निर्जीव हो, संघटक शक्ति रहती है, इसमें किसीको संदेह नहीं है। अर्थात् जबतक पदार्थोंके घटकावयवोंका विवक्षित प्रकार भेदोंका संयोग बना है, तबतक

इस पदार्थका अस्तित्व रहता है। इस संयोगको स्थिर रखनेवाली शक्ति प्रत्येक पदार्थके अन्तर्यामसें सन्निहित होनी चाहिये, ऐसा अनुमान कोई भी विचारवान् मनुष्य सहज ही में कर सकता है; और इस शक्तिको ही उपर्युक्त विषयमें संघटकशक्ति कहा गया है। आधुनिक रसायनशास्त्रकी दृष्टिसे इसी विषयको स्पष्टतः और भी सुगमतासे समझाया जा सकता है।

वनस्पतियोंकी हरी पत्तियोंमें पौधोंकी जडोंसे लिया हुआ पानी पहुंचता है, और हरी पत्तियां वातावरण या हवासे कार्बन वायु लेती रहती हैं। इस पानी और कार्बन वायुका संयोग सूर्यकी किरणोंके प्रकाशसे होता है। यह क्रिया इस प्रकार होती है—



बादमें यही अन्न जब मनुष्य खाता है, और प्राण वायु, सांसद्वारा लेता है, तब खाया हुआ अन्न प्राणवायुसे जलकर उपर्युक्त क्रिया उलटी हो जाती है—



अर्थात् मनुष्यका खाया हुआ अन्न प्राणवायुके संयोगसे जलता है, और इस जलनेकी क्रियाके कारण १– कार्बन वायु बनती है, जो निश्वासमें हम बाहर निकाल फेकते हैं। २– पानी बनता है, जिसे सांस निकालनेमें भांपके रूपमें निकाल देते हैं; और इस अन्नके विघटनसे जिस शक्तिका निर्माण होता है, उसके कारण शरीरमें उष्णता रहती है, और इसीसे शरीरको कार्यक्षम बनाए रखनेका कार्य होता है। अन्नमें पाई जानेवाली यह वही संघटक शक्ति है, जिसका विवरण यहां ऊपर किया जा रहा है। यह संघटक शक्ति अर्थात् उस पदार्थको (अन्नको) धारण करनेवाली देवता है। भार्गव ऋषिके प्रश्नके पहले भागका तात्पर्य यही है, कि ऐसे धारण करनेवाले देव कौनसे हैं और वे कितने हैं ?

प्रश्नका दूसरा भाग इस प्रकार है। संघटक शक्तिके समान प्रकाशक शक्तिका भी प्रत्येक पदार्थसे संबंध आता है, क्योंकि दूसरेको जानना, और दूसरेसे जाना जानेवाला—ये धर्म प्रत्येक पदार्थमें रहते हैं, विशेषतः प्राणियोंमें तो ये दोनों ही धर्म पाए जाते हैं। साधारणतः अचेतन पदार्थमें जाना जानेवाला यह एक ही धर्म होता है, ऐसा माना जा सकता है। दूसरेको जाननेवाला ज्ञाता, और दूसरेसे जाना जानेवाला ज्ञेय कहलाता है। ज्ञाता और ज्ञेय ये दोनों प्रकाशके ही धर्म हैं, और इनमेंसे कमसे कम एक धर्मका प्रत्येक पदार्थसे संबंध आता ही है। इस प्रकारकी शक्ति (देवता) कितनी और कौन कौनसी हैं, यह प्रश्नके दूसरे भागका अभिप्राय है। अन्तमें प्रश्नके तीसरे भागमें इन सारी शक्तियों, या देवताओंकी नियामक, चालक तथा आधारभूत, ऐसी कोई वरिष्ठ देवता है या नहीं और यदि है, तो वह कौन है; यह प्रश्नके तीसरे भागमें पूछकर भार्गव ऋषिने अपना प्रश्न पूर्ण किया है।

इसके उत्तरमें आकाशादि पंचमहाभूत, अग्नि, सूर्य, पर्जन्य, मेघ, इत्यादि, अर्थात् सृष्टिके व्यक्त पदार्थोंके सामर्थ्य, या उन सामर्थ्योंसे होनेवाले कार्य, जिन आधिभौतिक तत्वोंसे होते हैं, वे ही सृष्टिके व्यक्त देवता हैं; और चूंकि इन सबोंके सामर्थ्यसे ही पिंड ब्रह्मांडका धारण–पोषण होता है, इसलिये इन्हींको सृष्टिको धारण–पोषण करनेवाली प्राणकी आधिभौतिक शक्ति अर्थात् देवता बताकर भार्गव ऋषिके प्रश्नके पहले भागका उत्तर पिप्पलाद ऋषिने दिया है। प्राणतत्वका यह आधिभौतिक स्वरूप जिन जिन साधनों या शास्त्रोंसे समझा जावे, वे सब साधन और शास्त्र प्राणविद्यामें ही समाविष्ट होते हैं, इसमें शंका नहीं है।

सृष्टिमें, या मानव शरीरमें सारे बाहर दीखनेवाले व्यवहारिक कार्योंके कारण होनेवाली जो अन्तःशक्ति रहती है, उसका ज्ञान हुए बिना प्राणका आधिभौतिक स्वरूपका पूर्ण ज्ञान हुआ है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। पदार्थमें पाई जानेवाली यह अन्तःशक्ति ही, प्राण शक्ति ही, प्राणका आधि-

दैविक स्वरूप है। सब पदार्थोंमें ज्ञातृत्व और ज्ञेयत्व (एक या दोनों) धर्म कौन कौनसे देव उत्पन्न करते हैं, इस भागके उत्तरमें सूर्य, चन्द्र, सर्वसत्ताधीश इन्द्र व पालनकर्ता रुद्र; ये शक्तियां या देवता पदार्थोंमें प्रकाशन सामर्थ्य, अर्थात् ' ज्ञातृत्व व ज्ञेयत्व ' ये धर्म उत्पन्न करनेवाली प्रकाशक शक्तियां हैं ऐसा उत्तर दिया गया है। सूर्यचंद्रादि देवताओंके रूपमें प्राणका प्रकाशन सामर्थ्य सृष्टिमें प्रभावशाली होता है, और यही उसका (प्राणका) आधिदैविक स्वरूप है, ऐसा पिप्पलाद ऋषिने प्रश्नके दूसरे भागका उत्तर दिया है। जिस प्रकार भूत शब्दसे आधिभौतिक शब्दका निर्देश होता है, उसी प्रकार देव शब्द आधिदैविक शब्दसे सिद्ध होता है। अन्तमें शरीर, इंद्रिय, मन, बुद्धि तथा जीव, इन सबोंके समुच्चयको ही ' आत्मा ' इस शब्दकी योजना पिप्पलाद ऋषिने की है; और इसके द्वारा जो प्राणका सामर्थ्य प्रकट होता है, उसीपर मनुष्यका सारा जीवन अवलंबित रहनेके कारण शरीरमें क्षेत्रज्ञ–इस नातेसे, तथा सर्व ब्रह्मांडमें भी सर्वशक्तिमान् प्राण ही सारे देवताओंमें वरिष्ठ देव है ऐसा मूल प्रश्नके तीसरे भागका उत्तर दिया गया है।

सारांश यह कि, भौतिक या शारीरिक, आधिदैविक या इंद्रियविषयक, और आध्यात्मिक या बुद्धिविषयक सामर्थ्योंके पूर्ण विकाससे ही मनुष्यकी सच्ची उन्नति होती है, अर्थात् अभ्युदय और निःश्रेयस् या अमृतत्वकी प्राप्ति होती है। इस कारण प्राणकी यह त्रिविध उपासना प्रत्येक मनुष्यको करनी चाहिये, ऐसा पिप्पलाद ऋषिके उत्तरका तात्पर्य है। इस संपूर्ण विश्लेषणसे यह तात्पर्य निकलता है, कि पिंड ब्रह्मांडांतर्गत संघटक, प्रकाशक एवं कार्यकारी शक्तियोंको ही उपनिषदोंमें देवता संज्ञा दी गई है, और इसका आत्विक स्वरूप इस प्रकार है, कि यद्यपि सामर्थ्यके उद्गम स्थानको देवता संज्ञा लागू होती है, तो भी देवता, यह शब्द केवल शक्तिका ही बोधक नहीं है, परंतु यह सामर्थ्य मूलमें ही चैतन्यसे युक्त है, अर्थात् चैतन्यके अंशसे युक्त ऐसा जो सामर्थ्यका केंद्र या उद्गम स्थान है उसे ही उपनिषदोंमें देवता शब्दसे संबोधित किया है ऐसा सिद्ध होता है।

उपर्युक्त विवरणमें यह स्पष्ट करके दिखाया गया है, कि देवता शब्द जहां कहीं हो वहां वह सामर्थ्य और ज्ञान इन दोनों अंशोंसे युक्त है, यह निर्विवाद रूपसे समझना चाहिये। पिंड ब्रह्मांडमें ऐसे देवता अनेक हैं। प्रश्नोपनिषद्में पिंड ब्रह्मांडात्मक सारे देवताओंका एकीकरण नहीं किया है। उपनिषदोंका अभ्यास करनेसे ऐतरेय जैसे कुछ उपनिषदोंमें इस विषयकी रूपरेखा श्रुतिने मार्मिकतासे स्पष्ट की है। इस कार्यमें प्राचीन और अर्वाचीन शरीरशास्त्र, व सृष्टिशास्त्रका तुलनात्मक अध्ययनका कार्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

इस प्रकारके अध्ययन द्वारा प्राचीन वैदिक ऋषियोंने परा और अपरा विद्याके सिद्धान्तोंका शास्त्रीय दृष्टिसे मेल मिलाकर व्यवहार और परमार्थ दोनों मार्ग मानव जीवनके लिये अत्यन्त श्रेयस्कर बना दिये थे। इसी प्रकार आधुनिक पंडितोंने भी आधिभौतिक और आध्यात्मिक विद्याओंका शास्त्रीय मेल मिलाकर आधुनिक पदार्थ विज्ञान तथा जीवशास्त्रकी सहायतासे भ्रमात्मक मायावादसे मूढ बने हुए मानव जीवनकी समस्याओंको शास्त्रीय दृष्टिसे सुलझाया, तो 'व्यवहार और परमार्थ' इन दोनोंका मेल होकर अमृतत्त्वका मार्ग सुलभ हो जावेगा, इसमें यत्किंचित् भी सन्देह नहीं है।

ऐतरेय उपनिषद्में वेदान्तशास्त्रके मुख्य सिद्धान्तोंका विवेचन थोडा है, परन्तु उसका मुख्य विषय जगदुत्पत्ति होनेसे उसमें पिंड ब्रह्मांडकी उत्पत्तिका विवेचन सविस्तार किया हुआ है। तथापि इस सारे विवेचनका पर्यवसान ब्रह्मविद्याके मुख्य सिद्धान्तमें ही हुआ है। इस विषयका विवेचन कुछ अलंकारिक भाषामें होनेसे इस विवेचनका अलंकारिक भाग छोडकर शास्त्रीय दृष्टिसे इस विषयका विचार किया गया, तो वह पूर्णरूपेण सोपपत्तिक प्रतीत होगा।

इस भागमें हमें अन्य विषयोंका विचार नहीं करना है। यहां हमें केवल इतना ही देखना है, कि पिंड ब्रह्मांडात्मक देवताओंकी उत्पत्ति कैसे, कहांसे, तथा किस क्रमसे हुई, व इस विषयमें उपनिषदोंके भौतिक शास्त्रविषयक सिद्धान्त आधुनिक शास्त्रोंके सिद्धान्तोंसे कहांतक मेल खाते हैं।

यहांपर यह बता देना उचित होगा, कि भौतिक शास्त्रके समान ही जीव और जीवशास्त्रका भी तुलनात्मक रीतिसे अभ्यास करना अत्यंत महत्वका है। अन्तःकरण अर्थात् बुद्धि और चिदंश, इन दोनोंके संयोगसे ही जीवात्माका स्वरूप बनता है, ऐसा उपनिषदोंका स्पष्ट मत है; अर्थात् चिदंशका जिस तत्वसे संयोग होता है, उसमें कुछ तो भी जड द्रव्यका अंश है, ऐसा निर्विवाद सिद्ध होता है। यह बात प्राचीन तथा अर्वाचीन वेदान्त ग्रन्थकारोंने मान्य की है। इस प्रश्नका परीक्षण आधुनिक व पाश्चात्य जीवशास्त्रकी दृष्टिसे होना महत्वपूर्ण होगा।

ऐतरेय उपनिषद्के पहले खंडमें केवल चार ही मन्त्र हैं। इस खंडमें वर्णन है, कि परमात्म तत्वमें सृष्टि उत्पन्न करनेकी ईक्षा अर्थात् इच्छा हुई। सृष्टि उत्पन्न होनेके पहले एक आत्मतत्वके अतिरिक्त दूसरा कुछ भी न था। जो कुछ भी था, सो वह शुद्ध, सत्य, ज्ञानमय और आनंदमय, और केवल एक ही ब्रह्मतत्व था। उस ब्रह्मतत्वको जगत् उत्पन्न करनेकी इच्छा हुई। इस इच्छा विशिष्ट ब्रह्मको ही हमारे शास्त्रकारोंने सगुण ब्रह्म या परमेश्वर संज्ञा दी है। परमेश्वरने त्रैलोक्य (पृथ्वी, अन्तरिक्ष और नक्षत्र लोक) की उत्पत्ति की। इन तीनों लोकोंके ऊपर और नीचे दिव्य "आप्" नामका एक अत्यंत विरल द्रव्य भरा हुआ था। उस दिव्य आपका घनी सघन होकर एक पिंड तैयार हुआ, और परमेश्वरकी इच्छा शक्तिसे यह तेजोमय बना हुआ पिंड तप्त हुआ।

तीनों लोकोंकी उत्पत्तिके बाद उन लोकोंपर प्रभुत्व प्रस्थापित कर उनकी व्यवस्था करनेके लिये शक्तियों या देवताओंकी आवश्यकता हुई, अर्थात् तीनों लोकोंकी उत्पत्तिके बाद लोकपालोंके उत्पन्न करनेकी इच्छा होना स्वाभाविक ही था, और लोकपालोंकी उत्पत्तिके लिये उस दिव्य 'आप्' से निकालकर एक पिंड (पुरुष) की रचना की। इस पुरुषका ही नाम वैदिक साहित्यमें विराट् पुरुष है। यह ध्यान रखनेकी आवश्यकता है कि वास्तविकतः विराट् एक कल्पित अलंकारिक व्यक्ति है। परमेश्वरकी इच्छा

शक्तिसे तेजोमय बना हुआ पिंड, जब तप्त हुआ, तब जिस प्रकार कोई अंडा फूटता है, उसी प्रकार इस पिंडमें मुख फूटा या मुंह खुला, मुखसे वाणी, और वाणीसे अग्नि उत्पन्न हुई; नासिका उत्पन्न हुई, और नासिकासे प्राण, और प्राणसे वायु उत्पन्न हुई; आंखें उत्पन्न हुईं, और आंखोंसे चक्षु (दर्शन शक्ति) और चक्षुसे सूर्य उत्पन्न हुआ; कान उत्पन्न हुए, कानोंसे श्रवणेंद्रिय, और श्रवणेंद्रियसे दिशाएं उत्पन्न हुईं। हृदय खुला, और हृदयसे मन, तथा मनसे चंद्र उत्पन्न हुआ; त्वचा उत्पन्न हुई, और त्वचासे केश, और उससे औषधि और वनस्पति उत्पन्न हुईं; नाभी खुली, और नाभीसे अपान और अपानसे मृत्यु उत्पन्न हुई; और प्रजनेन्द्रिय निकले, और इससे वीर्य, और वीर्यसे जल उत्पन्न हुआ; इस प्रकार सारे देवता और उनके स्थान उत्पन्न हुए; बादमें उनकी क्रियाएं आरम्भ होना अपरिहार्य ही था।

उपर्युक्त विवरणमें कल्पित अलंकारिक विराट् पुरुषके किस प्रकार इंद्रिय छिद्र उत्पन्न हुए और उन छिद्रों या स्थानोंसे (Structure) जो क्रिया [Function] हुई, उन क्रियाओंसे स्थूल भूतस्थ अग्नि, वायु, जल आदि देवता (शक्ति) कैसे उत्पन्न हुए, यह दिखाया गया है। इस विवरणका लाक्षणिक अर्थ लेनेकी आवश्यकता है। यहांपर आधुनिक जीव-शास्त्रका एक मुख्य प्रमेय (Differentiation of structure is correlated with differentiation of function) का उल्लेख करना तुलनात्मक अभ्यासकी दृष्टिसे महत्वका है। वैदिक वाङ्मयमें इस प्रकारकी लेखनशैली स्थान स्थानपर पाई जाती है।

उदाहरणार्थ, बृहदारण्यकके पहले अध्यायके पहले ब्राह्मणमें अश्वमेधके रूपकसे सृष्टिका वर्णन किया है। उस वर्णनमें सूर्यके उदयास्त, उषःकाल, पृथ्वी, अन्तरिक्ष, द्युलोक इत्यादि सृष्टिके मुख्य मुख्य विभागोंको अश्वके अवयवोंकी कल्पना की है, और संपूर्ण वर्णनमें सूर्यको मुख्य स्थान देकर सृष्टिचक्रके ज्ञानका महत्व प्रतिपादन किया गया है। जगदुत्पत्ति विषयक इस विवरणका आधुनिक शास्त्र दृष्टिसे तुलनात्मक अभ्याससे स्पष्ट होगा, कि इस विषयपर

आजके शास्त्रज्ञोंके विपुल उपकरणोंकी सहायतासे निकाले हुए निष्कर्ष हमारे ५००० वर्ष पुराने ऋषियों द्वारा योगयुक्तबुद्धिसे निकाले हुए निष्कर्षोंकी अपेक्षा यत्किंचित् भी आगे नहीं गए हैं।

उपर्युक्त ऐतरेय उपनिषद्में वर्णित देवता (शक्ति) की उत्पत्तिके वर्णन प्रायः वेदानुसार ही हैं—

चंद्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत।
श्रोताद्वायुश्च प्राणश्च मुखादग्निरजायत॥ (यजु. ३१-१२)

देवताओंकी उत्पत्तिके इस विवरणमें तीन प्रकारकी बातें पाई जाती हैं। १. विराट् पुरुषके इंद्रिय स्थान, २. उन स्थानोंमें उत्पन्न होनेवाली क्रिया, ३. विराट् पुरुषके उन उन स्थानोंकी क्रियाओंसे स्थूल बाह्य जगत्में उत्पन्न होनेवाली शक्ति-देवता। इन देवताओंका संबंध पिंड ब्रह्मांड इन दोनोंसे रहता है, और इस प्रकार चैतन्ययुक्त शक्तिके केन्द्रोंको ही 'देवता' संज्ञा दी हुई है। इन सब देवताओंके कार्योंके कारण ही यह सृष्टिचक्र अस्तित्वमें आकर चालू रहता है, ऐसा कहा जा सकता है।

ऐतरेय उपनिषद्के पहले अध्यायके दूसरे खंडमें आरंभमें ही बताया है, कि उस विराट् पुरुषसे उत्पन्न हुए ये सब देवता इस ब्रह्मांडमें समाविष्ट होकर कार्य करने लगे, तब उन सब देवताओंने परमेश्वरसे उनके रहनेके लिये योग्य तथा उपयुक्त स्थानोंकी याचना की, ताकि उन स्थानोंमें रहकर वे अन्न भक्षण कर सकें, अर्थात् कार्य कर सकें। अतः उन देवताओंके सामने गाय, घोडा इत्यादि उपस्थित किये गए, परन्तु उन देवताओंने अपने ठहरनेके लिये उन्हें पसंद नहीं किया, परन्तु जब उनके सामने मनुष्य लाया गया, तो उसे उन्होंने पसंद किया, क्योंकि यह (मनुष्य देह) उन देवताओंकी सारी क्रियाओंके लिये पर्याप्त मात्रामें उपयुक्त था।

इससे श्रुतिका यह अभिप्राय स्पष्ट होता है, कि यही मनुष्य देहके श्रेष्ठत्वका मुख्य कारण है। पाश्चात्य शास्त्रोंके उत्क्रांति नियमके अनुसार भी

*

यही प्रस्थापित हुआ है, कि मनुष्य ही सारे प्राणियोंका उत्क्रांत, तथा अंतिम स्वरूप है। तुलनात्मक अध्ययनकी दृष्टिसे यह एक महत्वपूर्ण विषय है, ऐसा समझनेमें कोई आपत्ति नहीं है ! क्योंकि इस विषयके आधुनिक पाश्चात्य शास्त्रज्ञोंके सिद्धांत अत्यंत सूक्ष्म और विस्तृत रूपमें विशद किये हुए हैं, तथापि आश्चर्यकी बात यह है, कि ५००० वर्ष पुराने श्रुतिके सिद्धांतोंसे उनका स्थूल रूपसे मेल मिलाया जा सकता है।

उपर्युक्त विवरणानुसार जब मनुष्य देह देवताओंके सामने लाया गया, तब इसी खंडमें आगे बताया गया है, कि अग्नि वाणी होकर मुखमें प्रविष्ट हुई, वायु प्राण होकर नाकमें प्रविष्ट हुआ, सूर्य चक्षु बनकर आंखोंमें प्रविष्ट हुआ, दिशा श्रोत्र बनकर कानोंमें पहुंची, औषधि और वनस्पति लोम तथा केश बनकर त्वचामें पहुंची, चंद्र मन बनकर हृदयमें पहुंचा, मृत्यु अपान बनकर नाभीमें प्रविष्ट हुई, और जल वीर्य बनकर जननेन्द्रियमें पहुंचा।

इस विवरणमें अग्न्यादि देवता अलग अलग शक्तियोंके रूप धारण कर उन उन स्थानोंमें प्रविष्ट हुए ऐसा वर्णन है। ये देवतागण या शक्तियां ब्रह्मांडमें जो कार्य करते हैं, उनके स्वरूप व्यवहारिक दृष्टिकोणसे अलग दिखते हैं, और वेही देवता पिंड अर्थात् मनुष्य शरीरमें जो कार्य करते हैं, उनके स्वरूप भिन्न दिखते हैं। कार्य अथवा परिणाम यद्यपि दिखनेमें भिन्न हैं, तथापि मूलभूत शक्ति एक ही हो सकती है, और इस कारण पिंड ब्रह्मांडके कार्य भिन्न भिन्न दिखाई दें, तो भी उन कार्योंकी मूलभूत शक्ति या उनके परिणाम एक ही हैं। यहां श्रुतिका यही अभिप्राय स्पष्ट प्रतीत होता है।

यह सम्पूर्ण विषय वैदिक वाङ्मयके अनुसार इस प्रकारका है। सर्वप्रथम उस शुद्ध, सत्य, ज्ञानमय ब्रह्मतत्वमें सृष्टि उत्पन्न करनेकी इच्छा होना (Once in the very beginning of time, there was rarefied, unshaped primary nebula that filled the

whole universe with equal density everywhere);— Catell— " Universe in space and time."

दिव्य आप्का घनी भवन (Condensation and concentration of primeval matter) दिव्य आप्से घनी भवनके बाद एक पुरुष (विराट् पुरुष) का बनना (Origin of the Primary Nebula) तीनों लोकों तथा लोकपालोंकी, प्रथम पिंड या पुरुष के तप्त होनेसे उत्पत्ति (the formation of sun, stars, moon, earth, atmosphere etc.)

दिव्य आप्से निकालकर पुरुषकी उत्पत्ति (Origin of living things) लोकपालोंके ठहरनेके लिये विविध स्थानोंका, घोडा, बैल इत्यादि निर्माण (Evolution of life up to Mammals). मनुष्य ही देवताओंके ठहरनेके लिये सर्वोत्कृष्ट स्थान (Man the highest and final stage in the evolution of life) विराट् पुरुषके जिन जिन स्थानोंसे लोकपालों या देवताओंकी उत्पत्ति हुई थी, मनुष्य देहके उन्हीं स्थानोंमें उन देवताओंका प्रवेश, और इस प्रकार मनुष्य देहरूपी क्षेत्रकी पूर्णता (Completion of evolution of all the structures correlated with the functions in the body of a human being) और अन्तमें इन सब देवताओं (शक्तियों) के योग्य संचालनके लिये परब्रह्म परमेश्वरका मनुष्य शरीरमें विदात्ति नामक द्वारसे जीवात्माके स्वरूपमें प्रवेश (Formation of the neural folds and the function of the 'organizer' at its beginning); यह समूची ऐतरेय उपनिषद्की विचारधारा जिसमें पूर्ण रूपसे पिंड ब्रह्मांडकी उत्पत्तिमें सामंजस्य दिखाकर उसका एकीकरण बताया गया है, आधुनिक जीवशास्त्रके उसी भागसे, जिस भागका ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेंद्रियोंके उत्पत्ति तथा उत्क्रान्तिसे सम्बन्ध है, मेल मिलानेका प्रयत्न कर उसका तुलनात्मक अध्ययन किया गया, तो स्पष्ट प्रतीत होगा, कि स्थूल रूपसे तो भी दोनों विचारधाराओंमें पूर्ण रूपसे साम्य है। इस प्रकारका अभ्यास तभी हो सकता है,

जब आधुनिकशास्त्र तथा वैदिक वाङ्मयका अनुसंधानात्मक दृष्टिकोणसे निरीक्षण करनेकी पात्रता हमारा सुशिक्षित वर्ग प्राप्त कर ले।

प्रस्तुत विषयके विवेचनके साथ साथ बृहदारण्यक उपनिषद्के पहले अध्यायका पांचवा ब्राह्मण तथा दूसरे अध्यायके पांचवें ब्राह्मणका परिशीलन अत्यंत उपयुक्त है। हम यहां केवल दूसरे अध्यायके पांचवें ब्राह्मणका संक्षेपमें विवेचन करेंगे। इसे मधु ब्राह्मण कहते हैं, और इस ब्राह्मणके पहले मंत्रसे पंद्रहवें मंत्रतकका विषय मधुविद्या है। इसमें व्यष्टि समष्टिकी रीतिसे आत्मतत्वका विचार किया गया है। जीवात्मा और परमात्मा, तथा पिंड और ब्रह्मांड, इन दोनोंका ऐक्य समझनेमें व्यष्टि समष्टिका उपयोग अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। अग्नि, वायु, जल, विद्युत् आदिमें जो मूलभूत शक्ति वास करती है, उसको अनुलक्ष्य कर प्रत्येक मन्त्रमें 'तेजोमय' व 'अमृतमय पुरुष' संबोधन किया है। ये सब केवल जड शक्ति नहीं हैं।

हम ऊपर बता ही चुके हैं, कि चैतन्ययुक्त जड शक्तिको ही देवता कहते हैं। इन सब देवताओंके मेलसे अस्तित्वमें आया हुआ सृष्टिचक्र चालू रहता है। आकाशसे लेकर धर्म, सत्य तथा मनुष्यत्वतक, अर्थात् मानव समाजतककी सारी क्रियाएं इन देवताओंके सामर्थ्यहीसे होती रहती हैं। इस देवता समुच्चयको ही आधिदैविक सृष्टि प्रसंग विशेषमें कहा जाता है। प्रत्येक आधिभौतिक पदार्थके अन्तर्याममें यह आधिदैविक शक्तिका वास्तव्य रहता है, और उसीपर उस पदार्थका अस्तित्व और व्यापार अवलंबित रहता है। सृष्टिकी इन्हीं आधिदैविक शक्तियोंका अंशरूपसे प्राणियोंके शरीरमें वास्तव्य रहता है। चूंकि ये शरीरस्थ शक्तियोंके अंश आत्मतत्वके चैतन्यसे युक्त होते हैं इसी कारण उन्हें शारीरिक देवता कहा जा सकता है।

इस अंश (शारीरिक) का ही व्यष्टि नाम है। वह जिसका अंश होता है, उसीको समष्टि कहा जाता है। यह कल्पना अवयवावयवी की कल्पनाके समान है, परंतु इसमें जो किंचित् अन्तर है, वह इस प्रकार है— अवयवोंसे अवयवीकी कल्पना करनी होती है, परंतु व्यष्टि समष्टिकी उपपत्तिमें समष्टिसे व्यष्टिकी कल्पना की जाती है। शरीरका यानी पार्थिव द्रव्योंका

संघटन करनेवाले देवतासे मनुष्यत्वके देवतातक सारे देवता शक्ति मिलकर ही जीवका स्वरूप निर्मित होता है, और इन सब अंश देवताओंकी संघटना करनेवाला ही जीवात्मा (आत्मा) है।

यहां यह समझना उचित न होगा, कि आत्मा इन सारी अंशात्मक देवताओंका समष्टिरूप है, परंतु, वास्तवमें, वह चक्षुरादि सब देवताओंपर निगरानी रख उनका जीवन हो, ऐसा वह इस क्षेत्रका स्वतंत्र चालक है, जिसे जीवात्मा या क्षेत्रज्ञ कहते हैं। जिस प्रकार अग्नि, वायु, सूर्य, चंद्र, आदि देवता समष्टिरूप होते हुए इनका व्यष्टिरूप वाणी, प्राण, चक्षु, मन इत्यादि हैं, उसी प्रकार जीवात्मा यह जगन्नियंता परमेश्वरका अंश है, अर्थात् परमात्मा समष्टिरूप होते हुए जीवात्मा उसका व्यष्टिरूप है, ऐसा ही समझना चाहिये।

इस प्रकार पिंड ब्रह्मांडका सम्बन्ध ध्यानमें रखकर परमात्माका विचार करनेसे ही, यही सिद्ध होता है, कि वही इस जगत्का अधिपति है। इस जगत्पर उसकी सत्ता होते हुए वह स्वतः मात्र सर्वतंत्र स्वतन्त्र है, सर्व सृष्टिका प्रकाशक होते हुए वह मात्र स्वयं प्रकाश है। सर्व सृष्टिको, तथा सृष्ट पदार्थोंको उसीका आधार है, और इस बातको दर्शानेके लिये ही रथचक्रकी नाभि व नेमिके दृष्टांतकी योजना इस ब्राह्मणके पंद्रहवें मंत्रमें की है। सारे प्राणी, सारे पदार्थ, सारे देवता (शक्ति) अर्थात् सारी सृष्टिका वह आधार है। इस प्रकार उस परमात्म तत्वका पिंड ब्रह्मांडसे संबंध न जोडकर केवल उसके तात्विक स्वरूपका विचार करनेसे शुद्ध ब्रह्मतत्व एक ही एक अमृत स्वरूप होते हुए वाणी तथा मनको वह अगोचर ही ठहरता है, तथापि 'मैं' उसी तत्वका अंश होनेसे और 'अहं ब्रह्मास्मि' का अनुभव ज्ञानी मनुष्यको होनेसे वह ब्रह्मतत्व इंद्रियगोचर न भी हो तो भी वह अनुभवगम्य सिद्ध होता है। इसी कारण उसका साक्षात्कार संपादन करनेको श्रुतिने उपदेश किया है।

इस सारी सृष्टिको उत्पन्न करनेमें परमेश्वरका क्या हेतु है, यह विषय सभी पाश्चात्य तत्ववेत्ताओंके लिये एक जटिल समस्या बना हुआ है, तथापि

इस समस्याको हल करनेकी दिशा वैदिक ब्रह्मविद्याने स्पष्टतः निर्दिष्ट की है। जगदुत्पत्तिके बारेमें परमेश्वरके हेतुओंका अनेक प्रकारका संभव हो सकता है। इस संबंधमें ब्रह्मविद्याका स्पष्ट कथन है, कि जीव उत्पन्न कर उसके पूर्ण उत्क्रान्त स्वरूपको, अर्थात् मनुष्य परमात्मतत्वका ज्ञान पूर्ण रूपसे संपादन कर साक्षात्कारका अनुभव कर सके, यही मात्र विश्वोत्पत्तिका एक हेतु है। सृष्टि ब्रह्मतत्वसे कोई एक भिन्न वस्तु नहीं है, अपितु एक ब्रह्मतत्व सर्वत्र व्याप्त है, ऐसा और पूर्ण रूपसे जान लेनेमें ही मानव जीवनकी इति कर्तव्यता रहती है। यही ब्रह्मविद्याके उपदेशका रहस्य है। श्रुतिने मधुब्राह्मणके अंतिम भागमें इसी विचारधाराका प्रतिपादन किया है।

इस अध्यायमें किये हुए अबतकके विवरणसे स्वाभाविकरूपसे यह अनुमान निकलता है, कि मनुष्यकी उत्क्रान्तिको स्पर्धा या जीवन कलह कारणीभूत हुए हैं ऐसा माननेमें कोई आपत्ति नहीं है, परंतु आर्योंकी तत्वजिज्ञासाके प्रथमावतारका प्रारंभ भी इन्हीं कारणोंसे हुआ है, ऐसा आर्योंके वेदांतविद्याके परिशीलनसे नहीं कह सकते हैं। ब्रह्मविद्याके इतिहासकी ओर दृष्टिपात करनेसे यही सिद्ध होता है कि, आर्योंके तत्वजिज्ञासाको सुखदुःखादि मानवी मनोधर्म अप्रत्यक्षतः या परंपरासे भले ही कारणीभूत हुए हों, परंतु वैदिक ऋषियोंके हृदयमें उत्पन्न हुई देवता बुद्धि ही आर्योंके वेदांत तत्वज्ञानका बीज है, या उद्‌गम स्थान है। द्रष्टा ऋषियोंने ईश्वरीय ज्ञानका साक्षात कर उस ज्ञानको मन्त्रभागमें प्रमेयोंके रूपमें संकलित किया है। इस ज्ञानको जब व्यवहार तथा परमार्थकी दृष्टिसे पूर्ण उपयुक्त तत्वज्ञानमें परिणित करनेका समय आया, तब हमारे प्राचीन ऋषियोंने सृष्टिके नियमोंका शास्त्रीय तथा संशोधनात्मक दृष्टिसे निरीक्षण किया व देवता बुद्धिसे प्रेरित होकर ब्राह्मण ग्रन्थोंका निर्माण कर यज्ञविद्या और यज्ञसंस्थाकी प्रस्थापना त्रेतायुगमें की (मुंडक १-२-१)। इस प्रकार देवता बुद्धि या यज्ञधर्म ही आर्योंके तत्वज्ञानका उद्गम स्थान है।

यद्यपि यज्ञविद्यासे ही आर्योंके तत्वज्ञानका प्रारंभ हुआ, तथापि यह तत्वजिज्ञासा यज्ञमंडपमें बहुत कालतक नहीं अटकी रही। शीघ्र ही वह

सृष्टिके खुले मैदानमें आई और पिंड ब्रह्मांडात्मक सृष्टिका सूक्ष्म निरीक्षण कर यज्ञ विद्यासे शुरू हुए ब्रह्मज्ञानको निसर्ग नियमोंसे संबद्ध किया गया, और फिर अन्तमें उपासना और बुद्धिवाद इन दोनोंके योगसे ब्रह्मविद्या शास्त्रको सर्वांग परिपूर्ण किया गया। यही कारण है, कि आर्योंके प्राचीन वेदांतसारणीमें सामान्यतः दो विभाग दिखाई देते हैं। उनमेंसे एक भागको याज्ञिकी ब्रह्मविद्या कहा जाता है। तैत्तिरीय उपनिषद्का शिक्षाध्याय इस याज्ञिकी ब्रह्मविद्याका एक अच्छा उदाहरण कहा जा सकता है। दूसरे विभागको निसर्ग नियमोंका दर्शक नाम देनेकी कल्पना शीघ्र सामने आती है, परंतु श्रुतिने इसे 'भार्गवी वा वारूणी विद्या' संज्ञा दी है। यह संज्ञा कुछ अंशमें इतिहास बोधक होते हुए ग्रंथकारके नामकी निदर्शक है, ऐसा ब्रह्मानंदवल्लीके परिशीलनसे स्पष्ट प्रतीत होता है।

यज्ञयागोंका सार्वत्रिक फैलाव होनेपर किस मंत्रकी कौनसी देवता, इस विषयकी चर्चा तथा वादविवाद प्रारंभ हुए। इस प्रकारके वादविवादोंमें उपासनाकी दृष्टिसे कौनसी देवता श्रेष्ठ है यह प्रश्न भी स्वाभाविक रूपेण उत्पन्न हुआ। इस प्रश्नके उत्तरके हेतु किये जानेवाले संशोधनके परिणाम स्वरूप ही ब्रह्म सिद्धांत है। यह सिद्धांत सापेक्षतया ही क्यों न हो, जिन वाक्योंसे स्पष्ट दिखाया जाता है, उन्हें 'महावाक्य' कहा जाता है, ऐसे महावाक्य वैदिक वाङ्मयमें बहुतसे पाए जा सकते हैं, परंतु हमारे शास्त्रकारोंने उनमेंसे अत्यंत महत्त्वपूर्ण-ऐसे चार महावाक्य छांट निकाले हैं। इनमेंका ही एक 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' यह महावाक्य है। यह एक प्राचीन मंत्र है। यज्ञोंमें के देवताकांडसे तत्व जिज्ञासा उत्पन्न हुई, और वह परब्रह्म पदतक पहुंची। "ब्रह्म विदाप्नोति परम्" ब्रह्मप्राप्ति या ब्रह्मस्वरूप हो जाना ही, ब्रह्मविद्याका फल है ऐसा तैत्तिरीय उपनिषद्के पहले ही मंत्रमें बताया हुआ है। ब्रह्मस्वरूप हो जानेके साथ साथ सर्व मनोरथ पूर्तिका भी इस मंत्रमें उल्लेख है। इसी कारण सब प्रार्थना मंत्रोंमें प्रायः 'ब्रह्म वर्चसं मह्यं दत्वा' 'ब्रह्म वर्चसी भूयासम्' इस प्रकार उल्लेख दिखाई देते हैं।

उपर्युक्त विवरणमें ब्रह्मसाक्षात्कार होना, ब्रह्मवर्चस्वी होना, या ब्रह्मस्वरूप हो जाना; यह ब्रह्मविद्याका फल बताया है। यही जीवनकी मुक्तावस्था है। ब्रह्म-साक्षात्कारके पहले (अर्थात् अज्ञानावस्थामें) मानव जीवनमें बुद्धि इत्यादि अवयव सदोष हैं। और इसी कारण वे विकारवश होते हैं। बुध्यादि इंद्रियोंकी यह सदोषता जिस प्रमाणमें कम होती जाती है, उसी प्रमाणसे मनुष्य साक्षात्कारके पास पहुंचता जाता है। साक्षात्कार ही आध्यात्मिक उन्नतिकी चरम सीमा है, क्योंकि इस समय बुद्धि, मन इत्यादि इंद्रिय नितांत निर्मल होती हैं, और इस कारण यह कहा जा सकता है कि साक्षात्कारके बादकी जीवन्मुक्तावस्थामें अहंप्रत्यय, बुद्धि, मन इत्यादि शक्ति या अवयव शुद्ध देवतारूप होते हैं। उनका आत्यंतिक शुद्धस्वरूप-देवत्व है। इसी अभिप्रायसे मानव जीवनके प्रत्येक अवयवोंकी भिन्न भिन्न देवता शास्त्रकारोंने निश्चित की है।

तैत्तिरीय उपनिषद्के आठवें अनुवाकके पहले ही मंत्रमें बताया है, कि सृष्टिमें कार्य करनेवाली सारी शक्तियां (देवता) परमात्माके प्रभुत्वके नीचे कार्य करती रहती हैं। इन सबका सूत्रचालक एक परमात्मा ही है। सृष्टिकी कार्यकारी शक्तियोंकी गणना करने लगें, तो असंख्य दिखाई देंगी, इसमें संदेह नहीं है। ये सारी शक्तियें या देवता असंख्य हों, तो भी वे परमात्माके अंशरूप होनेसे इस प्रकारका देवता बाहुल्य शास्त्रीय दृष्टिसे अयोग्य है, ऐसा कोई नहीं कह सकता है, किन्तु वेदांतका यह तत्वज्ञान जिन्हें नहीं अवगत है, उन्हें अवश्य ही हिन्दुओंकी यह अनेक देवताप्रणाली चमत्कारिक मालूम पडती है, यह उनके अज्ञानका ही परिणाम है। देवता कितने भी हों, तथापि उनमें तात्विक भेद नहीं है; और उससे शास्त्रीय विचारसरणीमें कोई भी आपत्ति नहीं आती है। जिस प्रकार सृष्ट पदार्थ असंख्य हों तो भी उनकी उत्पत्ति एक ही तत्त्वसे हुई है, ऐसा शास्त्रीय दृष्टिसे कह सकते हैं; उसी प्रकार अनेक देवता एक ही देवाधिदेवसे उत्पन्न हुए हैं, और इन सबोंका चालक तथा नियामक एक परमात्मा

है ऐसा कह सकते हैं। यही कारण है, कि उसके लिये सूत्रात्माकी संज्ञा रूढ है।

दशोपनिषदोंमें अनेक स्थानोंपर इंद्रियादिकोंके देवतारूपसे वर्णन हुए हैं, ऐसा ऊपर बताया गया है; उन सब वर्णनोंसे निर्विवाद सिद्ध होता है, कि जीवन्मुक्तावस्थामें ब्रह्मवेत्ताका जीवनक्रम शुद्ध देवतामय बन जाता है, अर्थात् उनके जीवनका कोई भी अधिकारी नष्ट नहीं होता, न वह प्रारब्धाधीन ही होता है। ये सम्पूर्ण शक्ति या देवता उस सृष्टिकर्ता परमेश्वरके मूल हेतुके अनुसार अपने अपने कार्य निर्दोषतापूर्वक करते रहनेसे उनके मूल स्वभाव या सामर्थ्य स्थिर ही रहते हैं। क्योंकि वे रागद्वेषादि विकारोंके स्वाधीन नहीं होते हैं। अहं प्रत्ययकी 'मैं' यह संवेदना, बुद्धिका सत्य काम, मनका सत्यसंकल्प, तथा बुद्धिके विवेकानुसार इंद्रियोंके व्यापार, ये सारी बातें प्रमाणबद्ध चालू रहकर यशस्वी कर्तृत्व, शाश्वत नीति, प्रभुत्व, या पराक्रम, सर्वमनोरथपूर्ति, इत्यादि सद्‌गुण जीवन्मुक्तके चरित्रमें यथावकाश पूर्ण रूपमें प्रगट होते हैं, और वे ही जगत्‌के मार्गदर्शक होते हैं।

जीवन्मुक्तावस्थामें इच्छादि धर्म पूर्णतः नष्ट हो जाते हैं, यह कहना असंगत है। इच्छादि धर्म सब रहते हैं; परंतु वे शुद्ध स्वरूपमें रहते हैं, इसका स्पष्ट निर्देश छांदोग्योपनिषद्‌के आठवें अध्यायके पहले खंडमें किया गया है। जीवनमुक्तको स्वतः विषयक कोई भी इच्छा न हो, परंतु उसकी बुद्धिमें जगत् कल्याणकी इच्छा रहती ही है। ऐसे जीवनमुक्तका देहपात होनेपर उसके जीवनकी देवता शक्ति अपने अपने अधिष्ठान अर्थात् मूल स्वरूपसे कैसे एकरूप होती है, इसका विवरण बृहदारण्यक (३।२।१३) में याज्ञवल्क्य आर्तभाग संवादमें श्रुतिके शब्दोंमें इस प्रकार है...... "तब वाणी अग्निसे मिल जाती है, प्राण वायुसे मिल जाता है, नेत्र सूर्यमें समाविष्ट होते हैं, मन चंद्रमें समाविष्ट होता है, कान दिशामें मिल जाते हैं, शरीर पृथ्वीमें मिलता है, अहंप्रत्यय आकाशमें विलीन होता है, लोमावली औषधिसे मिलती है, केश वृक्षोंमें समाविष्ट हो जाते हैं, रक्त व रेत पानीमें मिल जाता है" इत्यादि; और वही बात मुंडक (३।२।७) में भी स्पष्ट बताई हुई है।

सृष्टिके घटकावयव	शरीरके घटकावयव	सृष्टिके घटकावयव	शरीरके घटकावयव
१– अग्नि	१– वाणी	६-पृथिवी	६-शरीर (स्थूलदेह)
२– वायु	२– प्राण	७-आकाश	७– अहंप्रत्यय
३– सूर्य	३– नेत्र	८-औषधि	८– लोम
४– चंद्र	४– मन	९-वनस्पति	९– केश
५– दिशा	५– श्रोत्र (कान)	१०-आप् (जल)	१०– रक्त व रेत

इस प्रकार उसके घटकावयव कृतकृत्य होकर अपनी अपनी जगह चले जाते हैं, अर्थात् उत्क्रान्तिके हेतुसे संबद्ध कर परमेश्वरकी स्थापना की हुई यह जीव संस्था परमेश्वरके हेतुके अनुसार चलकर अन्तमें इस जीव संस्थासे मुख्य मुख्य घटकावयोंके स्थानमें रहनेवाले देवता (शक्ति) मुंडक तथा प्रश्नोपनिषद्के अनुसार इस शरीरस्थ आत्माकी कलाएं सृष्टिके मूल तत्वोंमें जाकर विलीन होती हैं। इस प्रकार यह व्यष्टिरूप 'जीव संस्था' समष्टिमें विलीन हो जाती है; परंतु उसका विज्ञानमय आत्मा या बुद्धि विशिष्ट चिदंश बुद्धि सहित परब्रह्मसे एकरूप हो जाता है, ऐसा श्रुतिने स्पष्ट कहा है।

इससे यह स्पष्ट है, कि मोक्ष वह वस्तु चिद्रुप आत्माका नहीं है। वास्तवमें वह बुद्धिको ही प्राप्त होनेवाला होता है। बुद्धि यद्यपि जड है, तथापि वह चैतन्यसे ही उत्पन्न होनेसे आत्मज्ञानपूर्वक कर्तव्याचरणसे उसका जडत्व नष्ट होकर अन्तमें वह भी चैतन्यरूप हो जाती है। (Refer to Sir J. Jeans– Energy turning into matter & Matter into energy.) यही मानव जीवनकी उन्नतिकी परमावधि है; और साधकको, यही ध्येय सामने रखकर ब्रह्मविद्या संपादन करनी चाहिये। इस तरह जीवन्मुक्त स्वतःका उद्धार कर समाजको भी सन्मार्ग बताता है, व अपनी जीवनयात्रा समाप्त करता है। यही ब्रह्मविद्या धर्मका रहस्य हमारे उपनिषदोंने प्रतिपादन किया है।

उपर्युक्त विवेचनमें श्रुतिके प्रतिपादित सृष्टि रचनाविषयक सिद्धान्त आधुनिक भौतिक शास्त्रोंकी कसौटीपर पूर्णतः उतर जावेंगे, इसमें सन्देह नहीं है; परन्तु इस कार्यके लिये प्राचीन वैदिक वाङ्मयकी रीति, उसकी विवेचनशैली, सिद्धान्त रचनाका स्वरूप, और कार्यकारण भावकी प्रक्रिया, इत्यादि विषयोंका सम्पूर्ण ज्ञान होना चाहिये; और इसके साथ साथ आधुनिक विज्ञान शास्त्रोंका भी उत्तम ज्ञान रहना आवश्यक है। ऐसे सव्यसाची विद्वान् वैदिक परंपराकी दृष्टिसे यदि ऐतरेय तथा अन्य औपनिषदिक सिद्धान्तोंका परीक्षण करें, तो हजारों वर्ष पूर्वमें वैदिक ऋषियोंने अपने योगयुक्त बुद्धिसे सृष्टिका सूक्ष्म निरीक्षण कर विश्वकी समस्याओंका हल करनेके हेतु सृष्टिशास्त्रके सिद्धांत कितने सही स्पष्ट किये हैं, यह सबके ध्यानमें भलिभांति आ जावेगा।

इस प्रकारका कार्य अत्यंत प्रयत्न तथा अतिव्ययका होनेसे ही कदाचित् आजतक न हो सका हो, परंतु १०००-१५०० वर्षकी परतंत्रताके पश्चात् आज हमें स्वातंत्र्य प्राप्ति हुई है, तो इससे अधिक उपयुक्त समय हमें फिर कब मिल सकता है? और इसीलिये इन लेखोंद्वारा अत्यंत विनम्र विनंती है, कि सांप्रतकालका सुशिक्षित वर्ग औपनिषदिक वाङ्मयका स्वतंत्र बुद्धिसे अभ्यास करनेके लिये कटिबद्ध हो जावे, और ऐसे आधुनिक शास्त्रोंके दृष्टिकोणसे स्वतंत्र बुद्धिसे वैदिक वाङ्मयके अभ्यास करनेवाले युवकोंके जीवनक्रमका राष्ट्र पूर्णतः केवल परामर्श ही न ले, अपितु ऐसे उत्साही विद्यार्थियोंको अभ्यासक्रमके निमित्त लगनेवाली सारी सुविधाएं प्रदान करनेकी व्यवस्था करें। इतनी विनंती कर यह देवताकांडका अध्याय समाप्त किया जाता है।



अध्याय ९ वां

ब्रह्मप्रकृतिवाद, मायावाद तथा सांख्योंके परिणामवाद का सामान्य स्वरूप



हम किसी भी धार्मिक सांप्रदायकी ओर देखें तो दिखाई देगा, कि स्वभावतः उसके दो भाग होते हैं। पहला तत्वज्ञान, और दूसरा आचरण; पहलेमें पिंड ब्रह्मांडका विचार कर परमेश्वरका स्वरूप क्या निश्चित होता है, यह बताकर मोक्ष किसे कहते हैं, इस बातका शास्त्रीय दृष्टिसे निर्णय किया जाता है; और दूसरेमें मोक्षप्राप्तिके हेतु साधनकी दृष्टिसे मनुष्यने इस जगत्में कैसे चलना चाहिये, इस बातका विवेचन होता है। सृष्टि और ब्रह्मतत्वका पारस्परिक संबंध क्या है, इस प्रश्नका निर्णय करना ही वेदांत-शास्त्रका मुख्य विषय है।

> आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्।
> नान्यत्किंचन मिषत्। स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति ॥
>
> ऐतरेय उपनिषद् १।१।१

अर्थ— " यह (सर्व जगत्) प्रथमतः (उत्पत्तिके पहले) अकेला एक आत्मा ही था। दूसरा व्यापारवान् कुछ भी न था। इसे (भूरादि) लोक-निर्माण की इच्छा हुई।

> सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्।
> तद्धैक आहुरसदेवेदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं
> तस्मादसतः सदजायत् ॥ छां. उप. ६।२।१

अर्थ— (ऋषिने कहा) हे वत्स श्वेतकेतु, यह सब कार्यरूप जगत् उत्पन्न होनेसे पहले, अद्वितीय- केवल एक ही भावरूप था। उसके विषयमें कुछका कथन है, कि यह जगत् उत्पन्न होनेके पहले, अद्वितीय-एक अभाव रूप ही था। असत्से (अभावसे) सत् अर्थात् भावरूप जगत् उत्पन्न हुआ।

आत्मैवेदमग्र आसीत्पुरुषविधः......... । बृहदा. १।३।१

अर्थ— पहले यह विश्व पुरुषाकार आत्मस्वरूप ही था (अर्थात् पुरुषरूप एक आत्मा ही था)।

.... आनीद्वातं स्वधया तदेकं......... ।
.... तस्माद्धान्यन्न परः ...... किंचना अ् अ् स ॥
नासदीय सूक्त २

अर्थ— (जो कुछ भी था) वह अकेला एक स्वधासे, अर्थात् अपनी शक्तिसे वायु बिना श्वासोच्छ्वास (स्फुरण) करता था । उसके अतिरिक्त और कुछ भी न था। श्रुतिके ये सारे वाक्य अद्वैत सिद्धांतके स्पष्ट निदर्शक हैं। और इसपरसे श्रुतिको ब्रह्माद्वैत ही अभिप्रेत है ऐसा निर्विवाद सिद्ध होता है। ऐसी स्थितिमें सृष्टि उत्पन्न करनेके विषयकी इच्छा आत्मतत्वमें प्रादुर्भूत हुई।

कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत् ।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा ॥
नासदीय सूक्त. ४

अर्थ— (इसके) मनका जो रेत अर्थात् बीज प्रथमतः निकला, वही आरंभका काम (अर्थात् सृष्टि निर्माण करनेकी प्रवृत्ति या शक्ति) बना। (यही) असत्में अर्थात् मूल परब्रह्ममें सत्का अर्थात् विनाशी दृश्य सृष्टिका (पहला) संबंध है, ऐसा ज्ञानियोंने अन्तःकरणमें विचार करके बुद्धिसे निश्चित किया है।

तपसा चीयते ब्रह्म ततोऽन्नमभिजायते। मुंडक. १।१।८

अर्थ— तपसे (इच्छा शक्तिसे) ब्रह्म घन अर्थात् सगुण होता है। उस सगुण ब्रह्मसे अन्न उत्पन्न होता है।

प्रजाकामो वै प्रजापतिः। स तपोऽतप्यत । स तपस्तप्त्वा ।
स मिथुनमुत्पादयते। रयिं च प्राणं चेत्येतौ मे बहुधा प्रजाः
करिष्यत इति ॥ प्रश्नोपनिषद्. १।४

अर्थ— परमेश्वरने प्रजा उत्पन्न करनेकी इच्छा की। उसने (एकाग्रचित्तसे) विचार किया, और विचार करके रयि और प्राणकी जोडी उत्पन्न की। ये दोनों मिलकर मुझे चाहिये जैसी प्रजा (निर्माण) उत्पन्न करेंगे ऐसा प्रजापतिको ज्ञात हुआ)।

तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत तत्तेज ऐक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति तत्तपोऽसृजत। तस्माद्यत्र क्व च शोचति स्वेदते वा पुरुषस्तेजस एव तदध्यापो जायन्ते ॥

छांदोग्य. ६।२।३

अर्थ— उस (सत्तत्वने) में मैं बहु अर्थात् विविध होऊं, और मैं प्रजा (सृष्टि) का निर्माण करूं, ऐसी इच्छा की। अर्थात् उस सत्‌तत्त्वको सृष्टि उत्पन्न करनेकी इच्छा हुई। उस सत्‌तत्त्वने तेज उत्पन्न किया। उस तेजको इच्छा हुई, कि उसने विविध होना अर्थात् सृष्टि निर्माण करना है ... ... इन सारे उद्धरणोंसे यह स्पष्ट है, कि उस सत्‌चिदानंद ब्रह्मतत्त्वको जगत उत्पन्न करनेकी इच्छा हुई। प्रथमके एक ही एक आत्मवस्तुमें इच्छा क्यों और कैसे उत्पन्न हुई, इस विषयमें भिन्न भिन्न लोगोंने अपने अपने अनुमान लगाए हैं, परंतु वे सब अपूर्ण ही हैं। नासदीय सूक्तके छठे मंत्रमें स्पष्ट ही बताया है कि—

को अद्धा वेद क इह प्रवोचत्। कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः।
अर्वाग् देवा अस्य विसर्जनेनाथा को वेद यत आबभूव ॥

अर्थ— " (सत्‌का) यह विसर्ग अर्थात् प्रसार किससे या कहांसे आया, यह (इससे अधिक) ' प्र ' अर्थात् विस्तारसे यहां कौन बतावेगा? कौन निश्चयसे जानता है? सारे देवता भी इस (सत् सृष्टिके) विसर्गके बादके हैं, तो यह सृष्टि कहांसे और क्यों निकली यह कौन जान सकता है। " श्रीमत् शंकराचार्यजीकी इस विषयकी कल्पना अधिक सयुक्तिक है, और वह इस प्रकार है— ब्रह्म सर्वशक्तिमान् तथा सर्वतंत्र स्वतंत्र रहनेसे उसमें यदि किसी भी शक्तिका प्रादुर्भाव हुआ, तो वह सकारण ही हो,

यह विचार ठीक नहीं है। सृष्टिके प्रारंभ होनेके बाद सृष्टिके जो उत्पत्ति प्रलय होते हैं, उन्हें कार्य कारण भावकी उपपत्तिसे सिद्ध करना संभव है; परंतु सर्वथा ही प्रथममें प्रारंभ कैसे, कब और क्यों हुआ, इसका भी कारण होना ही चाहिये, ऐसा नियम माननेकी आवश्यकता नहीं है।

ऊपर दिये हुए उद्धरणोंसे यह स्पष्ट है, कि श्रुतिको जगत् और ब्रह्ममें कार्य कारण भाव ही अभिप्रेत हैं। कार्य और कारण इनमें दो प्रकारके संबंध हैं, अर्थात् ये दोनों शब्द एक दूसरेपर अवलंबित हैं। कार्यकी कल्पना आए बिना कारणकी कल्पना उद्भव ही नहीं होती। इसी प्रकार कारणके विषयमें एक स्थूल रूपसे ज्ञान हुए बिना कार्यकी कल्पनाका प्रादुर्भाव नहीं हो सकता। जगत्की किसी भी वस्तुको देखें, तो वह किसीका कार्य और किसीका कारण होती है। जगत्का कोई भी पदार्थ केवल कार्य या केवल कारण नहीं होता। जगत्में यदि हम इस कारण परंपराका पता लगाते जावें, तो कहीं तो भी हमारी बुद्धिको अंतिम कारण मिलना ही चाहिये, और इसी अंतिम कारणको आदि कारण संज्ञा दी जा सकती है।

बुद्धिकी संशोधन शक्ति इस आदि कारणके आगे न जा सकनेसे अन्य पदार्थोंकी भांति यह आदि कारण किसी अन्य वस्तुका कार्य नहीं है, यह मत निश्चित किया जा सकता है, और इसीलिये यह आदि कारण अन्य सारे कारणोंसे अधिक स्थाई है। इसी स्थाई आदि कारणको ही नित्य या सत्य कहा जाता है। हमारा मुख्य प्रश्न है, कि जगदुत्पत्तिका प्रारंभ कहांसे हुआ, और इस प्रश्नका उत्तर हमें ऊपरके उद्धरणोंसे स्पष्ट मिलता है, कि जगदुत्पत्तिका प्रारंभ ब्रह्मतत्त्वसे ही होता है। यह स्पष्ट सिद्ध होता है, कि सृष्टिरूप कार्यका ब्रह्म ही आदि कारण है। इसीसे उसे आदि कारण संज्ञा दी गई है। वह निरपेक्ष, नित्य, सत्य कैसे सिद्ध होता है, यह अभी ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है।

वेदांत शास्त्रमें श्रुति वचनोंको प्रत्यक्ष प्रमाण जैसा ही नितांत प्रमाण माना जाता है। यहां शास्त्रीय प्रयोगोंसे सिद्धांतको सिद्ध नहीं करना पडता

है, अपितु श्रुति वचनोंसे ही सिद्धांत निर्धारित किये जाते हैं। इन श्रुति वचनोंमें कुछ तो सिद्धांतोंको प्रत्यक्ष प्रतिपादन करनेवाले होते हैं, और कुछ अप्रत्यक्षतः काममें आनेवाले होते हैं। शास्त्रोंमें प्रत्यक्ष निर्णायक वाक्योंका महत्व अधिक होता है। इसी प्रकारके श्रुतिके कई निर्णायक वाक्योंके उद्धरण हमने ऊपर दिये हैं, जो स्पष्टरूपसे बताते हैं, कि जगत्की उत्पत्ति, स्थिति, लय करनेवाली शक्ति ब्रह्मका स्वरूप ही है, और वही जगत्का आदि कारण भी है। या यों कहा जा सकता है, कि सर्व शक्तिमान् ब्रह्म ही जगत्का आदि कारण है। ऐसा ही श्रुतिने प्रतिपादन किया है।

ब्रह्म सूत्रकार श्री बादरायणाचार्यने पहले अध्यायके चौथे पादके २३, २४, २५, २६ व २७ वें सूत्रोंमें इसी विषयका स्पष्टीकरण किया है, वह इस प्रकार है– "(२३) प्रतिज्ञा और दृष्टांतसे ब्रह्म ही जगत्की प्रकृति अर्थात् उपादान कारण है ऐसा सिद्ध होता है। (२४) जहां कहीं सृष्टिके प्रारंभका उल्लेख श्रुतिमें आता है, वहां नियमित रूपसे इच्छा, हेतु या ज्ञान इनका उल्लेख भी आता है, (२५) सृष्टिकी उत्पत्ति और लय प्रत्यक्ष ब्रह्म तत्वमें ही होता है ऐसा स्पष्ट होनेसे वही सिद्ध होता है। (२६) आत्मतत्व या ब्रह्मतत्वमेंकी क्रिया शक्तिका (रूपांतर) परिणाम होनेके कारण ब्रह्म वस्तु ही जगत् का या सृष्टिका उपादान और निमित्त कारण है ऐसा कहनेमें कोई आपत्ति नहीं है। (२७) इसके अतिरिक्त ब्रह्म ही (जगत् या सृष्टिका) उत्पत्ति स्थान है, ऐसे वर्णन श्रुतिमें पाए जाते हैं।

ऊपर जो पांच सूत्रोंके अर्थ दिये हुए हैं, उनसे सूत्रकारका इस विषयमें यह मत है कि, ब्रह्मतत्वके अंदरकी क्रियाशक्तिका इच्छाके कारण रूपांतर होता है, अर्थात् मुंडकोपनिषद्के (१।१।८) अनुसार ब्रह्मतत्वके एक अंशमें घनीभवन या प्रस्फुरण होता है, इस कारण एक ब्रह्मतत्व ही सृष्टि या जगत् का घटक या उपादान कारण है; और वही उसका कर्ता या निमित्तकारण भी है यह स्पष्ट है। श्रीमद्भगवद्गीतामें भी इसी रीतिसे जगत्के आदि कारणका प्रश्न सुलझाया है। सातवें अध्यायके श्लोक ४-१२ तकमें इस विषय

पर इस प्रकारका निष्कर्ष निकाला है । "शुद्ध परमात्म तत्वकी परा और अपरा ऐसी दो प्रकृतियां हैं । इन दो प्रकृतियोंके योगसे ही स्थावर जंगमात्मक सृष्टि उत्पन्न हुई है, और उस सबमें परमात्मतत्व एकसा ही समाया है ।

इस विवेचनसे यह स्पष्ट है कि उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और गीता इस प्रस्थान त्रयीका सिद्धांत इस ब्रह्मकारणवादके विषयमें एक ही प्रकारका है, यह निःसंशय सिद्ध होता है । मुंडकोपनिषद्में इसी विषयके स्पष्टीकरणार्थ तीन उदाहरण देकर निश्चित रूपमें बताया है, कि ब्रह्मतत्वसे ही इस सारे जगत् की उत्पत्ति होती है, अर्थात् ब्रह्मतत्व ही जगत् या सृष्टिका उपादान तथा निमित्त कारण है—

यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः संभवन्ति । यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि तथा अक्षरात्संभवतीह विश्वम् ॥ मुंडक. १।१।७

अर्थ- जिस प्रकार मकडी (स्वतःसे ही) जाला उत्पन्न करती है, तथा उसे समेट सकती है, या पृथ्वीसे वनस्पति, मनुष्यके केश व रोएं, अग्निसे चिनगारियां उत्पन्न होती हैं, किन्तु इन सब पदार्थोंको उत्पन्न करनेमें अलग अलग उपादान कारणकी आवश्यकता नहीं होती है उसी प्रकारसे उस अविनाशी ब्रह्मतत्वसे विश्व उत्पन्न होता है, (अर्थात् उसके लिये कोई पृथक् उपादान कारणकी आवश्यकता नहीं होती) इसीको प्रकृतिवाद या ब्रह्म प्रकृतिवाद कहते हैं । यहां प्रकृति शब्दका अर्थ– 'घटक कारण' है; यह ध्यानमें रखना आवश्यक है, अर्थात् साक्षात् ब्रह्मतत्व ही जगत्का घटक कारण है । यह ध्यानमें रखनेसे सांख्य शास्त्रकार जिस अर्थसे प्रकृति शब्दका उपयोग करते हैं, उसमें भ्रम न होगा ।

सांख्य शास्त्रकार प्रधान और पुरुष ऐसे दो तत्व सर्वथा स्वतंत्र मानते हैं । प्रधानको ही प्रकृति कहा जाता है । इस प्रकृतिमें सत्व, रज, तम ये तीनों गुण प्रारंभमें समप्रमाणमें रहते हैं, और बादमें उनमें कम अधिक प्रमाण

उत्पन्न होता है, और इसीसे विश्वकी उत्पत्तिका प्रारंभ होता है । प्रकृतिमें गुणवैषम्यके रूपसे रूपांतर होता है और इस रूपांतरके क्रमसे आकाशादि सर्व सृष्टि उत्पन्न होती है। इस रूपांतरको परिणाम कहते हैं । जैसे दूधका दही या खाये हुए अन्नसे रक्तादि रस बनते है। इस रूपांतर या परिणामको ही विकार कहते हैं । सृष्टिकी सारी प्रक्रिया आरंभसे अन्ततक सर्वतोपरि इस परिणामसे ही होती है ऐसा सांख्योंका मत है।

पुरुष इस सारे कार्योंमें नितांत निर्लिप्त रहता है, परंतु प्रकृतिको उसके सांनिध्यकी आवश्यकता होती है । प्रकृतिके इस जालसे छुटकारा पाना हो, तो जीवको जितना हो सके, उतना इस जगत्से संबंध छुडाना, और पुरुषका ज्ञान संपादन कर उसीके चिंतनमें निमग्न रहना चाहिये। पुरुष चेतन स्वरूप है, और प्रकृति केवल जड और अचेतन है । प्रकृतिके सत्व, रजादि गुण, और तज्जन्य कर्म, इन दोनोंका त्याग हुए बिना जीवका गुण संग नष्ट नहीं होता है। ऊपर बताए हुए दोनों साधनोंसे अर्थात् उदासीन कर्म संन्यास और 'पुरुष' का ज्ञान इनसे ही आत्मा प्रकृतिके गुणोंसे मुक्त होता है, और अपने मूल स्वरूपको प्राप्त होता है । यही सारांशमें सांख्यमतका अभिप्राय है।

ब्रह्म प्रकृतिवादका यह सिद्धांत है, कि शुद्ध ब्रह्मतत्व एक ही है; और उससे सारी सृष्टिका विस्तार होता है । कर्म, उपासना, और ज्ञान इन तीनोंके योगसे अर्थात् एक प्रकारके कर्मयोगसे जीव मुक्त होता है । इस रीतिमें सांख्योंकी परिणामकी कल्पना या प्रक्रिया मान्य है, परन्तु वह आरंभ स्थान छोडकर आगे मान्य की हुई है । उत्पत्तिकी पहली सीढी या आरंभ स्थान यह परिणाम नहीं है । ब्रह्मके एक अंशमें जो घनीभवन होता है, या ब्रह्मके अचिंत्य शक्तिका जो प्रादुर्भाव होता है, वही उत्पत्तिक्रमका आरंभ स्थान है । इसीको सगुण ब्रह्म, परमेश्वर या प्रकृतियुक्त पुरुष संज्ञा दी जाती है ।

निर्गुण निराकार ब्रह्मसे जो यह सगुण ब्रह्म बना वह उसका परिणाम नहीं है। अपितु ब्रह्म शक्तिके विशेष स्फुरणसे ही सगुण ब्रह्म बना है, और इसीको विवर्त कहते हैं। मूल तत्त्वमें परिवर्तन हुए बिना केवल स्वरूपमें जब परिवर्तन होता है, तब उसे विवर्त कहते हैं। जैसे सोनेके अलंकार और सोना। परंतु मूल तत्त्व सहित जहां परिवर्तन होता है उसे विकार कहते हैं, जैसे दूधका दही; निर्गुण ब्रह्मसे जो सगुण ब्रह्म बना है, वह विवर्त रीतिसे अर्थात् मूल तत्त्वमें परिवर्तन न होते हुए जैसे मिट्टीसे घटके समान शुद्ध ब्रह्मसे सगुण ब्रह्म बना है। इस सगुण ब्रह्मसे फिर क्रम क्रमसे आकाशादि सारी सृष्टिका निर्माण हुआ।

उपर्युक्त विवर्तके विषयमें ही मायावादकी कल्पनाका उद्भव हुआ है। ब्रह्मतत्त्वके एक अंशमें ब्रह्म शक्तिके योगसे जो सगुण ब्रह्म बना, वह वस्तुतः स्वरूपकी बनावट नहीं है किन्तु यह केवल रज्जु सर्प जैसा आभास या भ्रम है। सृष्टिकी उत्पत्ति क्रमकी यह पहली ही सीढी भ्रम स्वरूप है, ऐसा मायावादी समझते हैं। किसी भी भ्रमके साथ थोडा बहुत सत्यांश रहता ही है, जैसे सूर्य किरणपर मृगजलका भास या रज्जुपर सर्पका भास होता है। सर्पके भ्रममें रज्जुकी आवश्यकता होती ही है। हरएक भ्रममें सत्यका थोडासा तो भी आधार लगता है। भ्रम या आभास निराधार नहीं हो सकता, उसे सत्य कल्पनाका अधिष्ठान लेना ही पडता है। इसी प्रकार सत्य ब्रह्म वस्तुके आधारसे ही यह जगत्भ्रमकी विचारसरणी निकलती है।

ब्रह्म वस्तुका यथार्थ ज्ञान होते ही, यह जगद्भ्रम नष्ट हो जाता है यहांतक कि उसका स्मरण भी नहीं रहता और स्वप्नसे जागृतावस्थामें आए हुए मनुष्य जैसा इस सारे भ्रमसे मुक्त ज्ञानी ब्रह्म स्वरूपमें लीन हो जाता है। मायावादी दृष्टिकोणसे ब्रह्म पारमार्थिक सत्य है और जगत्में दीखनेवाली सारी बातें केवल प्रातिभासिक हैं। पारमार्थिक सत्ता और प्रातिभासिक सत्ता यही मुख्य हैं। जिसे हम व्यावहारिक सत्ता कहते हैं, वह प्रातिभासिक सत्ताका ही एक भाग है। स्वप्नमेंके व्यवहार स्वप्नमें यद्यपि

सत्य जैसे विदित होते हैं, परन्तु जागृतावस्थामें वे झूंठे और त्याज्य ही ठहरते हैं, उसी प्रकार सृष्टिमेंके भौतिक तथा मानवीय व्यवहार परमार्थकी दृष्टिसे झूंठे तथा त्याज्य ही ठहरते हैं।

जिस प्रकार निद्रासे जगा हुआ मनुष्य स्वप्नमें घटित बातोंमेंसे किसीको मनःपूर्वक नहीं करता, ठीक उसी प्रकार ज्ञानी मनुष्य कोई भी कर्म कर ही नहीं सकता और अतएव एक प्रकारसे कर्म और ज्ञानका(तमः प्रकाशवत्) अत्यधिक विरोध है, ऐसा मायावादको मानना पडता है। जहां एक वार यह विरोध मान्य किया, तो फिर विधिनिषेध, नीति अनीति, धर्माधर्म, पाप पुण्य सारी कल्पनाएं या बातें झूंठी पड जाती हैं, और त्याज्य ठहरती हैं। उसी प्रकार वर्णाश्रम विहित कर्तव्य, सामाजिक उन्नति अर्थात् अभ्युदय, राष्ट्रीय-संस्कृति और उसका अभिमान, तथा सामाजिक या कौटुंबिक जीवन, इन सारे सद्गुणोंका महत्व ही नष्ट हो जाता है। ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर ब्रह्मानुभव संपादन ही मानव जीवनका कर्तव्य शेष रहता है।

हमने प्रारम्भमें ही यह बताया है, कि किसी भी तत्त्वज्ञानका परिणाम यह होता है, कि समाज उस तत्त्वज्ञानके अनुरूप ही आचरण करे। डेढ हजार वर्षसे मायावादी तत्त्वज्ञानकी पकड हिन्दू समाजपर इतनी पक्की हो गई है, कि शिक्षित वर्गसे लेकर निरक्षर व्यक्तितकमें मायावादी कल्पना पूर्णरूपेण व्याप्त है। इसी कारण हिंदुओंका अन्तःकरण वैयक्तिक भावनाओंहीसे परिपूर्ण है, उसे समाज तथा राष्ट्र आदिका स्मरण भी नहीं है ऐसा प्रतीत होता है। इन्हीं सब कारणोंसे आज हिंदु समाज उदासीन, वैयक्तिक वृत्तिका, संन्यस्त तथा मुक्तद्वारीके समान बना हुआ है। मानव जीवन तथा तदंतर्गत व्यवहार सर्वथैव झूंठे होनेके कारण उसे किसी भी कर्तव्यकी क्षति नहीं रही, और वह न रहते हुए भी संन्यासी ही हो गया है और इसी ध्येयके कारण वह व्यक्ति प्रधान भी बन गया है।

इसी स्थितिको और चिकित्सक दृष्टिसे देखें, तो यह बात और भी स्पष्ट रूपसे दिखाई देगी। मानव प्राणी जन्मसे लेकर मृत्युतक जितने भी कर्म

बुद्धिपूर्वक करता है, उसके सामान्यतः दो भाग किये जा सकते हैं। इन्हींको व्यक्ति धर्म, और समाज धर्म (राष्ट्र धर्म) कहा जा सकता है। उसके धार्मिक आचारोंकी ओर देखें, तो वर्षके पहले दिनसे अन्तिम दिन-तक तीन सौ साठसे भी अधिक आचार धर्म बताए हुए हैं। प्रत्येकमें देवता पूजन, होम हवन और ब्राह्मण भोजन करानेको कहा गया है। इन सबका प्रधान उद्देश्य यही है, कि इन आचारोंके करनेवालेको इस जन्म तथा अगले जन्ममें भी पुत्रपौत्रादि समृद्धि, दीर्घायुष्य, धनधान्यादि ऐश्वर्य लाभ प्राप्त हो। इन आचारोंकी फलश्रुतिको देखनेसे यही स्पष्ट प्रतीत होता है, कि हिंदुओंके आचार धर्म वैयक्तिक ही हैं।

हिंदू संस्कृतिके व्यावहारिक स्वरूपका निरीक्षण करके देखें कि, उसमें व्यक्तिसे समाजको अधिक प्राधान्य दिया है या नहीं? किसी भी समाजपर विचार करनेके हेतु चातुर्वर्ण्यकी कल्पनासे उसके चार विभाग करके उनपर विचार करना अधिक सुविधाजनक होता है। हिंदु समाजमें तो यह रीति रूढ ही हो गई है। समाजके चार विभाग ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र सर्वश्रुत हैं। हमारे यहांके ब्राह्मण वर्णमें विद्याभिरुची, बुद्धिमत्ता, तितिक्षा, स्वार्थत्याग, अभ्यासशीलता इत्यादि सद्गुण भरपूर थे, और आज भी हैं। यह वर्ग समाजमें दो प्रकारके व्यवहार करते हुए दिखाई देते हैं। एक पण्डित पेशा और दूसरा कारकून या बाबू पेशा। शास्त्री, पुराणिक, वैदिक और याज्ञिक आदि पण्डित पेशेमें सम्मिलित किये जा सकते हैं।

इस वर्गने पिछले डेढ दो हजार वर्षकी पराधीनताके जीवनमें भी अप्रतिम ग्रन्थ संपत्तिका निर्माण किया है, और सतत विद्याभ्यास करना ही ब्राह्मण जातिका स्वभावसा बन गया है। इतनी वैयक्तिक संपदा होनेपर भी इस वर्गने समाजको योग्य शिक्षण देनेकी ओर (जो ब्राह्मण धर्मका कर्तव्य कर्म है) किञ्चिन्मात्र भी ध्यान नहीं दिया है। साधारणतः सामाजिक शिक्षण क्षेत्रमें जहां इतनी उपेक्षा थी, वहां राष्ट्रका मुख समझे जाने-

वाले इस ब्राह्मण वर्गने राजनीति जैसे व्यापक क्षेत्रकी ओर तनिक भी ध्यान न दिया तो इसमें कोई बडे आश्चर्यकी बात नहीं है। इसका केवल कारण यही था कि वह (ब्राह्मण वर्ग) यह समझता रहा, कि जबतक मैं शुद्ध हूं तबतक मेरे ब्राह्मण्यमें कोई बाधा नहीं आ सकती है। इसी वैयक्तिक भावनाने उसमें पक्का घर कर लिया था, कि उसे समाजकी ओर देखनेकी भी आवश्यकता ही प्रतीत नहीं हुई। केवल ब्राह्मण वर्गके साधारण मनुष्योंमें ही यह भावना घर कर गई थी, ऐसा नहीं था तो बडे बडे धार्मिक नेताओं, शास्त्री पंडितोंके आचरणमें भी यही स्पष्ट परिलक्षित होती थी।

महाराष्ट्रमें जगन्नाथ पण्डित जैसे विद्वान् तथा श्री एकनाथ महाराजके गुरू जनार्दन स्वामी जैसे पहुँचे हुए संत, मुसलमान बादशाहोंके यहां नौकरी करते थे। उनकी यह धारणा थी, कि नौकरीसे आनेके बाद सचैल (सिरसे स्नान करनेपर) स्नान कर लेनेसे उनके ब्राह्मण्यमें कोई बाधा नहीं आ सकती है। उस समयके अन्य शास्त्रीपण्डित उन ब्राह्मणोंकी निंदा करते थे, किन्तु ऐसे निंदक स्वयं यह भूल जाते थे, कि वे भी म्लेच्छोंके ही प्रजाजन हैं। तात्पर्य यह है कि हमारे विद्वानों, शास्त्रीपण्डितों और साधुसंतोंकी दृष्टि समाज या राष्ट्रकी ओर न जाकर स्वयंतक ही सीमित थी। व्यावहारिक जीवनमें ब्राह्मणोंकी सामाजिक भावना भी नष्ट हो चुकी थी, क्षत्रियोंकी दशा भी ब्राह्मणोंके जैसी ही थी। पिछले डेढ हजार वर्षोंके इतिहासपर दृष्टिपात करनेसे प्रतीत होता है कि, हमारे क्षत्रियोंके बुद्धि व पराक्रम इन गुणोंका उपयोग स्वकीयोंकी अपेक्षा परायोंने अधिक लिया है।

हमारी संस्कृतिकी बनावट ही ऐसी है, कि यहां पराक्रमी क्षत्रियोंकी कमी नहीं है। परन्तु जिसकी रोटी खाना उनकी सेवा सच्चाईसे करना चाहे वह परधर्मी हो या परराष्ट्रीय हो। इस घातक शास्त्रका अवलंबन करनेसे हिंदू शक्ति तथा पराक्रमका उपयोग पराये करते रहे हैं। यह स्पष्ट है, कि वैयक्तिक दृष्टिको छोड सामाजिक तथा राष्ट्रीय भावनाओंसे हमारा समाज वंचित था। जहां समाजके दो मुख्य वर्गोंकी यह स्थिति हो गई थी, वहां

अन्य दो वर्गोंके विषयमें अधिक विस्तार करनेकी आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार हिंदु समाजका अधिकांश जीवनक्रम व्यक्तिप्रधान हो गया। राष्ट्रीय अथवा सामाजिक जीवनकी भावना समूल नष्ट प्राय हो जानेसे हिंदू धर्मकी स्थिति धर्मशाला जैसी मुक्तद्वारी बन गई।

यह कहना कदापि अनुचित न होगा कि हमारा हिन्दू समाज इस माया-वादी तत्त्वज्ञानके कारण राष्ट्रकी दृष्टिसे मृतप्राय ही हो गया है। इस माया वादके दुष्परिणामको देखकर तो सखेद आश्चर्य होता है। जो वैदिक धर्म पूर्व कालमें संपूर्ण मानव जातिका मार्गदर्शक था, वही वैदिक धर्मका अनु-यायी हमारा हिंदू समाज आज डेढ हजार वर्षसे परायोंका गुलाम बना रहा। तात्त्विक दृष्टिसे इस सर्वनाशका सारा उत्तरदायित्व मायावादपर ही है। अब भी सावधान होकर हमारे तेजस्वी वैदिक तत्त्वज्ञानकी ओर, यदि हमारे विचारवान् विद्वानोंने ध्यान दिया तो इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है, कि इस मायावादके इंद्रजालसे हिंदू समाजको मुक्त किया जा सकेगा। वास्तवमें उपनिषदोंमें प्रतिपादित तेजस्वी वैदिक तत्त्वज्ञान ही हिंदू धर्मकी नींव है, जो कि व्यक्ति धर्म, समाज धर्म, और राष्ट्र धर्मको पोषक है।

विचारपूर्वक ऐतिहासिक निरीक्षणसे स्पष्ट होगा, कि हिंदू समाजमें वैयक्तिक जीवनको प्रधानता देनेकी भावनाका प्रादुर्भाव हुआ वह (भावना) आगंतुक है, मूलगामी नहीं है। साधारणतः गौतम बुद्धके कालसे आज बीसवीं सदीतक (लगभग दो ढाई हजार वर्षमें) निर्मित संपूर्ण वाङ्मय व्यक्ति प्राधान्यकी ओर झुका हुआ दिखाई देता है। परन्तु हिंदू संस्कृति या वैदिक संस्कृतिकी यही पूर्ण आयु नहीं है। गौतम बुद्धके पहले स्मृतिकाल और वैदिक काल ऐसे दो बडे कालखण्ड हुए हैं। यह इतिहाससे किसीको भी परिज्ञात हो सकता है। भगवद्गीता वैदिक कालके अन्त, और स्मृति कालके प्रारम्भका ही दर्शक है; अर्थात् भगवद्गीताके कालसे ही स्मृति कालका प्रारम्भ होता है। पुराने स्मृति ग्रन्थोंसे आर्वाचीन स्मृति ग्रन्थोंमें आश्रम धर्मका ही वर्णन अधिक पाया जाता है यद्यपि यह सत्य है,

तथापि वर्णाश्रम धर्म शब्दयोजनाको निःसन्देह सारे ही स्मृतिकारोंने स्वीकार किया है।

बृहदारण्यक १।४।१६ में 'जुहोति' और 'यजते' इन दो पदोंसे व्यक्ति धर्म, और समाज धर्म ही अपेक्षित है। 'इष्टेन लभते स्वर्गं मोक्षं पूर्तेन विंदति' (लघु. शं. स्मृ.) वैदिक कालमें वैयक्तिक धर्मको (व्यक्ति धर्मको) इष्ट, और समाज या राष्ट्र धर्मको पूर्त नाम दिये जाते थे। ये दो शब्द मिलकर 'इष्टापूर्त' संयुक्त शब्द वेदोंके मंत्रभाग, ब्राह्मण भाग तथा उपनिषद् भागमें सर्वत्र दिखाई देता है। वैदिक कालके अन्तमें 'इष्टा-पूर्त' शब्दके स्थानपर वर्णाश्रम शब्द अस्तित्वमें आने लगा, और स्मृति-कालमें तो वर्णाश्रम धर्मका तत्त्व सर्व सम्मत सा ही हो चुका था।

इस प्रकार वैदिक कालका इष्टापूर्त, स्मृतिकालका वर्णाश्रम, और वर्त-मानका व्यक्ति धर्म और समाज धर्म, या राष्ट्र धर्म ये तीनों प्रकारकी शब्द योजना मानव कर्मोंके दो विभागोंकी ही बोधक है। सामर्थ्य संपादन, आश्लिष्ट जीवन, संतति संवर्धन इत्यादि तत्वोंपर वैदिक ऋषियोंने आश्रम धर्मकी स्थापना की है, परन्तु केवल आश्रम धर्मके आचरणसे मानव जीव-नकी पूर्ति नहीं हो सकती, इस बातको पूर्णतः समझकर ही आश्रम धर्मके साथ वर्ण धर्मको जोड दिया गया है। 'सर्वभूत हित' या सार्वजनिक हित, यही वर्ण धर्मका मूल तत्त्व है। इसी तत्त्वके आधारपर ही 'वर्ण धर्म' की स्थापना हुई है।

बुद्धोत्तर कालमें वर्ण धर्मकी कल्पनाका अत्यंत विपर्यास होनेसे लोग आश्रम धर्मको ही वर्ण धर्म समझने लगे, और इस एक भूलके कारण यह भ्रम शतकानुशतक अधिकाधिक रूढ होता गया। विद्यार्जन, छूतछात, श्राद्धादि पितृकर्म, यज्ञोपवीत धारण, इत्यादि ही ब्राह्मण धर्म हैं, ऐसा ही लोगोंका दृढ विश्वास होता गया। वास्तवमें देखा जाय, तो जो कार्य योग्य कारणके अतिरिक्त अन्य वर्ण नहीं कर सकते, परन्तु जो ब्राह्मणोंको तो अवश्य ही करना चाहिये ऐसे ही कर्मोंको ब्राह्मण धर्म या ब्राह्मणोंका वर्ण

धर्म कहना उचित है। इस प्रकारके वर्ण धर्मके कार्योंका स्पष्टीकरण पुराने स्मृति ग्रन्थोंमें किया हुआ है (अत्रिस्मृति)। इस प्रकार वैदिक ऋषियों द्वारा की गई वर्ण व्यवस्थाके मूल हेतुकी ओर देखा जाय, तो यही स्पष्ट होगा, कि समाजका योग्य धारण पोषण करना ही चातुर्वर्ण्य संस्थाका मूल उद्देश्य है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है, कि यद्यपि ऐतिहासिक कालमें हिन्दू धर्म व्यक्ति प्रधान दिखाई देता है तथापि प्राचीन कालमें (अर्थात् स्मृति तथा श्रुति कालमें) व्यक्ति तथा समाज, इन दोनोंको ही पूर्णतः प्राधान्य देता था। इसी बातको यों कहा जा सकता है, कि आश्रमधर्मके योग्य प्रतिपालनसे व्यक्तिकी पात्रता बढती है, और इस पात्रताका सार्वजनिक हितके लिये योग्य विनियोग करनेसे समाजोन्नति या अभ्युदय प्राप्त होता है। अर्थात् आत्मोन्नति या निःश्रेयस् और समाजोन्नति या अभ्युदयकी प्राप्तिके द्वारा व्यक्ति और समाज इन दोनोंका पूर्णतः कल्याण होता है। शुद्ध स्वातंत्र्य, तेजस्वी बुद्धि, आधिभौतिक और आध्यात्मिक विद्या, धार्मिक नीति, और शरीर सामर्थ्य इत्यादि दिव्य राष्ट्रीय सद्गुणोंका विवेचन हमारे उपनिषदोंमें किया हुआ है। इस कारण हमारे उपनिषद् ग्रन्थोंको हिन्दुओंके राष्ट्रीय धर्मकी नींव कहनेमें कोई आपत्ति नहीं है।

उपनिषदोंको ब्रह्म प्रकृतिवाद पूर्ण अभिप्रेत है, यह मुंडक, केन, ईश इत्यादिके स्वतंत्र बुद्धिसे परिशीलनसे स्पष्ट ज्ञात होता है। उपनिषद्के अन्तर्गत इस ब्रह्म प्रकृतिवादसे केवल निःश्रेयस्की प्राप्ति ही नहीं होती, अपितु अभ्युदय सहित निःश्रेयस्की प्राप्ति होती है; क्योंकि जगत्का योग्य उपयोग करनेमें ही लोक संग्रहका तत्व समाया हुआ है, जो कि सचमुच अभ्युदयका मार्ग है। मनुष्यको स्वतःकी पात्रता आश्रम धर्मसे संपादन कर सर्वभूत हितार्थ अर्थात् सार्वजनिक हितके लिये सचमुचमें प्रयत्न करे, तब ही अभ्युदयकी प्राप्ति होती है। समाज या समष्टि ही अभ्युदयका क्षेत्र है, और व्यक्ति या व्यष्टि ही निःश्रेयसकी पात्र होती है। समाजका अभ्युदय हुए

बिना व्यक्तिका अभ्युदय हो ही नहीं सकता, यह बात शास्त्र तथा अनुभव सिद्ध ही है।

इस प्रकार व्यष्टि समष्टिका मेल मिलाकर अभ्युदय निःश्रेयस् इनकी परस्परानुकूलता उपनिषदोंमें प्रतिपादित ब्रह्म विद्याने उत्कृष्ट रीतिसे बैठाई है, व इसी कारण वैदिक तत्वज्ञान और वैदिक धर्म एक दूसरेसे सुसंगत तथा एक दूसरेके पोषक और पूरक हैं। इस ब्रह्मविद्यामें मूल विवर्त आभास-मय न होनेसे उसकी व्यावहारिक सत्यता सिद्ध होती है। तथा इसी कारण विधि निषेध, नीति अनीति, पाप पुण्य इत्यादि शास्त्रीय नियमोंका ग्राह्याग्राह्यत्वका विचार करना ठीक ही रहता है। इसी प्रकार जगत् और तदंतर्गत व्यवहार, इनका परमार्थकी दृष्टिसे विचार करना, या उपयोग करना आवश्यक होनेसे यह प्रकृतिवादकी ब्रह्मविद्या मानवी बुद्धिकी कर्तव्यनिष्ठा जागृत करती है। मानव बुद्धिका वैयक्तिक और सामाजिक सद्गुणोंका कर्तव्य निष्ठाकी मर्यादामें पूर्ण विकास होकर उन सबका निःश्रेयस् प्राप्तिमें पर्यवसान होता है।

इस प्रकार अभ्युदय निःश्रेयस् कारक ऐसा मानव जीवनका सन्मार्ग पूर्ण बुद्धिग्राह्य, तथा उत्साहजनक होते हुए व्यक्ति और समाजको मोक्षदायक तथा अत्यंत कल्याणकारक होता है। इसी वैदिक ब्रह्मज्ञानकी सहायतासे प्राचीन ऋषियोंने वैदिक संस्कृतिका उत्कर्ष परमावधिको पहुंचाया था, यह बात वेद, उपनिषद्, महाभारत, रामायण इत्यादि ऋषिप्रणीत ग्रन्थोंसे स्पष्ट प्रतीत होती है। इस ब्रह्म प्रकृतिवादकी ब्रह्मविद्याके आधारसे ही सर्व-भूत हितके तत्वपर वर्ण व्यवस्था, और व्यक्तिके पूर्ण विकासके तत्वपर आश्रम व्यवस्था वैदिक ऋषियोंने संस्थापित की है। एक प्रकारसे समाज (राष्ट्र) धर्म श्रेष्ठ होते हुए वही आश्रम धर्मका नियामक है। वर्णाश्रम व्यवस्थाका यही स्वरूप वैदिक ऋषियोंने निश्चित किया हुआ था, यह स्पष्ट है।

अबतक इस लेखमें जो भिन्न भिन्न वादोंके विषयमें विवरण किया गया है, उसका उद्देश्य यह नहीं है, कि मायावादका आमूलाग्र खंडन किया

जाय। यह खंडन मंडनात्मक विषय बडे बडे शास्त्रीपंडितोंका है, जो साधक बाधक विचारोंसे इस प्रश्नकी चर्चा पूर्ण रूपसे कर सकते हैं। प्रस्तुत लेखमालामें स्थान स्थानपर मायावाद और तदंगभूत विचार धाराओंके विरुद्ध प्रतिपादन होनेके कारण यह नितांत आवश्यक ही था, कि हम उसके सामान्य स्वरूपको पाठकोंके सामने रखते। साथ ही जिस तत्वज्ञानकी प्रणालीपर हम अपने विचारोंको प्रस्तुत कर रहे हैं, उस तत्वज्ञानकी रूप रेखा भी तुलनात्मक दृष्टिसे पाठकोंके सामने रखना भी आवश्यक था, इसी कारण मायावादके साथ ब्रह्मप्रकृतिवादके स्वरूपका भी विश्लेषण किया गया है। इन दोनों विचार धाराओंका अद्वैत ब्रह्म प्राप्ति यह एक ध्येय है, जिसे निःश्रेयस् कहते हैं।

मायावादने जगतसे पूर्ण असहकार कर निःश्रेयस् संपादन करनेको कहा है, और केवल इतना ही नहीं अपितु यह भी स्पष्ट कहा है, कि मायावादके सिद्धान्तानुसार इस प्रकारके असहकार किये बिना निःश्रेयस् प्राप्ति संभव नहीं है। इसके विपरीत ब्रह्म प्रकृतिवादने यह स्पष्ट रूपमें बता दिया है, कि जगत्का योग्य उपयोग किये बिना निःश्रेयस् संपादन नहीं हो सकता है। मोक्ष प्राप्तिके हेतु ज्ञानकी आवश्यकता दोनों मतोंको मान्य है। परंतु ज्ञान प्राप्तिका उच्चतम साधन जो पिंड ब्रह्मांड उसीको मायावादने त्याज्य ठहराया है। ब्रह्म प्रकृतिवादने पिंड ब्रह्मांडके ज्ञानको अपरा विद्या कहकर उसे पूर्ण रूपेण ग्राह्य एवं आवश्यक माना है। मायावादी विचारसरणीके अनुसार केवल निःश्रेयस प्राप्ति होती है, तो ब्रह्मप्रकृतिवादकी ब्रह्म विद्यासे अभ्युदय सहित निःश्रेयसकी प्राप्ति होती है।

इन दोनों विचार धाराओंके तुलनात्मक अध्ययनसे यह स्पष्ट होता है, कि इन दोनोंमें केवल एक ही बातमें मुख्य मतभेद है; परंतु जैसे एक ही उद्गम स्थानसे निकली हुई दो नदियोंके प्रवाह भिन्न भिन्न मार्गोंसे बहते जाते हैं, इसी प्रकार एक ही ब्रह्म वस्तुसे निकली हुई इन दोनों विचार धाराओंके प्रवाह सर्वथा विरुद्ध दिशाओंमें कैसे बहते चले गए हैं; उपर्युक्त

विवेचनमें इसका स्पष्टीकरण किया जा चुका है। इन दो विचार धाराओंके अतिरिक्त इस लेखमें सांख्योंके परिणामवादका भी दिग्दर्शन किया गया है, व उनके मतानुसार सृष्टि रचना आरंभसे अंततक सर्वतोपरि परिणामसे ही होती है। वैदिक ब्रह्म प्रकृतिवादके अनुसार जगदुत्पत्तिकी पहली सीढी परिणाम नहीं है। निर्गुण निराकार ब्रह्मसे जो सगुण ब्रह्म उत्पन्न हुआ है, वह परिणामसे नहीं, किन्तु ब्रह्म शक्तिके विशेष स्फुरणसे ही सगुण ब्रह्म बना है, और इसीको विवर्त कहते हैं। इस पहली क्रियाको छोडकर बादमें ब्रह्मप्रकृतिवादमें सांख्योंके परिणामकी कल्पना मान्य है। इसी कारण उप-युक्त विवरणमें सांख्योंके परिणामवादके सामान्य स्वरूपका भी दिग्दर्शन किया गया है।

अन्तमें हम यहां पुनः बता देना उचित समझते हैं कि, इस लेखमालामें जो भी विचार प्रगट किये गए हैं, वे सब केवल दशोपनिषदोंके स्वतंत्रबुद्धिसे किये गए अध्ययनपर ही आधारित हैं। वास्तवमें देखा जाय, तो हमारे उपनिषद् हिंदू संस्कृतिकी अमूल्य, और अन्यत्र किसी भी धर्म या भाषामें अप्राप्य ऐसी अतुलनीय आध्यात्मिक संपत्ति है। आज हम इससे पराङ्मुख हैं और इसी कारण, परमुखापेक्षी, दीन, और नाना संकटोंसे ग्रस्त हैं। स्वतंत्र भारतके विद्याव्यासंगी, अभ्यासशील सुशिक्षित वर्गमें उपनिषदोंके मूल वाङ्मय (टीकाग्रन्थों द्वारा या भाष्यों द्वारा नहीं)का पूर्वग्रह छोडकर स्वतंत्र बुद्धिसे परिशीलन करनेकी प्रवृत्ति उत्पन्न हो। व्यक्ति, समाज तथा राष्ट्रने अपनी इस अमूल्य निधिको सम्हाला, और समझा तो हमारे आजके सारे दुःख और संकट दूर होंगे, ऐसी सदिच्छासे प्रेरित होकर ही इस लेख-मालाका लेखन कार्य प्रारम्भ किया गया है।

भौतिकशास्त्र केवल भ्रमोत्पादक रहनेके कारण परमार्थ दृष्टिसे वे सब त्याज्य ही हैं, यह धारणा मायावादी संप्रदायके कारण हमारे यहां रूढसी हो गई है। इस भ्रमात्मक धारणाकी परंपरा आज दो हजार वर्षोंसे बराबर चली आ रही है, इस कारण हमारा, हमारे समाजका, राष्ट्रका तथा अप-

रोक्षतः मानव समाजकी कितनी हानि हुई है इसका अनुमान लगाना कठिन है। यदि स्वतंत्र भारतके सुशिक्षित वर्गमें वैदिक वाङ्मयका स्वतंत्र बुद्धिसे अध्ययन करनेकी परंपराका निर्माण हुआ, तो स्वाभाविक रूपसे आधुनिक विज्ञान शास्त्रोंका वैदिक विज्ञान या अपरा विद्यासे तुलनात्मक परिशीलन किया जा सकेगा और तभी यह स्पष्ट होगा, कि प्राचीन और अर्वाचीन विज्ञान शास्त्रोंमें तनिक भी मतभेद नहीं है, और यदि है तो वह इतना कम है, कि उत्तरोत्तर अभ्याससे वह सहजमें मिट सकता है। आधुनिक शास्त्रों द्वारा किये हुए संशोधनोंकी सहायतासे हमें हमारे प्राचीन वैदिक शास्त्रोंमें ग्रथित प्रमेयोंके समझनेमें पर्याप्त सहायता मिलेगी, व हमारे प्राचीन शास्त्रोंके परिशीलनसे आधुनिक शास्त्रज्ञोंको नए आविष्कार करनेकी दिशाओंपर भी प्रकाश पडेगा।

साधारणतः संक्षेपमें देखा जाय, तो प्रकृतिवाद, मायावाद और परिणामवाद, ये ब्रह्म तत्त्वका विचार करनेकी हमारे यहां तीन प्रणालियां हैं। श्री बादरायणाचार्यने ब्रह्म सूत्रोंमें ब्रह्म प्रकृतिवादका युक्तियुक्त प्रतिपादन किया है, श्रीमद्शंकराचार्यने मायावादको अंशतः अंगीकार किया है, परन्तु शांकर संप्रदायके बहुतसे ग्रन्थकारोंने मायावादको पूर्ण रूपसे स्वीकार किया है। सांख्योंने प्रकृति व पुरुष इन दो भिन्न और स्वतंत्र तत्त्वोंकी कल्पना कर परिणामवाद स्वीकार किया है। अग्निसे जिस प्रकार चिनगारियां निकलती हैं, उसी प्रकार ब्रह्मतत्त्वसे प्राणादि सृष्टिका निर्माण होता है, यह ब्रह्म प्रकृतिवादका मत है। रज्जू सर्प जैसा परब्रह्मपर प्राणादि सृष्टिका आभास है, ऐसा मायावादका मत है, तथा दूधका जिस प्रकार दही बनता है उसी प्रकार जो ब्रह्मसे भिन्न है, ऐसी जड प्रकृतिसे सृष्टि उत्पन्न होती है, यह परिणामवादकी मूल कल्पना है।

दशोपनिषदोंमें ईशोपनिषद् बहुत ही छोटा है, उसमें केवल १८ ही मंत्र हैं, परन्तु शब्द प्रामाण्यकी दृष्टिसे वह बहुत ही महत्वका है। सर्व प्रमाणोंसे श्रुति प्रमाण अत्यंत श्रेष्ठ है। श्रुतिमें मंत्र और ब्राह्मण ऐसे दो भाग हैं। ब्राह्मण भागसे मंत्रभागको ही अधिक महत्त्व दिया गया है। इस

कारण ब्राह्मण भागके वचन मंत्रभागके वचनोंसे सुसंगत होना ही चाहिये। दशोपनिषदोंमेंसे अन्य सारे उपनिषद् ऋषियोंने ब्राह्मण भागमें समाविष्ट किये हैं। केवल ईशोपनिषद् ही मंत्रभागमें समाविष्ट है। इन बातोंकी इस स्थानपर इसलिये पुनरावृत्ति आवश्यक हुई है, कि ईशोपनिषद् मायावादी संन्यास मार्गियोंपर एक महान् संकट है, इसका मंत्रभागमें समावेश होनेसे अन्य उपनिषदोंके प्रमाणोंका बल इसपर नहीं चल सकता है, और मायावादी संन्यास मार्गको इससे यत्किंचित् भी पुष्टि नहीं मिलती है।

यहांपर इस बातको स्पष्ट करनेकी आवश्यकता प्रतीत होती है, कि ' संन्यास मार्ग ' के विषयमें हम जो कहते आये हैं, उसका अर्थ ' आश्रम संन्यास ' नहीं है। संन्यास शब्दसे बहुतसे लोगोंके सामने चतुर्थाश्रम आता है, परन्तु चतुर्थाश्रममें व्रताचरण, तपश्चर्या, तीर्थयात्रा, ज्ञानार्जन, ज्ञान संशोधन और ज्ञान प्रसार आदि बातें करनी पडती हैं, और इस कारण चतुर्थाश्रमको एक प्रकारके कर्मयोगमें ही समावेश करना योग्य है। इसी प्रकार तृतीय आश्रमका लक्षण महाभारतकारने " स्ववीर्य जीवी वृजिनान्निवृत्ति " दिया है अर्थात् वानप्रस्थ आश्रममें मनुष्यको अपनी उपजीविका स्वतःके उद्योगसे ही चलानी पडती है, इस कारण इस आश्रममें भी सर्व कर्म संन्यास, असंभव ही है।

इन बातोंसे यह स्पष्ट है, कि ' संन्यास मार्ग ' का अर्थ, आश्रम संन्यास नहीं है। परन्तु जिस संप्रदायमें, सब प्रकारके बौद्धिक कर्मोंका ज्ञानसे अन्धकार और प्रकाश जैसा आत्यंतिक विरोध होते हुए ज्ञान प्राप्ति, ज्ञान परिपाक, और ज्ञानोत्तरकाल इनमें कहीं भी ज्ञानका कर्मसे सहकार्य होना ही संभव नहीं है, ऐसा माना जाता है, वह संन्यास मार्ग है। इस प्रकारके संन्यास मार्गको मंत्रभागमें कहीं भी पुष्टि नहीं मिलती है। ब्राह्मण भागमें समाविष्ट उपनिषदोंमें मुख्यतः संन्यास मार्गका ही प्रतिपादन किया गया है, ऐसी कल्पना बहुत लोग करते होंगे परन्तु यह कल्पना भी कैसी सर्वथा निराधार है, यह बात ईशावास्य जैसे उपनिषद्के स्वतंत्र परिशीलनसे स्पष्ट हो सकती है। ' संन्यास मार्ग ' इस शब्दके स्पष्टीकरणके साथ साथ ' मायावाद ' शब्दका स्पष्टीकरण करना भी अत्यन्त आवश्यक है।

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् ।
तस्यावयवभूतेषु व्याप्तं सर्वमिदम् जगत् ॥

यह श्रुति वाक्य प्रसिद्ध है। इसमें श्रुतिने ही मायाका स्पष्ट उल्लेख किया होनेसे श्रुतिको मायावाद मान्य या अभिप्रेत है, ऐसी शंका आना संभव है। इस शंकाका उत्तर इस प्रकार है कि, प्रस्तुत वचनमें मायाका जो स्वरूप वर्णन किया है, उस प्रकारका मायावाद श्रुतिको संमत नहीं है, ऐसा कोई भी नहीं कह सकता। रज्जु सर्प जैसा केवल आभास ही मायाका स्वरूप है, इस प्रकारका मायावाद उपनिषदोंको मान्य नहीं है, ऐसा ही इस वचनका तात्पर्य है। माया अर्थात् सृष्टिका मूल कारण, जो ब्रह्मका अंश या सृष्टिकी मूल प्रकृति या अचिन्त्य ब्रह्म शक्ति, इस अर्थसे माया शब्दको उपयोग करनेमें कोई आपत्ति नहीं है, और इसी अर्थका मायावाद सर्व संन्यास मार्गियोंको अभिप्रेत हो, तो उनके मतसे किसीको विरोध नहीं होता; परन्तु वस्तुस्थिति सर्वथा भिन्न है। मायावादी संन्यास मार्गको कर्मका सम्पूर्णतः त्याग ही आवश्यक होनेसे इस भ्रम रूप मायावादके बिना उसे अन्य मार्ग ही नहीं है।

जगत् और तदंतर्गत व्यवहार ये दोनों आभास हैं, और व्यवहारको सत्यत्व कुछ भी नहीं है। जगत् एक बडा स्वप्न है, और मनुष्यका जीवन इस बडे स्वप्नके भीतरका छोटासा स्वप्न है; इसी कारण इसमेंके सारे व्यवहार नितांत झूठे होनेसे मनुष्यको अपना मन इन झूठे व्यवहारोंमेंसे निकाले बिना उसे आध्यात्म ज्ञान नहीं होता, ऐसा मायावादी सिद्धांतका निश्चय है। सुवर्ण और उसके अलंकार जैसा परब्रह्म और सृष्टि, इनमें कार्यकारण भाव है, रज्जु सर्प जैसा आभास या सर्वस्वी झूठा नहीं, नैमित्तिक या सापेक्ष है, ऐसा यदि संन्यासमार्गी मानें, तो वे सम्पूर्ण कर्मोंका त्याग न कर सकेंगे, परन्तु स्वरूपतः सर्व कर्म संन्यासका तो सर्वतोपरि समर्थन करना आवश्यक है, ऐसी मायावादी संन्यास मार्गियोंकी निश्चित धारणा है। व्यावहारिक तथा पारमार्थिक कर्मोंसे मायावादी संन्यास मार्गियोंकी इस प्रकारकी

शत्रुता क्यों है, इसका उत्तर देना कठिन है। सांप्रदायिक आग्रहके कारण यह कल्पना अवश्य संभव है।

यदि मूल वैदिक वाङ्मयकी ओर देखें, तो दिखाई देता है कि मंत्रभाग हो या ब्राह्मण भाग उसमें सर्वत्र ब्रह्म तेजकी मुक्त कंठसे प्रशंसा की हुई प्रतीत होती है। सारी वैदिक प्रार्थनाओंमें ब्रह्मवर्चस्व (ब्रह्मतेजका वाचक शब्द) 'शब्द' का प्रयोग किया गया है। तैत्तिरीय उपनिषद्के भृगुवल्लीमें तो ब्रह्मवर्चस्व, ब्रह्मविद्याका फल है ऐसा स्पष्ट कहा गया है। वेदोंके मंत्रभाग, जैसा ही, उपनिषद् भागमें भी ब्रह्मवर्चस्व अत्यंत स्पृहणीय है, ऐसे वर्णन हैं; परंतु इस प्रकारके ब्रह्मवर्चस्वका मायावादी संन्यास मार्गको एक प्रकारका भय ही लगता है, ऐसा कहनेमें कोई आपत्ति नहीं है। जिस ब्रह्मविद्याकी सहायतासे उपनिषद् कर्ता ऋषियोंने राष्ट्रको उन्नतिके शिखरपर पहुंचाया था, वही ब्रह्मविद्या राष्ट्रमें रहते हुए राष्ट्रके उत्कर्षापकर्षसे उसका कोई संबंध नहीं है, ऐसा मानना तर्कसंगत न होगा। वैदिक ऋषियोंने राष्ट्रोन्नति (अभ्युदय) और मोक्ष (निश्रेयस्) के लिये ही ब्रह्मविद्या शास्त्रकी रचना की और उसकी सफलताका निदर्शन संसारको करवा दिया।

इतनी सब बातें होते हुए यह कल्पना कि, ब्रह्मविद्याका व्यवहारिक बातोंसे संबंध नहीं है, नितांत तर्कशून्य है। यदि यह प्रश्न हो कि, वेदांत हिंदू समाजकी अवनति क्यों नहीं रोक सका, तो इसका सरल उत्तर यह है, कि ऋषिप्रणीत ब्रह्मविद्या जैसी व्यक्तिको मोक्षदायक होते हुए राष्ट्रको अभ्युदयकारक थी, वैसी वह उत्तरकालमें व्यक्तिको मोक्षदायक हुई हो तो भी वह राष्ट्रको अभ्युदयकारक नहीं हुई। इससे यह स्पष्ट है, कि उसके बादकी रचनामें तथा अंगोपांगमें कहीं परिवर्तन हुआ होगा, इसी कारण समाजको अभ्युदयकारक ब्रह्मतेज उससे न मिलने पाया। यह अपूर्णता कौनसी थी, यह मुंडक, प्रश्न, केन, कठ और विशेषकर ईशोपनिषद्के स्वतंत्र तथा आधुनिक शास्त्रोंके तुलनात्मक अध्ययनसे स्पष्टतः समझमें आ सकती है। यही कारण है, कि इस लेखमालामें स्वतन्त्र भारतके विद्वानोंसे इस प्रश्नकी ओर ध्यान देनेके लिये आग्रहपूर्वक विनंती की जा रही है।



अध्याय ७ वाँ

वैदिक संस्कृतिके वाङ्मयका ऐतिहासिक सिंहावलोकन

इस लेखमालाके पिछले अध्यायमें वैदिक संस्कृतिमें प्रचलित तीन विचार धाराओंके विषयमें विश्लेषण किया गया है। इस स्थानपर यह उपयुक्त प्रतीत होता है, कि वैदिक वाङ्मयका, जिसपर कि हमारी संस्कृति आधारित है, ऐतिहासिक दृष्टिसे सिंहावलोकन किया जावे। इतिहासमें आजतक या सांप्रत कालमें जितनी भी परंपरा या संस्कृतियां हैं, या थीं, उन सबमें वैदिक संस्कृतिका प्रसार अत्यंत प्राचीन होनेसे वैदिक समाजको ही मानव जातिके इतिहासमें प्रथम माननेमें कोई आपत्ति नहीं है। हम पूर्वके एक लेखमें बता ही चुके हैं, कि वैदिक संस्कृतिके इतिहासको मुख्यतः चार कालखंडोंमें बांटा जा सकता है। प्रत्येक कालखंडका कितना समय है, इसका निर्णय करना इतिहासज्ञोंका विषय है और इस कारण हम उसमें हस्तक्षेप नहीं करना चाहते। सर्वप्रथम (या सबसे पुरातन) कालखंड वह है, जिसमें वैदिक मंत्रोंका संकलन होकर उनका संहितिकरण हुआ। इसको हम संहिता या मंत्रकाल कह सकते हैं।

इस कालखंडमें बहुत पूर्वसे ही एक अग्निकी उपासना प्रचलित थी, वेद भी एक ही था। अर्थात् उसके प्रचलित चार भाग नहीं किये गए थे। वैदिकधर्मी समाजमें चातुर्वर्ण्य व्यवस्था प्रस्थापित नहीं हुई थी। इस तरह वैदिक समाजके प्रचलित तत्वज्ञानको वैदिक ऋषियोंद्वारा सुसंगठित शास्त्रीय स्वरूप नहीं दिया गया था। बृहदारण्यक (१।४।११) तथा मुंडक (१।२।१) से स्पष्ट प्रतीत होता है, कि जो जो मनुष्य वैदिक धर्मका अनुयायी होते हुए वैदिक धर्मका आचरण करनेवाला होता था, उसे ब्राह्मण कहते थे, या यों कहिये कि, वैदिकधर्मी समाजका ब्राह्मण यही नाम था। इस ब्राह्मण समाजको वैदिक ज्ञान पूर्णरूपसे उपलब्ध होनेसे सारी मानव जातिमें यही

*

समाज अग्रगण्य, तथा पूर्ण बलशाली था, ऐसा वैदिक वाङ्मयके सूक्ष्म निरीक्षणसे प्रतीत होता है। हमारे आजके आर्य वाङ्मयमें कृतयुग (सत्ययुग) की व्याख्या क्या है, यह तो हम निश्चित रूपसे नहीं कह सकते, परंतु इस लेखमालामें जो विचारधारा प्रस्तुत की जा रही है, उसके अनुसार इसी संहिता कालखंडको हम कृतयुग या सत्ययुग कह सकते हैं।

वेद, विश्व साहित्यमें प्राचीनतम हैं, उन्हींकी भाषासे समस्त विश्वकी भाषाएं निकली हैं, मनुष्य जातिके उत्क्रांति स्थानविषयक अनेक अन्वेषकोंने प्रायः हिंदुस्तानके उत्तरमें तिब्बेटके आसपास ही आदि मानवका स्थान माना है। ये बातें ऐसी हैं, जिन विषयोंपर शास्त्रीय दृष्टिसे प्रकाश डाला जा रहा है और आगे भी ये कार्य होते रहेंगे। भारतीय शास्त्रज्ञोंको भी इन प्रश्नोंकी ओर शैथिल्य न दिखा अपना बौद्धिकवर्चस्व पुनः प्रस्थापित करना चाहिये यहां इतना ही कहना पर्याप्त है। जहांतक यह प्रश्न है, कि " वेद " या " पूर्ण ज्ञान " क्या है, और वह हमें कैसे प्राप्त हुआ इन प्रश्नोंपर हमें उपनिषदोंमें पर्याप्त मात्रामें प्रमाण मिलते हैं।

मुंडकोपनिषद्के प्रारंभमें ही ब्रह्मविद्याको ही सर्व विद्याओंकी प्रतिष्ठा कहकर बादमें " यद्ब्रह्मविदो वदंति " कहकर, स्पष्ट किया है, कि परा और अपरा विद्याके योगसे ब्रह्मविद्या बनती है। बृहदारण्यक (१।४।९।१०) में प्रश्न किया है, कि ब्रह्मविद्यासे हम पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं, यदि विद्वान् ऐसा कहते हैं, तो ऐसा उसमें क्या है ? बादके मंत्रमें इस प्रश्नका उत्तर दिया है। तैत्तिरीय उपनिषद्के भृगुवल्लीमें ब्रह्मवर्चस्, ब्रह्मविद्याका फल है, ऐसा स्पष्ट बताया है। इससे यह स्पष्ट है, कि ' वेद ' ही पूर्ण ज्ञान हैं, क्योंकि इन्हींसे ब्रह्मविद्या प्राप्त होती है। अब यह पूर्ण ज्ञान कैसे प्राप्त होता है, इस विषयमें उपनिषदोंमें कथित सिद्धांत निश्चित रूपके होते हुए निःसंदिग्ध हैं।

भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः।
प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ॥

केनके इस श्लोक जैसा मुंडक, ईश, प्रश्न आदि उपनिषदोंमें स्पष्ट बताया है, कि बुद्धिके विकासका सर्वोत्कृष्ट साधन यही है कि जो जो पदार्थ दिखाई हैं, उसके निरीक्षण करते समय उसके स्थूल सूक्ष्म, तथा कारण, इन सब स्वरूपोंका वर्गीकरण करनेसे प्रत्येक पदार्थमें ब्रह्मतत्व कैसे व्याप्त है, उसका विवेक हो जाता है, और इस प्रकारकी विवेचक दृष्टि पिंड ब्रह्मांडात्मक सारी सृष्टिका निरीक्षण करते समय सर्वत्र काममें लानेसे व विवेकयुक्त रीतिके दृढाभ्याससे ही बुद्धिका पूर्ण विकास होता है। ऐसे शुद्ध बुद्धिवाले "धीरों" (धीर मनुष्यों) को अन्तमें अमृतत्वकी प्राप्ति होती है। मनुष्य स्वतः कुछ भी नहीं सीखता, उसे सिखलाया जाता है और सिखलानेवाला सिखलानेमें उन्हीं साधनोंका अवलंबन करनेको बताता है, जिन साधनोंसे वह स्वयं सीखा है।

हमारे प्राचीन औपनिषदिक ऋषियोंने बुद्धिके विकास, तथा अमृतत्वकी प्राप्तिके जो साधन ऊपर बताए हैं, वे उनके स्वतःके अनुभवसिद्ध तो हैं ही साथ ही स्थान स्थानपर प्राचीन मंत्रों, और प्राचीन ऋषियोंके कथनोंके उद्धरण अपने अनुभवोंकी पुष्टिके हेतु दिये हुए हैं, जिससे यह स्पष्ट है, कि केवल औपनिषदिक ऋषि ही नहीं, अपितु उनसे भी प्राचीन (अर्थात् मंत्र कालके) ऋषि भी पूर्णतः बुद्धिवादके ही पुरस्कर्ता थे। यही कारण है कि, इन साधनोंका ही उन्होंने औपनिषदिक वाङ्मयमें निश्चित रूपसे उपदेश दिया है। बुद्धिके पूर्ण विकाससे प्राप्त होनेवाली ब्रह्मविद्या, और उससे उत्पन्न होनेवाला ब्रह्मतेज, यह कोई जादू नहीं है, न जादूसे प्राप्त होनेवाली वस्तु है। ब्रह्मविद्या और उसका परिणाम ब्रह्मतेज प्रयत्न साध्य है और शास्त्रोय मार्गसे प्रयत्न करनेसे व्यक्ति, तथा समाजको प्राप्त होना संभव है।

हम देखते हैं कि, संसारके प्रायः सभी धर्मोंमें अपने मूल धर्म ग्रन्थके प्रति अपौरूषेयताकी धारणा है। धर्म प्रवर्तक मूल पुरुषको ईश्वरीय ज्ञानका साक्षात्कार हुआ है, ऐसा सभी धार्मिक संप्रदायोंका विश्वास है। यह धारणा एक सीमातक सत्य भी है, परंतु यह ध्यानमें रखनेकी आवश्यकता है, कि

कोई एक व्यक्ति कितना भी प्रयत्न करे, कितना भी शुद्ध चित्त हो उसकी व्यक्तिगत शक्तिकी एक सीमा है। अतएव मनुष्य कितना ही विशुद्ध हृदय हो, उसके हृदयके एकाग्रतामें उदित ज्ञान शुद्ध होनेपर भी पूर्ण ज्ञानका एकांश ही होगा। संसारके अधिकांश धर्मोंके धर्म प्रवर्तक मूल पुरुष एक एक ही हुए हैं। वैदिक धर्मके आधारस्तंभ 'वेद' उनके विषयमें यह धारणा है कि वेद, भगवानके निःश्वास हैं। वेदोंको वेद इसलिये कहा है कि, वेद शब्दका अर्थ-ज्ञान है। ज्ञान (अर्थात् वेद) का कोई निर्माण नहीं करता, वह स्वयं सिद्ध है अतः ईश्वरीय होता है। इसीका अर्थ कि, वह अपौरूषेय ही होता है, यद्यपि मनुष्य उस ज्ञानको हृदयकी एकाग्रतासे, तथा शुद्ध बुद्धिसे अनुभव कर, उसे प्राप्त कर सकता है।

हमारे यहांके इस अपौरूषेय ज्ञानका (अर्थात् वेदोंका) द्रष्टा ऋषि एक व्यक्ति नहीं था। भिन्न भिन्न ऋषि भिन्न भिन्न समय हृदयकी एकाग्रतासे मंत्रोंके द्रष्टा हुए हैं। अर्थात् उन्होंने मंत्रोंका साक्षात् किया है और जब सारे मंत्र संकलित कर उनका संहितीकरण हुआ, और उस ज्ञानकी पूर्णताका निश्चय द्रष्टा ऋषियोंको हुआ तभी अनुमानतः उसे वेद अर्थात् 'संपूर्ण ज्ञान' संज्ञा दी गई होगी। यह एक संशोधनात्मक विषय है, और इसका शास्त्रीय रीतिसे विचार किया जाना आवश्यक है। इस प्रकारकी विचारसारणी आधुनिक शास्त्रीय दृष्टिकोणसे भी असंगत नहीं सिद्ध होगी। आज शास्त्रज्ञोंकी यह निश्चित धारणा है, कि उत्क्रांति तत्वके अनुसार पृथ्वीपर एक ही स्थानपर मनुष्य वर्तमान रूपमें उत्क्रांत हुआ। जबतक अन्य प्रमाण नहीं मिलते, तबतक इसे माननेमें कोई आपत्ति नहीं है, कि वह स्थान हिमालयके आसपास तिब्बत प्रदेशमें हो।

इसी प्रकार भाषाका प्रश्न भी हल किया जा सकता है। संशोधकोंने अधिकांश अन्य भाषाओंका उद्गम वैदिक संस्कृतभाषासे सिद्ध करनेके प्रयत्न सफलतापूर्वक किये हैं। जबतक वैदिक संस्कृतका उद्गम अन्य किसी भाषामें दृष्टिगोचर नहीं होता, तबतक कमसेकम वैदिक भाषाको ही मान-

वकी ' आदि भाषा ' का स्थान प्रदान करनेमें कोई आपत्ति नहीं है। जब मनुष्य उत्क्रांतिके कारण विचार करने योग्य हुआ, और अपने विचारोंको प्रकट करनेके लिये उसके बौद्धिक प्रयत्नोंसे उसे स्वतंत्र भाषा उपलब्ध हुई तब उसने जीव सृष्टिमें अपना प्रभुत्व स्थापित किया। साधन (जीवन) सामग्रीकी समृद्धि तथा जीवनकलह तीव्र न होनेके कारण उसकी विकसित दृष्टि उपभोग्य वस्तुओंके अतिरिक्त सृष्टिमें और भी कुछ है या नहीं, ऐसे विचारोंकी ओर बढी हो, तो कोई आश्चर्य नहीं है। ऐसी अवस्थामें पिंड ब्रह्मांडात्मक सृष्टिका सूक्ष्म निरीक्षण, और चित्तकी एकाग्रतासे ऋषियोंकी शुद्ध बुद्धिमें वेद मंत्रोंका साक्षात् हुआ हो, तो उसमें आश्चर्य करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। इस विचारसारणीको बृहदारण्यक उपनिषद्के पहले अध्यायके चौथे ब्राह्मणके सूक्ष्म अध्ययनसे पुष्टि मिल सकती है।

हम ऊपर बता ही चुके हैं, कि वैदिक वाङ्मयके इतिहासके चार काल-खंड हैं। पहला संहिता या मंत्रकाल, जिसमें द्रष्टा ऋषियोंने मंत्रोंका साक्षात् किया, और सारे ऋषियोंके साक्षात् किये हुए मंत्रोंका संकलन करके उसे (संपूर्णको) वेद संज्ञा प्राप्त हुई। उपर्युक्त विवेचनमें इसी कालको हमने कृतयुग या सत्ययुग कहा है। इस कालमें वेद एक ही था, और जो जो मनुष्य इस वैदिक धर्मका अनुयाई होते हुए वेदको पूज्य भावसे मानकर इसमें पुरस्कृत धर्मका आचरण करता था, उसे ब्राह्मण कहते थे। इस धर्मके अनुयायी उस समयके मानव समाजमें अग्रसर होनेके कारण पूर्ण बलशाली व प्रभावशाली थे। इस कालखंडमें ऋषियोंने वैदिक तत्व-ज्ञानकी शास्त्रीय रचना नहीं की थी। आचरणकी दृष्टिसे ब्राह्मण समाजमें एक अग्निकी उपासना रूढ थी। मूल वेदको चार भागोंमें बांटा नहीं गया था, और समाजमें चातुर्वर्ण्य व्यवस्था भी अस्तित्वमें नहीं थी। केवल वैदिक मंत्रोंसे परमेश्वर, तथा उसकी विभूतियोंकी स्तुति करनेकी परंपरा प्रचलित थी। इस ऐतिहासिक अनुमानको मुंडक (१।२।१) से सबल तथा महत्वपूर्ण आधार मिलता है।

उपर्युक्त विवरणानुसार वैदिक धर्मके आचरणकर्ताको ब्राह्मण संज्ञा दी जाती थी, अर्थात् वैदिकधर्मी समाजका नाम, ब्राह्मण ही था। इस प्रकारकी एक सूत्रताके कारण उसमें श्रेष्ठ कनिष्ठत्वकी मर्यादा निश्चित होना असंभव था। इसी कारण, यह अव्यवस्थित ब्राह्मण समाज आगे चलकर धीरे धीरे दुर्बल सिद्ध होने लगा। यद्यपि सामूहिक दृष्टिसे वैदिक धर्मके अनुयायियोंमें दुर्बलता आ गई थी, तो भी इस समाजमें ऐसे विद्वान् भी थे जिनकी बुद्धिका विकास इस सीमातक बढा हुआ था, कि वे ब्रह्मतत्त्व तकका विचार कर सकते थे। साधारणतः नेता बननेका भार सहज ही ऐसे विद्वानोंपर आ पडता है। इस कालमें ऐसे नेताओंने समाजकी दुर्बलता देखकर उसे समर्थ तथा सुसंगठित बनानेके उद्देश्यसे उसको शास्त्रीय दृष्टिसे व्यवस्थित स्वरूप देनेका निश्चय किया।

इस समयतक वैदिक तत्त्वज्ञानकी शास्त्रीय रचना नहीं की गई थी, उसे पूर्णतः शास्त्रीय स्वरूप देनेका महान् कार्य इन नेताओंने हाथमें लिया। श्री रामचंद्रजीके कालमें, जब कि राजसंस्था सुस्थिर थी, विद्वान् ऋषियोंने वैदिक वाङ्मयकी शास्त्रीय रचना करनेका कार्य प्रारंभ किया। इसके पूर्व जैसे वेद एक ही था, परमेश्वर और उसकी विभूतियोंकी वैदिक मंत्रोंसे स्तुति करनेकी परंपरा अस्तित्वमें थी, उसी प्रकार यज्ञयागादि कर्मोंका संप्रदाय अस्तित्वमें नहीं था। परन्तु अब इस कालखंडमें ऋषियों, तथा नेताओंने पहले जो एक ही वेद था, उसके चार भाग किये, और उन्हें–ऋग्, यजु, साम और अथर्वण संज्ञाएं दीं, तथा इन वैदिक मंत्रोंको, तथा उनमें कथित कर्मोंको अग्निहोत्र संस्थाओंसे संलग्न करनेका कार्य किया। यही ब्राह्मण ग्रन्थोंके उत्पत्तिका कारण है। ब्राह्मण ग्रन्थोंमें (वेदके 'ब्राह्मण' भागमें) मंत्रोंका अर्थ निर्णय किया गया है, याज्ञिक अनुष्ठानोंके विस्तृत विवरण दिये गए हैं, और नाना उपाख्यान कहे गए हैं। तपोधन ब्राह्मणोंने ब्राह्मण भागका संस्मरण तथा संकलन किया और इसी कारण इस वैदिक भागका नाम 'ब्राह्मण' ग्रंथ हुआ।

ब्रह्मका एक अर्थ यज्ञ भी है, और यज्ञ प्रतिपादक होनेके कारण भी इनका नाम ब्राह्मण पडा। इस दूसरे कालखंडको ब्राह्मण काल कहा जा सकता है, और यही त्रेतायुगके नामसे भी प्रसिद्ध है। क्योंकि इस (त्रेता) युगमें मनुष्यका साधन तप न होकर यज्ञ हुआ, और इस यज्ञकी सुविधाके हेतु वेद, जो प्रथम एक था, उसके चार भाग किये और उन्हें अग्निहोत्र संस्थासे संलग्न कर दिया। चारों वेद यज्ञमें चतुर्धा उपयोगसे कहे गए हैं। यज्ञमें होता ऋग्वेदसे, अध्वर्यु यजुर्वेदसे, उद्गाता सामवेदसे, और ब्रह्मा अथर्ववेदसे अपने अंशका कर्म पूर्ण करता है। बहुधा लोगोंको शंका होती है, कि वेद तो चार हैं, परन्तु उन्हें त्रयी विद्या या वेद त्रयी क्यों कहते हैं? इन लोगोंको 'त्रयी' का अर्थ ठीक ज्ञात नहीं है और इसी कारणसे वे अथर्ववेदको बादका मानते हैं।

त्रयीं विद्यामवेक्षेत वेदे सूक्तमथांगतः।
ऋग्सामवर्णाक्षरतः यजुषोऽथर्वणस्तथा॥ (शांतिपर्व १३५)

यहां चारों वेदोंका नाम लेकर उनमें त्रयी विद्या है, ऐसा स्पष्ट कहा गया है।

इस कालखंडमें आंगिरस्, याज्ञवल्क्य, पिप्पलाद, अरुणि इत्यादि ऋषियोंने वेदांत विषयकी शास्त्रीय रचना करनेका कार्य प्रारंभ किया था। किसी भी तत्वज्ञानकी शास्त्रीय रचना करनेमें प्रथम तात्विक सिद्धांतोंका संशोधन, अन्य सिद्धांतोंसे उसकी तुलना, और अन्तमें अनुभव सिद्ध व्यवहारिक नियमोंसे सुसंबद्ध हो, ऐसी उसकी उपपत्ति आदि, सब बातें स्वभावतः करनी पडती हैं। वैदिक ऋषियोंने पिंडब्रह्मांडात्मक सृष्टिका सूक्ष्म निरीक्षण शतकानुशतक किया, और उनकी विचारसारणीको जब शास्त्रीय स्वरूप प्राप्त होने लगा, अर्थात् जब उसका निश्चित अनुक्रम और उपपत्ति समाजको समझमें आ जावे, व उसको हितकारक हो, ऐसी अवस्था प्राप्त होती है, तब उसको ग्रन्थोंका स्वरूप प्राप्त हो सकता है।

इसपरसे यह अनुमान करना अनुचित न होगा कि, उपनिषदों, अर्थात् ब्राह्मण ग्रन्थोंमें उद्धृत विचार, उन ग्रन्थोंके निर्माण कालसे कहीं पहले

प्रकट हुए होना चाहिये। भगवान दाशरथी रामचंद्र द्वारा लंकातक सारा दक्षिण प्रदेश पादाक्रांत करनेके बाद ही भरतखंडमें वैदिक धर्म सुप्रतिष्ठित हुआ और बादमें तत्वज्ञान, धर्मशास्त्र (नियम), व्यापार, राजकरण आदि तात्विक, तथा व्यावहारिक शास्त्रोंके संयोगसे वैदिक संस्कृतिका भाग्य रवि उत्कर्षके माध्यान्हको पहुंचा। यही ब्राह्मण ग्रन्थोंका निर्माण काल (त्रेता-युग) है। सर्व साधारणमें यही धारणा रूढ है, कि चारों वेदोंमें केवल परमार्थका ही प्रतिपादन किया हुआ है, और मीमांसकोंने तो चारों वेदोंमें यज्ञ क्रिया ही प्रस्थापित की है। मिमांसकोंके इस प्रयत्नसे भी वेद, अर्थात् पारलौकिक धर्मकी विद्या है, यह भी सर्व साधारण जनताकी धारणा हो गई है, किन्तु मीमांसकोंसे भी पहले निर्मित वैदिक वाङ्मयमें इस विचार सारणीकी पुष्टि नहीं होती।

उस कालमें (त्रेतायुग) ऋग्, यजु, साम और अथर्ववेदमें परमार्थ विद्याके समान ही व्यावहारिक विद्याका भी प्रतिपादन किया गया है और इन चारों वेदोंको व्यावहारिक विद्या ही समझनेका परिपाठ स्पष्ट दिखता है। तैत्तिरीय ब्राह्मणके २८ वें प्रपाठकके अन्तिम अनुवाकमें ऋग्, यजु और साम, ये अनुक्रमसे वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मण वर्णोंकी उत्पत्ति स्थान हैं. ऐसा बताया गया है; जिससे यह स्पष्ट है कि अर्थशास्त्र, युद्धशास्त्र व शिक्षणशास्त्र, इन विषयोंको उन उन वेदोंमें प्राधान्य दिया होगा। यही कारण है, कि आंगिरस् ऋषिने मुंडकोपनिषद्में चारों वेदों और छः हों वेदांगोंको स्पष्ट रूपसे अपरा विद्या कहा है।

वैदिक वाङ्मयके इतिहासमें शास्त्रीय दृष्टिसे यह त्रेतायुग या ब्राह्मण काल अत्यंत महत्वका है। मंत्रकालके द्रष्टा ऋषियोंने पिंड ब्रह्मांडात्मक संपूर्ण सृष्टिका सूक्ष्म ज्ञान संपादन कर तेजस्वी तथा योगयुक्त शुद्ध बुद्धिसे मंत्रोंका साक्षात् किया, और इस प्रकारके ज्ञानको संकलित कर उसे 'वेद' संज्ञा प्रदान की। इस तरह प्राप्त किये हुए ज्ञानको हम पूर्ण वैदिक तत्व-ज्ञान या आजकलकी परिभाषामें इन (Axiomatic truths) सत्य

प्रमेयोंको (Fundamental Sciences) मूल शास्त्र कह सकते हैं। इस काल खंडको या संहिता काल, या कृतयुग, या सत्ययुग भी कह सकते हैं। परंतु जबतक कि इन शास्त्रीय सिद्धांतोंके अनुसार मानव (मनुष्य ही समस्त जीवसृष्टिका उत्क्रांत स्वरूप है, यह बात ऐतरेय उपनिषद्के पहले अध्यायके द्वितीय खंडमें स्पष्टतः सिद्ध की हुई है) का जीवनक्रम, आचारकी दृष्टिसे न बैठाया जाय, तबतक केवल मूलगामी शास्त्रीय प्रमेयों या सिद्धांतोंके निश्चित कर देनेसे परमेश्वर द्वारा निर्मित सृष्टिका कार्य पूर्ण नहीं हो सकता है, यह बात ब्राह्मण कालके हमारे वैज्ञानिक ऋषियोंके ध्यानमें आई, और उन्होंने मूल शास्त्रीय सिद्धांतों या प्रमेयों (Fundmental Sciences) को व्यवहारोपयोगी शास्त्रोंमें (Applied Sciences) परिणत किया।

मूल मंत्रोंमें वर्णन किये हुए कर्म, और सारे मंत्रोंकी परंपरा नष्ट न हो जाय, व वैदिक धर्मकी ज्योति अखंड जलती रहे इस उच्चतम दृष्टिसे वेदोंमें (मंत्रोंमें) उपदिष्ट सारे कर्म, उनके मंत्रोंसहित अग्निहोत्र, या यज्ञ-संस्थासे संलग्न कर उन्हें मानव जीवन क्रमसे इस प्रकार निगडित करनेका महान् शास्त्रीय कार्य इन शास्त्रीय संशोधकोंने किया जिससे मनुष्य अपने जीवनक्रमको यथायोग्य चला कर पूर्णतः ध्येय प्राप्ति कर सके। इस प्रकार यदि मंत्रकालके मंत्र द्रष्टा ऋषियोंको तत्ववेत्ता, तथा सिद्ध ऋषि कहें तो कोई अत्युक्ति न होगी। क्योंकि हमारे त्रेतायुगके उन महान् ऋषियोंने जो तत्ववेत्ता तो थे ही, पर वे संपूर्ण ब्रह्मविद्या संपन्न भी थे, और उन्होंने योगयुक्त बुद्धिसे प्राचीन मंत्रभागका सांगोपांग विचार कर, और पिंड ब्रह्मांडात्मक सृष्टिका सूक्ष्म तथा दीर्घकालतक निरीक्षण कर, व्यष्टि और समष्टिको लाभप्रद होकर परमेष्ठिसे उनका मेल मिल सके, इसी उद्देश्यसे यज्ञ संस्था प्रस्थापित की थी।

इस कार्यके करनेके लिये सर्वप्रथम एक वेदके चार भाग किये। चूंकि मूल वेद (एक) के ही सारे मंत्र इन चारों भागोंमें प्रस्तुत थे, इस कारण

इन चारों भागोंको वेद संज्ञा बनी रही, और बादमें वैदिक ज्ञानका स्वरूप यज्ञ ही माना जाने लगा। इस आचार धर्ममें बैठाए हुए यज्ञ संस्था द्वारा इन्होंने ब्रह्मविद्या शास्त्रकी रचना की, और मनुष्यका व्यष्टि धर्म और समाजके समष्टि धर्मकी प्रस्थापना कर इन्हींके शुद्ध आचरणसे परमेष्टिकी प्राप्तिका मार्ग स्पष्ट करके बताया। हमारे यहां की इस प्रकारसे प्रस्थापित यज्ञ संस्था, और तत्कालीन यज्ञ विद्वान् लोगोंके शास्त्रीय सम्मेलन ही थे, ऐसा ही कहना उचित होगा। इस प्रकार पारमार्थिक, धार्मिक, राजकीय, तथा आर्थिक आदि प्रश्नोंकी सांगोपांग चर्चा कर उसका निर्णय देनेवाला 'यज्ञ मंडप' एक मुख्य क्षेत्र ही बन गया था।

इन बातोंसे यह स्पष्ट है, कि त्रेतायुगमें वैदिक ऋषियोंने जो व्यक्ति धर्म या आश्रम धर्म (निःश्रेयस् प्राप्ति करानेवाला) और समाज धर्म (राष्ट्र धर्म) या वर्ण धर्म (अभ्युदय प्राप्ति करानेवाला) की स्थापना की; आश्रम धर्मके पालनसे व्यक्तिकी पात्रता बढती है, उस पात्रताका सार्व-जनिक हितार्थ (सर्व भूतहितार्थ) सर्वतोपरि विनियोग करनेसे समाजोन्नति (राष्ट्रोन्नति) या अभ्युदय, और आत्मोन्नति या निःश्रेयस्, इन दोनोंकी प्राप्ति होकर व्यक्ति, और राष्ट्र इन दोनोंका कल्याण हो सकता है, इस प्रकारसे इस शास्त्रीय रचनाका महत्व स्थापित किया था। या यों कहिये कि, वैदिक ऋषियोंने राष्ट्रोन्नति (अभ्युदय) व मोक्ष (निःश्रेयस्) के लिये ही ब्रह्मविद्या शास्त्रकी रचाना की, और इस शास्त्रीय रचनाकी सफ-लता "रामराज्य" के रूपमें, प्रत्यक्ष रूपमें सारे जगत्के सम्मुख प्रमाणित कर दी थी।

हमारे आजके नेताओंको आश्चर्य होता है, कि जहां जगत्की अन्य संस्कृ-तियां इसके बाद अस्तित्वमें आईं, और उनका आज नामोनिशान भी दिखाई नहीं देता वहां हमारी वैदिक संस्कृति सबसे पुरानी होते हुए भी आज उसी रूपमें अस्तित्वमें तो है ही, परंतु इससे भी महत्वकी बात जिसके विषयमें उन्होंने विचार भी नहीं किया होगा, वह यह है, कि जिस वाङ्मय

के आधारपर हमारी संस्कृतिका ५००० वर्षसे पहले निर्माण हुआ था, वही वैदिक वाङ्मय आज भी उसी रूपमें अस्तित्वमें है जिस स्वरूपमें उसकी प्रस्थापना हमारे ऋषियोंने उस समय की थी। इस शास्त्र नियोजित घटनामें आश्चर्य करने जैसी कोई बात नहीं है। दुनियाँमें कोई बात आप ही आप नहीं होती। प्रत्येक कार्यके पीछे उसका कारण होता है। वैदिक ब्राह्मणोंने श्रुतिको (संपूर्ण वैदिक वाङ्मय) मुखाग्र किया, और आज पिछले ५००० वर्षोंसे आजतक उसे श्रवण पठन परंपराके द्वारा संचालित रखा, तथा उसके स्वर, मात्रा, दीर्घ, प्लुत, इन सब बातोंमें यत्किंचित् भी अन्तर न होने दिया।

यह बात कैसे संभव हुई, इसकी ओर कभी किसीने ध्यान ही नहीं दिया है। यह वंश शास्त्र तथा संतति शास्त्रका विषय है, और आजकी भाषामें इन्हें (Genetics) और (Eugenics) कहते हैं। आधुनिक विद्वान् ऐसे विधानोंको कपोलकल्पित बातें कहेंगे, परंतु ऐसा समझना भूल होगी। इस लेखमालामें जो कुछ भी कहनेका साहस किया गया है, वह निराधार नहीं है। तैत्तिरीय उपनिषद्की शिक्षावल्लीमें जिन पांच मुख्य विद्याओंका विवेचन आया है, उन पांचों विद्याओंको वहां 'महा संहिता' के नामसे संबोधित किया गया है—

अथातः संहिताया उपनिषदं व्याख्यास्यामः पंचस्वधिकरणेषु।
अधिलोकमधिज्यौषमधिविद्यमधिप्रजमध्यात्मन्।
ता महासंहिता इत्याचक्षते॥

अर्थ— "अब संग्रह ग्रन्थोंके तत्वोंको पांच विभागोंमें स्पष्ट किया जाता है, अर्थात् उनकी व्याख्या की जाती है। (वे) अधिलोक (भौतिक) अधिज्योतिष (तेज विषयक), अधिविद्य (विद्या विषयक), अधिप्रज (संतति विषयक) और आध्यात्म (आत्म विषयक) इन (पांचों शास्त्रों) को वेदज्ञ महा संहिता कहते हैं।" इससे यह स्पष्ट है, कि इन पांच विषयों पर उस समय पांच शास्त्र ग्रन्थ होने चाहिये। परंतु इन विषयोंके प्राचीन

शास्त्र आज उपलब्ध नहीं हैं। ये सब बुद्धपूर्व कालमें नष्ट हो गए होंगे, क्योंकि बुद्ध काल तथा बुद्ध पूर्व कालमें इन विषयोंपर शास्त्रीय विचार किया हुआ नहीं दिखाई देता।

हम ऊपर बता ही आए हैं, कि त्रेतायुगमें प्रथम यज्ञयाग रूप श्रौत धर्मकी सहायतासे वैदिक संस्कृतिकी उन्नतिका कार्य प्रारंभ हुआ, और बादमें तत्वज्ञान, धर्मशास्त्र, राजकरण, व्यापार आदि तात्विक तथा व्यावहारिक शास्त्रोंके मेलसे वैदिक संस्कृतिका भाग्य उत्कर्षको पहुंचा। जिस समय ब्राह्मण ग्रन्थोंके निर्माण द्वारा वैदिक वाङ्मयकी शास्त्रीय रचना चल रही थी, उस समय उपनिषद् जिस भागमें सम्मिलित हैं ऐसा आरण्यकोंका भाग ब्राह्मण भागसे अलग किया हुआ नहीं था, कदाचित् इस भागको आरण्यक संज्ञा भी नहीं दी गई थी। पाणिनि (४।२।१२९) ऋषिने "आरण्यक" संज्ञा जंगली मनुष्योंकी संज्ञा ठहराई है, वह मंत्र और ब्राह्मण भागको दी हुई नहीं है। पाणिनि ऋषिके १०००-५०० वर्ष बाद वार्तिककार कात्यायन ऋषिके समय आरण्यक संज्ञा वेद भागके लिये रूढ हो गई थी, ऐसा ऐतिहासिक अनुमान करनेमें कोई आपत्ति नहीं है।

इस स्थानपर यह जानना अत्यंत महत्वपूर्ण विदित होता है, कि आरण्यक और तदंतर्गत उपनिषद् स्वतंत्र ग्रन्थ नहीं हैं। वे ब्राह्मण ग्रन्थोंके अंश हैं। हमारे यहांके बडे बडे आधुनिक नेता उपनिषद् ग्रन्थोंको बौद्धिक दृष्टिसे शिरसामान्य समझते हैं, परंतु यही भावना ब्राह्मण ग्रन्थ तथा मंत्र भागके प्रति नहीं है। इन विद्वान् नेताओंको हम यह बता देना आवश्यक समझते हैं, कि वे इस भ्रममें न रहें। आरण्यक तथा तदंतर्गत उपनिषद् स्वतंत्र ग्रन्थ नहीं हैं। वे भिन्न भिन्न ब्राह्मण ग्रन्थोंके अंश ही होनेसे प्रत्येक उपनिषद्को उसके ब्राह्मण ग्रन्थके साथ ही पढना चाहिये, और उसका तात्पर्य निकालते समय उसके ब्राह्मण ग्रन्थके संदर्भकी ओर ध्यान रखते हुए दोनोंके अर्थ सुसंगत हों इसकी ओर भी ध्यान रखना ही होगा।

ब्राह्मण ग्रन्थोंको निर्माण कर जब वैदिक ऋषियोंने वैदिक वाङ्मयकी शास्त्रीय रचना की, और समाजको सुसंगठित कर उसे परमोत्कर्षकी स्थितिमें

पहुंचा दिया उसके बहुत काल पश्चात् वैदिक संस्कृतिके बुद्धिप्रधान वर्गमें बौद्धिक शैथिल्य उत्पन्न होनेसे यज्ञयागादि श्रौत धर्मको कर्मठोंके अनुशासन बद्ध आचारका स्वरूप प्राप्त होने लगा, और कर्मोंकी व्यावहारिक उपयुक्तता नष्ट होनेके कारण सामाजिक संगठन ढीला होने लगा। इसी समय एक वर्गने प्रकृति पुरुषके तत्वपर संन्यास मार्गीय तत्वज्ञानकी रचना कर उसका प्रसार प्रारंभ किया। इन्हींको सांख्य कहते हैं। सांख्योंके इस उपद्व्यापसे तत्कालीन ऋषियोंने उपनिषद् भागको ब्राह्मण भागसे निकाल कर ज्ञानयुक्त कर्मकांडकी पुनः प्रस्थापना की, और यह स्पष्ट कर दिया, कि औपनिषदिक तत्वज्ञान अत्यंत प्राचीन मंत्रभागके तत्वज्ञानसे व उसी प्रकार ब्राह्मण ग्रन्थोंके तत्वज्ञानसे पूर्णतः सुसंगत हैं।

इन नेताओंने अत्यंत परिश्रमपूर्वक तत्वज्ञानका संशोधन कर ज्ञान और कर्मकी पूर्ण सहकारिता दिखलानेवाला आरण्यक और तदंतर्गत उपनिषद् वाङ्मयको अलग निकालकर तेजस्वी ब्रह्मविद्याको पुनरुज्जीवन दिया। उसीसे समाज सामर्थ्य संपन्न और कर्तव्य परायण बना। यह परिस्थिति तीसरे कालखंडतक स्थिर रही, क्योंकि द्वापरमें पुण्यश्लोक धर्म राजके राजसूय यज्ञके प्रसंगपर वर्णनके अनुसार केवल भरत खंडमें ही नहीं, अपितु सारे संसारमें वैदिक धर्मकी यशोदुंदुभी गूंजने लगी थी।

वैदिक वाङ्मयके ऐतिहासिक सिंहावलोकनके उपर्युक्त विवरणमें दो काल खंडों (मंत्र या संहिता काल, अर्थात् कृतयुग और ब्राह्मण काल, या त्रेतायुगके आरण्यक और उपनिषद् काल, दूसरे कालखंडके भाग हैं) का वर्णन आया है। तीसरा महत्वपूर्ण कालखंड सूत्रकाल, तथा स्मृति, या गीताकाल है। साधारणतः बादरायणाचार्यके ब्रह्मसूत्र, और श्रीभगवद्गीता ये दोनों ग्रन्थ श्रुतिकालका अन्त, तथा स्मृतिकालके प्रारंभके निदर्शक हैं। इस तीसरे कालखंडको सूत्रकाल, स्मृतिकाल या रूढ संज्ञा द्वापरयुग कह सकते हैं। वैदिक धर्म केवल तांत्रिक नहीं है। इस धर्मके गूढ तत्व क्या हैं, इसके विषयमें प्राचीनकालमें ही उपनिषदोंमें सूक्ष्म विचार किया गया

है । पर ये उपनिषद् भिन्न भिन्न ऋषियोंद्वारा भिन्न भिन्न समयोंमें उद्धृत किये होनेसे, तथा समाजमें शनैः शनैः कर्मठ प्रवृत्तिका प्रादुर्भाव होनेके कारण उपनिषदोंमें जो अनेक प्रकारके विचार प्रगट किये हुए हैं वे परस्पर विरुद्ध हैं, ऐसी लोगोंकी धारणा होने लगी ।

इस विरोधाभासको दूर कर श्री बादरायणाचार्यने अपने वेदांत सूत्रोंमें सारे उपनिषदोंमें एकवाक्यता सिद्ध की है । या यों कहा जा सकता है, कि पृथक् पृथक ऋषियों द्वारा पृथक् पृथक् उपनिषदोंमें व्यक्त किये हुए आध्यात्मिक सिद्धांतोंका सुसंगत विवेचन करनेके लिये बादरायणाचार्यके ब्रह्म सूत्रोंकी प्रवृत्ति रहनेके कारण, मूल उपनिषदोंके बराबर ही वेदांत सूत्रोंको वैदिक संस्कृतिके इतिहासमें स्थान है और यही कारण है, कि ब्रह्मसूत्रोंमें उपनिषदोंसे भिन्न, ऐसा कोई भी विचार आना संभव ही नहीं है । इन वेदांत सूत्रोंके ही ब्रह्मसूत्र या शरीर सूत्र दूसरे नाम भी हैं ।

इस समय उपलब्ध ७०० श्लोकी गीता महाभारतका ही एक भाग होते हुए दोनों ग्रन्थोंका रचयिता एक ही व्यक्ति है । महाभारतमें स्थान स्थानपर उपनिषदोंका सामान्य रूपसे उल्लेख किया गया है, इतना ही नहीं अपितु उपनिषदोंके बहुतसे वाक्य महाभारतमें स्थान स्थानपर पाए जाते है और ऐसा कहनेमें कोई आपत्ति नहीं है, कि महाभारतमें कथित आत्मज्ञान और अध्यात्मज्ञान लगभग सारा ही उपनिषदोंसे ही लिया हुआ है; परंतु संक्षेपमें यहां इतना ही बता देना उचित है, कि यद्यपि गीताका ब्रह्मज्ञान उपनिषदोंसे ही लिया गया है, तो भी गीतामें उपनिषदांतर्गत अध्यात्म ज्ञानका केवल अनुवाद नहीं किया गया, परंतु उसमें वासुदेव भक्तिकी, और सांख्यशास्त्रके सृष्ट्युत्पत्ति क्रमको, अर्थात् क्षराक्षर ज्ञानकी, जोड देकर सामान्य जनताको आचरण करनेको सुलभ और उभयत्र श्रेयस्कर हो ऐसे वैदिक कर्मयोगका ही मुख्यतः प्रतिपादन किया गया है ।

ऐतिहासिक दृष्टिसे उपनिषद् ग्रन्थोंके निर्माणके बादमें यह दूसरा काल है, जब कर्मवादी याज्ञिकोंने बुद्धिवादकी चिंता न कर वैदिक धर्मका बुद्धि

प्राधान्य नष्ट किया और इस प्रकार वैदिक धर्मको नियमबद्धताके ढांचेमें जकड़ दिया होगा। कर्मठोंकी ऐसी विचारधाराओंसे समाजपर एक प्रकारकी आपत्ति छा गई होगी। उपनिषद् कालमें जैसे एक वर्गमें प्रकृति पुरुषके तत्वपर संन्यासमार्गी सांख्य तत्वज्ञानको निर्धारित करके उसका प्रसार करनेका प्रयत्न किया था, ठीक उसी प्रकार इस समय भी इन्हीं संन्यास मार्गियोंका आक्रमण वैदिक धर्मपर हुआ होगा और इन सांख्योंके उप-द्रवसे, जैसे उपनिषद्कालीन ऋषियोंने अपने योगयुक्त बुद्धिसे प्राचीन मंत्र, श्लोक, श्रुति इन सबोंका सूक्ष्म रूपसे विचार करनेके साथ ही पिंड ब्रह्मांडका निरीक्षण कर बुद्धिप्रधान उपनिषदोंका वैदिक तत्वज्ञान प्रस्थापित किया, तथा उसके उपदेशसे समाजको उन्नतिका मार्ग दिखाया, ठीक उसी प्रकार इस समय भी ब्रह्मसूत्र और महाभारतांतर्गत गीताका निर्माण कर भगवान व्यासजीने मूल वैदिक तत्वज्ञान तथा वैदिक धर्मकी परम्परा नष्ट न होने दी। जिस प्रकार उपनिषद्कर्ता ऋषियोंने अपने औपनिषदिक तत्वज्ञानको 'धर्म्य' कहा, केवल इतना ही नहीं, अपितु जिसका प्रतिपादन उपनिषदोंमें किया है, वह ब्रह्मज्ञान भी धर्म ही है, ऐसा दावेके साथ कहा है (कठ. १।२।१३), उसी प्रकार भगवान श्रीकृष्णने भी अपनी गीताके उपदेशको धर्म्य, या धर्म ऐसे ही विशेषण दिये हैं।

औपनिषदिक ऋषियोंने वेदान्तशास्त्रका पुनरुज्जीवन करते समय, जैसे प्राचीन वैदिक धर्मकी परम्परा अविच्छिन्न रखनेका ध्यान रखा था, अर्थात् जिस प्रकार उन्होंने यह स्पष्ट किया था, कि जिस ब्रह्मवर्चस्वका प्राचीन मन्त्रभागमें इतनी नम्रतापूर्वक प्रतिपादन कर उपदेश किया गया है, वही ब्रह्मवर्चस्व उपनिषदोंमें प्रतिपादित ब्रह्मविद्यासे ही प्राप्त हो सकता है, इसी उद्देश्यसे इस कालखंडमें भी ब्रह्मसूत्रोंका निर्माण कर यह प्रस्थापित किया गया, कि यद्यपि भिन्न भिन्न ऋषियोंने भिन्न भिन्न कालमें औपनिषदिक वाङ्मयको प्रगट किया था, तथापि उनके प्रतिपादित तत्वज्ञानमें कहीं भी असंगति नहीं है; अर्थात् उन सबोंके तात्पर्यमें एकवाक्यता है। उन्हींके

उपदेशसे मनुष्य ब्रह्मवर्चस्वी हो सकता है। परन्तु इस कालखंडमें केवल इतना ही सिद्ध करनेसे पूर्ण या पर्याप्त कार्य न होगा, यह समझकर देश-काल परिस्थितिको योग्य तथा अनुकूल हो, ऐसा महाभारतांतर्गत-गीताका निर्माण कर उसमें औपनिषदिक तत्वज्ञानको ही नवीन रूप प्रदान किया गया।

इस कार्यके संपादनमें हमारे नेताओंने जो एक विशिष्ट बात की, वह अत्यन्त स्पृहणीय है। सांख्योंके उपद्व्यापके कारण जब औपनिषदिक ऋषियोंने अपना वाङ्मय उद्धृत किया, तब उन्होंने सांख्य तत्वज्ञानकी ओर अधिक ध्यान दिया नहीं दिखता है। क्योंकि उपनिषदोंमें सांख्योंके पारिभाषिक शब्दोंका नाम निशान भी नहीं दिखता है। परन्तु स्मृतिकालमें सांख्योंके तत्वज्ञानका प्रभाव पर्याप्तमात्रामें बढा हुआ होनेके कारण ब्रह्म-सूत्रों और विशेषतः गीता ग्रन्थमें सांख्योंके सृष्टि उत्पत्ति क्रम या क्षराक्षर ज्ञानको समाविष्ट कर उसके तत्वप्रणालीको आत्मसात् करनेका जो प्रयत्न किया गया है, वह स्पृहणीय है। यह कार्य करके वास्तवमें देखा जाय, तो स्पष्टतः वैदिक कर्मयोगका ही मुख्यतः प्रतिपादन किया गया है।

इस समयके हमारे वैदिक नेताओंके इस विशिष्ट बुद्धि कौशल्यके कारण ही हमारे राष्ट्रमें सांख्योंके नामका कोई विशिष्ट सम्प्रदाय अस्तित्वमें नहीं है, यही बात इन नेताओंके सांख्य तत्त्वज्ञानको आत्मसात् कर उसे वैदिक संस्कृतिकी परंपरामें सफलतापूर्वक विलीन करनेका प्रत्यक्ष प्रमाण है। उपर्युक्त विवरणसे यह स्पष्ट है, कि इस तीसरे स्मृति कालखंड या द्वापर युगमें भी वैदिक धर्म तथा वैदिक संस्कृतिकी अनादिकालसे चलती हुई ब्रह्मवर्चस्वी परंपराको जीवित रखनेका किस प्रकार सफलतापूर्वक प्रयत्न किया गया है।

केवल कर्तव्य करनेकी दृष्टिसे, और परमेश्वरार्पण बुद्धिसे सारे सांसारिक कर्म करते हुए तद्द्वारा परमेश्वरका यजन, अथवा उपासना आमरणान्त गतिमान रखनेका उपदेश रखनेवाला, यह गीताके ज्ञानयुक्त कर्मयोगको

ही भागवत् धर्मकी संज्ञा दी गई है। "स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः" (१८।४५) यही इस मार्गका रहस्य है। वास्तवमें, यह वही मार्ग है, जिसका वर्णन मंत्र तथा ब्राह्मण ग्रन्थोंमें पाया जाता है; और इससे यह स्पष्ट है, कि यह मार्ग हमारे यहां अनादिकालसे चलता आया है। वैदिक ऋषियोंने इसीको प्राप्त करा देनेवाली ब्रह्मविद्या शास्त्रकी रचना की थी, और उसकी सफलता सारे संसारके सामने ला दी थी। यही वैदिक परंपरा गीता ग्रन्थ निर्माण द्वारा स्थित रखी गई, नहीं तो उस काल खंडमें (द्वापरमें) भी राष्ट्र कभी वैभवशाली स्थितिको न पहुंचता। किसी भी देशमें कर्ता पुरुष, कर्म मार्गके ही पुरस्कर्ता होते हैं। हमारे यहां यह विशेष बात थी, कि इन कर्ता पुरुषों या नेताओंको उनके कर्तव्यकर्मको ब्रह्मज्ञानसे संलग्न रखना पडता था, और यही वैदिक कर्मयोगका मुख्य तत्त्व है; और इसी बीजभूत तत्त्वका व्यवस्थित विवेचन कर इसी मार्गका श्रीकृष्णने अधिक पुष्टिकरण कर प्रसार करनेसे इस प्राचीन मार्गको ही बादमें 'भागवत् धर्म' नाम प्राप्त होना योग्य ही था।

यहां एक अत्यंत महत्वपूर्ण प्रश्न उत्पन्न होता है, कि इस कृत और त्रेता-युगमें वैदिक कर्मयोगका भागवत् धर्मके नामसे द्वापरमें प्राबल्य होते हुए अन्तिम कालखंड–कलियुग या ऐतिहासिक कालमें, यद्यपि अब संन्यास धर्म निषिद्ध माननेकी स्थिति आगई थी जैसा कि हमारे धर्मशास्त्र स्पष्टतः कहते हैं, पहलेसे जोरोंसे प्रचलित इस वैदिक ज्ञानयुक्त कर्मयोग या भागवत् धर्मका धीरे धीरे ह्रास होकर इस ऐतिहासिक कालके भक्तिमार्गमें भी संन्यास पक्ष ही केवल श्रेष्ठ है, यह मतप्रणाली क्योंकर प्रस्थापित हुई; यह प्रश्न स्वाभाविक रूपसे सामने आता है। बहुतेरे लोगोंका मत है, कि श्रीमदाद्य शंकराचार्यजीने ही यह भेद रखा, परंतु ऐतिहासिक दृष्टिसे यह बात पूर्णतः सत्य नहीं कही जा सकती है। शांकर संप्रदायके तत्त्वज्ञानकी दृष्टिसे माया-वादात्मक अद्वैत सिद्धांत और आचरणकी दृष्टिसे कर्म संन्यास धर्म, ऐसे दो विभाग होते हैं।

*

पहले यह ध्यान रखना आवश्यक है, कि संन्यास धर्मको उत्तेजना दिये जानेके विषयमें शांकर संप्रदायपर जो आक्षेप हैं, वे उनके अद्वैत सिद्धांतको लागू नहीं होते, परंतु उसके संन्यास धर्मको ही केवल वह लागू हो सकते हैं। इस कालके पहले ही अन्य कुछ कारणोंसे संन्यास मार्गकी अभिरुचि समाजमें उत्पन्न नहीं हुई होती, तो आचार्यका संन्यासपर मत इतना प्रसृत हुआ होता या नहीं, यह नहीं कहा जा सकता है। एक गालमें कोई चांटा मारे तो दूसरा गाल सामने करो, यह क्राइस्टका उपदेश उस मतके अनुयायी यूरप तथा अन्य खंडोंके क्रिश्चियन राष्ट्रोंमें कितने पाए जा सकते हैं इसका विचार करनेपर यही निष्कर्ष निलकता है, कि किसी भी धर्मोपदेशकने कोई बात यदि अच्छी है, ऐसा कहने मात्रसे ही उस बातका प्रचार नहीं हो जाता, अपितु लोगोंके मत उस बातकी ओर आकर्षित होनेके लिये उसके पहले ही अन्य सब कारणोंका निर्माण होना चाहिये।

संन्यास मार्गका प्राबल्य होनेको केवल शांकर संप्रदाय ही कारण होता तो आधुनिक भागवत् सम्प्रदायके श्री रामानुजाचार्यको अपने गीता भाष्यमें शंकराचार्य जैसा ही कर्मयोगको गौणत्व देनेका कोई कारण नहीं था। परंतु एक बार प्रबल वेगसे प्रचालित कर्मयोग चूंकि भागवत् सम्प्रदायमें निवृत्तिपर भक्तिसे पीछे ढकेल दिया गया, तो यह मानना पडता है, कि इस कालके सारे सम्प्रदायोंको, या यों कहिये, कि सारे देशको, संन्यास मार्गकी ओर रूचि उत्पन्न होनेके दूसरे कोई तो कारण उत्पन्न हुये ही होने चाहिये। ऐतिहासिक दृष्टिसे देखा जाय, तो कह सकते हैं, कि जैन, और बुद्ध धर्मका उदय और प्रसार ही उनमें पहला और मुख्य कारण है। संन्यास मार्गका द्वार इन दोनों धर्मोंने सारे वर्णोंके लिए खोल देनेसे सारे देशमें संन्यास धर्मकी ओर विशेष अभिरूचि उत्पन्न हुई।

वास्तवमें देखा जाय, तो जैन तथा बौद्ध धर्म, ये दोनों वैदिक धर्मरूप अपने पितासे जितना चाहिये था, उतना वैदिक संपत्तिका भाग लेकर कुछ विवक्षित कारणोंसे विभक्त होनेवाले लडके हैं, अर्थात् वे हमारे लिए पराए

नहीं हैं, क्योंकि तत्पूर्वके ब्राह्मण (वैदिक) धर्मकी यहीं उत्पन्न होनेवाली एक शाखा है, यह बात अब निःसंशय सिद्ध हो चुकी है। इस विषयपर अधिक चर्चा करनेकी अपेक्षा यहां इतना ही बता देना उचित है, कि वैदिक धर्मके मंत्र ब्राह्मणादि वैदिक भागमें यद्यपि यज्ञयागादि कर्मोंपर विशेष बल दिया गया था, तो भी वैदिक ऋषियोंने बौद्धिक सद्‌गुणोंकी ओर दुर्लक्ष किया, ऐसा कहना उचित न होगा।

इससे यही निष्कर्ष निकलता है, कि वैदिक संस्कृतिके इतिहासमें जब जब यज्ञयागादि वैदिक कर्मोंको कर्मठ वृत्तिके कारण केवल नियमबद्धताका स्वरूप आने लगा, व कर्मवादी याज्ञिकोंने बुद्धिवादका परिहास उडाकर वैदिक धर्मका बुद्धिप्राधान्य नष्ट किया, तथा वैदिक धर्मको प्रदर्शनात्मक कर्मोंको चौखटमें जकड डाला, तब तब वैदिक समाजपर एक घोर आपत्ति आ पडी। भिन्न भिन्न कालमें भिन्न भिन्न रीतिसे ऐसे संकटोंसे वैदिक धर्मको बचाकर उसका पुनरुज्जीवन किया गया। त्रेतायुगमें औपनिषदिक ऋषियोंने उपनिषदोंको उद्‌धृत करके यह कार्य किया, द्वापरमें बादरायणाचार्यने ब्रह्मसूत्र और गीता ग्रन्थका निर्माण करके किया, और इस कालखंडमें श्रीमदाद्य शंकराचार्यने किया।

उपनिषदोंपर अत्यंत प्राचीन टीकाग्रन्थ ब्रह्मसूत्र है। ब्रह्मसूत्रोंके बाद प्रसिद्ध टीका शांकरभाष्य ही है। इन दोनोंके बीचके और टीकाग्रन्थ उपलब्ध होते तो वेदांत शास्त्रके इतिहासपर अधिक प्रकाश पड सकता था। शालिवाहन शकके छः सात सौ वर्ष पहले जैन और बौद्ध धर्मके प्रवर्तकोंका जन्म हुआ, और शालिवाहन शकके छः सातसौ वर्ष बाद श्रीमदाद्य शंकराचार्यका जन्म हुआ। इसके बीचके कालमें धर्मके लिये झगडनेवाले बौद्ध यतियोंके संघोंका कार्य जनताके सामने होनेसे यतिधर्मके विषयमें चाह तथा आदर बुद्धि शंकरके जन्मके पूर्वसे ही लोगोंमें उत्पन्न हो चुकी थी। जैन और बौद्ध धर्मोंका यद्यपि शंकराचार्यने खंडन किया, तो भी जनतामें यतिधर्मके लिये जो आदरबुद्धि उत्पन्न हो चुकी थी, उसीको वैदिक

स्वरूप देकर बौद्धधर्मके स्थानपर वैदिक धर्मके प्रस्थापनार्थ प्रयत्न करनेवाले उतने ही उद्योगी वैदिक संन्यासी उन्होंने तैयार किये।

इन संन्यासियोंने कर्मका त्याग तो नहीं किया, परन्तु अपने उद्योगसे या कर्मयोगसे वैदिक धर्मका पुनः उत्थान किया। या यों कहा जा सकता है, कि इस कालखंडमें मूल वैदिक धर्मकी परंपराको पुनरूज्जीवन देकर उसे जो अधिष्ठित रखनेका महान् कार्य श्रीमदाद्य शंकराचार्यने किया इस कार्यके करनेमें उन्होंने देशकाल, परिस्थिति देखकर संन्यासाश्रमकी प्रस्थापना की, और इस प्रकार इन धर्मोंको आत्मसात् कर एक प्रकारसे उन्हें अपनेमें पचा लिया। यही कारण है कि यद्यपि अन्य देशोंमें ये धर्म अब भी फले फूले दिखते हैं। परंतु भारतमें सम्भवतः उनका नाम शेष-सा ही है। इस प्रकार इस संक्षिप्त विवरणसे यह स्पष्ट होता है, कि संन्यास धर्मका उठाव इस कालखंडमें प्रथम बौद्धोंने ही किया।

श्री शंकराचार्यके बादमें ही इस देशपर मुस्लिम आक्रमणोंका आरम्भ हुआ; और पराक्रम द्वारा परचक्रसे रक्षण करनेवाले देशके क्षात्रिय राज्य-कर्ताओं तथा उनके साथ साथ राष्ट्रके कर्तव्यशक्तिका भी ह्रास होने लगा, तब संन्यास और कर्मयोग इन दो मार्गोंमेंसे पहला अर्थात् " राम राम " कहते बैठनेका मार्ग ही केवल श्रेष्ठ है, इस प्रकारका एकदेशीय मत तत्कालीन बाह्य परिस्थितिको विशेष सुविधाजनक रहनेसे सांसारिक लोगोंको अधिकाधिक ग्राह्य हुआ होगा, ऐसा दिखाई देता है। वास्तवमें ये लोग न संन्यासी थे, न कर्मयोगी; क्योंकि ये संन्यासियों जैसे तीव्र वैराग्यसे सारे सांसारिक कर्मोंको नहीं छोडते थे, या संसारमें रहते हुए कर्मयोगियों जैसे शास्त्रतः प्राप्त अपने कर्तव्य निष्काम बुद्धिसे नहीं करते थे। एक प्रकारसे इन वाचिक संन्यासियोंकी गणना तृतीय पंथी निष्ठामें ही करनी पडती है। किसी भी कारणसे क्यों न हो, भारतीय जनता इस प्रकार तृतीय पंथी बनी, और भागवत् धर्मका पुनरूज्जीवन मुस्लिम कालमें एकदेशीय और वह भी भक्तिपर बनकर वैदिक कर्मयोगका महत्व, जो बौद्धकालसे कम हुआ था, वह उसे पुनः प्राप्त न होने पाया।

उस कालके प्रचलित विचारसारणीमें श्री समर्थ रामदास स्वामीके ग्रन्थ ही केवल हमारी समझमें एक अपवाद हैं, और वैदिक कर्मयोगका उपनिषदांतर्गत महत्वपूर्ण व शुद्ध स्वरूप प्रासादिक मराठी भाषामें प्रस्तुत किया हुआ जिसे देखना हो उसको श्री रामदास स्वामीके दासबोधका, और उसमें भी विशेष कर उसके उत्तरार्धका पठन करना चाहिये। श्री समर्थका उपदेश श्री शिवाजी महाराजको प्राप्त हुआ था, और आगे चलकर मराठशाहीमें जब वैदिक कर्मयोगके वास्तविक तत्व समझनेकी जिज्ञासा दिखने लगी उस समय महाभारतके गद्यात्मक भाषांतर होकर बखरोंके रूपमें उनका अभ्यास आरंभ हुआ। सौभाग्यवश ये भाषांतर तंजावरके पुस्तकालयमें हैं, और उनपर प्रचुरमात्रामें कार्य हो सकता है। यह कार्य यदि और आगे बढे, तो गीताकी एकदेशीय टीका पिछड जाय, और महाभारतांतर्गत सारी नीतिका सार गीता धर्म प्रतिपादित कर्मयोगमें वर्णन किया हुआ है यह बात जनताके ध्यानमें आए बिना न रहे, परंतु कर्मयोगके ये पुनरूज्जीवनके प्रयत्न दुर्भाग्यवश उस समय अधिक टिकने न पाए।

अबतक वैदिक वाङ्मय और उनमें प्रसृत विचारधाराओंके विषयमें जो ऐतिहासिक सिंहावलोकनका कार्य इस भागमें आरंभ किया था, उसे समाप्त करनेके पहले वर्तमानकालकी परिस्थितिका अवलोकन करना भी आवश्यक ही प्रतीत होता है। हम ऊपर बता ही चुके हैं, कि शांकर संप्रदायने सातवीं सदीसे संन्यास धर्मको जो प्रोत्साहन दिया था, और मुस्लिम आक्रमणोंसे जिसको वृद्धिंगत होनेकी अनुकूल परिस्थिति प्राप्त हुई थी उसमें आंग्ल आक्रमणसे एक विलक्षण ही स्थिति प्राप्त हुई। मुस्लिम कालमें इनके राजकर्ता जो जो वैदिक संस्कृति विध्वंसक बातें जोर जबर्दस्तीसे करते थे, वही बातें अंग्रेजोंकी पिछले १००, १५० वर्षकी अवधिमें हम स्वयं ही बुद्धिपुरस्सर अपने आप ही करने लगे; और इतना ही नहीं, अपितु ऐसी बातें करनेमें अभिमान तथा गौरव मानने लगे।

इस प्रकार जो वैदिक संस्कृति विध्वंसक कार्य मुस्लिम राज्यकर्ताओंके बलसे १००० वर्षोंमें न हो सका, उससे कहीं अधिक कार्य आंग्लकालमें

उसके दशांश समयमें हमारे बुद्धिभेद किये जानेसे हुआ। ऐसी विलक्षण और भयप्रद परिस्थितिको रोक लगानेके, और वैदिक कर्मयोग शास्त्रके पुनरुत्थानके प्रयत्न इस बीसवीं सदीके प्रारंभमें लोकमान्यने अपने गीता रहस्यद्वारा किये, परंतु इस समय भी इस कर्मयोगी तेजस्वी विचारसारणीको महात्माजीके तितिक्षात्मक संन्यासी विचारसारणीने पीछे ढकेल दिया। इस विषयमें अधिक चर्चा न कर इस विषयको इतिहासके स्वाधीन करना ही उचित है।

तात्पर्य यह है, कि वैदिक तथा औपनिषदिक तेजस्वी ब्रह्मविद्या, जिन जिन कालखंडोंमें प्रकट हुई, उन उन कालखंडोंमें वैदिकधर्म और वैदिकसमाज तथा राष्ट्र उच्चतम कोटिकी उन्नतिको पहुंचा था, यह स्पष्टतः दिखाई देता है। इस तेजस्वी ज्ञानको भूलनेके कारण ही अपने समाज, और राष्ट्रका अधःपतन होकर हमारी संसारमें दीनहीन अवस्था हुई है। शुद्ध स्वातंत्र्य, तेजस्वी बुद्धि, आधिभौतिक और आध्यात्मिक विद्या, धार्मिक नीति, तथा शरीर सामर्थ्य इत्यादि राष्ट्रीय सद्गुण यही वैदिक कर्मयोगके मुख्य तत्त्व हैं। इस तेजस्वी कर्मयोगको प्रत्येक कालखंडमें संन्यासमार्गी आक्रमणोंका सामना करना पडा है। भाग्यवश हजार, बारासौ वर्ष बाद हमें स्वतंत्रता प्राप्त हुई है। इस स्वतंत्रताका उपयोग हम हमारी ज्ञानविज्ञानयुक्त प्राचीन ब्रह्मविद्याके पुनरुत्थानमें करें, तो यत्किंचित् भी शंका नहीं है कि भारत अपनेको तो उच्चतम राष्ट्र बना ही लेगा, एवं उसकी सहायतासे सारी मानवजातिके कल्याण करनेके कार्य अत्यंत सरल हो जावेंगे।

अध्याय ८ वां

औपनिषदिक बुद्धिवाद ' भार्गवी वा वारूणी विद्या '

ब्रह्मविद्याके उपसिद्धांतोंकी रचना-मुख्यतः तीन पद्धतियोंसे हुई है, ऐसा इस लेखमालाके पहले ही प्रकरणमें बताया गया है। ये तीनों पद्धतियाँ, यानी तैत्तिरीय उपनिषद्के अंतर्गत वर्णित भार्गवी वा वारूणी विद्या, प्रश्नोपनिषद्के अन्तर्गत प्राण विद्या और बृहदारण्यक तथा छांदोग्योपनिषद्के अन्तर्गत पंचाग्नि विद्या, तत्वतः एक ही हैं, और सर्वव्यापी ऐसे एक ही ब्रह्मतत्वके प्रतिपादन करनेवाली ये तीन शास्त्रीय रीतियां हैं। इनके रचना भेदके अनुसार इन्हें उपर्युक्त तीन नाम दिये गए हैं। इनमेंकी कोई भी रचना लें, तो दिखाई देगा, कि वह पिंडब्रह्मांडांतर्गत विज्ञानके योगसे ही निर्मित हुई है। विज्ञानशास्त्र, भौतिकशास्त्र केवल भ्रमोत्पादक होनेसे परमार्थ दृष्टिसे वे सर्वथैव त्याज्य हैं, ऐसा समझनेकी मायावादी सम्प्रदायमें रूढि पड गई है।

यह परंपरा आज दो हजार वर्षोंसे बराबर चालू है, परंतु पूर्वग्रह छोड दशोपनिषदोंके मूल वाङ्मयका स्वतंत्र बुद्धिसे ठीक ठीक अध्ययन किया गया, तो जिन आधिभौतिक शास्त्रोंको मिथ्या समझकर हमने छोड दिया है उन्हींकी सोपान परंपरा तैयार कर वैदिक ऋषियोंने ठेठ ब्रह्मज्ञानके प्रधान सिद्धांततक पहुंचानेवाला यह विज्ञानका जीना ही बना दिया है, ऐसा किसीको भी विश्वास हो सकता है। यहां यह स्पष्ट है कि भौतिक ज्ञानकी दशोपनिषदोंमें अनेक स्थानोंपर जो मुक्तकंठसे प्रशंसा की हुई है, वह हेयत्वके लिये, त्यागके लिये नहीं, अपितु ब्रह्मज्ञानका वह एक अद्वितीय साधन है, इस हेतुसे ही की हुई है।

उपनिषद् वाङ्मयका सूक्ष्म अध्ययन करनेवाले विद्यार्थियोंके सहज ही ध्यानमें आ सकेगा, कि उपनिषदोंमें बुद्धिवादको ही प्राधान्य दिया होनेसे

औपनिषदिक तत्त्वज्ञान बुद्धिप्रधान है भावना प्रधान नहीं है। बुद्धिवादका अर्थ तर्क नहीं है। बहुधा लोग अनुमान और तर्कका अर्थ एक ही है, ऐसा समझते हैं, परंतु वह शास्त्रीय दृष्टिसे अनुपयुक्त है। अनुमान एक बलवत्तर प्रमाण है, क्योंकि प्रत्यक्षके आधारपर ही उसको उठाया जाता है, और प्रमाणशास्त्रोंमें उसकी योग्यता बहुत बडी होती है। अधिकतर शास्त्रीय विचारसारणी सर्वस्वी अनुमानपर ही अवलंबित रहती है और आधिभौतिक शास्त्रोंमें अनुमानको प्रत्यक्ष प्रमाणकी जोड देनी पडती है। धर्म तथा वेदांत ये दोनों शास्त्र अनुमानपर ही अवलंबित रहते हैं।

इन दोनों शास्त्रोंके अनुमान आगम प्रमाणके आधारपर ही उभारे रहते हैं। शब्द प्रमाणको ही आगम प्रमाण कहते हैं। श्रुति स्वयं ही मुख्य प्रमाण होनेसे प्रत्यक्ष प्रमाणके समान ही शास्त्रकारोंने 'श्रुति प्रामाण्य' माना है। 'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्' इस प्रकार मनुःस्मृतिमें कहा गया है, और इस कारण इस शास्त्रके अनुमानोंका ग्रहण श्रुति प्रामाण्यपर ही करना पडता है। इस प्रकार श्रुति वचनोंको यद्यपि सर्वस्व प्रामाण्य सर्वसम्मत है, तो भी यहां बुद्धिवादका क्षेत्र खुला ही रहता है। श्रुतिके तात्पर्य निश्चित कर उनका वाक्यार्थ करनेके विषयमें सुसंस्कृत बुद्धिको पूर्ण स्वतंत्रता रहती है। इस कार्यमें अनुमान प्रमाणकी हर समय अत्यंत आवश्यकता होती है। व्याप्ति, हेतु, पक्ष, साध्य व दृष्टांत, इनकी निर्दोष रूपरेखा निश्चित किये बिना अनुमान प्रमाणपूर्ण नहीं होता है, परंतु इन विषयोंकी ठीक छानबीन कर लेनेके बाद इनपरसे सिद्ध होनेवाला अनुमान शास्त्रकी दृष्टिसे प्रमाण समझना मान्य करना ही पडता है।

इस प्रकारके अनुमानको तर्क समझना सर्वथा ही अनुचित होगा। चिकित्सक बुद्धि, चौकन्नापन, सद् असद् विवेक अर्थात् सच्ची और झूठी बातोंको ठीक ठीक परख करनेकी शक्ति, ये समस्त परीक्षण अनुमानके अनुषंगिक साधन हैं, और इन सबोंको मिलाकर ही उसे बुद्धिवाद कहते हैं। वास्तविकमें मर्यादाशील तर्क और बुद्धिवाद ये दोनों शास्त्रीय विचा-

के जीवन ही हैं। इस प्रकारके नियमबद्ध तर्कशास्त्रको ही, सर्व शास्त्रोंका शास्त्र ' कहा जाता है। किसी भी शास्त्रके जीवनसिद्धांत पूर्णतः मान्य कर न सिद्धांतके अंग, उनकी अन्य अनुषंगिक बातें, मुख्य तथा अवांतर थनके बिना सारे विषयोंमें फेरफार, या परिवर्तन करनेका, ऐसे शास्त्रशुद्ध ौर तर्कशुद्ध बुद्धिवादको पूर्ण अधिकार है।

ब्रह्मतत्त्वसे ही आकाशादि सृष्टि उत्पन्न हुई है। इस सृष्टिक्रममें मानव त्पन्न हुआ है। सर्व जगत्का मूल ब्रह्मतत्त्व ही होनेसे बुद्धिमान मनुष्य ारा किया हुआ पदार्थ संशोधन, ब्रह्मतत्त्वतक जा पहुंचना यह एक क्रम ाप्त ढंग ही था। सृष्टि-निरीक्षणपूर्वक ब्रह्मका विचार प्रारंभ होते ही ंशोधकोंका लक्ष्य इस मानव शरीरकी ओर प्रथम गया हो तो कोई ाश्चर्य नहीं है। सृष्टिक्रममें निर्मित प्राणीकोटिमें मनुष्यप्राणीका उद्भव ुआ, और इस मानवी पिंडमें भी आत्मा या क्षेत्रज्ञ, इस नातेसे, वही ब्रह्म त्व सूक्ष्म अंशसे प्रकट हुआ हो, तो भी ब्रह्मांडका विचार किये बिना पिंड (मनुष्य) का विचार करना संभव ही नहीं है, यह बात उपनिषदोंमें जगह जगह स्पष्ट रूपसे बताई गई है। पदार्थोंका संशोधन, उनके लक्षण, तथा उनके वर्गीकरण आदि शास्त्रीय सिद्धांतोंकी रचना अपनी योगयुक्त बुद्धिसे प्राचीन ऋषियोंने की है। इस प्रकारकी योगयुक्त बुद्धि किसे कहते हैं, उसे शुद्ध कैसे करते हैं, और उसे कैसे शुद्ध रख सकते हैं, यह मालूम करनेके लिये आत्मा या आत्मतत्त्वका भी विचार करना अवश्य हो जाता है। आत्माका यह विचार पिंड ब्रह्मांड इन दोनों प्रकारसे किया जा सकता है।

१ स्वतःके पिंडका अर्थात् क्षेत्रका, या शरीर व मनके व्यापारोंका परीक्षण कर, उसपरसे क्षेत्रज्ञरूपी आत्मा किस प्रकार निष्पन्न होता है, इसका विवेचन करना, यह एक प्रकार है; और इसे हमारे शास्त्रोंमें शारीरिक या ' क्षेत्र क्षेत्रज्ञ ' विचार कहा जाता है। इसी कारण वेदांत सूत्रोंको शारीरिक (शरीरका विचार करनेवाले) सूत्र कहते हैं। पिंड या शरीर और मनका,

इस प्रकारके विचारके बाद, इससे जो तात्पर्य निष्पन्न होता है, वह और २. अपने चारों ओर जो दृश्य सृष्टि या ब्रह्मांड है, उसके निरीक्षणसे जो तत्व निष्पन्न होता है वह, ये दोनों एक ही हैं, या भिन्न हैं, यह देखना पडता है। और इस प्रकारसे किये हुए सृष्टिके परीक्षणको 'क्षराक्षर' विचार, अथवा 'व्यक्ताव्यक्त' विचार कहा जाता है। क्षेत्र क्षेत्रज्ञ विचारसे, और क्षराक्षर विचारसे निकाले हुए इन दोनों तत्वोंका फिर विचार करनेसे, ये दोनों जिनसे निकलते हैं, या इन दोनोंके परे जो सबका मूलभूत तत्व निकलता है, उसीको परमात्मा या परब्रह्म कहते हैं। इस प्रकार श्री भगवद्गीतामें भी सारा विचार करके अन्तमें सबोंका मूलभूत जो परमात्मास्वरूपी तत्व है, उसीके ज्ञानसे बुद्धि कैसे शुद्ध होती है, यह बताया है।

किसी भी मनुष्यको ज्ञान कैसे प्राप्त होता है, और उसके इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदिके व्यापार किस प्रकार चलते हैं, इसका प्राचीनकालमें ऋषियोंने सूक्ष्म परीक्षण किया है; इसीको ऊपर क्षेत्र क्षेत्रज्ञ विचार नामसे संबोधित किया गया है। क्षेत्र अर्थात् शरीर और क्षेत्रज्ञ अर्थात् इस क्षेत्रका स्वामी अधिपति आत्मा है। यह क्षेत्र क्षेत्रज्ञ विचार आध्यात्मशास्त्रकी बुनियाद कहा जा सकता है। मनुष्यकी देह (पिंड, शरीर या क्षेत्र) यह एक बडा कारखाना है। जिस प्रकार किसी कारखानेमें बाहरका माल अन्दर लिया जाता है, और फिर उस चीजकी छानबीन कर उसमेंसे जो भाग उपयोगी है, और जो अनुपयोगी है, उन्हें छांटकर उपयुक्त कच्चे मालसे नये पदार्थ बनाकर बाहर भेज दिये जाते हैं, उसी प्रकार मनुष्यकी देहमें भी प्रतिक्षण व्यापार चालू रहता है। सृष्टिके पंचभौतिक पदार्थोंका मनुष्यको ज्ञान प्राप्त करनेमें उसकी इंद्रिय ही प्रथम साधन हैं।

मनुष्यकी इंद्रियोंके दो भेद हैं। एक ज्ञानेन्द्रिय और दूसरी कर्मेंद्रिय, इन्हींको आधुनिक परिभाषामें (Sense Organs) या (Organs of Perception) और (Organs of Actiou) कहते हैं। आंख,

कान, नाक, जिह्वा और त्वचा ये ज्ञानेन्द्रिय हैं। आंखसे रूप, कानसे शब्द, नाकसे गंध, जिह्वासे रस, और त्वचासे स्पर्शका ज्ञान हमें होता है। हाथ, पांव, वाणी, गुदा और उपस्थ ये कर्मेंद्रिय हैं। हम अपने शरीरसे जितने भी व्यवहार करते हैं, वे सब इन्हींके द्वारा होते हैं। किसी भी कारखानेमें जिस प्रकार बाहरका माल अन्दर लेनेके, और अन्दरका माल बाहर भेजनेके द्वार होते हैं उसी प्रकार मनुष्यके ज्ञानेन्द्रिय बाहरका माल अन्दर लेनेके, और कर्मेन्द्रिय अन्दरका माल बाहर भेजनेके द्वार समझे जा सकते हैं।

ज्ञानेन्द्रियोंके व्यापार आरम्भ होते ही उनके द्वारा बाह्य सृष्टिके पदार्थ अपनेको ज्ञात पडते हैं, तथापि ज्ञानेन्द्रियों द्वारा इन व्यापारोंका ज्ञान स्वतः ज्ञानेन्द्रियोंको नहीं होता है। इसी कारण उन्हें केवल द्वारकी ही उपमा दी गई है, ज्ञानेन्द्रियों द्वारा बाहरका माल देहरूपी कारखानेमें 'मन' रूपी कर्मचारीके पास आता है। वह उसकी छानबीन करता है, अर्थात् ज्ञानेन्द्रियों द्वारा बाह्य पदार्थोंका जो ज्ञान होता है, उससे अपने मनपर जो परिणाम होते हैं, या संस्कार होते हैं उन्हें आगे होनेवाले कार्योंके लिये व्यवस्थित रूपसे रखना ही इस कर्मचारीका पहला काम है।

इसके बाद दूसरा काम यह कि उन संस्कारोंमें बुरे भले, ग्राह्याग्राह्य आदिका निर्णय किया जाना, और अन्तमें तीसरा कार्य यह है, कि इस प्रकारके निर्णयके बाद उस वस्तुको ग्राह्य या त्याज्य करनेकी प्रवृत्तिका निर्माण होना; इस प्रकार मनके कुल व्यापारोंके तीन विभाग किये जा सकते हैं। ये तीनों क्रियाएं एकके बाद एक अर्थात् एक क्रिया, और दूसरी क्रियाके बीचमें बिना किसी अन्तरके बराबर चलती रहती है। वेदांतशास्त्रमें इन तीनों कार्योंमें पहला कार्य अर्थात् कोईसी भी वस्तु किसी एक प्रकारकी है, ऐसा मालूम होना, गृहीत करना, समझना, अथवा कुछ योजना करना, इच्छा करना, चिंतन करना, मनमें लाना आदि व्यापारोंको 'संकल्प' शब्दसे उपयोग किया गया है, तथा इस कार्य करनेवाली इंद्रियको मन कहते हैं।

इसके बाद दूसरा कार्य यह है, कि सामने आई हुई बातके विषयमें सारासार विचार कर उसके विषयमें उसके ग्राह्याग्राह्य, सत्यासत्य, उपयुक्तानुपयुक्त, आदि बातोंका निश्चय करनेका कार्य होता है, अर्थात् एक प्रकारके न्यायाधीशका काम ' बुद्धि ' का होता है। इस प्रकारके निर्णयके बाद तीसरा कार्य यह है, कि बुद्धिको जो बात योग्य या ग्राह्य मालूम दे, उसे कर्मेंद्रियोंद्वारा करवा लेना होता है। इस कार्यको एक प्रकारसे संकल्प-विकल्पात्मक कार्य ही कहा जा सकता है। इसे संस्कृतमें व्याकरणविस्तार करना, ऐसा दूसरा स्वतन्त्र नाम है। यह कार्य मन ही करता है। मन संकल्पोंका सारासार विचार नहीं करता। सारासार विचार, अच्छे बुरेकी परख, किसी प्रकारका निश्चय या निर्णय तथा तर्कसे कार्यकारण संबंध देखकर किसी निश्चित अनुमानको करना, ये सारे व्यापार बुद्धिके हैं।

इन व्यापारोंको संस्कृतमें ' व्यवसाय ' या ' अध्यवसाय ' कहते हैं। ' व्यवसायात्मिका बुद्धिः मनो व्याकरणात्मकम्।' अर्थात् बुद्धि इंद्रिय ज्ञान बीनकर निश्चय करनेवाली और मन यह व्याकरण अर्थात् विस्तार करनेवाला प्रवर्तक इंद्रिय है। इस प्रकार बुद्धि केवल तलवार है और उसके सामने कोई भी विषय आवे, उनकी परख करना ही, केवल उसका कार्य है। वैदिक वाङ्मयमें (बृह. १।५।३) संकल्प, वासना, इच्छा, स्मृति, धृति, श्रद्धा, उत्साह, कारुण्य, प्रेम, दया, कृतज्ञता, काम, लज्जा, आनन्द, भीति, राग, द्वेष, लोभ, मद, मत्सर, क्रोध आदि ये सारे मनके ही धर्म या गुण बताए गए हैं। और इनमेंसे जो भी मनोवृत्ति जागृत होती है, उसी प्रकार कोई सा भी कार्य करनेकी मनुष्यकी प्रवृत्ति होती है। यही कारण है, कि मनुष्यसे कोई भी शुद्ध कर्म होनेके प्रसंगमें बुद्धि शुद्ध अर्थात् अच्छे बुरेका निश्चित निर्णय करनेवाली, मन बुद्धिके निर्णयपर चलनेवाला, और इंद्रिय मनके नियंत्रणमें रहनेवाले लगते हैं।

इस प्रकारसे शरीर, पिंड या क्षेत्रका विचार करनेमें पंचभौतिक स्थूल देह, पांच कर्मेंद्रिय, पांच ज्ञानेन्द्रिय तथा इन पांच ज्ञानेन्द्रियोंके शब्द,

स्पर्श, रूप, रस, गंध ऐसे पांच विषय, तथा संकल्प विकल्पात्मक मन और व्यवसायात्मक बुद्धि, इन सबका विवेचन हुआ; परंतु इन बातोंसे शरीरका विचार पूर्ण नहीं होता है। जड शरीरमें इनके अतिरिक्त 'चेतना' न हो तो बुद्धि, मन, इंद्रिय आदि सब व्यर्थ ही हैं। 'चेतना' अर्थात् इस जड शरीरमें होनेवाली प्राणोंकी हलचल, चेष्टा, अथवा जीवित व्यापार है। इस प्रकार शरीरमें दिखाई देनेवाले जीवितावस्थाके व्यापार या चेतनाके अतिरिक्त 'परायेका' और 'मेरा' इस प्रकारका, अर्थात् आप पर भेद जिस मूल कारणसे उत्पन्न होता है, उसे 'अहंकार' कहते हैं। ये सारे तत्व 'धृति' नामक शक्तिसे स्थिर रहते हैं; यह शक्ति भी इन सबसे भिन्न है।

इन सारी बातोंको एकत्रित करनेपर जो समुच्चयरूपी पदार्थ तैय्यार होता है, उसे 'क्षेत्र' कहते हैं। इसीको व्यवहारिक रूपमें मनुष्य शरीर कहते हैं, या यों कहा जा सकता है, कि मानसिक और शारीरिक सारे द्रव्य और गुण, इनका प्राणरूपी विशिष्ट चेतना युक्तसमुदायका नाम 'क्षेत्र' 'पिंड' या 'शरीर' है, जो सविकार, तथा सजीव मनुष्य देह है। इसे ही हमने पूर्वमें एक बडे कारखानेकी उपमा दी है। उसमें बाहरसे अन्दर माल आनेके, तथा अन्दरसे बाहर माल भेजनेके द्वार क्रमशः ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेंद्रिय हैं और मन, बुद्धि, चेतना, अहंकार उस कारखानेके कर्मचारीगण हैं। प्रमुख कर्मचारी जो व्यवहार करते हैं, या कराते हैं, उन्हें उस क्षेत्रके व्यापार, विकार अथवा धर्म कहते हैं।

इस प्रकार क्षेत्र इस शब्दका अर्थ पूर्णतः निश्चित करनेके बाद यह प्रश्न सहजरूपसे सामने आता है, कि यह क्षेत्र किसका है, अर्थात् इसका कोई स्वामी है, या नहीं? मनुष्य जो जो कार्य करता है (फिर वे मानसिक हों या शारीरिक) वे सब उसकी बुद्धि आदि अन्तरिन्द्रिय, चक्षुरादि, ज्ञानेन्द्रिय वा हस्तपादादि कर्मेंद्रियोंद्वारा होते रहते हैं। मन और बुद्धि यद्यपि इन सबमें श्रेष्ठ हैं, तो भी वे अपने विशिष्ट व्यापारके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं कर सकते। मन चिंतन करता है, और बुद्धि निश्चय करती है; पर

इंद्रियोंके व्यापार किस लिए होते हैं ? यदि ऐसा कहें कि, मनुष्यका जड देह ही यह काम करता है, परंतु जड देहमें चेतना न हो, तो सारा जड देह कायम रहते हुए भी वह कुछ भी नहीं कर सकता है ।

जड देह छोडकर चेतना ही सारे काम करती है, ऐसा कहें, तो गाढ निद्रावस्थामें श्वासोश्वासादि क्रिया या रुधिराभिसरणादि व्यापार अर्थात् एक प्रकारसे चेतना विद्यमान रहते हुए भी ' मैं ' यह ज्ञान नहीं रहता; और इस कारण यह कहना पडता है, कि चेतना या प्राणादिकोंके व्यापार भी, जडमें उत्पन्न हुए एक प्रकारके विशिष्ट गुण ही हैं । इन सब व्यापारोंका एकीकरण करनेवाली इनमेंसे कोई भी मूल स्वामिनी शक्ति नहीं है । मेरा और दूसरेका इससे अहंकारका बोध होता है, परंतु ' अहं ' या ' मैं ' इससे मैं कौन ? यह निर्णय नहीं होता है । मैं यह भ्रम तो नहीं है, क्योंकि प्रत्येक मनुष्यकी प्रतीति या अनुभव इससे उलटा है । अनेकों मनुष्योंका कहना है कि ' मैं ' यह वस्तु कोई भिन्न वस्तु तत्व नहीं है; अपितु बुद्धि, मन, इंद्रिय, चेतना, जड, देह आदि अर्थात् जिन तत्वोंका क्षेत्र शब्दमें समावेश होता है, उन सबके संघात या समुच्चयको ' मैं ' यह संज्ञा दी जा सकती है ।

इस परिभाषाके अनुसार संघात ही इस क्षेत्रका स्वामी है । परंतु यह बात भी सूक्ष्म विचार करनेपर नहीं जंचती है । क्षेत्रके सारे व्यापार एक विशिष्ट व्यवस्था, या रीतिसे चलनेके लिये मन, बुद्धि आदिसे भिन्न ऐसी कोई तो भी शक्ति होना ही चाहिये, यह निर्विवाद रूपसे मानना ही पडता है । इस कारण हस्तपादादि इंद्रियोंसे चढते चढते प्राण, चेतना, मन, बुद्धि, अहंकार, इन परतंत्र, तथा एकदेशीय कार्यकर्ताओंके परे रहकर, उन सबके व्यापारोंका एकीकरण करनेवाली, और उनके कार्योंको दिशा लगानेवाली, तथा उनके कार्योंको नित्य साक्षीभूत रहनेवाली, ऐसी उन सबसे अधिक व्यापक और समर्थ शक्ति, इस चेतना विशिष्ट सजीव देह अर्थात् इस क्षेत्रमें वास करती है, ऐसा अन्तमें सिद्धांत रूपमें स्वीकार करना पडता है।

इसीको सांख्यशास्त्रमें ' पुरुष ' और वेदांतशास्त्रमें ' क्षेत्रज्ञ ' या क्षेत्रको जाननेवाला अर्थात् ' आत्मा ' कहा है। सांख्य और वेदांत इन दोनोंको यह सिद्धांत मान्य हैं। जर्मन तत्वज्ञ कँट ने भी बुद्धिके व्यापारोंका सूक्ष्म निरीक्षण करनेपर यही बात प्रगट की है। इस प्रकार ' मैं ' इस अहंकारयुक्त सगुण रूपसे देहमें अपने स्वतःको व्यक्त होनेवाले आत्माका अर्थात् क्षेत्रज्ञका मूलभूत शुद्ध और गुण विरहित स्वरूप कौनसा है? इस प्रश्नका यथाशक्ति निर्णय करनेके लिये वेदांतशास्त्रकी प्रवृत्ति हुई है। तथापि यह निर्णय केवल देहका ही विचार करके नहीं ठहराया जा सकता है।

ऊपर संक्षेपमें किये हुए पिंडके विचारके अतिरिक्त बाह्य सृष्टि अर्थात् ब्रह्मांडका विचार करनेसे क्या निष्पन्न होता है, यह भी देखना पडता है। क्षेत्र क्षेत्रज्ञ विचारसे देहमें कौनसा मूल तत्व है, इसका विचार होता है, और क्षराक्षर विचारसे बाह्य सृष्टिका अर्थात् ब्रह्मांडका मूल तत्व समझा जाता है। पिंड व ब्रह्मांड इन दोनोंमेंके मूल तत्व इस प्रकार पृथक् पृथक् निश्चित होनेके उपरांत, फिर और अधिक विचार कर, ये दोनों तत्व एक ही हैं, या जो पिंडमें है, वही ब्रह्मांडमें है, ऐसा वेदांतशास्त्र अन्तमें सिद्धांत निश्चित करता है।

आत्मा और ब्रह्म, इनका स्वरूप एक ही है, यह सिद्धांत केवल युक्तिवादसे ही हमारे प्राचीन ऋषियोंने ढूंढ निकाला है, ऐसा समझना गलत होगा, क्योंकि आध्यात्मशास्त्रमें केवल बुद्धिकी सहायतासे ही कोई भी अनुमान निश्चित नहीं कर सकते, उसे अनुभव या आत्म प्रतीतिकी जोड देनी पडती है। आधिभौतिक शास्त्रोंमें भी अनुभव पहले आता है, और बादमें उसकी उपपत्ति मालूम पडती है, या ढूंढ निकाली जाती है, ऐसा ही नियम साधारणतः देखनेमें आता है। इसी न्यायसे ब्रह्मात्म ऐक्यकी भी बुद्धिगम्य उपपत्ति निकलनेके सैकडों वर्ष पहले हमारे प्राचीन ऋषियोंने ' नेह नानास्ति किंचन ' (बृहदा. ४।४।१९) अर्थात् सृष्टिमें दिखाई

देनेवाला अनेकत्व सच्चा न होते हुए, इसके मूलमें चारों ओर एक ही अमृत, अव्यय व नित्य सत्य तत्व है, ऐसा प्रथम निर्णय कर, फिर बादमें बाह्य सृष्टिका नामरूपोंसे आच्छादित अविनाशी तत्त्व, और शरीरका बुद्धिसे परे रहनेवाला आत्मतत्व, ये दोनों एक ही, अर्थात् एक जिनसी अमर और अव्यय हैं, यह बात शास्त्रीय प्रयोगोंसे ढूंढ निकाली थी, या यों कहिये कि जो तत्व ब्रह्मांडमें है, वही पिंडमें अर्थात् मनुष्यके देहमें वास कर रहा है, यह सिद्धांत अपनी अन्तर्दृष्टिसे ढूंढ निकाला है। यही हमारे वेदांतका रहस्य है ऐसा बृहदारण्यकमें याज्ञवल्क्यने, गार्गी वाचक्नवी आदिको तथा जनकको स्पष्ट बताया है (बृहदा. ३।६।८–४।२।४)। ' अहं ब्रह्मास्मि ' अर्थात् मैं परब्रह्म हूं, यह पहले जिसने जान लिया, उसने सब कुछ जान लिया, ऐसा इस उपनिषद्‌में पहले ही बताया है, और छांदोग्यके छठे अध्यायमें श्वेतकेतुको उस पिताने अद्वैत वेदांतका यही तत्व नदी–समुद्र, पानी–नमक, आदिके अनेक दृष्टांत देकर बाह्य सृष्टिके जडमें जो मूल तत्व है वह और तू (त्वम्) अर्थात् तेरे देहमें जो तत्व (आत्मा) है वह, ये दोनों एक ही हैं " तत्त्वमसि " तूने यदि अपने आत्माको जान लिया, तो सारे जगत्‌के जडमें क्या है, वह आप ही आप तुझे ज्ञात हो जावेगा, इस प्रकारका अनेक दृष्टांत देकर उपदेश किया हुआ है। इस उपदेशमें हरवक्त ' तत्त्वमसि ' अर्थात् वही तू है इस सूत्रकी पुनरावृत्ति की हुई है। छांदोग्य (६।८–१६)। ' तत्त्वमसि ' यह अद्वैत वेदांतका महा वाक्य है इसका हिंदीमें ' जो पिंडमें सो ब्रह्मांडमें ' रूपांतर है। इस विवेचनमें अबतक हमने अद्वैत वेदांतके दो महावाक्योंका निर्देश किया है। ' अहं ब्रह्मास्मि ' इस वाक्यसे ' मैं ही ब्रह्म हूं ' इस आत्मप्रतीतिके बाद ' तत्त्वमसि ' अर्थात् बाह्य सृष्टिके जडमें जो मूल तत्व है, वही तू या तेरे अन्दरका आत्म तत्व है, यह बताया गया है तीसरे महावाक्यमें ' सर्वं खल्विदं ब्रह्म ' अर्थात् यह सारा विश्व ही ब्रह्म है, ऐसा छांदोग्य (३।१४।१) में

आया है, और इसमें आगे बताया गया है, कि इस सारे विश्वरूप ब्रह्मकी शांत चित्तसे उपासना करो।

यह उपासना कैसे की जाय? इस प्रश्नका उत्तर श्रुतिने ही इस प्रकार दिया है। यह विश्व तत्+ज=उस (ब्रह्म) से उत्पन्न होनेवाला, तत्+ल= उसी (ब्रह्म) में लय पानेवाला और तत्+अन=उस (ब्रह्म) में ही जीने वाला है, अर्थात् ब्रह्मतत्त्व ही जगत्का घटक कारण है, और इसी दृष्टिसे इसकी उपासना करनेको कहा है। चौथा महावाक्य 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' में ब्रह्मतत्त्वका लक्षण (व्याख्या) बताया है। सत्य और ज्ञान यह ब्रह्मका स्वरूप होते हुए वह अविनाशी, तथा आनंद स्वरूप है, ऐसा इस लक्षणका अभिप्राय है। भावरूप होते हुए जिसका कभी नाश नहीं होता, वह सत्य है, सर्व प्रकारके ज्ञानको मूल कारणीभूत होनेवाली जो संवेदना शक्ति है, वही यहां ज्ञान शब्दसे अभिप्रेत समझना उचित है।

इस प्रकार इन दोनों शब्दोंसे ब्रह्म स्वरूपका बोध होता हो, तो भी वह उसके अंशका ही है, क्योंकि ब्रह्मतत्त्व अनंत व अपार होनेसे उस पूर्ण ब्रह्मका शब्दोंसे वर्णन करना ही असंभव है। इस प्रकार यह शाब्दिक लक्षण अपूर्ण या एकदेशीय हो, तो भी वह आगे मिलनेवाले ब्रह्मानुभवको अत्यंत उपयुक्त होता है। कदाचित् शाब्दिक ज्ञानके नातेसे यह लक्षण परिपूर्ण है, ऐसा समझनेमें कोई आपत्ति नहीं है, क्योंकि ब्रह्म साक्षात्कार होनेसे पहले उसका शाब्दिक ज्ञान होना आवश्यक ही है। चूंकि यह ज्ञान शास्त्रोंसे ही प्राप्त हो सकता है अतएव सर्वप्रथम इन शास्त्रोंका ही अभ्यास करना आवश्यक है। इस प्रकार शास्त्रार्थकी दृष्टिसे ब्रह्मका यह लक्षण निर्दोष तथा परिपूर्ण है। उपनिषदोंमें बताया ही हुआ है कि—

द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म परं च यत्।
शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति॥

अर्थात् 'शब्द' व 'पर' ऐसा दो प्रकारसे ब्रह्मका अध्ययन करना

*

चाहिये। मनुष्य ' शाब्द ' ब्रह्ममें निष्णात होनेपर ही ' पर ' ब्रह्म स्वरूप प्राप्त कर सकता है।

उपर्युक्त विवेचनमें क्षेत्र क्षेत्रज्ञ विचार संक्षेपमें किया गया है, और उसीके पश्चात् दशोपनिषदोंमें ग्रथित उन चार महावाक्योंसंबंधी विवरण है, जिन महावाक्योंसे श्रुति प्रतिपादित ब्रह्मविद्यामें अद्वैत सिद्धांत या ब्रह्माद्वैत सिद्धांत प्रस्थापित होता है। मूल सत्तत्व, उससे बननेवाली चराचर सृष्टि, इस सारी सृष्टिका चालक परमात्मा, और प्रत्येक व्यक्तिमें उस व्यक्तिका नियामक क्षेत्रज्ञ जीवात्मा, ये सब एक सत्के ही नाम हैं। सत्से ही सगुण ब्रह्म पैदा हुआ है। सत्से ही यह सारा जगत् बना है, तथा क्षेत्रज्ञ जीवात्मा भी सत्से ही निर्मित है। सत् सर्वव्यापी है, यह निरतिशय आनन्द सत्का स्वरूप अनुभवमें आ सकता है। गाढ सुषुप्तिमें जीव प्राज्ञसे एक रूप होता है, इसीका अभिप्राय सत् स्वरूप हो जाता है। उस समय जीवको इस सत् स्वरूपके परमानंदका अनुभव प्राप्त होता है। इस स्थितिमें स्थूल देह, तथा अन्तःकरणमेंसे किसी गुणधर्मका उसे ज्ञान नहीं रहता है।

यह प्राज्ञस्वरूप भी सत्का ही स्वरूप है। जगत्के प्रत्येक पदार्थमें दिखाई देनेवाली जीवशक्ति, यह भी सत्का ही अंश है। उसी प्रकार पदार्थमात्रोंमें रहनेवाली बीजशक्ति, संघटक सामर्थ्य, प्रकाशन शक्ति इत्यादि सारे सामर्थ्योंका सत्तत्व ही उद्गम स्थान है। यहांतक कि मानव व्यवहारमें दिखाई देनेवाला प्रभावशाली सत्य भी सत्का ही स्वरूप है। इस प्रकार सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान, सर्वनियामक, सर्वप्रकाशक और आनंद घन, ऐसा सद्रूप ब्रह्म यही जीवात्मा होते हुए इसके ज्ञानसे ही जीवको पूर्णता प्राप्त होती है, और वह कृतार्थ होता है और यही ब्रह्मविद्याका मुख्य अद्वैत सिद्धांत है।

प्राणीमात्रको जो भी ज्ञान होता है, वह सारा बुद्धिके द्वारा ही होता है, कदाचित् ब्रह्म साक्षात्कार संपादन करनेका बुद्धि ही केवल साधन है। जगत् चालक परमात्माका अंश ही, इस बुद्धिमें प्रगट हुआ है इस कारण

इसके परमैश्वर्यादि गुण बुद्धिमें प्रगट होना स्वाभाविक ही है। इसी आशयके विचारोंका ऐतरेय उपनिषद्के दूसरे खंडमें इस प्रकारका स्पष्ट निर्देश है, कि नरदेहकी रचनाको लोकोत्तर बनानेकी दृष्टिसे ही परमेश्वरने मनुष्यके मस्तिष्क या बुद्धिमें विदृति नामक द्वारसे प्रवेश किया, और इससे जब मानवबुद्धि विकसित होने लगी, तब सृष्टिकर्ता परमेश्वरको अपने कार्यकी पूर्णतापर आनन्द हुआ।

इस प्रकार मानवी बुद्धि जब चैतन्ययुक्त हुई, या जब बुद्धिमें परमेश्वरने निवास किया, तब ही वह (बुद्धि) निरतिशयानन्दका स्थान बन गई और कर्म, उपासना और ज्ञान, इन साधनोंसे पूर्ण विकसित बुद्धिमें ही चिद्रूपका साक्षात्कार होनेके कारण मानवी बुद्धि ही चैतन्यरूप देवता (परमेश्वर) का मानों कि देवालय ही बन गई। यहांपर यह बता देना आवश्यक जान पडता है, कि मनुष्यकी बुद्धिके पूर्ण विकासके लिये मानव जीवनमें कर्म, उपासना और ज्ञान, इन तीनों तत्वोंकी अत्यंत आवश्यकता है; इनमेंसे एककी भी त्रुटि हुई तो मानवजीवन कृतार्थ नहीं हो सकता है। क्योंकि बुद्धिका गुण ज्ञान है, इस बौद्धिक ज्ञानके सामर्थ्य तथा सातत्यके लिये उपासनाकी आवश्यकता होती है, जो मनका धर्म है, इस प्रकारके मनके संकल्पोंको पूर्ण करनेके लिये इंद्रियोंको भी अपने अपने कर्म मनकी आज्ञानुसार पूर्णरूपसे करनेकी आवश्यकता है। तात्पर्य यह कि, शरीरके अवयव, बुद्धि, मन और इंद्रिय इनमें जिस प्रकार सामंजस्य तथा सहकार स्थितप्रज्ञके जीवनक्रममें पाया जाता है उसी प्रकारका सहकार उन्हीं अंगोंके गुणधर्म अर्थात् ज्ञान, उपासना और कर्म इन तीनोंके योग्य तथा पूर्ण सहयोगसे ही प्राप्त हो सकता है, और तभी मानवजीवन कृतार्थ होता है। अद्वैत ब्रह्मतत्व या अमृतत्व ही मानवका ध्येय है, ऐसा उपदेश श्रुतिने स्थान स्थानपर किया है। बुद्धिका शुद्धिकरण पूर्ण होनेसे ही वह ब्रह्म साक्षात्कारके पात्र बनती है, या यों कह सकते हैं, कि निर्मल बुद्धिके स्थितप्रज्ञ ही इस ब्रह्मतत्वको देखते है, अर्थात् उसका साक्षात्कार कर कृतार्थ होते हैं। इसी अभिप्रायसे—

परि पश्यंति धीराः,... अतिमुच्य धीरः ।
दृश्यते त्वग्र्यया बुध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ॥

ऐसे वाक्य उपनिषदोंमें पाए जाते हैं ।

मानवजीवनमें किन किन बातोंकी प्रधानता है, तथा उनके पारस्परिक संबंध क्या हैं, यह बराबर विदित होनेसे मनुष्य अपनी उन्नतिका मार्ग तैयार कर सकता है । इस दृष्टिसे कठ (१।३-३।४।१३) के मंत्रोंमें दिया हुआ रथका रूपक अत्यन्त महत्वका है । शरीर, आत्मा, बुद्धि मन, इंद्रिय, तथा उनके विषय ये सारी बातें इस रूपकमें समाविष्ट हैं । स्थूल देहको रथकी उपमा दी है । आत्मा इस रथका मालिक है । बुद्धिको रथका सारथी बताते हुए घोडोंको सारथीके वशमें रखनेके हेतु मनरूपी लगामकी कल्पना की है । इंद्रियोंको घोडे मानकर इंद्रियोंके विषय- शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध ये सारे रथके संचारके मार्ग माने हुए हैं । बादमें १३ वें मंत्रमें यह क्रम स्पष्ट किया है, कि इंद्रियोंको मनके आधीन रहना चाहिये, मनको बुद्धिके आधीन करना, और बुद्धिको अहं प्रत्ययसे जोडकर अहं प्रत्यय आत्मस्वरूपसे संलग्न कर देना चाहिये ।

मैं ब्रह्मस्वरूप आत्मा हूं, इस प्रकारका प्रत्यय आनेसे ' अहं ' की संवेदना अत्यंत निर्मल होकर वह आत्मस्वरूपमें पूर्ण लीन हो जाती है, और अहं ब्रह्मास्मि इस मर्यादासे बुद्धिका पूर्ण नियमन होता है । बुद्धिकी स्मृति, सदसद् विवेक, ज्ञान विज्ञान और कार्याकार्य व्यवस्थिति, अभी बताई हुई मर्यादाके कारण, अत्यन्त शुद्धतासे चलती रहती है, और यही अहं प्रत्ययका बुद्धिपर नियंत्रण है । इस प्रकारकी शुद्ध बुद्धिके नियंत्रणमें चलनेवाला मन उसके सारे सत्य संकल्प उपयोगमें लानेको सदा तत्पर रहता है । इस प्रकारके दक्ष मनके आधीन सारी इंद्रियां अपने अपने कार्य योग्य रीतिसे करती रहती हैं । मानवजीवनमें इस प्रकारकी परिस्थिति निर्माण होनेसे उसका जीवनक्रम पूर्ण पवित्र होता है, और इसीको ब्राह्मी स्थिति कहते हैं, और यही सचमुचमें ' आध्यात्मिक स्वराज्य ' है ।

उपर्युक्त विवरणमें बुद्धि, अहं प्रत्यय और चिदंश ये तीन तत्व एकसे एक सूक्ष्म होनेसे उनका भेद भी अत्यन्त सूक्ष्म ही होता जाता है। अन्तःकरण और आत्मा अर्थात् बुद्धि, अहं प्रत्यय और आत्मा इन तीनोंको एकत्र करनेसे ही उस संयुक्त स्वरूपको जीवात्मा कहते हैं, परंतु यदि बुद्धिका स्वतंत्र अभ्यास करना हो, तो उसे इन तीनोंमेंसे पृथक् करना पडता है। ऐसा करनेसे बचे हुए दो तत्वोंको हमारे शास्त्रकारोंने 'साक्षी' संज्ञा दी है। यह साक्षी जीवात्माका भी द्रष्टा कहा जा सकता है। इसी दृष्टिसे जो सबके पहले प्रकट होकर जीवात्माको भी देखता है, वही ब्रह्म है, ऐसा कठ (२।१।६) मंत्रका भावार्थ है। इसपरसे विश्वोत्पत्तिकी प्रक्रियाका आरम्भस्थान जो सगुण ब्रह्म है, वही साक्षीका मूल स्वरूप है, इस साक्षी स्वरूपमें अहं प्रत्यय ही की संवेदना प्रगट होती है और वह परमात्मा सर्व ब्रह्मांडका साक्षी होता है, इसी प्रकार पिण्डमें भी अहं प्रत्यय और चिंदश इन दोनोंके संयुक्त स्वरूपको ध्यानमें रखनेसे साक्षीकी भूमिका समझमें आती है, और आत्मा इस साक्षीरूप अवस्थासे ही जीवात्माको देखता है।

मुण्डकोपनिषद्के तीसरे मुण्डकमें मुख्यतः अद्वैत ब्रह्मतत्वका ही विवरण आया है, और शुद्ध बुद्धि ही इस ब्रह्मतत्वकी प्राप्तिका मुख्य साधन है, ऐसा इस मुण्डकके पहले खण्डमें सविस्तार बताया गया है। ऐसी शुद्ध बुद्धिको ही "पूर्ण बौद्धिक विकास" कहा जा सकता है। ब्रह्मतत्वका तथा सगुण सृष्टिका ज्ञान संपादन करनेसे ही बुद्धिका सच्चा विकास होता है। इस प्रकारकी दिव्य बुद्धि जिन्होंने संपादन की हो, वे विश्वसे तादात्म्य प्राप्त कर लेते हैं, और उनके सामने जो जो परिस्थिति उत्पन्न हो, जिस जिस व्यक्ति या वर्गसे उनका संबंध आवे, और जो जो कर्तव्य उन्हें प्राप्त होवें, उन सबसे उनका तादात्म्य हो जाता है। यही ब्राह्मी स्थिति है, और इस ब्राह्मी स्थितिकी सर्वंकष तेजस्वी बुद्धि प्राप्त करना, यही प्रत्येक मनुष्यका ध्येय रहना चाहिये।

इस प्रकारके ध्येयकोटिमें साध्यके साथ उस साध्यको प्राप्त करनेके जो साधन हों, उनका समावेश करनेकी हमारे शास्त्रकारोंकी रीति है; और

इसीलिये उपनिषदोंमें ब्रह्म प्राप्तिके साधनोंका भी पूर्ण रूपसे विचार किया गया है। मुंडक (३।१।५) के पहले वाक्यमें आत्मलाभके, या ब्रह्म साक्षात्कारके सत्य, तप, ब्रह्मचर्य और ज्ञान विज्ञान, ऐसे मुख्य साधन बताए हैं। मुंडक (३।२।४) में स्पष्ट बताया है कि शारीरिक तथा मानसिक बल, अप्रमाद तथा ज्ञानयुक्त कर्म इन साधनोंसे जो मनुष्य प्रयत्न करता है, उसीका जीवात्मा ब्रह्मस्वरूपमें प्रवेश करता है। इस प्रकार शारीरिक सामर्थ्य, दक्षता, आत्मसंयमन, नियमित वर्तन, कर्तव्यतत्परता, तत्वनिष्ठा, तथा परा और अपरा विद्या आदि बातें वैदिक साधन चतुष्टयमें सम्मिलित हैं।

आर्वाचीन वेदांत (मायावादी) में साधन चतुष्टयकी कल्पना प्रसिद्ध है, परंतु इसने बताए हुए सारे साधन निस्तेज तथा दौर्बल्य उत्पन्न करनेवाले दिखाई पडते हैं। नित्यानित्य वस्तु विवेक, ऐहिक व पारलौकिक विषयोपभोगोंसंबंधी पूर्ण तिरस्कार, आत्मसंयमन, औदासीन्य, सहनशीलता, संतोष, गुरुवचनोंपर विश्वास, और मोक्षकी इच्छा, यही आर्वाचीन वेदांतके साधन चतुष्टयमें समावेश होनेवाले मुख्य साधन हैं। इनका विचार करनेसे स्पष्ट हो जाता है कि तजस्वी सद्‌गुणोंकी मनोवृत्ति इस मायावादी वेदांतने कैसे कुचल डाली है। राष्ट्रके पिछले २००० वर्षमें हुए आचार्य, धर्मगुरु, शास्त्री, पंडित, साधुसंत, कीर्तनकार आदिने इन साधनोंको सामने रखकर ही आजतकके धर्मोपदेशका कार्य चालू रखा है। तुलनात्मक दृष्टिसे देखनेसे यह स्पष्ट होगा, कि इन मायावादी निस्तेज साधन विचारोंने समाजकी तेजस्विता पूर्ण नष्ट कर दी है। यहांतक कि " तेजस्विता ", यह सद्‌गुण, परमार्थका घातक है, यह धारणा मायावादी साधन विचारोंका आधार प्रतीत होती है।

इस प्रकारकी उदासीन विचारसारणी समाजमें हजारों वर्षोंसे रूढ होनेके कारण अव्यवस्था, उदासीनता, निष्क्रियता, प्रतिकार शून्यता, इन दुर्गुणोंको सद्‌गुणोंका स्वरूप प्राप्त हो गया है, और अन्यायीके अन्यायोंका प्रतिकार

करना भी पाप है, ऐसी धारणा बन गई है। अर्थात् स्वातंत्र्यप्रियता, प्रतिकारक्षमता, उद्योगशीलता तथा समाजसेवा जैसे समाज या राष्ट्रको आवश्यक रहनेवाले तेजस्वी सद्गुण नष्ट होकर समाज भीरु, आलसी, तथा दुर्बल हो गया हो, तो कोई आश्चर्य नहीं है। मायावादी उदासीनता ही अपने राष्ट्रीय अधःपतनका मुख्य कारण है। परंतु इस अधःपतनसे यद्यपि आज हिंदू संस्कृति मृतप्राय दिखाई देती है, तथापि हिंदू वैदिक संस्कृतिके मूल स्वरूपमें यह निस्तेज उदासीनताके बदले उसमें अत्यंत तेजस्विता भरी हुई है। इस प्रश्नकी ओर अब स्वतन्त्र भारतके राष्ट्रप्रेमी व्यक्तियोंने ध्यान देकर उसकी ओर बुद्धिवादी चिकित्सक दृष्टिसे अवलोकन करनेकी आवश्यकता है।

इस प्रकारके बुद्धिवादको, जो पूर्णतः घातक हो, ऐसे जो अनेक विषय हैं, उन सबमें अद्भुत कल्पना, यह एक मुख्य है। जो कोई चमत्कार प्रत्यक्ष तो दिखता है, परंतु उसके कार्यकारण भावकी उपपत्ति नहीं समझमें आती, या कह नहीं पाते, उसे अद्भुत चमत्कार कहते हैं। अद्भुत चमत्कार देखकर, सुनकर, या पढकर मनको आल्हादका आभास हो, ऐसी एक आश्चर्यकारक वृत्ति उत्पन्न होती है, और यह वृत्ति मनकी जिज्ञासाको पूर्णतः नष्ट कर देती है। जिज्ञासा नष्ट होनेपर उन्नतिकी आशा करना ही व्यर्थ है। मानव अन्तःकरणमें सद्गुणके साथ कुछ दोष भी होते हैं। इस प्रकारके सारे दोषोंमें आलस तथा परिश्रम किये बिना आप ही आप मिलनेवाले लाभकी इच्छा, यह दोष अत्यन्त भयंकर है, और अद्भुत शक्तिकी सहायतासे अपनी मनोरथ पूर्ति होगी, यह आशा अच्छे अच्छे कहे जानेवाले विद्वानोंके अन्तःकरणको मोहित कर देती है। ऐसे मोहसे दुर्बल होकर वे ऐसी अद्भुत कल्पनाको प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष शरण जाते हैं।

जिन वैदिक ऋषियोंने दिव्य तथा पवित्र बुद्धिवादका इतनी हार्दिकतासे प्रतिपादन किया है, उन्हींके वंशज उसी बुद्धिवादसे आज वंचित हो रहे हैं, और उसका कारण यही अद्भुत शक्ति विषयक जबर्दस्त भावना ही है। इसी भावनाके कारण ही शास्त्रज्ञान-शून्य भोंदू गुरु शास्त्रोंकी हंसी उडा-

कर भोली जनताको सांप्रदायिक जालमें फंसाकर अपने साथ साथ समाजका भी प्रच्छन्न घात कर रहे हैं। केनोपनिषद् (४।७) से स्पष्ट है कि शास्त्र प्रतीति और गुरुप्रतीति अलग अलग नहीं हैं। गुरु जिस शास्त्रका उपदेश करता है, वही शास्त्रप्रतीति, और वही गुरुप्रतीति है। उपनिषद् कालमें शास्त्रोपदेश और गुरुउपदेश भिन्न भिन्न नहीं थे, और उस कालमें समाजको शास्त्रीय ज्ञानका उपदेश कर, उसे बुद्धिवादके मार्गपर अवस्थित रखना ही अपना अङ्गीकृत कार्य है, ऐसा उस कालके सद्‌गुरु मानते थे। इसी कारण वैदिक संस्कृति उन्नतिके शिखरपर आरूढ होकर सारे जगत्‌को कल्याणका मार्ग बता सकती थी।

जिस बुद्धिवादको आर्यावर्तने सर्वप्रथम जन्म दिया, वही आर्यावर्त आज पाश्चात्योंके बुद्धिवादके चकाचौंधमें पडकर अन्तमें परतंत्रताके गड्ढेमें गिर गया। तिसपर यह जान लेना उचित होगा, कि पाश्चात्योंका बुद्धिवाद एकांगी है, और इस कारण वह वैदिक बुद्धियोगसे कम योग्यताका है। यह बात यद्यपि सच है, तथापि हिंदू समाजकी भावुकताका आज प्रत्यक्ष क्या परिणाम हुआ है, यह साफ साफ दिखते हुए भी, पढे लिखे विद्वान कहलानेवाले लोगोंने ऐसी अद्‌भुत भावनाके चक्करमें स्वयं फंसकर उसमें समाजको भी खींचनेका प्रयत्न किया है, इससे अधिक दुर्दैवकी बात और क्या हो सकती है। ऐतरेय उपनिषद्‌के तीसरे अध्यायमें "प्रज्ञानं ब्रह्म" महावाक्य आया है उससे भी बुद्धिवादका महत्व सिद्ध होता है।

आजके हिंदू समाजमें, और विशेषतः उसके सुशिक्षित वर्गमें शास्त्रीय बुद्धिकी लालसा उत्पन्न हो जाये, तभी वैदिक धर्माभिमान सार्थक कहा जा सकता है। अन्यथा एक ओर तो आचारकी दृष्टिसे धर्माभिमानकी पराकाष्ठा करनेकी चेष्टा करना, और दूसरी ओर शास्त्रीय विचारकी दृष्टिसे पराकोटिकी भावुकता स्वीकार कर उसी धर्मका विरोध करना; इस प्रकारका व्यवहार बिना जाने या बिना समझे ही क्यों न हो, हिन्दू समाजका सुशिक्षित वर्ग करता आया है। इसके बाद अब भी यदि स्वतंत्र भारतमें आधिभौतिक

शास्त्रोंका विचारपूर्वक अध्ययन कर उसका ब्रह्मतत्वके मूल सिद्धांतसे मेल मिलानेका प्रयत्न, जैसा उपनिषद्कालमें होता था, वैसा ही हो, तभी जनताको अभ्युदय सहित निश्रेयस् प्राप्तिका मार्ग दिखाया जा सकता है।

इस विवेचनसे कोई यह न समझ ले कि, यह कोई नई बात बताई जा रही है। वैदिक कालमें इसी प्रकारसे निष्ठावान सुशिक्षित युवकोंने शास्त्रीय विषयोंकी अनुसंधानात्मक प्रक्रियाओंको अपनाकर ब्रह्मप्राप्ति की हुई थी, ऐसा औपनिषदिक वाङ्मयके सूक्ष्म परीक्षणसे स्पष्ट प्रतीत होता है। वैदिक ऋषियोंके हृदयमें यद्यपि तत्व जिज्ञासाका प्रारंभ यज्ञविद्यासे ही हुआ था, तथापि यह तत्व जिज्ञासा यज्ञमंडपमें बहुत कालतक अटकी न रही, अपितु वह सृष्टिके खुले मैदानमें आई, और उसने पिंड ब्रह्मांडात्मक सृष्टिका संपूर्ण निरीक्षण कर यज्ञ विद्यासे शुरू हुए ब्रह्मज्ञानको निसर्ग नियमोंकी जोड दी, और फिर उसे उपासना और बुद्धिवाद, इन दोनोंकी जोड देकर ब्रह्मविद्या शास्त्र सर्वांग परिपूर्ण किया। इसी कारण आर्योंके वेदांतसारणीमें साधारणतः दो प्रकार दिखाई देते हैं; उसमेंसे एक विभागको याज्ञिकीविद्या कहते हैं, और दूसरीको 'भार्गवी या वारुणी विद्या' कहा जाता है, जो वास्तवमें निसर्ग नियमोंकी दर्शक है, परंतु जिसे इतिहासबोधक नाम प्राप्त है।

तैत्तिरीय उपनिषद्में इसी भार्गवी वा वारूणी विद्याका संपूर्ण विवेचन है। इसके दूसरे ही मन्त्रमें भृगु ऋषिने अपने गुरु वरुणसे पूछा है, कि मुझे ब्रह्म सिखाइये, और आगे कहा है, कि क्या अन्न, प्राण, आंखें, कान, वाणी ब्रह्म हैं? अर्थात् क्या अन्नादिको शास्त्रीय दृष्टिसे ब्रह्म कहा जा सकता है? ऐसा प्रश्नका तात्पर्य है। इसके उत्तरमें वरुणने कहा है कि, यह भूतादि सृष्टि जिससे उत्पन्न होती है, जिसके कारण यह सृष्टि जीवित रहती है, और अन्तमें जिसमें यह विलीन होती है, वही ब्रह्म है, और उसीको जाननेकी इच्छासे तू प्रयत्न कर। इस उत्तरमें वरुणने ब्रह्मका लक्षण बताया है।

आनन्दवल्लीमें "सत्यं ज्ञानमनन्तम् ब्रह्म" इस वाक्यसे ब्रह्मका लक्षण किया गया है, और इसमें ब्रह्मस्वरूपका भावरूपसे प्रत्यक्ष वर्णन होनेसे इसे स्वरूप लक्षण कहते हैं।

भृगुवल्लीमें दिया हुआ ब्रह्मका लक्षण तटस्थ लक्षण कहलाता है, क्योंकि इसमें वस्तुके स्वरूपका प्रत्यक्ष वर्णन करनेकी अपेक्षा अवान्तर अर्थात् अन्य बातोंसे ही उस वस्तुकी पहिचान कराई जाती है। इसी वल्लीमें बादमें कहा है कि उस वस्तुको ढूंढनेका प्रयत्न कर; यह एक प्रकारका अनुसंधानात्मक संशोधनका विषय देकर भृगुको कहा है कि, "सर्व सृष्टिके पदार्थ जिस वस्तुसे उत्पन्न होते हैं, जिसके कारण वे जीवित रहते हैं, और जिस वस्तुमें उनका लय होता है" इस व्याख्याको लागू करके देख, तो तुझे स्वयं ही निर्णय करते आ जावेगा कि ब्रह्म क्या है। इस प्रकारकी व्याख्या यद्यपि दिखनेमें अस्पष्ट है, तथापि उसकी व्यापकताके कारण शास्त्रकारोंकी दृष्टिसे वह अत्यंत महत्वकी है।

वरुणने ब्रह्मका संशोधन करनेको कहा, वह पिंड ब्रह्मांडका निरीक्षण, व तदनुसार किया जानेवाला विचार, व अभ्यास, इन साधनोंसे करनेको कहा गया है इसमें जरा भी शंका नहीं है। वरुणकी बताई हुई व्याख्याके अनुसार ब्रह्मके संशोधनार्थ भृगुने तप किया, अर्थात् विचारपूर्वक सृष्टि-निरीक्षण, सृष्टिके नियमोंका अभ्यास कर तत्वसंशोधन किया। यहां तपका अर्थ यही हो सकता है। गुहामें बैठ आसन-प्राणायामादि देह दंडात्मक शारीरिक तप या जपानुष्ठान या जैसा वाचिक तप यहां अपेक्षित नहीं है, ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है। यहां तो निश्चयपूर्वक संशोधन और दृढाभ्यास, तज्ञ विद्वानोंसे विचार विमर्ष और अनेक स्थानोंमें प्रवास तथा सृष्टि निरीक्षण कर एकाग्र चित्तसे आत्म निरीक्षणको ही प्राचीन वैदिक ऋषियोंने तप माना था, ऐसा निर्विवाद सिद्ध होता है। आध्यात्मज्ञानको विज्ञान (आधिभौतिक ज्ञान) पूरक रहता है, अर्थात् विज्ञानकी सहायतासे ही आध्यात्म ज्ञान सर्वांग परिपूर्ण होता है. ऐसा सारे उपनिषदोंमें स्पष्ट प्रतिपादन किया

गया है। इसी दृष्टिसे आनन्दवल्लीमें प्रथम सृष्ट्युत्पत्तिक्रमका वर्णन है, जिसके क्रममें आकाशसे पृथ्वीतक घनीभवनके कारण पांच स्थित्यंतर होते हैं।

इस प्रकारकी पंचभौतिक सृष्टिको जड, और वनस्पति अन्न व प्राणी इत्यादिको जंगम, या सजीव सृष्टि कहते हैं, और इस सजीव सृष्टिमें ही मानवका निर्माण हुआ है, ऐसा ही प्राचीन वैदिक ऋषियोंका स्पष्ट अभिप्राय प्रतीत होता है। आधुनिक शास्त्रज्ञोंने इस विषयमें महत्वपूर्ण आविष्कार किये हैं, परंतु यह ध्यानमें रखने योग्य बात है, कि वैदिक ऋषियोंके निकाले हुए निष्कर्षोंमें इस आधुनिक दृष्टिकोणसे यत्किंचित् भी विसंगति नहीं दिखाई देती। तुलनात्मक अध्ययनकी दृष्टिसे यह एक महत्वपूर्ण विषय है, ऐसा कहनेमें कोई आपत्ति नहीं है।

वरुणके द्वारा बताई हुई व्याख्या अन्न तत्वपर लागू होती है या नहीं, भृगुने यह परिश्रमपूर्वक संशोधन कर देखा तो उसे (भृगुको) मालूम हुआ कि, अन्न ही ब्रह्म है। यहां हम उपनिषदोंमें आए हुए अन्न ब्रह्मके विषयके स्थान स्थानपर आए हुए विभिन्न विवरण नहीं देते, क्योंकि वह एक स्वतंत्र ग्रन्थ बन जावेगा। हम यहां तुलनात्मक अध्ययन करनेवालोंके सामने इतना ही रखना चाहते हैं, कि अन्नको ब्रह्म ठहरानेमें भृगुने आधुनिक परिभाषामें वनस्पतिशास्त्र, रसायनशास्त्र, प्राणिशास्त्र आदि शास्त्रोंका अभ्यास पूर्ण रूपसे अवश्य किया होगा, और तभी वह इस प्रकारके शास्त्रीय संशोधनसे ही इस निष्कर्षको पहुंचा। इसके बाद भृगुने वरुणके पास जाकर अपना संशोधन बताया, और कहा, कि हे भगवान् मुझे ब्रह्मज्ञान सिखाइये। उसपर फिर वरुणने (भृगु ५) उसे कहा कि तपसे ही ब्रह्मज्ञान संपादन कर, तप ही ब्रह्म है। याने वरुणने भृगुको 'संशोधनरूप तप' ही करनेको कहा, क्योंकि ब्रह्मको शास्त्र शुद्ध ज्ञानके अभ्याससे ही प्राप्त करना पडता है, और उसके लिए शास्त्रोक्त प्रयत्न करना ही आवश्यक है, यही इसका तात्पर्य है।

इस प्रकार कुल पांच बार वरुणने भृगुको संशोधन रूप तप करनेको कहा, अर्थात् उसे वापस भेजकर तपश्चर्यापूर्वक शास्त्रीय संशोधन करनेको कहा, और भृगुने प्रथम अन्न, फिर प्राण, मन, बुद्धि, और आनंद इन पांच तत्वोंको गुरु द्वारा बताई हुई व्याख्या लागू करके देखा और इस प्रकार शास्त्रीय संशोधन कर स्व पराक्रमसे ही अपने ज्ञानको पूर्ण किया। भृगुने वरुणकी सूचनानुसार अन्नसे आनन्दतक पांचों तत्वोंका संशोधन किया, और वह इस क्रममें आनन्दकी अग्र भूमिकातक पहुंचा। इस क्रमसे वह आनन्दतक पहुंचनेपर आनन्दरूपी तत्वके ज्ञानसे उसे अनुभव हुआ, कि उसका ज्ञान परिपूर्ण हुआ, और वरुणने भी उसे फिर तप करनेको नहीं कहा।

इससे यह सिद्ध हुआ कि उसका अनुभव सही था। सूक्ष्म बुद्धिसे पंचकोषोंका संशोधन कर मनुष्य आनन्दकी श्रेणीतक पहुंचा कि, वह सहज गतिसे ही ब्रह्मस्वरूप हो जाता है। इस पंचकोषात्मक विद्याको ही श्रुतिने " वारुणी या भार्गवी विद्या " कहा है। इससे यह स्पष्ट है, कि उपनिषद्-कालके पहले ही वरुण और भृगु ऋषिके प्रयत्नसे यह पंचकोषोंकी उपपत्ति हुई होगी। इसी कारण श्रुतिने इस विद्याको इन दोनोंके नाम दिये हैं। यह पांच तत्व याने पिंड ब्रह्मांडमें घूमनेवाली शक्तिके स्वरूप हैं। इन्हींके निरीक्षणपूर्वक अध्ययनसे ही ब्रह्मज्ञानका विचार करना होता है। ब्रह्मके ये अनेक स्वरूप एकसे एक सूक्ष्म होते हुए स्थूलसे सूक्ष्मका संशोधन करना दृश्यसे अदृश्यको पहचानना, या व्यक्तसे अव्यक्तका ज्ञान संपादन करना, यही ब्रह्मका अभ्यास है। भृगुने संशोधनपूर्वक योग युक्त बुद्धिसे यह अभ्यास किया, और क्रम क्रमसे उसने अपने ज्ञानको पूर्ण अवस्थातक पहुंचा दिया।

तैत्तिरीय उपनिषद् आनन्दवल्ली (८,२) में मानवी आनन्दकी व्याख्या या उसका शुद्ध स्वरूपका वर्णन बहुत उत्तम किया है। प्रत्येक जीवमें परब्रह्मका अंश रहनेसे उसमें आनन्द वृत्ति जागृत होना स्वाभाविक ही है; परंतु इस आनंदको प्राप्त करनेके लिये लगनेवाली पात्रता कैसी होनी

चाहिये, वह इस मंत्रमें ऋषिने स्पष्ट दिखा दिया है। उसमें उत्कट तथा भव्य महत्वाकांक्षा, यह पहला गुण है। इस गुणमें कहीं भी व्यंग हो तो उसपर उभारा हुआ मानव जीवन निस्तेज हुए बिना नहीं रहता। दूसरा गुण, दृढ निश्चय है। महात्वाकांक्षा होते हुए यदि मनोदौर्बल्य हो, तो महत्वाकांक्षाका उपयोग जैसा चाहिये, वैसा उपयोग नहीं हो सकता। इसी प्रकार शरीर बल भी अत्यंत आवश्यक होता है। शरीरसे दुर्बल मनुष्य उन्नतिके मार्गपर अग्रसर होनेमें असमर्थ ही रहता है।

बुद्धि, मन, शरीर इन तीनोंकी ये तीन शक्तियां हैं, और जहांतक संभव हो, वहांतक उन्हें पूर्णत्वको ले जाना, साधकका कर्तव्य है। उत्कट महत्वाकांक्षाके बिना बुद्धिमें ध्येय निष्ठा प्रकट नहीं हो सकती, वैसे ही मनकी दृढताके बिना आत्म संयमन नहीं हो सकता, और शरीर सामर्थ्य, बिना कर्तव्य तत्परता व्यर्थ जाती है। इस प्रकार कर्तव्य-तत्परता, आत्म-संयमन, और ध्येय-निष्ठा, इन तीन सद्गुणोंका ही मंत्रमें उल्लेख किया है। क्योंकि इन तीन गुणोंके जोरपर ही मनुष्य मानवी आनन्दसे ब्रह्मानंदतककी सारी सीढियाँ (पेढियें) चढ सकता है। तथा अन्तमें आनन्दमय कोषके परे रहनेवाले शुद्ध ब्रह्मस्वरूपसे एक रूप हो जाता है। इस प्रकारकी ब्राह्मी स्थिति प्राप्त करनेके लिये प्रत्येक मनुष्यको शास्त्र-शुद्ध मार्गसे कसकर प्रयत्न कर स्वतःका, और समाजका, उद्धार करना चाहिये, इसी आशयका ऋषिका उपदेश है।

यह स्पष्ट है कि, भृगुने तपश्चर्यात्मक किये हुए प्रयत्नोंमें कई शास्त्रोंका परिशीलन किया होगा। जिन जिन शास्त्रोंका इन तत्वोंसे संबध आता है, उनमें वनस्पति शास्त्र (Botany), प्राणि शास्त्र (Zoology), मानस शास्त्र (Psychology), रसायन शास्त्र (Chemestry), आदि मुख्य हैं। इन शास्त्रोंके पूर्ण परिचयके बिना वह गुरु द्वारा बताई हुई व्याख्याको लागू करनेका कार्य ही नहीं कर सकता था। ब्रह्मज्ञान संपादन करनेके कार्यमें भृगुको सद्गुरु मिला, क्योंकि बुद्धिवादी ज्ञान मार्गमें

शिष्यको दिशा दिखाना, तथा उसको उत्साहित करना, इतना ही सद्गुरु (Research guide) का कार्य होता है, और वही आज भी है।

इस प्रकार स्वपराक्रमपूर्वक शास्त्रीय संशोधनसे ही ब्रह्मज्ञान प्राप्त करनेके कई उदाहरण दशोपनिषदोंमें हैं, उनमेंके एक दो उदाहरणार्थ देकर यह अध्याय समाप्त करेंगे।

भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः।
प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवंति॥

यह केनोपनिषद्का वाक्य है। छांदोग्यके चौथे अध्यायमें आई हुई सत्यकाम जाबालकी कथामें उसके द्वारा किया हुआ ब्रह्मविद्याका अध्ययन केनोपनिषद्के उपर्युक्त वाक्यका प्रत्यक्ष उदाहरण है। उसने ब्रह्मतत्वका विचार कर ब्रह्मविद्याके महत्वपूर्ण सिद्धांतोंका शास्त्रीय दृष्टिसे संशोधन किया। सारी दिशाएं और उसमें भरा हुआ आकाश तत्व सूर्यादिकोंके प्रकाश किरण पृथ्वीतक पहुंचानेवाला होनेके कारण ब्रह्मके इस अंशको प्रकाशवान संज्ञा दी गई है। यह ज्ञान उसने वृषभसे प्राप्त किया।

इसी प्रकार रातको अग्निके समीप बैठकर उससे उसने विश्वका अनंतत्व, और तेजस्वी हंसका निरीक्षण कर उसने विश्वके तेजोमय तत्वका निश्चित ज्ञान प्राप्त किया। इस प्रकार तुलनात्मक विचार शक्ति, तीव्र बुद्धिमत्ता, उत्कट जिज्ञासा इत्यादि गुणोंके कारण ही सत्य कामको ब्रह्मविद्या प्राप्त हुई। इस प्रकारके स्वावलंबनसे ही प्राप्त की हुई ब्रह्मविद्या पूर्ण कल्याणकारक होती है, ऐसा उसे अनुभव हुआ। इसी प्रकारके स्वावलंबन तथा शास्त्रीय संशोधनपूर्वक प्रयत्नोंसे ही उपकोसल ब्रह्मविद्या प्राप्त करे इस उद्देश्यसे सत्यकामने अपनी पत्नीके द्वारा उपकोसलको घर जाने देनेकी शिफारिस करनेपर भी उस ओर ध्यान न दिया, और स्वयं यात्रा करने निकल गया। सत्यकामके इस उच्चतम हेतुके अनुसार उपकोसलने स्वावलंबनपूर्वक गार्हपत्य, दाक्षिणाग्नि, और आहवनीय अग्नियोंका शास्त्रीय तथा तुलनात्मक अभ्यास कर ब्रह्मविद्या प्राप्त की।

इनके अतिरिक्त दशोपनिषदोंसे ही कई और ऐसे उदाहरण दिये जा सकते हैं, जिनसे यह स्पष्ट होता है कि, विज्ञान, जैसे सामर्थ्य संपादनका अद्वितीय साधन है, वैसे ही वह ब्रह्मज्ञान संपादन करनेका भी एक श्रेष्ठतम साधन है यह सिद्ध होता है, और यही बात बृहदारण्यक (२।५।१९) में स्पष्टरूपसे बताई गई है। इसी उद्देश्यसे दशोपनिषदोंमें आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक ऐसी अनेक प्रकारकी शक्तियोंके वर्णन किये हुए हैं। मुंडकोपनिषद्के शुरूमें ही चारों वेदोंको विज्ञान ठहराया है, और सारे व्यावहारिक शास्त्रोंका समावेश, (विज्ञान) अपरा विद्यामें ही किया होनेसे यह अपरा विद्या या विज्ञानशास्त्र प्रत्येक मनुष्यको प्राप्त करना ही चाहिये ऐसा मुंडक (१।१।४) में स्पष्ट बताया गया है। मुंडक (१।१।१) में ब्रह्मविद्याको " सर्व विद्या प्रतिष्ठाम् " कहकर यह सूचित किया है कि ब्रह्मविद्यामें ही सारी विद्याओंका पर्यवसान तथा समावेश होता है।

इस प्रकरणमें विवेचन की हुई ब्रह्मविद्या भृगु ऋषिके तपश्चर्याका तथा वरुण ऋषिके उपदेशका फल है, और इस कारण इसे भार्गवी या वारुणी विद्या नाम दिये गए हैं। " सैषा भार्गवी वारुणी विद्या परमे व्योमन् प्रतिष्ठिता ॥ " अर्थात् हृदयाकाशमें (बुद्धिमें) रहनेवाले ब्रह्मतत्वमें पर्यवसान होनेवाली यह भार्गवी अर्थात् भृगुसे अभ्यास की हुई और वारुणी अर्थात् वरुणसे उपदेश की हुई विद्या (अर्थात् ज्ञान) है, और बादमें बताया है कि—

स य एवं वेद प्रतितिष्ठति । अन्नवानन्नादो भवति ।
महान् भवति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन । महान् कीर्त्या ॥

अर्थात् जो इस विद्याको इस प्रकार जानता है, वह प्रतिष्ठावान, संपत्तिवान संपत्तिका उपयोग और उपभोग करनेवाला होता है, संतति, गाएं आदि पशुवाला, तथा बौद्धिक तेजमें श्रेष्ठ होता है, तथा कीर्तिमें भी बडा होता है, अर्थात् स्थैर्य, संपत्ति, प्रजा, पशु और ब्रह्मवर्चस्व ये सारे ब्रह्मविद्याके फल हैं, ऐसा श्रुतिका स्पष्ट मत है। इस प्रकरणमें बताई हुई ब्रह्मविद्या अज्ञानि-

ग्रोंके लिये है, ऐसा, संन्यासमार्गी, अन्य स्थानों जैसा नहीं कह सकते हैं, उसी तरह प्रस्तुत मंत्रमें बताया हुआ फल एक कोरी कल्पना है, या यह ब्रह्मविद्याका फल नहीं है, ऐसी कल्पना करना भी उन्हें असंभव है। इसी कारणसे इस उपनिषद्में किया हुआ विवेचन किसी भी तरहसे मायावादी विचारसरणीसे मेल नहीं खा सकता है।

उपर्युक्त दोनों मंत्रोंमें स्पष्ट किया हुआ फल अभ्युदयके स्वरूपमें ही समाविष्ट हो सकता है, परंतु परमार्थ मार्गपर अभ्युदयकी परछांई भी न पडनी चाहिये, इस प्रकारकी मायावादी विचारसरणीको इन मंत्रोंके सामने हार खानी पडती है इसमें यत्किंचित् भी शंका नहीं है। संपत्तिमान होना, और उसका उपभोक्ता होना, ये दोनों सामर्थ्य स्वतंत्र हैं, और वे दोनों सामर्थ्य हों, तभी मनुष्यको यथार्थतः उपयोग होता है। श्रीमंती और उपभोग सामर्थ्य, इन दोनोंका संवर्धन होना ये दोनों बातें समाजकी उन्नतिके लक्षण हैं, ऐसा ही माना जाता है और यह बात अनुभवसिद्ध भी है। सामर्थ्य, संपत्ति, संतति और ब्रह्मवर्चस्व, इन्हीं विषयोंसे मनुष्यका व्यवहारिक जीवन पूर्ण तेजस्वी होता है; परंतु इसके साथ ही साथ यह भी आवश्यक है कि यह अभ्युदय ब्रह्मविद्यासे संबद्ध हो अन्यथा ब्रह्मवर्चस्व जैसे सद्गुणोंका क्रमशः ह्रास होकर उसकी जगह आसुरी वृत्ति ले लेती है, और अभ्युदयका शुद्ध स्वरूप नष्ट हो जाता है। ब्रह्मविद्यासे संबद्ध रहनेवाले अभ्युदयकी शुद्धता कभी भी कम नहीं हो सकती, और इसी अभिप्रायसे श्रुतिने उसे ' ब्रह्मविद्याका फल ' बताया है।



अध्याय १ वां

प्रश्नोपनिषदन्तर्गत प्राणविद्या



भगवान दाशरथि रामचंद्रजीके कालसे श्रीकृष्णावतारके अंततक भारति-योंका उत्कर्ष परमावाधिकी उच्च कोटिको पहुंचा हुआ था, यह बात ऐतिहासिक दृष्टिसे सर्वमान्य है। वास्तवमें देखा जाय तो यह उत्कर्ष तत्कालीन वैदिक धर्मका ही फल था, ऐसा माननेमें कोई आपत्ति नहीं है। उस समयका तत्वज्ञान, नीतिमत्ता, आचार, राजकारण, व्यापार, खेती आदि समाजके सब अंग उत्कर्षकी उच्च कोटिको पहुंचे हुए थे, व समाज पूर्ण सुसंघटित और अत्यंत तेजस्वी था। समाजके ये सारे सद्गुण उसे वैदिक धर्मसे ही प्राप्त हुए थे।

उस समयके वैदिक धर्मके स्वरूपको देखनेसे यह स्पष्ट होता है, कि उस समय विहित कर्मको ही प्राधान्य होते हुए स्वार्थत्याग, उपासना, तत्वज्ञान, आदि सारे सद्गुण पूर्णतः कर्मके ही पोषक होते थे। निष्काम कर्मकी कल्पना अर्वाचीन कालमें उत्पन्न हुई है, यह कहना उचित नहीं है, क्योंकि "कामहत" अर्थात् उपभोग तृष्णाके पीछे लगनेवाला मनुष्य विद्वान् हुआ तो भी व्यर्थ है, परंतु "अकामहत" अर्थात् स्वार्थत्यागी विद्वान् मनुष्यको ब्रह्मानंदतकके सारे आनंद प्राप्त होते हैं, ऐसा तैत्तिरीय उपनिषद्में स्पष्ट कहा है।

वैदिक वाङ्मयके मंत्र और ब्राह्मण ऐसे दो विभाग किये हुए हैं, और आरण्यक और उपनिषदोंका, ब्राह्मण विभागमें ही समावेश किया गया है। वेदांतशास्त्रमें श्रुतिवचन प्रत्यक्ष प्रमाणके समान ही निर्विवाद प्रमाण समझे जाते हैं। भिन्न भिन्न शास्त्रीय प्रयोगोंसे इनके सिद्धांत सिद्ध नहीं करना पडता, अपितु श्रुतिवचनोंसे ही सिद्धांतोंको निर्धारित किया जाता है। श्रुति-वचनोंमें कुछ वाक्य अप्रत्यक्षतः सिद्धांतोंके उपयोगी होते हैं, तो कुछ वचन

*

सिद्धांतोंको प्रत्यक्ष प्रतिपादन करनेवाले होते हैं, और शास्त्रोंमें ऐसे प्रत्यक्षतः निर्णायक वाक्य अन्य वचनोंसे अत्यंत श्रेष्ठ माने जाते हैं।

इस लेखमालाके प्रथम प्रकरणमें इस बातको स्पष्ट करनेका प्रयत्न किया गया है, कि चारों वेद और छहों अंग अपरा विद्या हैं। उसी प्रकार दूसरे और तीसरे प्रकरणमें यह दिग्दर्शित किया गया है, कि ब्राह्मणग्रन्थ इसी कारण निर्माण किये गए हैं कि, वेदोंमें द्रष्टा ऋषियोंको दिखे हुए पिंड ब्रह्मांडांतर्गत नियमों या सिद्धांतोंको यज्ञ संस्थासे संलग्न किया जाय, तो यज्ञ संस्था और उसका स्वरूप प्रस्थापित करनेवाले ब्राह्मणग्रन्थ (इनमें आरण्यक और उपनिषद् भी सम्मिलित हैं) भी अपरा विद्या ही हैं। इनमें उद्धृत सिद्धांत भिन्न भिन्न वैज्ञानिक सिद्धांत ही हुए, और चूंकि श्रुति वचन प्रत्यक्ष प्रमाणके इतने ही महत्त्वके माने जाते हैं, तो हमारे आजकलके भिन्न भिन्न आधुनिक शास्त्रीय विषयोंके प्रत्यक्ष प्रमाण सिद्धांतों और श्रुति-प्रणीत सिद्धांतोंमें कोई भी अंतर न होना चाहिये, क्योंकि श्रुतिवचनके सिद्धांत विज्ञानशास्त्रके ही सिद्धांत हैं, ऐसा अभीतकके विवेचनसे स्पष्ट किया गया है।

अर्वाचीन कालमें पदार्थविज्ञान, रसायनशास्त्र, जीवशास्त्र, आदि सारे ही शास्त्रोंकी प्रगति प्रचुरमात्रामें हुई है। उपनिषदोंमें ग्रथित भौतिक तथा अन्य शास्त्रविषयक सिद्धांतोंका अत्यंत सूक्ष्म अनुक्रम आधुनिक शास्त्रीय सिद्धांतोंके अत्यंत सूक्ष्म अनुक्रमसे मेल न खाय, ऐसा कदाचित् दिखाई दे, पर प्रश्न केवल यही है कि औपनिषदिक सिद्धांत स्थूल मानसे आधुनिक भौतिक तथा जीवशास्त्र विषयक सिद्धांतोंसे कहांतक मेल खाते हैं? इस प्रश्नका उत्तर प्राचीन और अर्वाचीन इन दोनों शास्त्रोंके तुलनात्मक अध्ययनसे ही निकालना पडेगा। इस प्रकारकी तुलना तभी की जा सकती है, जब उपनिषद् विद्या और आधुनिक आधिभौतिक विद्या, इन दोनोंका विचार पूर्वक परिशीलन किया जावे। ऐसे दोहरे अध्ययन करनेके बाद ही वैदिक ऋषियोंने सृष्टिशास्त्र विषयक प्रस्थापित किये हुए मुख्य मुख्य नियम या

सिद्धांत अर्वाचीन भौतिकशास्त्रों द्वारा प्रस्थापित सिद्धांतोंसे कैसे सोपपत्तिक ठहरते हैं, यह बात आधुनिक जगत्के ध्यानमें लानेका उत्तरदायित्व भारतीय विद्वानों, और पंडितोंपर ही आता है।

यदि औपनिषद् विद्याका स्वतंत्र बुद्धिसे अध्ययन करनेकी परंपरा स्वतंत्र भारतके सुशिक्षित वर्गमें प्रारंभ हो गई, तो ऐसे कार्यको सफलतासे पूर्ण करनेमें अधिक विलंब न लगेगा। जीव और जीवविषयक शास्त्रोंका भी इस प्रकार तुलनात्मक अध्ययन करना, भौतिक शास्त्रोंके तुलनात्मक अध्ययनके समान ही, तथा उससे भी अधिक आगत्यपूर्ण है। उदाहरणार्थ, सृष्टि और ब्रह्मतत्वका संबंध क्या है, यह वेदांतशास्त्रका एक मुख्य विषय है। उसी प्रकार अंतःकरण या बुद्धि और चिदंश इन दोनोंके संयोगसे ही जीवात्माका स्वरूप बनता है, ऐसा उपनिषदोंका मत है। उत्तरकालीन वेदांत ग्रन्थोंमें बताया गया है, कि अविद्या और चिदाभासके संयोगसे जीवकी रचना होती है। इनमेंसे कोई भी बात मानी जाय, तो भी चिदंशका जिस किसी तत्वसे संयोग होता है, उसमें कुछ तो भी जडतत्वका अंश है, या होता है ऐसा मानना पडेगा, और यही बात प्राचीन और आर्वाचीन वेदांत ग्रन्थकारोंने समानरूपसे मान्य की है। मायावादी भ्रांति कल्पनाको अलग हटाकर इस जीवोपाधिके घटकावयव कौन कौनसे हैं, इस बातका संशोधन आधुनिक भौतिकशास्त्रकी सहायतासे करना महत्वपूर्ण है।

इस प्रकारका संशोधन कार्य होनेसे जैसे प्राचीन ऋषियोंने अपरा और परा विद्याओंका शास्त्रीय दृष्टिकोणसे मेल मिलाकर व्यवहार और परमार्थ ये मानव जीवनके दोनों ही मार्ग अत्यंत श्रेयस्कर बना दिये थे उसी प्रकारसे आधुनिक विद्वानोंने भी आधिभौतिक और आध्यात्मिक विद्याओंका शास्त्रीय रीतिसे मेल मिलाकर आधुनिक पदार्थविज्ञान, तथा जीवशास्त्रोंकी प्रगतिकी सहायतासे भ्रमात्मक मायावादसे मूढ बने हुए मानवकी समस्या शास्त्रीय रीतिसे सुलझाई, तो आज भी व्यवहार और परमार्थ इन दोनोंका मिलन होकर अमृतत्वकी प्राप्तिका मार्ग अत्यंत सुलभ हो जावेगा। इस ऋषि ऋणकी

बढाईके हेतु भारतीय सुशिक्षित वर्गको स्वतंत्र बुद्धिसे उपनिषद् वाङ्मयके अध्ययनका कार्य प्रारंभ करना चाहिये, तभी ये सारी इच्छित बातें पूर्ण हो सकेगी, इसमें यत्किंचित् भी संदेह नहीं है ।

दशोपनिषदोंमें भौतिक ज्ञानकी अनेक स्थानोंपर मुक्त कंठसे प्रशंसा की हुई है, वह हेयत्व या त्यागके लिये नहीं, परंतु वह ब्रह्मज्ञानका एक अद्वितीय साधन है इसी हेतुसे की हुई है । विज्ञानशास्त्र– भौतिकशास्त्र केवल भ्रमोत्पादक होनेके कारण, परमार्थ दृष्टिसे वे सर्वथैव त्याज्य हैं, ऐसी धारणा मायावादी सांप्रदायमें रूढ हो गई है, और इस गलतफहमीकी परंपरा आज दो हजार वर्षसे बराबर चलती आ रही है । इस कारण सामान्यतः बहुतसे आधुनिक सुशिक्षितोंकी भी ऐसी धारणा हो गई है, कि आधिभौतिक शास्त्रोंका पारमार्थिक विचारोंमें तनिक भी संबंध नहीं है, जगत् और तदंतर्गत सर्व व्यवहार मिथ्या और आभास रूप है, ऐसा मानकर ही परमार्थका विचार किया जाना चाहिये; परंतु पूर्वग्रह छोडकर दशोपनिषदोंके मूल वाङ्मयका स्वतंत्र बुद्धिसे यदि अध्ययन किया गया, तो यह स्पष्ट होगा, कि जिन आधिभौतिक शास्त्रोंको मिथ्या मानकर या समझकर हमने त्याग दिया, उन्हींकी सोपान परंपरा निर्माण कर वैदिक ऋषियोंने ठेठ ब्रह्मज्ञानके प्रधान सिद्धांततक पहुंचानेवाली यह एक विज्ञानकी मानों सीढी ही बना दी है, ऐसा स्पष्ट दिखता है ।

उदाहरणार्थ, दशोपनिषदोंमेंके प्रश्नोपनिषदान्तर्गत प्राणविद्या, तैत्तिरीयोपनिषद्की पंचकोषात्मक भार्गवी अथवा वारुणी विद्या, और बृहदारण्यक तथा छांदोग्योपनिषद्में प्रतिपादन की हुई पंचाग्नि विद्या, ये तीनों एक ही होते हुए सर्वव्यापी, ऐसे एक ही ब्रह्मतत्वकी प्रतिपादन करनेवाली तीन शास्त्रीय रीति हैं । ब्रह्मविद्याके उपसिद्धांतोंकी रचना मुख्य रूपसे इन तीन पद्धतियोंसे ही दशोपनिषदोंमें की गई है, और उनके रचना भेदके कारण ही उपर्युक्त तीन संज्ञाएं उन्हें दी गई हैं । इनमेंसे कोई भी रचना लें, तो यह स्पष्ट प्रतीत होगा, कि वे पिंड ब्रह्मांडात्मक विज्ञानके योगसे ही बनी हुई

हैं। अब इस प्रकरणमें यह दिखानेका प्रयत्न किया जावेगा, कि प्रश्नोपनिषद्में विशद की हुई प्राणविद्या ब्रह्मविद्यासे भिन्न है, ऐसा कोई नहीं कह सकता क्योंकि इस प्राणविद्याके प्रतिपादनका पर्यवसान ब्रह्मज्ञानमें होता है, ऐसा ही इस उपनिषद्के विषयके परिशीलनसे स्पष्ट प्रतीत होगा।

इस उपनिषद्का प्रश्नोपनिषद् नाम, इसके विषय रचनाका दर्शक है। इसके विषयके अनुक्रमको छः प्रश्न कारणीभूत हुए हैं, और प्रश्न पूछनेवाले छः ऋषियोंके छः प्रश्नोंके संतोषजनक उत्तर भगवान पिप्पलाद ऋषिने ही दिये हैं। इन्हीं प्रश्नोत्तरोंसे ही यह छः प्रश्नों (अध्यायों) का उपनिषद् तैयार हुआ है। इस चर्चामें उत्तर देनेवाले एक ही ऋषि होनेके कारण विषय प्रतिपादनमें कहीं खंड नहीं है, इससे संपूर्ण ग्रन्थ एक सूत्री बन गया है। प्रश्न पूछनेवाले छः ऋषियोंके नाम इस प्रकार हैं। भारद्वाज कुलमें उत्पन्न सुकेशाऋषि, शिविकुलमें उत्पन्न सत्यकाम, सूर्यकुलोत्पन्न गार्ग्य, कोशल देशनिवासी आश्वलायन, विदर्भ देशीय भार्गव और कात्यायन कुलोत्पन्न कबंधी, ये छः वेदविद्या निष्णात जिनकी वेदोंपर पूर्ण निष्ठा है ऐसे ब्रह्मतत्वका संशोधन करनेवाले ऋषि, भगवान पिप्पलाद ऋषि सारा ब्रह्मतत्व समझा देवेंगे, ऐसा सोचकर ' समित्पाणि ' होकर उनके पास आए। पिप्पलाद ऋषिने उन सबोंसे कहा कि नियमित शुद्ध आचरणसे, ब्रह्मचर्यसे, तथा एकनिष्ठासे आप लोग यहां रहें, और अपने इच्छित प्रश्न पूछें, तो हमें जो कुछ भी ज्ञात है सब आपको बता देंगे। इसपर सब ऋषिगण वहां रहे और फिर कबंधी कात्यायनने पहला प्रश्न पूछा—

भगवन् कुतो ह वा इमाः प्रजाः प्रजायन्त इति ॥

भगवान् ये सारी प्रजा (जीव सृष्टि) कहांसे उत्पन्न हुई है ? इस प्रश्नका उत्तर प्रश्नोपनिषद्के संपूर्ण पहले अध्यायमें दिया हुआ है। वह संक्षेपमें इस प्रकार है। परमेश्वरने सबसे प्रथम ' रयि ' व ' प्राण ' इनका मिथुन उत्पन्न किया। जिन दो भागोंमेंसे कोईसा भी एक भाग स्वतंत्रतः कार्यक्षम नहीं हो सकता, परंतु वे दो भाग एक दूसरेसे संलग्न होनेसे ही

पूर्ण होकर एकरूपेण कार्यक्षम होते हैं, वही मिथुन है (आधुनिक परिभाषामें इन्हें इलेक्ट्रॉन और प्रोटॉन कहा जाता है)। ये दो मूलतत्व क्रिया और ज्ञान, इन दो शक्तियोंके अधिष्ठान हैं, और रयि व प्राण या जड और चेतन उन्हें मिथुन संज्ञा दी गई है। ये रयि व प्राणरूपी मिथुनका स्पष्टीकरण करनेके लिये चंद्रसूर्यको रयिप्राण कहा है, और बादमें इसी मिथुनके स्पष्टीकरणार्थ संवत्सर, मास और अहोरात्र, इन तीनों कालविभागोंको रूपक प्रणालीसे वर्णन किया है। मंत्र ५,६,७,८ में सूर्यको प्राण (चेतना शक्तिका केन्द्रस्थान), विश्वरूप और वैश्वानर रूप (इन पदोंसे उसकी व्यापकता तथा उत्पादकत्वका निर्देश है), तथा जातवेदस (इस पदसे ज्ञानशक्तिका- प्रेरकत्वका निर्देश है) कहा गया है। अर्थात् सूर्यको ही प्राण या चेतना देनेवाला, तथा सारी जीवसृष्टिका उपादान और निमित्त-कारण बताया गया है।

ये सारी बातें आधुनिक पदार्थ विज्ञानकी दृष्टिसे तुलनात्मक अभ्यासके लिये अत्यंत महत्वकी प्रतीत होती हैं, क्योंकि ऐसे अध्ययनसे ही स्पष्ट होगा, कि औपनिषदिक विज्ञान और आधुनिक विज्ञानमें कितना साम्य है, या एक प्रकारसे वे दोनों एक ही हैं। मंत्र ९ में के संवत्सर वर्णनमें रयिस्वरूप पितृयाणको बताकर उस मार्गसे जानेवाले ऋषियोंको ' प्रजाकाम ' विशेषण दिया हुआ है, जो ऐतिहासिक दृष्टिसे बहुत महत्वका है। इससे पितृयाण और प्रजाकाम इन दो शब्दोंका संबंध बिलकुल पास पास आ जाता है, व संतति बिना सद्गति नहीं, यह नियम जिस सम्प्रदायमें रूढ था, उसीको पितृयाण संज्ञा प्राप्त हुई थी, ऐसा अनुमान करनेमें कोई आपत्ति नहीं है।

अगले मंत्रके देवयान मार्गके वर्णनमें सहजरीति साधन चतुष्टयका वर्णन आया है, जो कि महत्वपूर्ण है। उत्तरकालीन वेदांत ग्रन्थोंमें १- अविनाशी और नाशवान पदार्थोंका विवेक। २- ऐहिक और पारमार्थिक फलोंके उपभोग विषयक वैराग्य। ३- मन और इंद्रियोंका निग्रह और ४- मोक्षकी इच्छा ये साधन चतुष्टय बताकर कहा गया है, कि जो मनुष्य इनसे संपन्न

हो वही ब्रह्मविद्याका अधिकारी है। परंतु ये चारों साधन मानसिक गुण रूप होनेके कारण वे अनुष्ठेय नहीं हैं। प्रत्यक्ष क्रियाके बिना केवल गुणोंको अनुष्ठेय नहीं कह सकते परंतु बुद्धोत्तरकालमें ज्ञान और कर्मका संबंध विच्छेद हो जानेसे कर्मसंन्यास ही ब्रह्मविद्याका आत्मा है, ऐसा माना जाने लगा, और इस संन्यासमार्गसे मेल खाय, ऐसे साधन चतुष्टयकी प्रस्थापना की गई। वास्तवमें यह ठीक नहीं है। उपनिषद्‌कारोंने इस मंत्रमें तथा अन्य स्थानोंपर तप, ब्रह्मचर्य श्रद्धा और ब्रह्मविद्या ये साधन चतुष्टय हैं, इसका स्पष्ट प्रतिपादन किया है।

प्रस्तुत प्रकरणका अंतिम उपसंहारात्मक मंत्र भी अत्यंत महत्वका है। उसमें प्रजापतिव्रत आचरण करनेको कहा गया है। वास्तवमें इस साधन चतुष्टयको आचरणमें लाना ही प्रजापतिव्रतका पालन करना है, अर्थात् ध्येयनिष्ठा जाज्वल्य रखकर ब्रह्मविद्या संपादन करना, और साथ साथ आत्म संयमनसे तप अर्थात् वर्णाश्रम धर्मके अनुसार कर्तव्यकर्म करना ही प्रजापतिव्रत है और इस प्रजापतिव्रतके आचरणसे आधिभौतिक और आध्यात्मिक सामर्थ्य पूर्ण होता है। इस प्रकार प्रजापतिव्रतके आचरणसे आधिभौतिक और आध्यात्मिक सामर्थ्यसंपन्न मनुष्य ऐहिक ब्रह्मलोक– अभ्युदय और पारमार्थिक ब्रह्मलोक– निःश्रेयस प्राप्त कर कृतकृत्य होता है, ऐसा पिप्पलाद ऋषिने स्पष्ट कहा है।

इसके पश्चात् विदर्भ देशीय भार्गव ऋषिने अपने दूसरे प्रश्नमें तीन बातें पूछीं हैं। १. प्रजाको या सृष्टिको धारण करनेवाले कुल कितने देवता हैं २. कौन कौनसे देवता इसे (प्राणी शरीरको) प्रकाशित करते हैं? और ३. इन सबमें श्रेष्ठ देवता कौनसा है? इस स्थानपर देवता शब्दका स्पष्टीकरण उपयुक्त प्रतीत होता है। सृष्टिके प्रत्येक पदार्थमें फिर वह सजीव हो अथवा निर्जीव, कुछ संघटक शक्ति होती है, यह आधुनिक शास्त्रकी दृष्टिसे भी सिद्ध ही है, अर्थात् पदार्थके घटकावयवोंका विवक्षित प्रकारका संयोग कायम है, तभीतक उस पदार्थका अस्तित्व रहता है [इस विषयके साथ 'पोटेंशियल' (Potential) और 'कायनेटिक' (Kinetic) शक्तिके आधुनिक शास्त्रका समन्वय करना महत्वका होगा]। इस संयो-

गको स्थायी रखनेवाली शक्ति प्रत्येक पदार्थके अन्तरंगमें वास करती है, या होनी चाहिये, ऐसा अनुमान कोई भी विचारवान मनुष्य कर सकता है। ऊपर इसी शक्तिको संघटक शक्ति कहा गया है, और यह संघटक शक्ति ही उस पदार्थको धारण करनेवाली देवता है, अर्थात् सामर्थ्यके उद्गम स्थानको देवता कहते हैं।

देवता यह शब्द केवल शक्तिका बोधक नहीं है, परंतु चैतन्य तथा शक्तिका अंश उस सामर्थ्यमें विवक्षित है। चैतन्यके अंशसे युक्त; ऐसा जो सामर्थ्यका केन्द्रस्थान या उद्गमस्थान, उसीको उपनिषदोंके अनुसार 'देव' या 'देवता' संज्ञा दी गई है। इस प्रश्नमें श्रुतिने पिंड ब्रह्मांडांतर्गत देवताओंका जो संबंध दिखाया है, उसका उपलक्षणके समान उपयोग कर आधुनिक वैज्ञानिक शास्त्रकी सहायतासे उन दोनोंका समन्वय करना महत्वका है, और इस कार्यमें प्राचीन और आर्वाचीन शरीरशास्त्र और सृष्टिशास्त्रोंका तुलनात्मक संशोधन करना अतिशय आवश्यपूर्ण है। इसी प्रकार वैदिक, और आधुनिक शास्त्रीय शब्दोंका समीकरण संस्थापित करना भी महत्त्वपूर्ण है।

उपरोक्त भार्गव ऋषिके प्रश्न पूछनेपर भगवान पिप्पलाद ऋषि उत्तर देते हैं। मन्त्र २ से ७ तक प्राणके आधिभौतिक स्वरूपका विवेचन हुआ है। यहां आए हुए भूत शब्दका अर्थ दृश्य अथवा व्यक्त पदार्थ हैं, और ऐसे पदार्थोंके सामर्थ्य या उनसे होनेवाले कार्योंको आधिभौतिक कहा जाता है। आकाशादि पंचमहाभूत, अग्नि, सूर्य, पर्जन्य आदि सृष्टिके व्यक्त देवताओंके सामर्थ्यसे पिंड ब्रह्मांडका धारण पोषण होता है, इसी कारण इन्हें धारण पोषण करनेवाले देवता हैं यह कहकर दूसरे प्रश्नकी पहली बातका उत्तर दिया है। पिंड ब्रह्मांडके प्रकाशक कौन हैं, अर्थात् पदार्थोंमें ज्ञातृत्व और ज्ञेयत्व धर्म कौन उत्पन्न करते हैं, ऐसे इस प्रश्नके दूसरे विभागका आशय है और मन्त्र ८से११ तक इसका उत्तर है। प्राणके आधिदैविक सामर्थ्यसे ही पदार्थोंका जानना (ज्ञातृत्व) जाना जाना (ज्ञेयत्व) धर्म उत्पन्न होता है।

उपरोक्त विवरणमें आधिभौतिक यह शब्द जैसे भूत शब्दसे बन जाता है, वैसे ही देव शब्दसे आधिदैविक यह शब्द सिद्ध होता है। सूर्य, चन्द्र, सर्वसत्ताधीश इन्द्र और पालनकर्ता रूद्र ये ही सारे पिंड ब्रह्मांडकी प्रकाशक शक्ति हैं. और प्रकाशक यही देव शब्दका अर्थ है। ज्ञातृत्व और ज्ञेयत्व ये धर्म उत्पन्न करना ही प्रकाशकका मुख्य कार्य है। सूर्य, इन्द्रादि देवताओंके रूपसे ही मुख्य प्राणका प्रकाशन सामर्थ्य सृष्टिमें कार्यकारी होता है. और यही उसका आधिदैविक स्वरूप है और इस प्रकार प्राणके आधिदैविक स्वरूपका वर्णन कर वही सबोंका प्रकाशक है, ऐसा दूसरे विभागका सन्तोषजनक उत्तर ऋषिने दिया है।

बारहवें मन्त्रमें प्रार्थनाके रूपसे प्राणका आध्यात्मिक सम्बन्ध दिखाया गया है। शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि तथा जीव इन सारोंको मिलाकर ही आत्मा शब्दकी योजना की है। इस आत्मासे जिस शक्तिका सम्बन्ध आता है, वही आध्यात्मिक शक्ति है। इन्द्रिय, मन, बुद्धि इनके द्वारा जो प्राणका सामर्थ्य प्रगट होता है. उसीपर प्राणियोंका जीवन सर्वस्वी अवलंबित रहता है और इसी कारण शरीरमें ' क्षेत्रज्ञ ' इस नातेसे, और सारे ब्रह्मांडमें भी सर्वशक्तिमान प्राण ही सबोंमें वरिष्ठ है, ऐसे प्रश्नके तीसरे भागका उत्तर पिप्पलाद ऋषिने दिया है। अन्तके १३ मन्त्रमें अभ्युदयपूर्वक निःश्रेयस् प्राप्ति या अमृतत्व प्राप्ति जो प्राणविद्याका फल है, उसके लिये प्रार्थना कर पिप्पलाद ऋषिने दूसरे प्रश्नका उत्तर समाप्त किया है। प्राण व अन्तःकरण ये दो तत्व मनुष्यके शरीरमें मुख्य हैं, इन्हींका आधुनिक शास्त्रकी दृष्टिसे तुलनात्मक अध्ययन महत्वपूर्ण होगा, इसमें कोई भी सन्देह नहीं है।

इसके बाद आश्वलायन ऋषिने अपने तीसरे प्रश्नमें छः बातें पूछीं हैं— १. जिस प्राणकी महिमा आपने वर्णन की है, वह प्राण किससे उत्पन्न होता है ? २. वह मनुष्यके शरीरमें कैसे आता है ? अर्थात् कैसे प्रवेश करता है ? ३. अपनेको विभाजित कर शरीरमें कैसे स्थित रहता है ? ४. किस मार्गसे शरीरसे जीव उत्क्रांत होकर निकल जाता है ? ५. बाह्य जगत्को वह किस प्रकार धारण करता है ? और ६. अन्तःकरणादि विष-

योंको पिंडमें कैसे धारण करता है ? इसपर पिप्पलाद ऋषि कहते हैं, कि तूने बहुतसे प्रश्न पूछे हैं, दिखता है, कि तूने बहुत विद्याभ्यास किया है, मैं तेरे सारे प्रश्नोंके उत्तर दूंगा।

उन्होंने पहले भागका उत्तर यह दिया है कि, वह सर्वश्रेष्ठ प्राण परमात्मासे ही उत्पन्न होता है। जिस प्रकार किसी मनुष्यकी छाया उसके अधीन रहती है उसी तरह मन प्राणसे संलग्न रहता है। पूर्व कर्मानुसार प्राण इस शरीरमें आता है क्या ? इस दूसरी बातका उत्तर ऋषिने स्पष्ट भाषामें दिया है कि ' अकृतेन ' अर्थात् प्राण निसर्ग नियमसे ही इस शरीरमें आता है। तीसरे भागके उत्तरमें कहा कि जिस प्रकार कोई चक्रवर्ती राजा भिन्न भिन्न स्थानोंपर भिन्न भिन्न अधिकारी नियुक्त करता है, और उन्हें काम बांट देता है, उसी प्रकार सर्वश्रेष्ठ प्राण शरीरके भिन्न भिन्न भागोंमें अपने अंगभूत अपान, व्यान, आदिको नियुक्त करता है। वह स्वयं मुख, नासिका, कर्ण, नेत्र (ज्ञानेन्द्रिय) में स्थिर रहता है, मलमूत्र मार्गोंमें अपान वायुकी स्थापना करता है, समानरूपी प्राण भक्षण किये हुए अन्नको सारे शरीरमें पहुंचानेका कार्य करता है। इस शरीरमें जो हृदयरूपी स्थान है जिसमें जीवात्मा स्थित होता है, उसमें हजारों नाडियां और करीब ७२००० शाखा नाडियां हैं, उनमें प्राण व्यान रूपसे संचार करता है; ऊपर बताई हुई नाडियोंमेंसे एक सुषुम्ना नामकी नाडी है, उसके द्वारा वह उदानरूपसे ऊपरकी ओर विचरण करता है।

इस प्रकार मुख्य प्राण अपनेको प्राण, अपान, व्यान, समान और उदान इन पांच विभागोंमें बांट निर्देश किये हुए स्थानोंमें कार्यक्षम होता है। चौथी बातका उत्तर इसी ७ वें मंत्रमें इस प्रकार दिया गया है कि, यही उदानजीवको सत्कर्मसे सद्गतिको, और दुष्कर्मसे दुर्गतिको और पापपुण्य मिश्रित कर्मसे मनुष्य शरीरको ले जाता है, अर्थात् वह किस प्रकार उत्क्रमण करता है, उसका यह उत्तर है। तीसरे विभागके उत्तर, अर्थात् सर्वश्रेष्ठ प्राण अपनेको विभाजित कर किस प्रकार शरीरमें स्थित रहता है, इसके

उत्तरमें जो स्पष्टीकरण किया गया है, उस उत्तरको यदि आधुनिक शरीर, शास्त्रकी दृष्टिसे देखा जाय, तो प्रतीत होगा, कि सारे शरीरशास्त्रका इसमें समावेश होता है।

आधुनिक भाषामें वह इस प्रकार है अपान- (डायजेस्टिव्ह सिस्टम (Digestive System) और एक्सक्रीटरी सिस्टम (Excretary System), समान- रक्त व ब्लड सर्कुलेटरी सिस्टम (Blood circul-atary System), व्यान-ब्रेन व नर्वस सिस्टम (Brain & Nervous System), उदान- रिप्रोडक्टिव्ह सिस्टम (Reproductive System), प्राण- रेस्पिरेटरी सिस्टम और सेन्स ऑर्गन्स (Respera-tory System and Sense Organs) इस प्रकार पंच प्राणों अर्थात् सारी सिस्टिम्सके अभ्यासरो ही या सारे शरीरशास्त्रके अभ्याससे, ऐसा समझनेसें कोई आपत्ति नहीं है। इसी प्रकार चौथे विभागमें जो उत्तर दिया गया है, उसका जो अभिप्राय अधिकांश टीकाकारोंने लिया है, वह समाधानकारक नहीं दिखाई देता। के. भिडे शास्त्रोका प्रतिपादन है, कि जो उदान शरीरमें प्रत्यक्ष कार्यकारी रहते समय और जीवित स्थितिमें फल नहीं दे सकता, वह मरनेपर अर्थात् इस देहको छोडनेपर प्राणीको उसके अच्छे बुरे कर्मोंके फल देता है, यह कहना शास्त्रीय दृष्टिसे युक्तिशून्य दिखता है।

प्रस्तुत प्रकरणमें प्राण, अपान, व्यान, समान इसी जीवित शरीरके कार्योंका सोपपत्तिक वर्णन आया है, और उसीके आगे उदानके कार्योंका वर्णन करनेका उद्देश्य है। इस कारण उदान सामर्थ्यको तेजस्वी करनेवाले कर्म वही सत्कर्म और मलीन करनेवाले कर्म वही दुष्कर्म, और वे भी इसी आयुष्यमें, ऐसा ही पापपुण्य शब्दोंका अर्थ लगाना सयुक्तिक होगा। इसी प्रकार पुण्यलोक अर्थात् इसी जीवनकी तेजस्वी स्थिति, और पापलोक अर्थात् इसी जीवनकी मलीन स्थिति, और मनुष्यलोक अर्थात् सादी मानवीस्थिति, ऐसे अर्थ लगाना प्रकरणके संदर्भकी दृष्टिसे उचित प्रतीत होता है।

इस तीसरे प्रश्नके पांचवें भागका उत्तर ऋषि आठवें मन्त्रमें देते हैं। प्राणका आध्यात्मिक स्वरूप वर्णन करते समय जिस प्रकार प्राण, अपान आदि पांच विभाग किये गए थे, उसी प्रकार बाह्य प्राणके विवेचनमें भी विभागशः वर्णन किया गया है। प्राणीमात्रकी आंखें, जिससे दर्शन समर्थ होती हैं, वही सूर्य– आदित्य बाह्य प्राण है। प्रत्येक पदार्थको आकर्षण करना तथा उसमें स्थैर्य उत्पन्न करनेका सामर्थ्य पृथ्वीमें है, और यही कार्य अपान वायुका होनेसे पृथ्वीको ही बाह्य अपान कहा है। सूर्य और पृथ्वीके बीचके आकाश द्रव्यको समान और वायुको व्यान संज्ञाएं दी हुई हैं। तेज–विद्युत्को बाह्य उदान कहकर बताया है कि, चित्त जिस वासनासे युक्त हो उस वासनासे युक्त यह जीव प्राणके स्वाधीन होता है और उदान सामर्थ्यसे युक्त प्राण स्वतःके साथ जीवको वासनानुसार जन्मको ले जाता है। इस प्रकार छः भागोंके उत्तर समाप्त कर ऋषि कहते हैं, कि जो विद्वान पुरुष इस प्रकारका प्राणतत्त्व पूर्ण रूपसे जानता है, उसकी संतति नाश नहीं होती, और वह मुक्त हो जाता है।

इस प्रकार साक्षात् ब्रह्म–विद्यान्तर्गत एक महत्त्वपूर्ण विषयका विवेचन कर इस प्राणविद्यासे मिलनेवाला बौद्धिक और शारीरिक सामर्थ्य व्यवहार और परमार्थ इन दोनोंको आवश्यक होनेसे वह प्रत्येक मनुष्यको संपादन करना चाहिये, क्योंकि उससे मनुष्यका ऐहिक और पारमार्थिक पूर्ण कल्याण होगा, ऐसा अभिप्राय व्यक्त कर भगवान पिप्पलाद ऋषिने यह प्रश्न समाप्त किया। तुलनात्मक अध्ययनकी दृष्टिसे तीसरा प्रश्न और उसके उत्तर अत्यंत ही उपयुक्त हैं। आधुनिक जीवशास्त्र (Biology) के साधारणतः सब महत्वके अंग इस प्रश्नमें होनेके कारण संपूर्ण विषयका तुलनात्मक अध्ययन करनेमें अत्यंत सुविधा होगी, और यदि विचारपूर्वक संपूर्ण विषयका परिशीलन किया गया, तो स्पष्ट होगा, कि इस शास्त्रके ज्ञानमें हमारे ५००० वर्ष पूर्वके औपनिषदिक ऋषि आधुनिक जीवशास्त्रके विद्वानोंसे किसी प्रकार पीछे न थे।

इसके पश्चात् गार्ग्य मुनिने चौथे प्रश्नको पांच विभाग कर पूछा है— १. गाढ निद्राके समय मनुष्य शरीरमें रहनेवाले पूर्वोक्त देवताओंमेंसे कौनसे सोते हैं ? २. कौन कौन जागते हैं ? ३. स्वप्नावस्थामें इनमेंसे कौन स्वप्न देखते हैं ? ४. सुषुप्तावस्थाके सुखका अनुभव किस देवको होता है ? और ५. ये सारे देवता किसमें स्थिर होते हैं, अर्थात् किसके आश्रित हैं ? भगवान पिप्पलाद ऋषिने पहली बातका उत्तर देते हुए कहा कि जब सूर्य अस्त होता है, उस समय उसकी सब ओर फैली हुई किरणें जिस प्रकार उस तेजोमंडलमें एकरूप हो जाती हैं, ठीक उसी तरह इंद्रियसमूह सबसे श्रेष्ठ मनोरूप देवतामें विलीन होकर तद्रूप हो जाती हैं, और इसी कारण जागृतावस्थामें किये जानेवाले कोई भी कर्म वह नहीं करता। विज्ञानवेत्ता " एच्० जी० वेल्स् " ने अपने सायन्स ऑफ लाइफ (Science of life) में इसी प्रश्नका निर्देश कर कहा है, कि हमारे आधुनिक शास्त्रोंमें इसका उत्तर नहीं है। भगवान पिप्पलाद ऋषिका दिया हुआ उत्तर अत्यंत सयुक्तिक है, और आधुनिक तथा प्राचीन शास्त्रोंकी सहायतासे इसका निष्कर्ष निकालना अत्यंत महत्वपूर्ण होगा।

प्रश्नका दूसरा भाग है ' निद्रावस्थामें कौन जागृत रहता है ' इसका उत्तर इस प्रकार दिया है कि, शरीरमें केवल पांच प्राणरूपी अग्नि जागृत रहती है। इसे समझानेके लिये निद्रावस्थापर अग्निहोत्रका रूपक बैठाकर अग्निहोत्रकी मुख्य मुख्य बातें मनसहित पंचप्राणोंपर बैठाई हैं। पिछले एक अध्यायमें अग्निहोत्र संस्थाका संपूर्ण विवरण दिया जा चुका है, अतएव इस जगह इतना ही बताना पर्याप्त होगा, कि प्रस्तुत रूपकमें अपानको गार्हपत्य अग्नि, व्यानको दक्षिणाग्नि, प्राणको आहवनीयअग्निकी उपमा देकर निद्रावस्थामें चलनेवाले श्वासोच्छ्वासको आहुतियां कहा है, और इन आहुतियोंकी अर्थात् श्वासोच्छ्वासकी गति बराबर रखनेका कार्य समान वायु ही रखता है, इस कारण उसका उल्लेख भी अग्निहोत्रका ' होता ' कहकर किया गया है।

इस प्रकार तीन अग्नि, दो आहुती (श्वास और निःश्वास) आदि रूपक जम गया, अब यजमान कौन है, यह आगे बताया गया है। ' जीव ' यह

संज्ञा चैतन्य विशिष्ट बुद्धिकी ही होनेके कारण और बुद्धिका अंतर्भाव अंतः-करणमें होनेसे पिप्पलाद ऋषिने इस रूपकमें 'अंतःकरण' को ही 'यजमान' संबोधन दिया है। यजमान जैसा कर्ता वैसा ही भोक्ता भी होता है, और इस कारण यज्ञके फलका निर्देश करना अवश्य हो जाता है। इस रूपकमें उदानको ही यज्ञका फल कहा है, क्योंकि उदान सामर्थ्यसे ही मनुष्यको गाढ निद्रा प्राप्त होती है और इस गहरी नींदमें ही ब्रह्मानंदका अनुभव उसे मिलता है, या संक्षेपमें यों कहा जा सकता है, कि प्राणके उदान सामर्थ्यसे ही जीवको प्रतिदिन ब्रह्मानंदका लाभ होता है।

तीसरे प्रश्नके विवरणमें जो पापपुण्य तथा पुण्यलोक पापलोकका विवेचन किया है वह इस उदानके विवेचनसे अधिक स्पष्ट होता है। केवल पंचप्राणोंकी जागृति बतानेके लिये ही इस अलंकारिक रूपककी आवश्यकता नहीं थी। पिप्पलाद ऋषिका इस अग्निहोत्रके रूपकका सांगोपांग वर्णन करनेका संक्षेपमें तात्पर्य इस प्रकार है। पहले प्रश्नमें बताए हुए साधन चतुष्टय-तप, ब्रह्मचर्य, श्रद्धा और ब्रह्मविद्याका सतत अवलंबन करनेसे मनुष्यकी प्राणशक्ति निर्मल और ओजस्विनी रहती है। इस ओजस्विनी प्राणशक्तिका उदान उसे गहरी सुषुप्तिके निर्दोष आनंदका लाभ करा देता है। मनुष्यको व्यवहार और परमार्थके अनुभवमें आनेवाले सब प्रकारके सुख उसी ब्रह्मानंदके अंश हैं, और इसी कारण निर्दोष सुषुप्तिमें प्राप्त होनेवाले आनंदके योगसे मनुष्यकी शारीरिक और मानसिक उत्साह शक्ति कायम रहकर संपूर्ण जीवन-क्रमपर उसका उत्कृष्ट परिणाम होता है।

इस प्रकार निद्रावस्थाके वर्णनके बाद ऋषि प्रश्नके तीसरे भागका उत्तर देते हैं। यहां स्वप्नावस्थाकी व्याख्या यों दर्शाई गई है कि, निद्रावस्थाके जिस भागमें जीव अपनी कल्पना सामर्थ्यसे अनेक विषयोंका अनुभव लेता है, वह स्वप्न है। अंतःकरण आत्मतत्त्व विशिष्ट होनेसे पूर्ण प्रकाशमान रहता है, और इंद्रियोंको भी उसीसे प्रकाश मिलता है; इसी कारण उसे 'देव' संबोधन किया है और बताया है, कि जागृतिमें मनुष्यको जिन

विषयोंका अनुभव आता है उन्हींका वह स्वप्नमें भी अनुभव करता है और साथ ही यह भी कहा कि, न अनुभव किये हुए, न देखे हुए और न सुने हुए विषय भी स्वप्नमें आते हैं। इसका शास्त्रीय दृष्टिसे इस प्रकार विचार किया जा सकता है, कि स्वप्नमें अनुभव होनेवाली बातें ऐसी हो सकती हैं, कि जो हमने देखी व सुनी हों पर जिनका स्मरण न रहा हो, या ऐसी भी हो सकती हैं कि, जिनका अनुभव पूर्व शरीरमें आया हो, और इस प्रकार अस्पष्ट बीजरूप संस्कारोंके ठसे हुए चित्र अंतःकरणकी कल्पना शक्तिसे जागृत होकर मनुष्यको स्वप्नावस्थामें उनका अनुभव आता है।

इसके पश्चात् मूल प्रश्नके चौथे विभाग अर्थात् (सुषुप्तावस्थामें सुखका अनुभव किसको होता है) इसके उत्तरमें गहरी सुषुप्तिकी प्रक्रिया बताई है। तेजोमय उदान जीवात्माको मूल आत्मस्वरूपमें ले जाता है, ऐसा पिछले मंत्रमें बताया हुआ है, और उस समय जीवको जो निर्दोष सुखका लाभ होता है वह उस निश्चल स्थितिमें आत्म तत्वके सांनिध्यसे ही होता है, ऐसा स्पष्ट किया गया है, अर्थात् गाढ सुषुप्तिमें अंतःकरण विशिष्ट जीवको ही सुखका लाभ होता है, और वह सुख आत्माके सहजानंद स्वरूपका ही अंश है। प्रतिदिन ऐसे सुखका आवश्यकतानुसार लाभ होना मनुष्यको ऐहिक और पारमार्थिक दृष्टिसे अत्यंत श्रेयस्कर है, ऐसा दर्शाकर पिप्पलाद ऋषिने "कस्यैतत्सुखं भवति" इस चौथे विभागका उत्तर दिया है। इसके अगले मंत्रमें इस प्रश्नके अंतिम भाग अर्थात् मनसहित सर्व इंद्रिय किसमें स्थिर रहती हैं, का उत्तर इस प्रकार दिया है कि, जैसे पक्षी सारे दिन भर घूम फिर कर रातको अपने घोंसलेमें आते हैं, और वहां स्थिर होते हैं उसी प्रकार वह जीवात्मा मन और सारी इंद्रियोंसहित उस श्रेष्ठ आत्मतत्वमें ही स्थिर होता हैं।

इसके अगले मंत्रमें इसीका स्पष्टीकरण करनेके हेतु बताया है, कि पंच महाभूत, ज्ञानेंद्रिय पंचक, कर्मेंद्रिय पंचक, अंतःकरण चतुष्टय, तेज (उदान) और प्राण ऐसे २१ द्रव्य और उन सबके २१ गुण ये सब उस श्रेष्ठ आत्म

सत्वमें ही स्थिर होते हैं। इस प्रकार इस चौथे प्रश्नकी पांचों बातोंके समर्पक उत्तर देकर आगेके मंत्रमें जीवात्माका स्वरूप स्पष्ट किया है कि विज्ञान, बुद्धि जिसका स्वरूप है, वह विज्ञानात्मा ही जीव है और बुद्धि इस जीवका बाह्य स्वरूप होते हुए नियामकत्व या कर्तव्य उसका अंतरंग है। यही कर्ता जीवात्मा भी श्रेष्ठ आत्मतत्व या परमतत्वका आश्रय करता है, यह बताकर फिर उसके भी अगले मंत्रमें यह शास्त्रीय सिद्धांत स्पष्ट किया है, कि योग्य रीतिसे ब्रह्मतत्वका ज्ञान संपादन किये बिना साक्षात् ब्रह्मप्राप्ति नहीं होती है। ऋषिने अंतमें एक प्राचीन मंत्रका प्रमाण देकर स्पष्ट किया है, कि जीवात्मा पंचमहाभूत, पंचप्राण और इंद्रियादि सारे देवगण, इनका परस्पर संबंध, उनके पिंड ब्रह्मांडान्तर्गत कार्य और इन सबका आश्रयस्थान श्रेष्ठ ब्रह्मतत्व कैसे है इन सारे विषयोंका अध्ययन कर उनका ज्ञान संपादन करनेसे ही मनुष्य पूर्णज्ञानवान होता है, और फिर वह सबोंमें प्रविष्ट होता है, अर्थात् सबोंका आत्मा होकर रहता है। इस प्रकार गार्ग्य ऋषिके प्रश्नका समाधानकारक उत्तर देकर यह चौथा प्रश्न समाप्त किया है।

चौथे प्रश्नके अन्ततक प्राणविद्याका विवेचन हुआ है। वह ब्रह्मज्ञानका ही विवेचन है, ऐसा कहा जा सकता है। इस ब्रह्मज्ञानको उपासनाकी जोड़ देना आवश्यक ही है। एतदर्थ पांचवें प्रश्नका मुख्य विषय यही है। शिबिकुलोत्पन्न सत्यकामने पूछा है कि, जो मनुष्य आजीवन ओंकारकी भली भांति उपासना करता है, उसे उस उपासनासे क्या फल मिलता है? प्रश्नका उद्देश्य यह है, कि प्राण विद्यारूप ब्रह्मज्ञानका फल अमृतत्व प्राप्ति है, ऐसा उपर्युक्त चार प्रश्नोंत्तरोंमें प्रतिपादन किया गया है, वही फल प्रणवोपासनासे मिलता है या नहीं, यही जाननेकी सत्यकामकी जिज्ञासा है। पिप्पलाद ऋषिने जो उत्तर दिया है, उसका तात्पर्य संक्षेपमें इस प्रकार है; आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक ज्ञानसे जिसकी बुद्धिका पूर्ण विकास हुआ हो, और ओंकारका जप और परमेश्वरके ध्यान– एतत्स्वरूप उपासनासे– जिसका शरीरसामर्थ्य परिपूर्ण हुआ हो, वह मनुष्य सब

कर्मोंके करनेमें समर्थ होकर आत्मोद्धार और लोकोद्धार करनेका पात्र बन जाता है। इस तरह ओंकारकी उपासना भी ब्रह्मविद्याका ही अंश होनेसे, उसका फल भी अभ्युदय निःश्रेयस् प्राप्ति ही है, और इस कारण मनुष्यको अपने ज्ञानको उपासनाकी जोड अवश्य देना चाहिये।

पांचवें प्रश्नमें ओंकारकी प्रणवोपासनाका फल वर्णन करते समय कहा गया था, कि उपासक 'परात्पर' पुरुषको देखता है, अर्थात् उसको 'ब्रह्म-साक्षात्कार' होता है। इस छठे प्रश्नमें सुकेशा ऋषिने साक्षात् 'षोडशकलात्मक' पुरुषके ही विषयमें प्रश्न पूछा है। उद्देश्य यह है कि पांचवें प्रश्नमें निर्देश किया गया 'परात्पर पुरुष' और 'षोडशकलात्मक पुरुष' से जिसका निर्देश किया जाता है, वे दोनों एक ही है या भिन्न भिन्न। इस प्रश्नका उत्तर पिप्पलाद ऋषिने देते हुए कहा कि, हे वत्स, जिस परमेश्वरसे संपूर्ण जगद्रूप षोडश-कला उत्पन्न होती हैं, वह हमारे इस शरीरके अंतर्भागमें ही विराजमान हैं। जैसे पहले प्रश्नके विवेचनमें जड चैतन्यके मिथुनसे सर्व विश्वकी उत्पत्ति होते हुए यह जड चेतनकी जोडी भी मूल पुरुषोत्तमतत्वसे उत्पन्न हुई, ऐसा बताया था वैसे ही इस प्रश्नके विवेचनमें भी बताया गया है, और आगे यह कहा है कि, इन सब कलाओंसहित पुरुषोत्तमका ज्ञान संपादन करनेसे ही मनुष्यकी ऐहिक और पारमार्थिक उन्नति होती है, तथा उसे अभ्युदय निःश्रेयस प्राप्ति होती है। इस प्रकार भगवान् पिप्पलाद ऋषिने दिव्य ब्रह्मविद्याका उपदेश कर अपने सब अतिथि शिष्योंको कृतार्थ किया, और उन छहों ऋषियोंने प्रसन्न चित्तसे अपने सद्गुरूको भक्तिपूर्वक वंदन किया, पश्चात् यह संवाद समाप्त हुआ।

अपरा विद्या अर्थात् विज्ञानशास्त्र और विज्ञानशास्त्रोंकी गणना करना संभव नहीं है, इसी कारण विज्ञानशास्त्र अनंत हैं, ऐसा कहा जा सकता है। मुंडकोपनिषद्में सृष्टिके मूलतत्व, उसकी उत्पत्ति और विस्तार, तथा उसका मानव जीवनसे संबंध, आदि बातोंपर विवेचन हुआ है। प्रश्नोपनिषद्की अपरा विद्याका विषय अलग ही है। अपरा और परा ये शब्द

*

प्रश्नोपनिषद्में नहीं आए हैं, तो भी इस उपनिषद्में प्रतिपादन किया गया विषय अपरा विद्यामें ही समाविष्ट होता है यह बतानेकी कोई आवश्यकता नहीं है। प्रश्नोपनिषद्का मुख्य विषय प्राणविद्या है और प्राणविद्याका ब्रह्मविद्यामें ही अंतर्भाव होता है, क्योंकि मुंडकोपनिषद्के प्रतिपादनानुसार परा और अपरा विद्या ऐसी दोनों विद्या मिलकर ही ब्रह्मविद्या होती है, ऐसा समीकरण मान्य करना पडता है। प्राणविद्या यह अपरा विद्यासे भिन्न नहीं है। एतदर्थ प्रश्नोपनिषदांतर्गत प्राणविद्या ब्रह्मविद्यामें समाविष्ट हो जाती है या नहीं, यह शंका ही व्यर्थ है। ब्रह्मज्ञानके पूर्णताके कारण ही प्रश्नोपनिषदांतर्गत प्राणविद्याका विवेचन है, ऐसा समझना उचित है।

प्रश्नोपनिषद्की प्राणविद्या एक प्रकारसे प्राचीन वैदिक ऋषियोंने विशेष दृष्टिसे किये हुए पिंड ब्रह्मांडके निरीक्षण, और संशोधनका संकलीकरण है ऐसा कहा जा सकता है। जिज्ञासु विद्यार्थियोंको इस प्राचीन सृष्टि-शास्त्रकी प्राणविद्याका अभ्यास करना आगत्यपूर्ण है। आधुनिक पाश्चात्य शास्त्रज्ञोंने मानव शरीरके अंतर्बाह्य रचनाका सूक्ष्मतम अध्ययन किया है। इसी तरह सारे सृष्ट पदार्थ, और उनके गुणधर्म, पृथ्वी और उसकी आकर्षक शक्ति, वातावरण आदि विषयोंके प्रचुरमात्रामें संशोधन किये गए हैं, इन आधुनिक संशोधनोंका पूर्ण लाभ लेकर प्राचीन व अर्वाचीन प्राणविद्याका तुलनात्मक अध्ययन करना आध्यात्म विद्याके ज्ञानको अत्यंत ही लाभदायक होगा, व ब्रह्मविद्याके तात्विक सिद्धांत उत्कृष्ट रीतिसे समझनेका वह एक उत्तम साधन उपलब्ध करा देनेका श्रेय ऐसे विद्यार्थियोंको मिलेगा। इस प्रकारकी प्राणविद्याके अध्ययनसे सामर्थ्य संवर्धनका उत्कृष्ट मार्ग पूर्णतः समझ गया तो ब्रह्मवर्चस्व संपादन करनेका मार्ग भी हस्तगत हो जायगा, ऐसा समझनेमें कोई आपत्ति नहीं है।

वास्तविक रूपसे यह स्पष्ट है, कि वैदिक ऋषियोंने अत्यंत निर्दोष और अनुभवसिद्ध रूपसे यह संशोधन किया हुआ है। इस संशोधनसे मेल खाय ऐसी शाब्दिक परिभाषा बादमें तैयार होनेकी आवश्यकता थी

क्योंकि साधारणतः संशोधकोंपर शास्त्रीय परिभाषा तैयार करनेका उत्तरदायित्व नहीं होता, वह बादमें संग्राहकोंपर ही आ पड़ता है। वैदिक ऋषियोंने किये हुए पदार्थ संशोधनोंका जिन्होंने संग्रह किया, और जिन्होंने ऐसे संग्रहात्मक ग्रन्थोंकी रचना की, उन्हींको शास्त्रीय परिभाषा तैयार करनेके कार्यकी चिंता करना आवश्यक था। संग्रहकारोंने तथा ग्रन्थकारोंसे ही कोई स्वतंत्र परिभाषा तैयार न करनेसे कई स्थानोंमें अर्थकी बहुत गड़बड़ी हो जाती है। उदाहरणार्थ 'प्राण' शब्दका प्रश्नोपनिषद्‌में किया गया उपयोग साधारण विद्यार्थिको सरलतासे बोधगम्य होना कठिन ही है।

कुछ सीमातक ऐसा कहना अनुचित न होगा, कि मंत्रद्रष्टा ऋषियोंने संशोधकके नातेसे मंत्रभागमें पिंड ब्रह्मांडान्तर्गत नियमोंका प्रमेयरूपमें संकलीकरण किया, और ब्राह्मणग्रन्थकर्ता ही उनके संग्राहक, वाक्यार्थकर्ता तथा मंत्रार्थके शुद्ध स्वरूपके विश्लेषणकर्ता थे, ऐसा समझनेमें कोई आपत्ति नहीं है। आज हमें परिभाषा विषयक जो अड़चन मालूम होती है वह उस समय उन्हें प्रतीत न होती होगी, और इसी कारण उन्होंने इस दिशामें विशेष प्रयत्न न किये हों। परिभाषा निश्चितीकरणका कुछ कार्य अब सम्भवतः पूनेमें आरंभ किया गया है, और आशा की जा सकती है, कि तुलनात्मक अध्ययनकी दृष्टिसे यह कार्य उपयुक्त होगा।

इस प्रकार पिप्पलाद ऋषिने आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक प्राणविद्याका शास्त्रीय विवेचन, और उससे प्राप्त होनेवाला शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक विकास, बाह्य व अभ्यंतर अर्थात् आधिभौतिक और आध्यात्मिक सामर्थ्य संपादनकी आवश्यकता, परब्रह्म या षोडशकलात्मक पुरुष और अमृतत्व प्राप्ति इत्यादि सिद्धांतोंकी विवेचक बुद्धिसे जो ब्रह्मविद्या प्रगट की, उस ब्रह्मविद्याकी शिक्षा व्यक्तिका और समाजका, किसी भी दुर्धर आपत्तिसे उद्धार करनेमें आज भी समर्थ है। इस ज्ञानको प्रत्येक भारतीयको पूर्ण रूपसे अपने हृदयमें जागृत रखनेकी आवश्यकता है। भगवान पिप्पलाद ऋषिकी अमृतमयी वाणीका सेवन कर सुकेशा, सत्यकाम

आदि सर्व ऋषियोंने प्रेमपूर्वक और गद्गद् कंठसे पिप्पलाद ऋषिको " पिता " यह सर्वश्रेष्ठ पदवी देकर वन्दन किया। हम सब आशा करते हैं, कि इसी तेजस्वी ब्रह्मविद्याके दिव्य प्रकाशसे हिन्दू राष्ट्रका पुनरुज्जीवन हो, इतनी ही उस परम पुरुष परमेश्वरसे प्रार्थना है।

अबतकके विवरणमें प्रश्नोपनिषदांतर्गत प्राणविद्याका सांगोपांग विवेचन किया गया है। इस संपूर्ण विवरणसे यही स्पष्ट होगा, कि प्राणविद्या अपरा विद्यासे भिन्न नहीं है और प्रश्नोपनिषद्में अपराविद्याको प्रमुख स्थान प्राप्त है। ब्रह्मविद्याकी पूर्णताको अपराविद्याकी नितांत आवश्यकता है, यह बात मुंडकोपनिषद्के परिशीलनसे सहजमें ही ध्यानमें आ सकती है। इस उपनिषद्में भी प्राणविद्याका विवेचन ब्रह्मविद्याकी पूर्तिके लिये ही आया है, ऐसा कहनेमें कोई आपत्ति नहीं है। प्राणविद्याका अबतक किया हुआ विवेचन प्रश्नोपनिषद्को ही सामने रखकर हुआ है, तथापि अन्य उपनिषदोंमें भी जगह जगह इस महत्त्वपूर्ण विषयका विवरण पाया जाता है, उदाहरणार्थ—

यदिदं किं च जगत्सर्वं प्राण एजति निःसृतम्।
महद्भयं वज्रमुद्यतं य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति॥

कठ. २।३।२

अर्थ- ' जो (जितना) कुछ उत्पन्न जगत् है, वह सब प्राणके आधारसे गतिमान है। वह प्राण उगारे हुवे वज्रके समान अत्यंत भयप्रद है। जो यह जानते हैं, वे ' अविनाशी ब्रह्मरूप ' हो जाते हैं। ' इस मंत्रमें प्राणरूपसे जगच्चक्र चलानेवाले ब्रह्मका वर्णन किया हुआ है। ब्रह्मतत्त्व यह साक्षात् जगच्चालक नहीं होता है। वह प्राणके रूपसे जगच्चालक रहता है। निर्गुण ब्रह्मके एक अंशसे जो प्रथम सगुण ब्रह्म बना, वही जगन्नियंता परमेश्वर है, और उसीको प्रस्तुत मंत्रमें प्राण कहा है। उत्पन्न होनेवाले सर्व सृष्ट पदार्थ इस प्राणपर ही अवलंबित रहते हैं, तथा इस प्राण शक्तिसे ही सर्व सृष्टिको गति मिलती है। अर्थात् सृष्टि नियम ही प्राणरूपी परमेश्वरकी आज्ञा है।

यह आज्ञा यदि भंग की गई तो प्राणरूपी परमेश्वर दण्ड किये बिना नहीं रहता। वह परमेश्वर केवल दण्ड करनेवाला ही है, ऐसा नहीं है। सृष्टि नियमोंका पूर्ण ज्ञान संपादन कर शास्त्रशुद्ध वर्तन करनेवाले ज्ञानी लोगोंपर अनुग्रह करनेवाला भी वही है, और इस प्रकार भयकृत और भय-नाशक, ऐसा इस प्राणरूपी परमेश्वरका सामर्थ्य है, उसीके अनुग्रहसे ज्ञानी लोग मुक्त होते हैं, और उसीके डरसे सारा जगच्चक्र नियमित रूपसे चलता है। इस प्रकार प्राणरूप परमेश्वर ही पिंडब्रह्मांडका चालक रहता है और आधिभौतिक और आध्यात्मशास्त्रके अध्ययनसे ही इस प्राणरूपी परमेश्वरका चालकत्व मनुष्यको ठीक प्रकारसे समझमें आ जाता है। इस परोक्ष (शाब्दिक, अप्रत्यक्ष) ज्ञानका ही बादमें साक्षात्कारमें पर्यवसान होता है। इस अप्रत्यक्ष ज्ञानको अनुभवका स्वरूप प्राप्त होनेमें दूसरे बहुतसे साधनोंकी भी आवश्यकता होती है, परंतु 'हेचि देहि हेचि डोळा। पाहीन मुक्तिचा सोहळा' (इसी देह और इन्हीं आंखोंसे मुक्तिका रहस्य देखूंगा) इस तुकाराम महाराजकी उक्तिके अनुसार उन्नतिका यह सिरा हस्तगत करनेके लिये मनुष्यको अत्यंत उत्साह धारण करनेकी आवश्यकता होती है। उत्साह शक्तिके कारण ही मनुष्यकी कष्ट सहन करनेकी तितीक्षा बढती है, और वह चाहे जितना प्रयत्न करने और स्वार्थत्याग करनेको तैयार रहता है। इस प्रकारकी तैयारी होनेपर परा और अपरा विद्याओंकी सहायतासे, केनोपनिषद्में बताए अनुसार, पिंडब्रह्मांडका निरीक्षण कर वह अपना ज्ञान पूर्ण कर लेता है।

इस ज्ञानको अनुभवका स्वरूप आनेके लिये, अर्थात् उसका परिपाक होकर उसका साक्षात्कारमें पर्यवसान होनेके लिये इस परोक्ष ज्ञानको आत्म-संयमनपूर्वक बुद्धियोगकी अवश्यमेव जोड देनी चाहिये ऐसा कठ. (२।३।११) में स्पष्ट कहा गया है। केवल व्रतस्थ रहनेसे इंद्रिय निग्रह होता हो तो भी वह स्थायी नहीं होता, उसे ज्ञानविज्ञानकी जोड देना

आवश्यक ही होता है। आत्मसंयमनकी दृष्टिसे पुराने (ऋषिप्रणीत) और नये (आधुनिक) इन्द्रिय विज्ञानशास्त्रके अध्ययनकी अत्यंत आवश्यकता है; क्योंकि बिना उसके आत्मसंयमनका प्रयत्न शास्त्रशुद्ध रीतिसे नहीं किया जा सकता। इन्द्रियोंकी उत्पत्ति, उनका पारस्परिक सम्बन्ध तथा उनके उदयास्त इत्यादि विषयोंका शास्त्रीय दृष्टिसे सोपपत्तिक विचार, यही प्राचीन विज्ञानशास्त्रका स्थूलस्वरूप है, ऐसा कहा जा सकता है।

आधुनिक शास्त्रज्ञोंने भी इस दिशामें प्रचुरमात्रामें प्रगति की है, और इन दोनोंका समन्वय किया जाना अत्यंत महत्वपूर्ण कार्य होगा। इस शास्त्रका यदि सम्यक् ज्ञान हो, तो मनुष्य दुःखमुक्त होता है, ऐसा श्रुतिने उसका फल बताया है। इन्द्रिय तथा मन इन दोनोंकी विषयवासना और उसी प्रकार अहंकार या व्यक्तिमहात्म्य, ये सब ही मानवी दुःखके मुख्य कारण हैं। आत्मसंयमनसे इन्द्रिय तथा मन विवेकके वशमें आ जाते हैं, और इससे दुःखका भार कम हो जाता है। बुद्धिके विवेक सामर्थ्यकी वृद्धिके लिये आत्मसंयमन, तथा ज्ञानविज्ञानका अभ्यास, इन दोनोंकी बड़ी आवश्यकता होती है। आत्मसंयमनके बिना बुद्धिपर ज्ञानविज्ञानका संस्कार ही नहीं होता, और ज्ञानविज्ञानके बिना केवल आत्मसंयमनसे बुद्धि निर्दोष तथा सद्गुणसम्पन्न नहीं होती है। बुद्धिके दोष नष्ट होकर सद्गुणोंका संवर्धन होना, यही योगका स्वरूप है, ऐसा ही कठ. (२।३।११) में स्पष्ट किया है।

सांप्रतकालमें लोग प्रायः 'योग' शब्दसे आसन प्राणायामादि साधनोंसे प्राणोंका, और चित्तवृत्तिका निरोध कर सिद्ध होनेवाली समाधिकी कल्पना करते हैं। इसका यह कारण है, कि ज्ञानके परिपाक होनेको, संन्यासमार्गियोंके पास, दूसरा कोई साधन न होनेसे ज्ञानका ध्यानसे गठबंधन करे बिना उन्हें चारा ही नहीं था। वस्तुतः अद्वैत ब्रह्मज्ञानका ध्यान योगसे निकट संबंध नहीं है, क्योंकि ध्यान प्रायः सगुणका ही संभव होता है। निर्गुण निराकारका ध्यान करना संभव ही नहीं होता। तथापि "अहं

ब्रह्मास्मि " इस प्रत्ययकी, अर्थात् 'ब्रह्मात्मभावका अखंड चिंतन' यही ध्यान है, ऐसा कर्म संन्यासवादियोंका कथन है। ध्यानकी यह कल्पना अत्यंत क्लिष्ट होते हुए केवल भावनागम्य है। ज्ञानका बुद्धिप्रधान कर्मयोगसे रहनेवाला साहचर्य इस प्रकार तोडनेपर संन्यासमार्गियोंको कर्मयोगका स्थान ध्यानको देना पडा, और ज्ञानपरिपाककी उन्होंने कैसी तो भी व्यवस्था की है, ऐसा कहना पडता है। इस प्रकारसे परिपक्व हुआ ज्ञान, साक्षात्कारको उपयोगी हो, तो भी औपनिषद् ब्रह्मविद्याने इसे श्रेष्ठता नहीं दी है। कई वेदांत ग्रन्थकारोंने भक्तिका भी परिपाक साधनोंमें समावेश किया है।

शककालके प्रारंभसे मायावाद और संन्यासमार्गकी परंपरा हमारे यहां प्रचलित हुई, और हमारे साधुसंतोंने भी भक्तिमार्गको संन्यासमार्गके समीप लाकर बिठा दिया। ध्यान जैसा ज्ञानपूर्वक हो सकता है, वैसे ही वह भक्तिपूर्वक भी हो सकता है, और इस प्रकार भक्तिमार्गके प्रतिपादनसे भी परिपाक साधनोंमें अन्तर नहीं होने पाया। इस तरह ध्यान यही एकमात्र परिपाकका साधन है, इस प्रकारकी विचारसारणीका सांप्रदाय रूढ हुआ, और इस प्रकार ज्ञान और कर्म इनका तमः प्रकाशवत् विरोध रहनेसे परोक्ष ज्ञानसे आगे परमार्थ मार्गमें कर्मका प्रवेश होना ही बंद हो गया। इस प्रकार पिछले दो हजार वर्षोंसे हमारे वेदांतपर कर्मसंन्यासकी गहरी छाया फैलनेसे अद्वैत ब्रह्मज्ञान और ध्यान इनको संलग्न करना उत्तरकालीन वेदांत ग्रन्थकारोंको अपरिहार्य प्रतीत हुआ हो, तो उसमें कुछ आश्चर्य नहीं है।

प्रस्तुत मंत्रमें (कठ. २।३।११) योगका स्वरूप स्पष्ट किया हुआ है, इसका समाधि योगसे निकट संबंध जोडनेका अट्टाहास सभी ही टीकाकारोंने किया है। कर्म संन्यासमार्गकी पूर्वग्रहकी मजबूत पकड छुडाकर यदि उन्होंने वैदिक कर्मयोगका शुद्ध व अविकृत स्वरूप ध्यानमें लिया, तो इस मंत्रमें बताया हुआ योग समाधियोग नहीं है, अपितु वह बुद्धियोग ही है ऐसा सहजमें उनके ध्यानमें आ जावेगा, क्योंकि 'अप्रमत्त' और 'प्रम-

वाप्यय ' ये दोनों विशेषण खींचतान करनेपर भी समाधियोगको नहीं लग सकते। "प्रभवाप्यय" अर्थात् उत्पत्ति विनाश ये समाधियोगमें बिलकुल ही संभव नहीं हैं। समाधि स्थितिमें किसी नई चीजकी उत्पत्ति नहीं होती, और नाश भी नहीं होता। सगुण हो या निर्गुण ध्येयवस्तुके विषयके प्रत्ययकी धारा अखंड रहना यही समाधिका लक्षण है और इससे कहना पडता है, कि श्रुतिको यहां समाधियोग अभिप्रेत नहीं है।

इसी वल्लीके १६ वें मंत्रमें समाधियोगका उल्लेख बहुत ही संक्षिप्त रूपसे किया हुआ है, और उससे यह निश्चित अनुमान कर सकते हैं, कि समाधियोगको गौणत्वका स्थान श्रुतिने प्रदान किया है। बौद्धिक कष्ट या परिश्रम करनेको असमर्थ हों, ऐसे दुर्बल मनुष्योंके लिये समाधियोग एक सरल मार्ग है, ऐसा मानकर ही उसका श्रुतिने उल्लेख किया है। श्रुतिको श्रेष्ठ, इस नाते बुद्धियोग ही अभिप्रेत होनेसे उसीको श्रुतिने प्राधान्य दिया है, ऐसा समझना युक्त है। उत्पत्ति विनाशकी कल्पना बुद्धियोगमें मेल खाती है, क्योंकि इसमें दाक्षिण्यादि गुणोंका प्रभव (प्रकट होना) और कामक्रोधादि दुर्गुणोंका अप्यय (नाश होना) यह बुद्धियोगका ही स्वरूप है। इस स्थानपर ज्युलीयन हॅक्सलेके "इव्होल्युशन" नामक ग्रन्थका कुछ उद्धरण देंगे जिसका उपर्युक्त विवरणसे पूर्ण साम्य है—

" During historic times all the Man's Control over nature has been non-genetic owing to his unique biological capacity for tradition. More basic though sloweer in operation are the changes in genetic constitution of the species and the main part of this genetic change must be sought in the improvement of the fundamental basis of Human dominaace- the feeling thinking brain. The most important aspect of such advance will be increased intelligence which implies greater disinterestedness and fuller control ot emotional impulse. The brains level of

performance can be genetically raised ... ... and this can be done by increasing the average of such minds in our population ... ... of course increase of control and independence is necessary but when Man's stage is reached the objective control and independence are subsidiary to the subjective control and independence of his mental states—

1. His control of ideas to give intellectual satisfaction.
2. His control of form, colour and sound for his aesthetic satisfactions.
3. His control and independence of inessential stimuli to give the satisfaction of mystic detachment and inner ecstacy."

इस प्रकारकी सद्‌गुणसंपन्न शुद्ध, तेजस्वी और स्वतंत्र बुद्धिको ही कार्याकार्य व्यवस्थिति, या कर्तव्याकर्तव्योंका निर्णय ठीक ठीक करनेका पूर्ण सामर्थ्य रहता है। यहीं परमार्थकी सावधानता है और ऐसी स्थिती होना योगयुक्त बुद्धिका सहजधर्म बन जाता है। इंद्रिय स्थैर्य, अखंड सावधानता, सद्‌गुण संवर्धन, और विकार नाश, इस गुण समुच्चयको ही, योग समझना चाहिये, ऐसा श्रुतिका स्पष्ट सिद्धांत प्रतीत होता है। ज्ञानके परिपाकका बुद्धियोग ही एकमात्र और निश्चित साधन है ऐसा निर्विवाद सिद्ध होता है। बुद्धिका सारे बंधनोंसे मुक्त होना, यही सचमुचमें मोक्ष है। उपनिषदोंका सिद्धांत है, कि सारे बंधनोंसे मुक्त बुद्धि अन्तमें आत्मतत्वमें लीन होती है।



अध्याय १०

पंचाग्नि विद्या (आधिदैविक विद्या)

पिछले दो प्रकरणोंमें विवेचन की गई भार्गवी या वारुणी विद्या तथा प्राण-विद्या सर्वव्यापी एक ही ब्रह्मतत्वका प्रतिपादन करनेवाली तीन रीतियोंमेंसे हैं। केवल रचना भेदके अनुसार उन्हें तीन नाम दिये गये हैं, ऐसा हम पहले ही बता चुके हैं। इनमेंसे हम कोई भी रचना लें तो यही प्रतीत होगा, कि वह पिंडब्रह्मांडात्मक विज्ञानके योगसे ही तैयार की गई है। अब इस प्रकरणमें विवरण की जानेवाली पंचाग्नि विद्या वास्तवमें ज्ञानविज्ञानका शास्त्रशुद्ध मिश्रण है ऐसा कहनेमें कोई भी आपत्ति नहीं है और यही बात आगे किये गए विवेचनसे किसीको भी स्पष्ट प्रतीत हो जावेगी।

पंचाग्नि विद्याका विवेचन एक ऐतिहासिक आख्यायिकाके रूपमें छांदोग्योपनिषद्के पांचवें अध्यायके खण्ड तीनसे दसतकमें आया है, तथा बृहदारण्यक उपनिषद्के छठे अध्यायके दूसरे ब्राह्मणमें पाया जाता है। इन दोनों उपनिषदोंमें उसका स्वरूप साधारण मानसे एक सा ही है। उसमें बताया गया है, कि अरुणि वंशका श्वेतकेतु अपना अध्ययन पूर्ण होनेपर पांचाल देशके विद्वानोंकी सभामें गया, और वहांके राजा प्रवाहण जैविलीसे मिला। उपनिषद् कालमें पांचाल देश विद्वत्ताकी दृष्टिसे अधिक प्रसिद्ध था। कथाके संदर्भसे प्रतीत होता है कि पांचाल देशके विद्वानोंकी सभा एक महद् विद्वत्परिषद् अर्थात् परीक्षा लेकर 'प्रशस्ति पत्र' देनेवाली, आधुनिक कालकी विद्यापीठों जैसी संस्था होनी चाहिये। इसी दृष्टिकोणसे जैविली प्रवाहण राजाको आधुनिक परिभाषामें चेंसलर कहा जाना उचित होगा।

परीक्षा प्रारंभ होनेसे पहले विद्यार्थीसे उसने किसके पास अध्ययन किया है, यह मालूम करनेके उद्देश्यसे राजाने श्वेतकेतुसे उस आशयका प्रश्न पूछा।

श्वेतकेतुने यह बतानेके बाद कि उसने अपने पिताके पास ही सारी विद्या पढी है, राजाने उससे प्रश्न पूछना प्रारंभ किया। पांच प्रश्न पूछे गये, उन पांच प्रश्नोंका तात्पर्य इस प्रकार है— १. मनुष्यप्राणी परलोकको अलग अलग मार्गसे किस प्रकार जाते हैं? २. परलोक गए मनुष्य फिर इस लोकमें किस प्रकार आते हैं? ३. आजतक असंख्य प्राणी परलोक गए हैं, उन सब प्राणियोंसे परलोक भर कैसे नहीं जाता? ४. कितनी या कौनसी आहुतिके पश्चात् दिव्य आप्का मनुष्यकी वाणिमें रूपांतर होता है? ५. मनुष्यको किस कर्मसे देवयान मार्गकी, और किस कर्मसे पितृयाण मार्गकी प्राप्ति होती है? श्वेतकेतुको इसमेंसे एक प्रश्नका भी उत्तर न देते बना, और उसे निराश देखकर जैबिली प्रवाहणने उसे विद्याभ्यासके लिये अपने पास रहनेको कहा, किन्तु श्वेतकेतु वैसा न कर अपने पिताके पास वापिस जाकर पूछने लगा, कि आपने कैसे कहा कि मेरा विद्याभ्यास पूर्ण हो गया है? मुझे तो राजाने पांच प्रश्न पूछे और मुझसे उसमेंसे एकका भी उत्तर न देते बना? तिसपर उसके पिता गौतमने कहा कि तूने ये जो पांच प्रश्न मुझको बताए हैं, उनका ज्ञान तो मुझे भी नहीं है, जो मुझे यह विषय ज्ञात होता तो क्या मैं तुझे उसे न बताता? यह कहकर गौतम ऋषि श्वेतकेतुके साथ पंचाग्नि विद्याका ज्ञान प्राप्त करनेके उद्देश्यसे शिष्य बुद्धिसे स्वयं भी जैबिली प्रवाहण राजाके पास गया।

राजाने गौतम ऋषिका सत्कार कर कहा कि जितना द्रव्य चाहो मांग लो। तिसपर गौतम ऋषिने कहा कि "हे राजा तू जानता ही है कि सुवर्ण, गाएं, घोडे, दास, दासी आदि मेरे पास प्रचुरमात्रामें हैं। मुझे तो आप वही विद्याका ज्ञान प्रदान करें, जिसके विषयमें आपने मेरे पुत्र श्वेतकेतुसे प्रश्न पूछे थे और जिनका उत्तर उसे देते न बना था। राजा थोडा चिंतित हुआ, और उसने कहा कि यह विद्या तेरे पहले ब्राह्मणोंको प्राप्त न थी, पर क्षत्रियोंके पास थी और इसीसे सारे लोगोंपर क्षत्रियोंकी सत्ता चालू थी। तू सरल हृदयसे, और नम्रभावसे शिष्यत्व स्वीकार कर मेरे पास आया है, तो मुझे तेरी विनंती मान्य करना ही योग्य मालूम होता है।

इस प्रकार राजाने गौतम ऋषिके सीधेपनका तथा उसकी ज्ञानलालसाका मनःपूर्वक अभिनन्दन किया, और उसे 'पंचाग्नि विद्या' का ज्ञान सिखानेको तैयार हुआ, और वह विषय इस प्रकारका है। राजाने कहा—

असौ वाव लोको गौतमाग्निस्तस्यादित्य एव समिद्रश्मयो धूमो अहरर्चिश्चंद्रमा अंगारा नक्षत्राणि विस्फुलिंगाः॥ तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा श्रद्धां जुह्वति तस्या आहुतेः सोमो राजा संभवति॥ छांदोग्य. (५,४,१।२)

अर्थ- "हे गौतम! द्युलोक यही अग्नि है, उस अग्निकी सूर्य ही समिधा (बार बार अग्नि प्रदीप्त रखनेका साधन) है सूर्य किरण ही उस अग्निका धुंवा है, सर्वव्यापी प्रकाश यही उस अग्निकी ज्वाला, दिशाएं उसके अङ्गार और उपादिशाएं उस अग्निकी चिनगारियां हैं। इस प्रकारकी अग्निमें देव श्रद्धाका (दिव्य आप्का) हवन करते हैं। उस आहुतिसे सोम राजा (रस तत्त्व) प्रकट होता है।" प्रस्तुत मन्त्रमें द्युलोकपर अग्निका रूपक बांधा है। यह अग्नि हवनीय होनेसे होम करनेवाला, होमद्रव्य, तथा उससे निष्पन्न होनेवाली वस्तु इन विषयोंको अग्निके रूपकमें सम्मिलित किया गया है। यहां सोम और श्रद्धा ये दो शब्द महत्वके हैं। प्रत्यक्ष जल उत्पन्न होनेसे पहले वह जिस रसतत्त्वके रूपमें होता है, उसीको यहां 'सोम' कहा है। उपनिषद्कर्ता ऋषियोंने इस तत्वको ही 'सोम' संज्ञा स्थापित की हुई मालूम होती है, और गीतामें भी रसात्मक द्रव्यको 'सोम' नाम दिया गया है। (गीता १५।१३)

सोम शब्द जैसा ही इस मन्त्रके श्रद्धा शब्दका अर्थ भी पृथक् ही है। दिव्य आप् ही यहां श्रद्धा शब्दसे विवक्षित है, ऐसा जान पडता है। इस प्रकार इस द्युलोक अग्निमें देवता श्रद्धा (दिव्य आप्) का हवन करते हैं, अर्थात् इसका तात्पर्य इस प्रकार है कि आदित्य अर्थात् सूर्यका तेज, और दिव्य आप् इनके संयोग हीसे सोम नामका एक रसतत्त्व उत्पन्न होता है। यहां सोम इस शब्दको दिया हुआ 'राजा' यह विशेषण सारे

तत्त्वोंसे उसका श्रेष्ठत्व दर्शानेवाला है। (अब इस विवरणमें श्रुतिके मन्त्र नहीं दिये जावेंगे केवल मन्त्रोंके अर्थ ही दिये जावेंगे)। छांदोग्य (५,५,१।२)

अर्थ– 'हे गौतम पर्जन्य यही अग्नि है, संवत्सर यह उसकी समिधा है, बादल यह धुंवा, विद्युत् शक्ति यह ज्वाला होते हुए विद्युच्छक्तिका प्रकाशमय रूप उसका अङ्गार है और गडगडाहट उसकी चिनगारियां हैं। इस प्रकारकी अग्निमें देवता वह रसमय तत्त्व जो सोम उसका हवन करते हैं। उस आहुतिसे अर्थात् हवनसे वृष्टि उत्पन्न होती है।' इस दूसरे मन्त्रके रूपकमें अग्नि, अर्चि, इत्यादि उपमानवाचक शब्द पहले मन्त्रके समान ही हैं, परंतु जिनपर रूपक किया गया है, वे शब्द परिभाषाकी दृष्टिसे महत्त्वके हैं। प्रत्यक्ष वर्षा इस अर्थसे वृष्टि यह शब्द आया है। प्रत्यक्ष जलवृष्टि होनेके पहले आकाशमें जो काले बादल दिखाई देते हैं उन्हें अभ्र यह संज्ञा यहां दी हुई दिखती है। अभ्र तैयार होनेसे पहले मेघ जो सूक्ष्म या अदृश्य स्वरूप होते हैं, उसी अवस्थाको इस मन्त्रमें 'पर्जन्य' कहा है।

पिछले मन्त्रमें बताया गया है कि सूर्यका तेज और दिव्य आपके संयोगसे सर्व पदार्थोंका बीजभूत सोम नामका एक रसतत्त्व पैदा होता है। अब इसी सोमका पर्जन्यसे अर्थात् वृष्टिके मूल स्वरूपसे संयोग होकर मेघका स्थूलस्वरूप (अभ्रवृष्टि आदि) तैयार होता है। मेघ तैयार होनेका कालावधि संवत्सर नामसे दर्शाया गया है। उसमें सूर्यादिकोंके व्यापार अभिप्रेत हैं। जिस प्रकार पर्जन्य शब्दसे मेघका बीजरूप अपेक्षित है, उसी प्रकारसे विद्युत् इस शब्दसे विद्युत् शक्तिका मूलस्वरूप ही यहां अपेक्षित है ऐसा समझना चाहिये। विद्युत्, अशनि और ह्रादुनि इन तीन शब्दोंसे विद्युल्लताके तीन स्वरूप इस मन्त्रमें अभिप्रेत हैं। आघात और ध्वनि ये शब्द "ह्रादुनि" इस शब्दसे अपेक्षित होते हुए उसे विद्युल्लताका स्थूल स्वरूप समझा जा सकता है और चमक तथा प्रकाश विद्युल्लताका सूक्ष्म-मध्यम स्वरूप समझ विद्युत् शक्ति यह उसका मूल या कारण स्वरूप ही समझना योग्य होगा।

मेघ तैयार होनेमें जिस प्रकार सूर्यादिकोंके व्यापार कारणीभूत होते हैं, उसी प्रकार विद्युच्छक्ति भी कारणीभूत होती है और इसी अभिप्रायसे इस रूपकमें श्रुतिने विद्युल्लताको महत्त्वका स्थान दिया हुआ है, ऐसा दिखता है। अन्तमें इस सब कारण सामग्रीका योग्य विनियोग करनेवाली जो कर्तृत्वशक्ति उससे युक्त रहनेवाले देव हवन कर या आहुति देकर वृष्टि उत्पन्न करते हैं, ऐसा इस मन्त्रका तात्पर्य है। देव शब्दका यह स्पष्टीकरण हरएक मन्त्रमें इसी प्रकारसे लेना चाहिये। छांदोग्य. (५,६,११२)

अर्थ- " हे गौतम ! यह लोक यही अग्नि है, पृथ्वी ही उसकी समीधा है, अग्नि यह धुंवा, रात यह ज्वाला, चंद्र यह उसका अंगार, और नक्षत्र ही उस अग्निकी चिनगारियां हैं इस प्रकारके अग्निमें देव पर्जन्यवृष्टिका हवन करते हैं। उस आहुति 'हवन' से अन्न उत्पन्न होता है। " इस मंत्रमें इहलोकसे अग्निका रूपक बांधा गया है और पृथ्वी, अग्नि, रात्रि, चंद्र, नक्षत्र और पानी इन साधनोंसे अन्न उत्पन्न करते हैं ऐसा बताया गया है। छांदोग्य. (५, ७, ११२)

अर्थ- " हे गौतम ! प्राणी यही अग्नि है। मुख यही उसकी समिधा है। प्राण यही धुंवा, वाणी यही ज्वाला, चक्षुरिंद्रिय अंगार, तथा श्रोत्रेंद्रिय चिनगारियां हैं। इस प्रकारके अग्निमें देव अन्नका हवन करते हैं। इस आहुतिसे वीर्य, प्राणी बीज उत्पन्न होता है। इस मंत्रमें प्राणी शब्दका आशय पुरुष शब्दसे होना चाहिये, क्योंकि स्त्री पुरुष समागमसे वीर्यके कारण सजातीय प्राणीका निर्माण होता है। प्राणीरूप अग्निमें ही अन्नका संयोग होनेसे वीर्यकी उत्पत्ति होती है; ऐसा यहां बताया गया है। छांदोग्य. (५, ८, ११२)

अर्थ- " हे गौतम ! स्त्री यही अग्नि है, उसकी जननेंद्रिय उसकी समिधा है, लोम ही उसका धुंवा है, उसका योनिभाग ही ज्वाला है, अंतःक्रिया यह अंगार और आनंद (रति) उसकी चिनगारियां हैं। इस अग्निमें देव वीर्यका हवन करते हैं, और आहुति या हवनसे गर्भ तैयार होता है। प्रस्तुत

मंत्रमें स्त्रीपर ही अग्निका रूपक खडा किया है, और स्त्रीसमागमकी सारी क्रियारूप साधनोंसे ही प्रजाका निर्माण बताया है :

अर्थ– " इस प्रकार पांचवीं आहुति पूर्ण होनेपर दिव्य आप् (पहले बताया हुआ द्युलोकका रसोत्पादक अव्यक्त तत्त्व) प्राणी संज्ञाको प्राप्त होता है। इस प्रकारसे वारवेष्टित गर्भ नौ या दस महीनोंतक माताके हृदयमें, (गर्भमें) रहकर बादमें जन्मता है। "

छांदोग्य (५, ९, १।२) अर्थ– " जन्म पाया हुआ प्राणी आयुष्य रहनेतक जीता है। मरनेपर जहांसे वह प्राप्त होता है, और जिससे उसकी बनावट होती है, अर्थात् पूर्व स्थानको उसे अग्नि ले जाती है। "

इसके बाद मंत्रमें श्रुतिने बताया है, कि यह पंचाग्नि विद्या जो इस प्रकारसे जानते हैं वे देवयान मार्गसे अमृतत्व अर्थात् मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं। इसी मंत्रमें अमृतत्व या मोक्ष मार्गकी सीढियां बताई होनेसे इसीको अर्चिरादि मार्ग कहा गया है। इसके बादके मंत्रोंमें पितृयाण या धूम्रादि-मार्गका वर्णन है। पितृयाण मार्ग मोक्षदायक न हो तो भी उस मार्गसे अधो-गतिमें पर्यवसान नहीं होता, यह जान लेना आवश्यक है। इस मार्गसे जाने-वालोंको स्वर्गीय विषयसुखोंके उपभोगके बाद क्रमसे फिर वापस आकर मनुष्य लोक प्राप्त होता है।

उत्तरकालीन वेदांत ग्रन्थकारोंने इस मार्गकी निंदा की है, जो अवास्त-विक है; परन्तु यह ठीक नहीं है! इस मार्गसे जानेवाले लोग यज्ञ, दान, और तपसे (परंतु आत्मज्ञानरहित) स्वर्ग सुखका उपभोग लेते हैं, अर्थात् वे लोग धर्मभ्रष्ट या धर्मबाह्य आचरण करनेवाले नहीं होते, और इसी कारण इस मार्गके लोगोंको गीतामें धूतपाप अर्थात् निष्पाप कहा है। इस मार्गके लोगोंको मोक्षकी इच्छा होना असंभव नहीं होता, और इस कारण यह मार्ग भी मोक्षका साधन हो सकता है। यही बात (कठ. १, १, १४) से स्पष्ट प्रतीत होती है। इसमें बताया है, कि स्वर्गलोक अग्निविद्या (यज्ञविद्या) का साक्षात् फल है, और मोक्ष या अमृतत्व, यदि मनुष्य चाहे और प्रयत्न

करे तो, स्वर्गद्वारा क्रमसे प्राप्त होनेवाला फल है। अर्थात् स्वर्गप्राप्ति या पितृयाण मार्ग निंद्य तो है ही नहीं, अपितु सृष्टिचक्रको उपकारक होनेके कारण सामान्यतः यह मार्ग अच्छा ही ठहरता है।

इस मंत्रके अंतमें बताया है कि, जो देवयान या पितृयाण मार्गसे नहीं जाते, वे सब लोग पीडादायक जन्मको प्राप्त होते हैं। और इस प्रकारकी हीन या पतित कोटिके जन्मको प्राप्त क्यों होते हैं, इसके कारण भी श्रुतिने मंत्रमें दे दिये हैं। सुवर्णादि धातुओंकी चोरी करनेवाला, मद्य पीनेवाला, गुरूपत्नीसे पापाचरण करनेवाला, शीलाचरण संपन्न विद्वानका खून करनेवाला, ये चार, तथा इनके साथ आचरण करनेवाला, या उनका साथीदार, ये सारे पतित हैं, और इस प्रकारके पातक कर्म करनेवाले मनुष्य अधोगतिको जाते हैं। यही तीसरा मार्ग है, परन्तु मायावादी ग्रन्थकारोंने सद्योमुक्ति व क्रममुक्ति (देवयान) ये ही दो मार्ग माने हैं, और सकाम कर्मसे अर्थात् यज्ञ, दान, तपसे प्राप्त होनेवाला पुनरावृत्तिकारक स्वर्गलोक, या चंद्रलोक, यही तीसरा मार्ग ठहराया है।

इन सारे प्रयत्नोंका उद्देश्य केवल यही सिद्ध करना है, कि सद्योमुक्ति ही सर्वश्रेष्ठ मार्ग है और वह केवल सर्व कर्म संन्याससे ही प्राप्त हो सकती है। मायावादी संन्यासमार्गियोंकी यह कल्पना श्रुतिके वर्णनसे कहीं भी मेल नहीं खाती है, यह कोई भी सहज ही समझ सकता है। वस्तुतः देवयान और पितृयाण ये दो ही मार्ग श्रुतिने बताए हैं। तीसरा मार्ग श्रुतिको अभिप्रेत ही नहीं है। क्योंकि अधोगतिको मार्ग यह संज्ञा ही योग्य नहीं, और श्रुतिने वैसी संज्ञा दी भी नहीं है।

उपरोक्त विवरणमें स्थूल मानसे सृष्टिकी उत्पत्ति क्रमके पांच मूलतत्त्व ठहराकर उन्हें होम हवनके रूपकसे वर्णन किया है, और इसी कारण इसे पंचाग्नि विद्या यह संज्ञा प्रदान की गई है। इसका संक्षेपमें स्वरूप इस प्रकारका है—

	अग्नि	समिधा	धुंआ	ज्वाला	अंगार	चिनगारियाँ	हवन द्रव्य	फल
१	द्युलोक	सूर्य	किरण	प्रकाश	दिशा	उपदिशा	दिव्य आप्	सोम
२	पर्जन्य	वायु	बादल	बिजली	प्रकाशके रूपमें गिरनेवाली	गडगडाहट या गर्जना	सोम	वृष्टि
३	पृथ्वी	संवत्सर	आकाश	रात्रि	चंद्र	तारागण	वृष्टि	अन्न
४	पुरुष	मुंह	प्राण	वाणी	आंख	कान	अन्न	रेत
५	स्त्री	जननेन्द्रिय	संकेत	लोम	अन्तःक्रिया	आनंद या रति	रेत	मनुष्य

*

आधुनिक शास्त्रज्ञोंने आजतक जितनी भी प्रगति संशोधनोंमें की है, वह सारी एक ही रीतिसे की है। इस कारण जो कोईसी वैदिक ऋषियोंने की हुई शास्त्रीय उपपत्ति इनके सामने रखी जाती है, तो वे झट उसका मेल उनकी पद्धतिमें लगता है या नहीं, और यदि लगता है, तो किस तरह, यह देखने लगते हैं। इन शास्त्रज्ञोंको यह बात न भूलनी चाहिये, कि वैदिक ऋषियोंके किये हुए संशोधन कमसेकम ५००० वर्ष पूर्वके हैं इसी तरह ये संशोधन उन्होंने किन साधनोंसे किये हैं इसका और उसी तरह उन्होंने किस रीतिसे अपना संशोधनात्मक कार्य किया है इन सब बातोंका हमें जरा भी पता नहीं है।

ऊपर जो पंचाग्नि विद्याका संक्षेपमें स्वरूप बताया है, उसे आज विपुल उपकरण तथा अन्य उपलब्ध साधनसामग्रीका उपयोग कर वैदिक ऋषियोंद्वारा किये हुए शास्त्रीय संशोधनोंके निष्कर्षोंको आधुनिक शास्त्रीय रीतिमें योग्य स्थान प्राप्त करा देनेका उत्तरदायित्व भारतीय शास्त्रज्ञोंपर है।

हमें विश्वास है, कि ऐसे प्रयत्नोंसे वे विश्वरचनाके विषयको जाननेकी एक नई प्रणाली संसारके सामने प्रस्तुत कर अपने राष्ट्रका गौरव बढावेंगे, तथा हमारी पुरानी शास्त्रीय परंपराको पुनरुज्जीवन प्रदान करनेका श्रेय लेंगे।

उपनिषदोंमें जगदुत्पत्ति क्रमके विषयकी अनेक प्रणालियोंका वर्णन पाया जाता है। उन सबमें प्राचीन पंचाग्नि विद्या होनी चाहिये, ऐसा अनुमान किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त तैत्तिरीय उपनिषद्के शिक्षा अध्यायके समान ही इस ब्रह्मविद्याका याज्ञिकी स्वरूप है, ऐसा पंचाग्नि विद्याकी रचनासे प्रतीत होता है। हम ऊपर बता ही चुके हैं कि, पंचाग्नि विद्या ज्ञान विज्ञानका एक प्रकारका शास्त्र शुद्ध मिश्रण ही है, ऐसा समझनेमें यत्किंचित् भी आपत्ति नहीं है। पृथिव्यादि पंचमहाभूत (आधिभौतिक सृष्टि) दिव्य आप्, देवता आदि (आधिदैविक सृष्टि), औषधि, वनस्पति, प्राणी मनुष्य आदि (आध्यात्मिक सृष्टि) इन सबोंका विवेचन इस पंचाग्नि विद्याके रूपसे किया गया है। इसमें द्युलोक, पर्जन्य, पृथ्वी, पुरुष और स्त्री ये पांच अग्नि हैं।

यहां अग्नि शब्दका तात्पर्य इतना ही है कि जिन तत्त्वोंके संयोगसे यह सृष्टिक्रम चल रहा है उस संयोगका स्थान, किंवा अधिष्ठान, इसीको यहां अग्नि कहा गया है। संयोग हमेशा दो पदार्थोंमें हुआ करता है। इस प्रकारके संयोगके लिये या तो उन दोनों पदार्थोंकी क्रिया कारणीभूत होती है, और या उन दोनोंमेंसे एक स्थिर होता है, और दूसरे पदार्थकी क्रियासे ही संयोग हो जाता है। उदाहरणार्थ लकडी और कुल्हाडी, जब कुल्हाडीको लकडी फाडनेके लिये उसपर मारते हैं, तो यहां लकडी स्थिर रहती है और कुल्हाडीको मारनेकी क्रिया संयोगका कारणीभूत होती है। इसी प्रकार जिन पांच तत्त्वोंका अग्निरूपसे निर्देश किया गया है, वे सारे तत्त्व इस सृष्टिजनक व्यापारमें स्थिर हैं, ऐसी कल्पना कर, जिन तत्त्वोंका क्रियासे मुख्यतः संबंध आता है, उनको आहुतिका रूप दिया गया है। ये आहुति रूप तत्त्व भी पांच ही हैं– श्रद्धा (दिव्य आप्), सोम (रसतत्त्व),

वृष्टि (पानी), अन्न और रेत (वीर्य)। दिव्य आप् इत्यादि तत्त्वोंका (अर्थात् आहुतियोंका) द्युलोक, पर्जन्य, पृथ्वी, पुरुष और स्त्री इन पांच अग्नियोंसे विशिष्ट प्रकारके संयोगसे ही यह सारी सृष्टि उत्पन्न हुई है। यही इस रूपकका तात्पर्य है। परंतु यहां इस बातको स्पष्ट करनेकी आवश्यकता है, कि जिन तत्त्वोंको आहुति कहा है, उनका संबंध द्युलोक इत्यादिसे अर्थात् अग्नियोंसे आप् ही आप् नहीं आता वरन् वह संयोग जमानेका हेतु पुरःसर उद्योग करनेवाली 'ईश' शक्ति या उसके अंश (देवता) इस सृष्टिक्रममें प्रधानत्वसे संबंधित हैं, ऐसा श्रुतिका स्पष्ट सिद्धांत है।

आधुनिक भौतिक शास्त्रज्ञोंने अनेक प्रकारके रासायनिक संयोगोंका संशोधन कर सृष्टिकी कार्यकारणभावात्मक उपपत्ति सर्वथा नवीन, परंतु तर्क-शुद्ध और सप्रमाण पद्धतिसे सिद्ध की है। इस प्रकारकी आधुनिक उपपत्ति मान्य करनेसे वैदिक ब्रह्मविद्याके वैज्ञानिक सिद्धांतोंकी हानि तो होगी ही नहीं, वरन् उसमें उत्तम प्रकारका सहयोग या मेल होगा, और वैदिक ऋषियोंके हेतुके अनुसार ब्रह्मज्ञानका बुद्धिगम्य मार्ग अधिक सुकर बन जायेगा, इसमें यत्किंचित् भी शंका नहीं है। यहां प्रश्न केवल इतना ही है, कि अभी तक आधुनिक भौतिक शास्त्र वेत्ताओंको ईश शक्ति या देवताओंका कर्तृत्व ठीक तौरसे मान्य करते नहीं आता, और यही आधुनिक विज्ञानशास्त्र और औपनिषदिक विज्ञानशास्त्रमें एक भारी अन्तर है। परंतु यह मतभेद मिट जाना असंभव नहीं है।

पदार्थोंके अंदरकी कार्यकारी शक्ति उस उस पदार्थमें स्वयं सिद्ध होती है, और वह ज्ञान प्रयुक्त नहीं रहती, ऐसा आधुनिकोंका मत है; तो इसके विपरीत पदार्थोंकी शक्ति व्यावहारिक दृष्टिसे जो भी स्वयं सिद्ध हो, तो भी उस शक्तिका या उन शक्तियोंका उद्गम स्थान परमात्म तत्त्व ही है ऐसा वैदिक ऋषियोंका मत होते हुए पदार्थोंमें प्रकट होनेवाली यह शक्ति मूल परमात्मतत्त्वसे ही निकलती हुई होनेसे वह उस परमात्मतत्त्वके ज्ञान शक्तिसे संलग्न होकर ही प्रकट होती है, ऐसा वैदिक ब्रह्मविद्याका सिद्धांत है। प्राचीन और अर्वाचीन विज्ञानशास्त्रोंमेंका यह मतभेद साम्य होते हुए

वह उत्तरोत्तर मिट जानेकी भी संभावना है क्योंकि वह मतभेद तीव्र न होनेके कारण उसे महत्त्व देनेका प्रयोजन नहीं है।

सृष्टिक्रमके जिन जिन रसायनिक तथा भौतिक व्यापारोंका संशोधन आधुनिक शास्त्रज्ञोंने किया है, उन सबोंको स्वीकार कर उन सारे व्यापारोंके कर्तृत्वशक्तिका केन्द्रस्थान परमात्मतत्त्व ही है, इतना ही केवल वैदिक ब्रह्मविद्याका विशेष कहना है, और इसका आधुनिक शास्त्रीय तत्वोंसे धीरे धीरे समन्वय होना जरा भी कठिन नहीं है। आधुनिक शास्त्रकारोंने विश्वकी शुरूवातसे मनुष्य निर्मितीतक जो उत्क्रांति हुई है, उसमें तीन बातोंको अत्यंत महत्वपूर्ण तथा प्रमुख स्थान दिया है। वे इस प्रकार हैं– १. कार्बनका निर्माण (Origin of carbon) क्योंकि कारबन असंख्य ऑरगॅनिक कंपाउन्डस् (Organic Compounds) बनानेकी शक्ति रखता है। २. जीवशक्तिका निर्माण (Origin of life) अर्थात् निरिंद्रिय या निर्जीव सृष्टिमें सेंद्रिय या सजीव सृष्टिका निर्माण। ३. सजीव सृष्टिमें बुद्धिका तथा मनुष्यमें विचार करनेकी शक्ति तथा वाचाका निर्माण (Consciousness and conceptual thought and speech) यदि हमारे वैदिक ऋषियोंने इन तीन मुख्य स्थानों या सीढियोंके बदले पांच मुख्य सीढियां माना हो, तो उसमें कोई आश्चर्य नहीं है।

उपरोक्त विवरणमें विशद् किये हुए पंचाग्नि विद्याका वैज्ञानिक स्वरूप ध्यानमें लें, तो उपनिषद् कालमें जो भौतिक सिद्धांत हमारे ऋषियोंको उपलब्ध हुए थे, उन सबका विचारपूर्वक अध्ययन और उपयोग करके ही ब्रह्मज्ञान और ब्रह्मविद्याके पंचाग्निविद्यामें विशद् किये हुए पांच मुख्य मुख्य स्थान या सीढियां निश्चित की थीं, ऐसा ही निःसंशय ठहरता है। पंचकोषात्मक भार्गवी वा वारूणी विद्या, पंचाग्नि विद्या और प्राणविद्या ये ब्रह्मविद्याके भिन्न भिन्न अंग होनेसे इन सब विद्याओंका ' अमृतत्व ' यह एक ही फल श्रुतिने बताया है। पंचाग्नि विद्याके योगसे पिंडब्रह्मांडकी उत्पत्तिका क्रम समझनेसे सृष्टिके एकत्वके और अनेकत्वकी उपपत्तिका सम्यक् ज्ञान

होता है। केवल आत्मज्ञान या विज्ञान मोक्षके लिये उपयोगी नहीं ठहरते, ऐसा ही श्रुतिका स्पष्ट मत प्रतीत होता है।

श्वेतकेतु तथा उसके पिता गौतमने यज्ञविद्या और वेदविद्याका अभ्यास किया होगा। कदाचित् उन्होंने आत्मविद्याका अभ्यास भी किया होगा, परन्तु परा और अपरा विद्याओंमें मेल कैसे मिलाना, यह उन्होंने नहीं समझा होगा। प्रवाहण जैविली राजाने इस पंचाग्नि विद्याके योगसे ज्ञान विज्ञानका मेल मिलाकर बताया, और उन पितापुत्रको कृतार्थ किया। इससे यह स्पष्ट है कि, पंचाग्नि विद्या यह ज्ञान विज्ञानके गंगा यमुनाका संगम स्थान प्रयाग क्षेत्र ही है, ऐसा सिद्ध होता है।

उपर्युक्त विवेचनमें प्रवाहण जैविली राजाद्वारा गौतम श्वेतकेतुको समझाई हुई पंचाग्नि विद्याका विवेचन है। इसमें उन पांचों प्रश्नोंके उत्तर पाए जा सकते हैं, जो प्रश्न राजाने श्वेतकेतुको पूछे थे, और जिनके उत्तर उसे या उसके पिता गौतमको ज्ञात न थे। इस विवेचनके अनुसार दिव्य आप् (जिसे हम Primeval Matter कह सकते हैं) ही सृष्टिका मूल कारण है। यद्यपि यह दिव्य आप् भी ब्रह्मतत्त्वसे ही उत्पन्न हुआ है, तथापि जगत्की अपेक्षासे वह सृष्टिका मूल कारण या तत्त्व ही है, ऐसा कहनेमें कोई बाधा नहीं आती। इस दिव्य आप्से ही दूसरे सारे द्रव्य उत्पन्न होते हैं, या यों कहिये कि इस दिव्य आप्का अलग अलग शक्तियोंसे संयोग होकर उससे सोम नामका रसतत्त्व उत्पन्न होता है।

सोमका फिर दूसरे द्रव्योंसे संयोग होकर वृष्टिका निर्माण बताया गया है, और इसी प्रकार फिर पर्जन्य या वृष्टिसे अन्न, अन्नसे रेत (वीर्य) और रेत (वीर्य) से पुरुषकी उत्पत्ति होती है, ऐसा स्पष्ट बताया गया है। ये आधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक स्थित्यंतर हैं, और राजाके पूछे हुए चौथे प्रश्नका उत्तर, पांच अग्नि और पांच आहुतिके रूपका जिन स्थित्यंतरोंका वर्णन अभी किया है, उससे मिलता है, अर्थात् मानव वाणी और बुद्धि ये सृष्टिके उत्क्रांतिका श्रेष्ठतम स्वरूप हैं। इन पांच

स्थित्यंतरोंके योगसे ही दिव्य आप् मनुष्य स्वरूपको प्राप्त होता है, ऐसा इसका तात्पर्य है।

देवयान और पितृयाण इनके आधारसे शेष चारों प्रश्नोंके उत्तर मिल सकते हैं ऐसा ही ऋषिका मत स्पष्ट प्रतीत होता है। मनुष्य प्राणी इस लोकको छोड भिन्न भिन्न मार्गसे कैसे जाता है? इस पहले प्रश्नका उत्तर यह है कि, पंचाग्नि विद्याका पूर्ण ज्ञान होनेसे अर्थात् ज्ञानविज्ञानसंपन्न कर्तव्य तत्पर मनुष्य देवयान मार्गसे मोक्ष प्राप्त कर लेता है, तथा अपने कर्म सकाम बुद्धिसे करनेवाला मनुष्य पितृयाण मार्गसे स्वर्ग सुख प्राप्त करता है। केवल अज्ञानी मनुष्य या मूढ मनुष्य अधोगतिको जाता है। परलोक गया हुआ प्राणी वापस कैसे आता है? इस दूसरे प्रश्नका उत्तर भी पहले प्रश्नके उत्तरसे ही मिलता है, वह इस प्रकारकी सकाम बुद्धिका मनुष्य पितृयाण मार्गसे, अर्थात् स्वर्गसुखका उपभोग लेकर फिर मनुष्य लोकमें वापस आता है। तीसरे प्रश्नका उत्तर भी इसीसे मिलता है कि, देवयान मार्गसे जानेवाला मनुष्य मोक्ष प्राप्त करता है, अर्थात् ब्रह्मस्वरूप हो जाता है।

ब्रह्म यह दिक्कालके परे रहनेसे, ब्रह्मलोक गए हुए प्राणियोंसे भर जानेकी कल्पना नहीं कर सकते, तथा सकाम कर्मसे प्राप्त होनेवाला स्वर्ग वहां गए हुए प्राणियोंसे इस कारण नहीं भर जाता कि स्वर्गलोकमें कुछ कालके लिये ही प्राणियोंका निवास रहता है, और उसके बाद उन्हें मनुष्य लोकमें ही वापस आना पडता है। अब अन्तिम अर्थात् पांचवें प्रश्नमें देवयान और पितृयाण मार्गके साधन पूछे गए हैं, और उसके उत्तरमें पंचाग्नि विद्याको ज्ञानपूर्वक किया हुआ निष्काम कर्म देवयान मार्गका एक साधन बताया है, तथा संन्यास वृत्तिसे अरण्यमें रहकर सत्यस्वरूप ब्रह्मकी उपासना करना, देवयान मार्गका दूसरा साधन बताया है।

इन दोनोंमेंसे किसी भी एक साधनसे देवयान मार्गका लाभ होता है, और उससे जीवको मोक्ष प्राप्ति होती है, ऐसा इस ब्राह्मणके १५ वें मंत्रमें

स्पष्ट कहा हुआ है। यज्ञ, ज्ञान, तप आदि पितृयाण मार्गके साधनोंसे ही स्वर्ग प्राप्तिके बाद फिर जीव मनुष्य लोकमें वापस आ जाते हैं और इस प्रकार वे सृष्टि चक्रमें फिरते रहते हैं। अन्तमें इसी मंत्रमें देवयान और पितृयाण मार्गसे जानेकी भिन्न भिन्न सीढियोंके नाम भी क्रमसे दिये हुए हैं, और देवयान या आर्चिरादि मार्ग और पितृयाण या धूम्रादि मार्ग इस प्रकारकी संज्ञायें इन्हें प्राप्त हैं।

इस मन्त्रके विवेचनमें मोक्ष प्राप्तिके दो ही साधन श्रुतिने स्पष्ट रूपसे बताए हैं, परंतु यह बात हमारे मायावादी संन्यासमार्गियोंको कुछ जंचती नहीं दिखाई देती, इस कारण पंद्रहवें मन्त्रमें वानप्रस्थ या यति इनका "इमे आरण्ये" इस पदसे जो निर्देश किया है वे वास्तवमें ज्ञानी संन्यासी नहीं हैं ऐसा उनका कहना है, और यहां परिव्राजक शब्दसे त्रिदंडी या केवल चतुर्थाश्रम लिये हुए संन्यासी ही हैं ऐसा ही मानना उचित है क्योंकि एषणाओंसे व्युत्थित ज्ञानी संन्यासीका आर्चिरादि मार्गमें प्रवेश ही नहीं हो सकता, ऐसा कहनेके कारण वे एक प्रकारसे श्रुतिका अभिप्राय अप्रत्यक्षतः अमान्य करते हैं, ऐसा कहना पडता है। ऐसा कहना पडता है, कि संन्यासमार्गियोंकी यह उक्ति बिलकुल ही निराधार है, तथा युक्तिवादकी दृष्टिसे संपूर्णतः अग्राह्य है।

वस्तुतः संन्यासमार्गी टीकाकारोंको आर्चिरादि मार्गका इतना डर नहीं लगता वरन् उन्हें कर्म योगका ही डर लगता है। देवयान मार्गके साधनोंका विषय पंद्रहवें मंत्रके पहले दो वाक्योंमें हैं, और पहले वाक्यमें कर्मयोगका और दूसरेमें संन्यास मार्गका प्रतिपादन है। दूसरे वाक्यके सन्यासियोंका मोक्ष दायकत्व यदि मान्य किया तो पहले वाक्यमें बताए हुए कर्मयोगका मोक्ष दायकत्व भी मान्य करना पडता है, और यह मान्य करना मायावादी सिद्धांतको पूर्णरूपेण बाधक रहनेसे इस कर्मयोगकी पकडसे छूटनेके हेतुसे पुराने टीकाकारोंने यह द्राविडी प्राणायाम किया है, ऐसा कहना पडता है।

इस प्रकार निश्चित ही अमृतत्व प्राप्त होनेका मार्ग अर्थात् देवयान मार्ग ही है। यह देवयान मार्ग क्रममुक्ति स्वरूपका होनेसे वह सद्योमुक्तिकी कल्पनाके विरुद्ध है, ऐसी संन्यासमार्गियोंकी धारणा है। वास्तविकतः सद्योमुक्ति और क्रममुक्तिमेंका भेद शास्त्र शुद्ध अथवा सयुक्तिक नहीं है। आभासरूप मायावादमें सद्योमुक्तिकी कल्पनाको अवास्तविक महत्त्व दिया गया है। आभासरूप मायावादकी कल्पना यदि छोड दी गई, तो सद्योमुक्ति और क्रममुक्ति ये भिन्न नहीं हैं अपितु एक ही हैं, ऐसा ही समझमें आ जावेगा। ब्रह्म साक्षात्कारके बादमें प्राप्त होनेवाली ब्राह्मी स्थितिको पहुंचा हुआ जीवात्मा तत्त्वतः ब्रह्म स्वरूप ही होता है। फिर वह मनुष्य रूपमें हो या देवतारूपमें हो एकसा ही होता है। जिस प्रकार ब्राह्मी स्थितिमें पहुंचा हुआ ज्ञानी मनुष्य समाज धारणाके लिये लोक संग्रहार्थ मानव कर्म आचरण कर परमेश्वरके कार्यको मदद करता है उसी प्रकारसे वह देवता रूपमें सृष्टिचक्र चलानेमें भी परमेश्वरके कार्यको सहायता करता है।

देवता रूप धारण करनेमें ज्ञानविज्ञानसंपन्न जीव परतंत्र नहीं रहता, अपितु पूर्णतः स्वतंत्र रहता है, ऐसा ही देवयान मार्गके वर्णनसे प्रतीत होता है, क्योंकि विद्युत् शक्तिके स्वरूपतक वह स्वतंत्र रीतिसे जाता है ऐसा श्रुतिने देवयान मार्गका वर्णन करते समय स्पष्ट ही बताया है, तथा अन्तमें वह ब्रह्मलोकको जाता है, अर्थात् जिस तत्त्वका मन या वाणीसे वर्णन नहीं कर सकते, उसमें (अर्थात् उस तत्त्वमें) लीन हो जाता है। इस प्रकार ज्ञानी जीव इस सृष्टि चक्रसे एक दम नहीं चला जाता बल्कि वह क्रम क्रमसे अलग अलग सीढियें चलते चलते और सृष्टि चक्रको सहायता करते करते मूल स्वरूपमें लीन हो जाता है यही देवयान मार्गका तात्पर्य है।

हमने देवता बुद्धिके प्रकरणमें स्पष्ट किया है, कि देवता शब्द जहां कहीं प्रयुक्त हो वह सामर्थ्य तथा ज्ञान इन दोनों अंशोंसे युक्त होता है, ऐसा ही निर्विवाद रूपसे समझना चाहिये। ब्रह्म साक्षातकारके पहले यानी अज्ञानावस्थामें मानवके मन बुद्धि आदि अवयव सदोष और इसी कारण विकार

वश होते हैं। बुद्ध्यादि इंद्रियोंकी यह सदोषता जिस प्रमाणमें कम होती जाती है, उसी प्रमाणमें मनुष्य साक्षात्कारके पास पहुंचता जाता है, और साक्षात्कार ही आध्यात्मिक उन्नतिकी परमावधि है क्योंकि इस समय मन बुद्ध्यादि इंद्रिय नितांत निर्मल बन जाती हैं। इस कारण यह कहा जा सकता है कि, साक्षात्कारके बादकी जीवनमुक्तावस्थामें अहं प्रत्यय बुद्धि, मन इत्यादि शक्ति या अवयव शुद्ध देवतारूप होते हैं, अर्थात् इंद्रियोंका आत्यंतिक शुद्ध स्वरूप यानी देवत्व है। दशोपनिषदोंमें अनेक स्थानोंपर इंद्रियादिकोंका देवता रूपमें वर्णन किया गया है।

इस सारे विवेचनसे निर्विवाद सिद्ध होता है, कि जीवनमुक्तावस्थामें ब्रह्मवेत्ताका जीवन क्रम शुद्ध देवतामय बन जाता है, अर्थात् उनके जीवन क्रममेंका कोई भी अधिकारी (अवयव) नष्ट नहीं होता, न वह प्रारब्धा धीन ही होता है। ये सारी शक्ति (अवयव) या देवता सृष्टिकर्ता परमेश्वरके मूल हेतुके अनुसार अपने अपने कार्य निर्दोषता पूर्वक करते रहते हैं, क्योंकि वे रागद्वेषादि विकारोंके आधीन नहीं होते हैं। इस प्रकार उत्क्रांतिके हेतुसे निगडित कर परमेश्वरकी स्थापित यह जीव संस्था परमेश्वरके हेतुके अनुसार चलकर अन्तमें इस जीव संस्थाके मुख्य मुख्य घटकावयवोंके स्थानोंमें रहनेवाले देवता या शक्ति सृष्टिमेंके मूल तत्त्वोंमें अर्थात् उनके मूल स्थानोंमें जाकर विलीन होती हैं, परंतु उसका विज्ञानमय आत्मा यानी "बुद्धि विशिष्ट चिदंश" बुद्धि सहित परब्रह्मसे ही एक रूप हो जाता है, ऐसा श्रुतिने मुंडक, प्रश्न आदि उपनिषदोंमें स्पष्ट कहा है।

इससे यह स्पष्ट है, कि मोक्ष यह चिद्रूप आत्माको मिलनेवाली वस्तु नहीं है, बल्कि वह सचमुच बुद्धिको प्राप्त होनेवाला होता है। बुद्धि जड है, तथापि वह चैतन्यसे ही उत्पन्न होनेके कारण आत्मज्ञान पूर्वक उसका जडत्व नष्ट होकर अन्तमें वह भी चैतन्य रूप हो जाती है, (Change of matter into energy) यही मानव जीवनकी परमावधि है। यही बात देवयान मार्गका वर्णन करते समय छांदोग्योपनिषद्में इस प्रकार बताई

गई है कि ज्ञानी जीवकी उत्क्रांति होते होते अर्थात् देवता रूप होते होते विद्युत् शक्तितक जानेपर उस शक्तिमेंका अतिमानुष या अमानव ऐसा एक पुरुष (देव) इस जीवको ब्रह्मरूपको पहुंचाता है। बृहदारण्यकमें देवयान मार्गके वर्णनमें इसीको मानस विशेषण दिया गया है।

देवयान और पितृयाण इन दो मार्गोंकी सीढियोंका जो वर्णन उपनिषदोंमें है उसमें दिन, रात, शुक्ल पक्ष, कृष्णपक्ष, संवत्सर आदि शब्दोंका सामान्य अर्थ काल वाचक है या कभी था या नहीं ऐसा प्रश्न सहज रूपसे उपस्थित होता है। दिन, रात, शुक्ल आदि शब्द यद्यपि कालवाचक हैं तथापि इन्हींके साथ साथ जो दूसरी सीढियोंके नाम हैं, उनका अर्थ तो कभी भी कालवाचक नहीं हो सकता और ज्ञानी पुरुष दिन या रात तथा शुक्ल या कृष्ण पक्षमें मरनेसे जो उसे भिन्न भिन्न गति प्राप्त होती हो, तो फिर ज्ञानका महत्त्व ही क्या रहा, ऐसा प्रश्न सामने आता है। इस विषयमें भिन्न भिन्न ग्रन्थकारोंके मतोंका विवेचन करनेकी अपेक्षा ब्रह्मसूत्रकारोंके विचारोंपर आधारित तथा हमारी स्वतंत्र समझमें श्रुतिका तात्पर्य क्या है उसीको स्पष्ट करनेका प्रयत्न करेंगे।

छांदोग्य. (४।१५।५) में जो आर्चिरादि मार्गका वर्णन आया है उस वर्णनको अनुलक्ष्य कर श्रीबादरयणाचार्यने वेदांतसूत्रोंमें विस्तारपूर्वक विचार किया गया है। उनका कहना है, कि उपनिषदोंमें ब्रह्म प्राप्तिके मार्गोंके अनेक प्रकारके वर्णन आए हों, तो भी उन सबोंका एकीकरण होना संभव है, और इस विषयका विस्तारपूर्वक विचार करते हुए उन्होंने स्पष्ट रूपमें कहा है, कि आर्चिरादि मार्गमें प्रकाश किरणों जैसे पदार्थ, दिन, महीने संवत्सर इत्यादि कालवाचक शब्द तथा सूर्य, चंद्र, विद्युत् आदिका जो उल्लेख है वे सब देवतावाचक ही समझना चाहिये; और ये सारे देवता जीवात्माको ब्रह्म तत्त्वतक पहुंचाते हैं, (ब्र. सू. ४, पद ३, सू १।६)। इसका अर्थ यही है कि जीवात्मा अपने ज्ञानेश्वर्य सामर्थ्यसे ही इन सारे देवता स्थानोंका आक्रमण करता है, और वे सारे देवता उसके उत्क्रांतिको सहायक ही होते हैं।

इन्हीं सूक्तोंमें खास तौरसे ध्यानमें रखनेवाली बात जो उन्होंने बताई है वह यह है, कि जीवात्मा विद्युत् स्वरूपको प्राप्त होनेपर विद्युत् रूपी देव ही उस जीवको ब्रह्म स्वरूपको पहुंचाता है। विद्युत्का साधारण धर्म ही है कि उसका व्यक्त स्वरूपका कार्य समाप्त होते ही वह अपने कारण स्वरूपमें लीन हो जाती है। विद्युत्के इस विशेष धर्मको ध्यानमें रखते हुए ही श्रुतिने " एनान् ब्रह्म गमयति " करके कहा है। तात्पर्य यही है, कि श्रुतिके वाक्यों या शब्दोंकी कई स्थानोंपर व्यर्थ ही खींचतानकी हुई दिखाई देती है। इसका कारण केवल एक ही है, कि पिछले दो हजार वर्षोंसे हमारा विज्ञानशास्त्र लुप्त हो गया है।

आधुनिक कालमें हमारे शास्त्रीय विद्वानोंने वैदिक वाङ्मयकी ओर शास्त्रीय दृष्टिकोणसे देखनेकी आवश्यकता ही न समझी। वस्तुतः श्रुतिका " देवयान " यह शब्द सरलसे सरल है। देव या देवता अर्थात् चैतन्य युक्त शक्ति (ज्ञानयुक्त सामर्थ्य) और 'यान' अर्थात् ले जानेवाला इस प्रकार देवयान शब्दसे यह स्पष्ट है कि " देवताओं द्वारा ले जाया जानेवाला मार्ग " और चूंकि साक्षात्कारके बाद अर्थात् जीवन्मुक्तावस्थामें मनुष्यके अहंप्रत्यय, बुद्धि, मन इत्यादि घटकावयव या शक्ति शुद्ध देवतारूप हुए होते हैं, तो उन्हींकी सहायता या मददसे जीवको अमृतत्व या मोक्ष प्राप्ति हो जाती है, यही देवयान मार्ग है।

देवयान हो या पितृयाण ये दोनों मार्ग शास्त्रोक्त कर्म अर्थात् पुण्य कर्म करनेवालेको ही प्राप्त होते हैं, और चूंकि देवयान शब्दका अर्थ हम अभी निश्चित रूपसे सिद्ध कर चुके है, तो पितृयाण शब्दका इसी तरह स्पष्ट खुलासा करना अनिवार्य हो जाता है। हम उपर बता चुके हैं, कि पितृयाण मार्ग यद्यपि प्रत्यक्षतः मोक्षदायक न भी हो, तो भी उस मार्गका अधोगतिमें पर्यवसायन नहीं होता, यह निश्चित है। इस मार्गसे जानेवाला शिक्षा भुगत रहा है ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इस मार्गमें किसी प्रकारसे धर्म मर्यादाका उलंघन नहीं होता; इसी कारण कठ. (१।१।१३)

में नचिकेताने यमधर्मको स्पष्ट ही कह दिया था, कि मुझे स्वर्ग प्राप्ति इसलिये नहीं चाहिये, कि मैं स्वर्ग सुखका उपभोग करूं, परंतु मुझे स्वर्ग प्राप्ति इसलिये चाहिये, कि स्वर्ग प्राप्त लोगोंको अमृतत्व या मोक्ष प्राप्त कर लेना सुलभ होता है, और इस कारण पितृयाण मार्गसे प्राप्त होनेवाला स्वर्ग मुझे अवश्य चाहिये।

छांदोग्य तथा बृहदारण्यकमें इस मार्गका वर्णन करनेमें जो पदार्थ, कालवाचक शब्द अथवा लोक आए हैं, उन्हें भी देवयान मार्गमें वर्णन किये अनुसार देवतावाचक या देवता विशिष्ट ही समझना उचित है। इस मार्गसे जानेवालेको मुक्ति नहीं मिलती परंतु उसे जो स्वर्ग प्राप्ति होती है वह स्थायी नहीं होती, क्योंकि स्वर्ग सुखके उपभोगका काल उसके पुण्य कर्मपर अवलंबित रहता है, और स्वर्गोपभोगके बाद उसे मनुष्यलोकमें वापिस आना पडता है। प्रश्नोपनिषद् (१।९) में पितृयाण मार्गका वर्णन करते समय इस मार्गसे जानेवाले ऋषियोंको "प्रजाकाम" विशेषण दिया गया है।

इस विशेषणमें यद्यपि सकाम वृत्तिकी कल्पना अभिप्रेत है तो भी ऐतिहासिक तथा विशेषरूपसे शास्त्रीय दृष्टिसे इस शब्दको अत्यंत महत्त्व प्राप्त हो जाता है। क्योंकि जो प्रजावान नहीं अर्थात् जिसे संतति नहीं उसे सद्गति नहीं मिलती, ऐसा नियम पहले एक कालमें सर्वमान्य था, और इस अर्थके वचन आज भी धर्मशास्त्रमें मिलते हैं। जरत्कारु जैसे आख्यान महाभारतादि इतिहास ग्रन्थोंमें मिलते हैं, और इस प्रकार संततिकी प्राप्ति यही पितरोंके ऋणसे मुक्त होनेका मुख्य उपाय है यह निर्णय सहज ही प्राप्त कर सकते हैं। इस कल्पनाको ध्यानमें रखनेसे प्रजाकाम और पितृयाण इन दो शब्दोंका तथा देवयान और पितृयाण इन दो शब्दोंका संबंध बिलकुल पास पास आ जाता है, और संतति बिना सद्गति नहीं यह शास्त्रीय नियम जो इस कालमें सर्वमान्य था, उसकी पितृयाण यह संज्ञा प्राप्त हुई होगी, ऐसा अनुमान करनेमें कोई आपत्ति दिखाई नहीं देती।

ऊपर स्पष्ट बताया है कि, जिस प्रकार देवयान शब्दसे देवताओंद्वारा मोक्षको ले जानेवाला मार्ग ऐसा सरल अर्थ निष्पन्न होता है, उसी तरह पितृयाण शब्दसे "पितृपरंपरासे प्राप्त होनेवाला मार्ग" 'पितृयाण' शब्दसे सरलतम अर्थ निकलता है, और इस स्थानपर यदि आधुनिक जीव या प्राणिशास्त्र (Biology) की सहायतासे इस प्रश्नको सुलझानेका प्रयत्न किया गया, तो पितृयाण शब्दकी समस्या तथा पितृयाण और देवयान मार्गका पारस्परिक संबंध अत्यंत सरलतासे सुलझाया जा सकता है।

यहांपर हम एक मामूली खेलका उदाहरण देकर इस विषयको और भी स्पष्ट करेंगे। एक खेल है, मोक्षपट या अंग्रेजीमें सांप और सीढियोंका खेल कहते हैं। इसमें १ से १०० तक खाने बने हुए होते हैं और बीच बीचमें सांप और सीढियोंके चित्र बने होते हैं। इस खेलको खेलनेवाले एक पांसेको फेंककर उसमें जितना दान आता है, उतने घर या खाने अपनी गोट चलाते है। यदि पांसेका अंक ऐसा आया कि जिस खानेमें सीढीका निचला सिरा है, उस खानेमें गोट पहुंची, तो उस सीढीके ऊपरका सिरा जिस खानेमें हो, उस खानेमें गोट चढा दी जाती है। इसके विपरीत अपनी गोट यदि ऐसे खानेमें पहुंची कि जिसमें सांपका मुंह हो, तो वह गोट सांपकी पूंछका सिरा नीचेकी तरफ जिस खानेमें होता है उस खानेमें उतार दी जाती है। इस प्रकार यदि गोट सीढियां चढती हुई और सांपोंका मुंह जिन खानोंमें हों उनसे बचती हुई आगे निकल जाय तो वह जीत जाती है अर्थात् मोक्ष प्राप्त कर लेती है, ऐसा इस खेलका तात्पर्य है।

उपर्युक्त खेलके उदाहरणमें यही दिखाया गया है, कि मनुष्य सत्कर्म करके धीरे धीरे उन्नतिके मार्ग पर अग्रसर होता रहता है, और उसे पुण्य कर्मके कारण स्वर्ग (उच्चतम स्थिति) प्राप्त होती है, परंतु बीचमें यदि वह इंद्रियोंके आधीन होकर विषयोपभोगोंमें मग्न हो जाय, अर्थात् खेलमें सांपोंके मुंहवाले खानेमें पहुंच जाय, तो स्वर्गोपभोगके बाद उसे मनुष्य लोकमें वापस आना पडता है, अर्थात् खेलमें गोट सांपके पूंछका सिरा

नीचेकी ओर जिस खानेमें हो उस खानेतक उतार दी जाती है। इस प्रकारकी चढ उतर उसके वंशमें बराबर चालू रहती है। यही पितृयाण मार्ग है। इसके विपरीत मनुष्य सत्कर्म करके धीरे धीरे उन्नतिके मार्गपर अग्रसर होता रहता है और विशेष प्रयत्नसे एक एक इंद्रियशक्ति या देवताकी सहायतासे क्रमक्रमसे अपनी उत्क्रांति करता रहता है। जैसे खेलमें सीढीके निचले सिरेके खानेमें पहुंचते ही सीढीका ऊपरका सिरा जिस खानेमें हो उस खानेमें गोट पहुंचा दी जाती है, इसी प्रकार भिन्न भिन्न इंद्रिय-शक्ति या देवताओंकी सहायतासे अन्तमें मोक्ष या अमृतत्व या ब्रह्मप्राप्ति कर लेता है जैसे खेलमें सीढियां चढते चढते और सांपोंके मुंहोंवाले खानोंसे बचते हुए खेल जीत जाता है, यही क्रम मुक्तिका देवयान मार्ग है।

इस विषयके विवेचनमें आए हुए 'लोक' इस शब्दका अर्थ बृहदा-रण्यक उपनिषद् (१।५।१६) से स्पष्ट होता है, जिसमें कहा गया है, कि ... "मनुष्यलोक, पितृलोक, और देवलोक ऐसे तीन ही लोक है, जिसमें पुत्रद्वारा ही मनुष्यलोक प्राप्त होता है, अन्य किसी कर्मसे नहीं। विहित कर्तव्याचरणसे पितृलोक प्राप्त कर सकते हैं, और विद्या (ज्ञान विज्ञान) से ही देवलोक प्राप्त करते आता है।" इन सबमें देवलोक और उसके साधन 'विद्या' (ज्ञान विज्ञान) को महत्व दिया हुआ स्पष्ट दिखता है, उसी तरह इस मंत्रमें आया हुआ 'लोक' शब्दका अर्थ 'मरणोत्तर प्राप्त होनेवाली परिस्थिति' ही केवल अर्थ नहीं है, अपितु इहलोककी भूमिका अथवा परिस्थिति भी उस शब्दसे अपेक्षित है ऐसा प्रतीत होता है, उसी तरह मनुष्यलोक अर्थात् समाजके मध्यम वर्गकी स्थिति, पितृलोक अर्थात् पुण्यकर्म करनेके कारण मिली हुई स्वर्ग प्राप्ति या ऐहिक उन्नतिकी परि-स्थिति या आजकलकी परिभाषामें समाजका उच्च वर्ग (आर्थिक या सामा-जिक दृष्टिसे) और देवलोक अर्थात् देवयान मार्गपर अग्रसर होनेवाला अर्थात् ज्ञान विज्ञानसंपन्न शुद्ध बुद्धिवाला मनुष्य।

इस सारे विवरणसे स्पष्ट होता है, कि पितृयाण शब्द (प्रजाकाम) का संबंध पितृ परंपरा या कुल परंपरासे ही आता है। मनुष्य लोकमें अर्थात्

मध्यम वर्गीय स्थितिका मनुष्य अपने शुद्ध आचरण द्वारा अर्थात् गृहस्थाश्रममें, न्याय और नीतिसे कर्तव्य कर्म कर अपना आयुष्य व्यतीत करता है, और वही सद्‌मार्ग अपने पुत्रको सुपुर्द करता है इसलिये कि वह भी इसी प्रकारसे चलकर अपने पिताके कार्यको चालू रख उसे पूर्ण करनेका प्रयत्न करे। यही संप्रदान पद्धति है, जिसका संपूर्ण विवरण बृहदारण्यक तथा कौशीतकी उपनिषद्‌में हैं। 'पुत्र' शब्दका अर्थ भी यही है "अकृतं पूरयित्वा त्रायते इति पुत्रः" इस प्रकारकी न्याय नीति प्रयुक्त एक या दो पीढियोंके आचरणसे पुत्र, पौत्र या प्रपौत्रको स्वर्ग (आर्थिक तथा सामाजिक दृष्टिसे उच्च परिस्थिति) प्राप्त होता है।

इस स्वर्गीय परिस्थितिका उपयोग यदि उन्होंने और अधिक नैतिक उन्नतिकी ओर किया, तो इसी क्रममुक्तिमय देवयान मार्गसे उसी प्रथम पुरुषका जीवात्मा पुत्र, पौत्र, प्रपौत्रमें होता हुआ अन्तमें इसी देवयान मार्गसे मोक्ष या अमृतत्व प्राप्त कर लेता है। इसके विपरीत यदि इसके पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र आदि वासनोपभोगमें लिप्त हो गए, तो उसी जीवात्माकी अगली पीढियां अर्थात् स्वर्ग प्राप्तिके बादकी पीढियोंको अपकर्षकी परिस्थिति प्राप्त हो जाती है, और वह मनुष्य लोक अर्थात् वह उसी मध्यम परिस्थितितक पहुंच जाता है, जहांसे कि वह पहले चला था। इस प्रकार समाजके अधिकांश या यों कहिये कि कक्षावधि लोगोंमें, एकाधको छोडकर, सबोंकी स्थिति इसी प्रकारकी होती है, और यह सृष्टिचक्र इस प्रकारके पितृयाण मार्ग द्वारा उतार चढाव (मनुष्यलोक, स्वर्गलोक फिर मनुष्यलोक) होते होते चालू रहता है।

हमें सांसारिक व्यवहारमें भी इस बातका अनुभव नित्य होता है। समाजके किसी भी स्तरके एक कुटुम्बको लीजिये, उसमेंका एक मनुष्य दीर्घकाल अर्थात् अपनी आयुभर प्रयत्न कर और उपभोग वासनाओंको तिलांजलि दे अपने जीवनको शुद्ध बुद्धिवाला बनाता है, और अपने पुत्रको योग्य शिक्षण देकर उसका जीवन स्तर उस समाजकी उच्च श्रेणीतक पहुंचा

देता है। यही स्वर्ग या स्वर्गीय परिस्थिति है। यदि इस स्वर्गीय परिस्थितिमें इस पुत्रने नेक चलनसे अपना जीवन व्यतीत किया तो यही स्वर्गीय परिस्थिति एक, दो, तीन पीढियोंतक बनी रहती है। परन्तु अधिकतर यह देखा गया है, कि लक्षावधि लोगोंमेंसे एकाधको छोडकर बाकी सब विषयोपभोगोंमें पडकर उनकी अगली पीढी उनसे निचली अर्थात् अपकर्षकी परिस्थितिमें आ जाती है।

इस निचली पीढीकी भी भोगलालसा न छूटनेके कारण उनके पुत्रोंका जीवन स्तर और भी नीचे आ जाता है, और वे नीचे अर्थात् मनुष्यलोक-तक पहुंच जाते हैं, जहांसे उनके मूल पुरुषने उन्नतिकी ओर बढनेकी शुरूवात की थी, तथा इस प्रकार यह संसाररूपी नदी बहती रहती है। इस विवेचनसे यह स्पष्ट है, कि पितृयाण और प्रजाकाम शब्दोंका संबंध कितना निकटतम है, और इसी कारण प्रश्नोपनिषद्में पितृयाण मार्गसे जानेवाले ऋषियोंको 'प्रजाकाम' विशेषण प्रदान किया गया है। इस विवेचनके पुष्ट्यर्थ हम उस कालके कुछ ऐतिहासिक उदाहरण तथा कुछ श्रुति, स्मृति तथा अर्वाचीन ऐतिहासिक कालमें हुए संतोंके वाक्योंके उद्धरण देंगे।

इस पृथ्वीपर जबसे मनुष्यकी उत्पत्ति हुई, और उसे समझ आई, तबसे उसके हृदयमें एक ही बातकी घबराहट घर कर गई 'अपन मरेंगे' वह देख रहा है, कि अपने आसपासकी सारी सृष्टि नश्वर है। जलचर, स्थलचर, सब मरते हैं, झाड पेड भी उखड कर गिर जाते हैं, पहाड नष्ट हो जाते हैं, वैसे ही नदियाँ सूख जाती हैं, अर्थात् चराचर सृष्टिको काल ग्रास लेता है, उसी तरह अपनेको भी वह निगलेगा, यह बात वह निश्चित जानता है। इस मृत्युसे बचनेके लिये वह रातदिन 'हाय बाप' कर रहा है "मृत्योर्माऽमृतं गमय" यही उसकी जाने न जाने प्रार्थना चालू है, और कहीं न कहीं उसे अमृतत्व मिलेगा, वह यही आशा लगाये बैठा है। इस प्रयत्नमें उसे यश मिला है क्या? इस दिशामें उसके कुछ पल्ले पडा है क्या? इसका उत्तर यही है, कि निःसंशय उसके हाथ अमृतत्व लग गया।

इस अमृततत्त्वका पहला संशोधक वेदोंमेंका वसुश्रुत आत्रेय है। उसने कहा है कि मैं 'जड' देहसे मर्त्य होऊं तो भी मुझे पुत्र हुआ है, और इस पुत्रके रूपसे मुझे अमृतत्वकी प्राप्ति हुई है। पुत्रको पौत्र होगा, उसे फिर प्रपौत्र होवेगा, और इस वंश सातत्यमें मैं अपना अमरत्व अखंड रखूंगा, 'प्रजाभिरग्ने अमृतत्वमश्याम्'। इसी तत्त्वका दूसरे ऋषिने "आत्मा वै पुत्र नामासि" करके समर्थन किया, और इस सत्यकी जानकारी होते ही पुरुष अपने पुत्रमें आत्मतत्त्वको देखने लगा और भार्यामें स्वयंने नया जन्म लिया है ऐसी उसको प्रतीति हुई। पत्नी जो पहले भार्या थी, वह अब जाया हो गई।

उपनयनके समय पुरुष अपने पुत्रको हृदयपर हाथ रखकर उसे अपना हृद्गत कहता है, "मम व्रते हृदयं ते दधामि" अर्थात् मैंने जो व्रत सारे जन्म आचरण किया, उसीको तू चालू रख। इसी प्रवृत्तिसे लोक पावनी गंगामैयाको हिमाचलसे लानेमें अंशुमानसे भगीरथतक तीन पीढी उस कार्यमें संलग्न रहीं। पिता मृत होकर, पुत्रके रूपमें फिर नया जवान बना, और गैंती, फावडा उठाकर कपिल शापसे दग्ध हुए अपने पूर्वजोंकी राखपरसे गंगाजीका स्रोत बहना चाहिये, क्योंकि तभी उनका उद्धार होगा, यही सबोंकी एकमात्र आकांक्षा थी, जिसके कारण वे कार्य कर रहे थे, तथा यह एक ही व्रत उन सबका था।

इक्ष्वाकु कुलका इतना बडा, मानों जिवंत क्षात्रधर्मका पुतला, दिलीप राजा, परन्तु वह भी पुत्राभावसे कैसा दीन हो गया था, यह 'रघुवंश' से स्पष्ट प्रतीत होता है "असह्यपीडं भगवन्नृणमन्त्यमवेहि मे" ये उसने निकाले हुए दैन्योद्गार सहृदय वाचकको भी असह्य ही होते हैं। उस छत्र चामरवाले अधिपतिने अपने कुलगुरुके आश्रममें अपने जटाजूट बेलि-योंसे बांध गुराखी बनना स्वीकार किया, और उसकी पट्टरानी सुदक्षिणा आश्रममें झाडू गोबर करने लगी। राजा दशरथको तो पुत्रप्राप्तिके लिये अश्वमेध यज्ञको उभारना पडा, और वह यथासांग हो, इस उद्देश्यसे ऋष्य-

*

श्रृंगी जैसे तपोधन ऋषिको फुसलाकर लानेका कठिन प्रयत्न करना पड़ा। द्रुपद पांडु वगैरहकी कथा भी इसी प्रकारकी है। तात्पर्य यह कि, इतिहास पुराणोंमें " पुत्र " पुत्रका ही आर्तनाद गूंज रहा है। यह सारा निरर्थक तो नहीं है। इन आर्तनादोंका उद्गम जिन शास्त्रीय तत्त्वोंके ऊपर आधारित है, उसके कुछ उद्धरण जो श्रुति, स्मृतिमें पाए जाते हैं, उन्हें भी यहां दे रहे हैं—

तत्स्त्रिया आत्मभूयं गच्छति यथा स्वमंगं तथा।
तस्मादेनां न हिनस्ति साऽस्यैतमात्मानमत्रगतं भावयति॥
ऐतरेय उप. (२,४,२)

अर्थ- वह (शुक्र) स्त्रीके दूसरे अंगों जैसा ही आत्म स्वरूपको प्राप्त हो जाता है, और इस कारण वह उसे बाधा नहीं करता। वह (स्त्री) उसको (शुक्रको) उसका (पुरुषका) ही आत्मा यहां (अपने उदरमें) है ऐसा समझकर उसका रक्षण करती है।

सा भावयित्री भावयितव्या भवति तं स्त्री गर्भं बिभर्ति
सोऽग्र एव कुमारं जन्मनोऽग्रेऽधिभावयति।
स यत्कुमारं जन्मनोऽग्रेऽधिभावयत्यात्मानमेव तद्-
भावयत्येषां लोकानां संतत्या एवं संतता हीमे
लोकास्तदस्य द्वितीयं जन्म॥ ऐतरेय उप. (२, ४, ३)

अर्थ- "गर्भ संरक्षण करनेवाली वह (गर्भिणी स्त्री) संरक्षणीय होती है (जिससे या जिसकी वजहसे) वह स्त्री उस गर्भका धारण पोषण करती है (अर्थात् धारण पोषण करनेको समर्थ होती है) वह पति आपत्य जनकके पहले पुत्रके संस्कार करता है। वह जो जन्मके पहले ही पुत्रके संस्कार करता है, वह (अपने) आत्माके ही संस्कार करता है, इस रीतिसे इन मनुष्योंकी परंपरासे ये लोक संतत अर्थात् अविच्छिन्न रहते हैं, वे उनके दूसरे जन्म हैं।" (इस खंडके पहले मंत्रमें बता चुके हैं, कि जब पुरुष

स्त्रीमें शुक सिंचन करता है, तब वह उस शुक्रको जन्म देता है, वह उसका पहला जन्म है।)

> यदुच्यते द्विजातीनां शूद्रादारोपसंग्रहः।
> नैतन्मम मतं यस्मात् तत्रायं जायते स्वयम् ॥

याज्ञवल्क्यस्मृति आचाराध्याय ५६

अर्थ- शुद्र वर्गसे द्विजातिका स्त्री ग्रहण करना मेरे मतसे ठीक नहीं है क्योंकि स्त्रीमें वह (पुरुष) स्वयं रूपांतर ग्रहण करके उत्पन्न होता है।

मीच मज व्यालो। पोटा आपुलिया आलो॥ संत तुकाराम

अर्थ- "मैं ही मुझे बियाया, और अपनेसे ही अपनेको जन्मा पाया।" यह बात उन्हें ज्ञात होनेपर उन्हें धन्यता मालूम हुई। इतने विवेचनके पश्चात् भी यदि पितृयाण मार्गके विषयमें आशंका हुई, तो बड़े ही आश्चर्यकी बात है। शब्दशः इसी आशयका एक उद्धरण हम प्राणीशास्त्रके तत्त्वज्ञ एच. जी. वेल्स् और ज्यू. हॅक्सलेकी "जीव विज्ञान" (Scince of life) नामक ग्रन्थसे देंगे जिससे यही निष्कर्ष निकलता है कि आधुनिक कालके शास्त्रज्ञ भी अपने अनुसंधानात्मक प्रयोगोंसे यही कह रहे हैं—

"It does not matter, whether the Reproduction is sexual or asexual. One fact is certain that there is a material continuity between one generation and the next and the individual is a detached bit of his parents. In fact that part of the man which grows into his children is the portion that survives the rest of him, and the small part that grows into his grand children survives still longer and so on. So that unless a man is childless he does not die. A bit of him i. e. a part of his living substance, is handed on generation after generation, for ever. This immortal bit of the organism, that lives on after the rest is done with Weisman gives the name of Germplasm in contrast

to the somatoplasm which is the mortal remainder. More than 99. 9 % of every individual is the soma. A very small fraction of an individual is the Germplasm contained in his Testes or her Ovaries. The soma is the individual who grows, lives and finally dies while Germplasm lives on indefinitely. From this it is to be concluded that the Gerplasm is potentially immortal. Generation after generation it continues to live. Foundlng body after body to house it, feed it and keep it warm; driving them with strange apetites and lusts so that it may get release from them and start again. All this leads us to conclude that it is the Germplasm that is evolving and not the ephemeral bodies that it is throwing out. "

यह विषय आजके रूढ दृष्टिकोणसे विलक्षण तथा ऊपर ऊपर देखनेवालेको विचित्र दिखेगा, परंतु आधुनिक तथा औपनिषदिक् विज्ञानशास्त्रकी दृष्टिसे पूर्णतः महत्त्वपूर्ण होते हुए बुद्धिवादी विचारसारणीसे बिलकुल ही मेल खाता हुआ है। दशोपानिषदोंमें छांदोग्य तथा बृहदारण्यक ये दोनों अन्य उपनिषदोंसे बहुत बडे हैं, और इन्हीं दोनों उपनिषदोंमें पंचाग्नि विद्याका विवरण है। बृहदारण्यक कृष्णयजुर्वेदका और छांदोग्य सामवेदका उपनिषद् है।

इन दोनों उपनिषदोंके विषयका यदि " उपक्रमोपसंहार " की दृष्टिसे सूक्ष्म अध्ययन करें, तो स्पष्ट होगा, कि बृहदारण्यक पितृयाणमार्ग प्रतिपादक है, तो छांदोग्य देवयानमार्ग प्रतिपादक है। उसी तरह बृहदारण्यकमें वर्णधर्म अभ्युदय तथा समाजधर्मका प्रतिपादन होते हुए, छांदोग्यको आश्रमधर्म, निश्रेयस तथा व्यक्तिधर्म प्रतिपादक समझना उचित है। इन सारे प्रश्नोंका विवेचन करना एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण विषय होगा क्योंकि उसमें दोनों उपनिषदोंके उद्धरण आदि देकर विवेचन करना पडेगा, और इस तरहसे एक नवीन ग्रन्थ ही निर्माण करना होगा। इस कारण यहां हम

केवल एक दो ही बातोंका निर्देश कर यह अध्याय समाप्त करेंगे। बृहदारण्यक उपनिषद्के आरंभमें ही अश्वमेध यज्ञके रूपकसे सृष्टिका वर्णन है तो उसके अन्तमें स्त्री संभोग विचार अर्थात् प्रजोत्पादनका विषय, और फिर वंशावली देकर उपनिषद् समाप्त किया है।

इस विषयपर अपने विचार प्रकट करते समय अच्छे अच्छे पंडितोंका कथन है, कि बृहदारण्यक जैसे व्यापक तथा गंभीर तत्त्वज्ञानवाले ग्रन्थमें इस विषयकी आवश्यकता ही नहीं है। इन विद्वानोंने कभी इस बातका विचार ही न किया, कि इस उपनिषद्के संग्रहकर्ता ऋषि पूर्णतः विशाल विज्ञानवेत्ता थे, और उन्होंने इस अंतिम ब्राह्मणका विषय संग्रह सोच समझकर ही किया था, और उसकी पाठ्य परंपरा आज कमसे कम ५००० वर्षसे अविछिन्न चालू है। छांदोग्यका उद्गीथोपासनासे प्रारंभ हुआ है, और अंतके दो अध्यायोंमें ब्रह्मज्ञानमूलक दैवी संपत्तिसे युक्त हो, इस प्रकारका जीवनक्रम संपादन करनेमें सातवें अध्यायमें सनत्कुमारने उपदेश किया हुआ मार्ग भी एक साधन है, इस दृष्टिसे किया हुआ है, जिससे मानवजीवन अत्यंत उज्ज्वल होकर कृतार्थ हो। अंतिम अध्यायमें भी इसी शास्त्रीय विवेचनका ही उपदेश किया गया है।

अंतमें हम फिरसे यह स्पष्ट शब्दोंमें कहना चाहते हैं, कि राष्ट्रकी वैज्ञानिक तथा शास्त्रीय उज्ज्वल परंपराको पुनरुज्जीवन देनेका राष्ट्रीय कार्य किसी भी एक व्यक्तिकी कक्षाके बाहरका है। इस कार्यमें आधुनिक विज्ञानशास्त्र वेत्ताओंका प्राचीन वाङ्मयके तज्ज्ञ पंडितोंसे पूर्ण तथा निरपेक्ष सहयोगकी आवश्यकता है और इस प्रकारके सहयोग प्राप्त करनेका कार्य राष्ट्रीय स्तरपर नेताओंकी पूर्ण सहानुभूतिसे हो, तभी हो सकता है, और तभी उससे भारतकी उज्ज्वल परंपरा फिर संसारको चकित कर सकती है।



अध्याय ११

कर्मविपाकप्रक्रिया

हमने पूर्वके एक अध्यायमें स्पष्ट किया है, कि वैदिक धर्मके कर्मकांड और ज्ञानकांड इस प्रकार दो प्रसिद्ध भेद हैं। कर्मकांडमें सूर्य, अग्नि, इंद्र, वरुण, रुद्र वगैरह वैदिक देवताओंका यज्ञद्वारा पूजन कर उनके प्रसादसे इहलोकमें पुत्रपौत्रादि संतति तथा धनधान्यादि संपत्ति प्राप्त कर ली जाती है, इस प्रकारका उसका मूल अर्थ तथा प्रचलित विचारसारणी है। प्राचीन कालके लोग केवल स्वार्थके लिये ही नहीं, अपितु समाज कल्याणार्थ भी यज्ञोंद्वारा देवताओंकी आराधना करते थे, ऐसा ऋग्वेदके मंत्रोंसे स्पष्ट प्रतीत होता है, क्योंकि उसमें जगह जगह " हे देवताओं, हमें संतति और समृद्धि दो, हमें शतायु करो, हमें, हमारे बालबच्चोंको, हमारे वीर पुरुषोंको तथा हमारे जानवरोंको मरने न दो।" इस प्रकारकी प्रार्थनाके सूक्त भरे हुए हैं।

ये यज्ञयाग तीनों वेदोंसे विहित रहनेके कारण इस मार्गको 'त्रयीधर्म' ऐसा पुराना नाम प्राप्त है, और ये यज्ञयाग किस प्रकार करना चाहिये उसका विस्तृत वर्णन ब्राह्मण ग्रन्थोंमें है। परन्तु भिन्न भिन्न ब्राह्मण ग्रन्थोंमें इन यज्ञोंकि विधि भिन्न भिन्न प्रकारसे वर्णन किये होनेके कारण उनकी ग्राह्याग्राह्यतापर बादमें शंका आने लगी, और इस कारण जैमिनीने इस प्रकार परस्पर विरुद्ध दिखनेवाले वाक्योंकी एकवाक्यता कैसे की जाय, इस विषयके अर्थ निर्णायक नियमोंका संग्रह किया। जैमिनीके इसी संग्रहको "मीमांसा सूत्र" या "पूर्वमीमांसा" संज्ञा प्राप्त हुई, और इसी कारण यह कर्मकांड बादमें मीमांसा मार्ग नामसे संबोधित किया जाने लगा।

यज्ञयागादि श्रौतकर्म प्रतिपादक ब्राह्मण ग्रन्थोंके अगले वैदिक भाग आरण्यक और उपनिषद् हैं। इनमें यज्ञयागादि कर्म गौण तथा ब्रह्मज्ञान ही श्रेष्ठ माना जानेसे इस भागमें प्रतिपादित धर्मको ज्ञानकांड

संज्ञा प्राप्त हुई। इस भागमें भी अर्थात् भिन्न भिन्न उपनिषदोंमें भिन्न भिन्न विचार रहनेके कारण इनकी भी एकवाक्यता करनेकी आवश्यकता प्रतीत हुई और यह कार्य श्रीबादरायणाचार्यजीके वेदांत सूत्रोंमें किया होनेसे इन सूत्रोंको ब्रह्मसूत्र, शरीरसूत्र या उत्तर मीमांसा कहा जाने लगा।

इस औपनिषदिक विचारधाराको अर्थात् ज्ञानमयी विचारधाराको बादमें महत्त्व प्राप्त होनेसे यज्ञयागादि श्रौतधर्मको उस कालमें गौणत्व प्राप्त हुआ, और बादमें जब जैन और बुद्ध धर्मोंके अहिंसात्मक धर्मका प्रसार हुआ तो श्रौत यज्ञमार्गको आज ऐसी दशा प्राप्त हुई है कि 'काशीजी' जैसे बडे धर्मक्षेत्रमें भी श्रौताग्निहोत्र पालन करनेवाले अग्निहोत्री बहुत ही थोडी संख्यामें दिखाई देते हैं। तिसपर भी श्रौतधर्म सारे वैदिक धर्मोंका मूल होनेके कारण उसके प्रति आदर बुद्धि आज भी स्थिर है। इस प्रकारका श्रौत यज्ञयागादि धर्म यद्यपि आज पिछडा हुआ दिखाई देता है, तथापि मन्वादि स्मृति ग्रन्थोंमें वर्णन किये हुए दूसरे यज्ञ जिन्हें पंचमहायज्ञ कहते हैं, वे आज समाजमें प्रचलित हैं, और इन्हें उपर्युक्त श्रौत यज्ञचक्रादिका न्याय लागू है, ऐसा ही पाया जाता है। उदाहरणार्थ, स्मृति ग्रन्थोंमें वेदाध्ययनको ब्रह्मयज्ञ, तर्पणको पितृयज्ञ, होमको देवयज्ञ, बलिको भूतयज्ञ, और अतिथि संतर्पणको मनुष्ययज्ञ, ऐसे पांच अहिंसात्मक, तथा नित्य करनेके गृहयज्ञ बताए हैं, और इन पांच यज्ञोंसे अनुक्रमसे ऋषि, पितर, देव, भूत और मनुष्य तृप्त करनेके बाद ही प्रत्येक गृहस्थको अन्न ग्रहण करना उचित है, ऐसी गृहस्थधर्मकी विधि बताई गई है।

इन स्मार्त पंचमहायज्ञोंके अतिरिक्त सत्य, दया, अहिंसा आदि दूसरे सर्व भूतहितप्रद धर्म भी उपनिषदोंमें विहित माने हुए हैं। इस स्थानपर यह प्रश्न उपस्थित होता है, कि वेदोंके अनुसार तथा चातुर्वर्ण्यादि व्यवस्थाके अनुसार गृहस्थको विहित इस प्रकारकी जो ये यज्ञप्रधान वृत्ति, ये सारी कर्ममय ही होनेसे, और ये सांसारिक कर्म धर्मशास्त्रोंके अनुसार यथासांग अर्थात् नीति नियमोंसे, तथा धर्माज्ञाके अनुसार करते गए तो क्या इतनेसे

मनुष्य मुक्त हो सकता है ? और यदि हो सकता है, तो फिर ज्ञानका महत्त्व ही क्या रहा ? इस प्रकारके पेंचीदे प्रश्न सामने आते हैं, और इनसे बचनेके लिये आधुनिक राष्ट्रीय विद्वानोंने यह विचारसरिणी प्रस्तृत की है कि कर्ममय यज्ञ वेदविहित रहनेके कारण उन्हें कभी भी छोडना उचित नहीं है तथापि ज्ञान और वैराग्यसे कर्म क्षय हुये बिना मोक्षप्राप्ति नहीं है, ऐसा उपनिषदोंमें स्पष्ट कहा होनेसे इन दोनो सिद्धांतोंका मिलाप कर सारे कर्म ज्ञानयुक्त अर्थात् 'फलाशा छोडकर निष्काम बुद्धिसे' करने चाहिये, ऐसा ठहराया है ।

केवल यज्ञयागादि कर्म ही नहीं, अपितु चातुर्वर्ण्यादि सर्व कर्म भी ब्रह्मात्मैक्य ज्ञान और साम्य बुद्धिसे आसक्ति छोडकर करनेसे कर्मचक्र चालू या कायम रहते हुए भी मनुष्य मुक्त ही है । इस प्रकारकी विचारसरिणी बुद्धिको पटने जैसी ही है, परंतु वास्तवमें देखा जाय, तो पूर्व और उत्तर मीमांसा या कर्मकांड और ज्ञानकांड, ये दोनों ही मूलमें वैदिक वचनोंके अर्थकी चर्चा या मीमांसा करनेवाले ग्रन्थ हैं, और इन दोनोंमें बताए हुए मार्ग एक दूसरेसे मेल खानेवाले ही अर्थात् वे एक दूसरेके पूरक ही होने चाहिये, वे एक दूसरेके विरुद्ध तो हो ही नहीं सकते । यद्यपि इस विषयके विश्लेषणसे पिछले अध्यायके विषयकी पुनरावृत्ति होती है, तो भी हम इस विषयको फिर एक बार स्पष्ट कर देना उचित समझते हैं ।

पिछले (अर्थात् पंचाग्नि विद्याके) अध्यायमें मुख्यतः दो विषयोंका विवेचन पूर्णरूपसे किया गया है । पहले विषयमें स्थूलमानसे सृष्टिकी उत्पत्तिक्रममें पांच मूलतत्त्व ठहराकर उनका होम हवनके रूपकसे वर्णन किया हुआ है । इस विषयका विवेचन यद्यपि छांदोग्य और बृहदारण्यक उपनिषदोंमें हैं, तथापि उसका एक महत्त्वपूर्ण उल्लेख मुंडक (२, १, ५) में आया है ।

तस्मादग्निः समिधो यस्य सूर्यः । सोमात्पर्जन्य ओष-
धयः पृथिव्याम् । पूमान् रेतः सिञ्चति योषितायां ।
बह्वीः प्रजाः पुरुषात्संप्रसूताः ॥

इस मंत्रमें सृष्ट्युत्पत्ति क्रम ही अभिप्रेत है ऐसा मंत्रके प्रकरण संदर्भसे स्पष्ट प्रतीत होता है। इस मंत्रमें आए हुए रूपकका उपयोग केवल इतना ही समझना उचित है कि, प्रज्वलित समिधा जैसे अग्निका अंश होती है, वैसे ही प्रदीप्त सूर्य इस महत्तेजसे उत्पन्न उसका अंश ही होता है। इस सूर्यसे फिर चंद्र, चंद्रसे पर्जन्य, पर्जन्यसे पृथ्वीपर स्थित वनस्पति, वनस्पतिसे प्राणी इस प्रकारका उत्पत्तिक्रम इस मंत्रमें दिया है। यहां यह बात ध्यानमें रखने योग्य है कि, ऋषिको यहां जगदुत्पत्ति क्रमके पांच मुख्य स्थलोंको बताना ही मुख्य उद्देश्य है। इसीको छांदोग्य तथा बृहदारण्यकोपनिषद्में पंचाग्निविद्याके नामसे संबोधित किया है। इस उपनिषद्में उसका श्रोटक उल्लेख किया है। परंतु यहां विशेष रूपसे जो बात बताई गई है, वह इस प्रकार है कि प्राणिसृष्टिमें परमाणुओं जैसे प्राणी, जो अत्यंत सूक्ष्म होते हैं, यही पहली सीढी है। इन निचली कोटिके सूक्ष्म प्राणियोंमें स्त्री-पुरुष भेद नहीं रहता। प्राणियोंके एक ही शरीरमें स्त्रीपुरुष अवयवोंकी रचना होते हुए अकेला ही प्राणी अपने स्वतःके शरीरसे संतति उत्पन्न करनेमें समर्थ रहता है (बृहदा. १,४,३)।

इस उत्पत्तिक्रममें ऊपरकी सीढीपर जब प्राणी पहुंचता है तब स्त्री देह अलग और पुरुष देह अलग इस प्रकारकी शरीर रचना पाई जाती है। इस अवस्थामें स्त्रीपुरुष समागम ही केवल संतति निर्माणका साधन रह जाता है और इससे यही स्पष्ट होता है, कि स्त्रीपुरुष समागमसे संततिकी उत्पत्ति होना, यह नैसर्गिक उत्क्रांतिक्रमकी अंतिम सीढी या सांकल है, ऐसा ही समझना उचित है, अर्थात् मनुष्ययोनिके बाद प्राणिवर्गका उत्पत्तिक्रम निसर्गाधीन नहीं है, अपितु वह अधिकांश प्राणियोंके प्रयत्नपर ही अवलंबित रहता है, ऐसा ही ठहरता है। इस अर्थका अभिप्राय प्रस्तुत मंत्रके दूसरे वाक्यमें स्पष्ट रूपसे दर्शाया है। इस खंडके पहले मंत्रमें सृष्टिकी उत्पत्तिके वर्णनका उपक्रम किया है, और उस वर्णनकी पूर्णता इस पांचवें मंत्रमें की है। यह औपनिषदिक सिद्धांत आधुनिक शास्त्रीय दृष्टिसे पूर्ण सुसंगत है ऐसा आगे दिये हुए कुछ उद्धरणोंसे स्पष्ट होता है—

" Man will not in the near future radiate into radiating lines and therefore Biological Progress will produce a single species in which the genetical variety achieved by radiating divergence will with us depend on crossing and re-combination. "

" Man differs from any previous dominant type in that he can formulate values and the realization of these in whatever priority must be added to the criteria of Biological Progress when man's stage is reached. "

(Evolution by J. Huxley)

पिछले अध्यायमें विवेचन किया हुआ दूसरा विषय देवयान और पितृयाण मार्गोंका स्पष्टीकरण कर उन्हें सिद्ध करना है। ज्ञानविज्ञानसंपन्न मनुष्य देवयान मार्गसे ही अर्थात् उसका जीवात्मा अपने ज्ञानेश्वर्य सामर्थ्यसे ही देवता स्थानोंको प्राप्त करते करते और उनकी सहायतासे ही मोक्ष प्राप्त कर लेता है। इस विषयके संबंधमें जो कुछ कालवाचक शब्द आए हैं, उन सारे शब्दोंको कालवाचक समझनेकी अपेक्षा उन शब्दोंका देवता वाचक अर्थ जो सूत्रकार बादरायणाचार्यने निश्चित किया है, वही योग्य प्रतीत होता है। वास्तवमें देवयान या पितृयाण मार्गोंकी व्याख्या या शास्त्रीय स्पष्टीकरण छांदोग्य या बृहदारण्यक उपनिषद्में नहीं पाया जाता। प्रश्नोपनिषद्के पहले प्रश्नके सूक्ष्म निरीक्षणसे इन दोनों मार्गोंकी शास्त्रीय उपपत्ति स्पष्ट सिद्ध होती है।

इसके चौथे मंत्रमें 'प्रजापतिः प्रजाकामः वै (बभूव)' या प्रजापति या परमेश्वरने प्रजा उत्पन्न करनेकी इच्छा की "सः रयिम् च प्राणम् च इति मिथुनम् उत्पादयते" अर्थात् उसने रयि व प्राण (प्रकृति पुरुष या Matter and Energy) का मिथुन उत्पन्न किया। जिन दो भागोंमेंसे कोई सा भी एक भाग स्वतंत्रतः अकेला कार्यक्षम नहीं रहता, परंतु वे दो भाग संलग्न होनेसे पूर्ण होकर एक रूपमें कार्यक्षम होते हैं वही मिथुन

है। इस प्रकारकी मिथुन शब्दको व्याख्या ध्यानमें रख प्रस्तुत विवेचनका विचार किया गया, तो गडबड होनेकी संभावना नहीं है। "एतौ मे बहुधा प्रजाः करिष्यत इति" ये दोनों मुझे इष्ट ऐसी अनेक प्रकारकी प्रजा उत्पन्न करेंगे (ऐसा उस प्रजापतिको मालूम हुआ) इसके अगले अर्थात् पांचवें मंत्रमें ऋषि कहता है, कि सूर्य यही प्राण, और चंद्र ही रयि है और ऐसा बताकर आगे कहता है कि जितने दृश्य (पृथ्वी, आप् इत्यादि) और अदृश्य (वायु, आकाश इत्यादि) पदार्थ हैं, वे सब रयि हैं। आगे आठवें मंत्रमें "प्रजानां प्राणः" इस पदसे स्पष्ट किया गया है, कि जो जो गुणधर्म या सामर्थ्य जीवितावस्थाके दर्शक हैं, उन सारे गुणधर्म और सामर्थ्योंका सूर्य ही केन्द्र स्थान है।

पांचवें मंत्रके विवेचनमें रयि और प्राणका चंद्र और सूर्य ऐसा अर्थ किया गया है, परंतु यह विशेष ध्यानमें रखने योग्य है कि, ये शब्दार्थ नहीं हैं, अर्थात् चंद्र, सूर्य ये रयि प्राणके पर्याय शब्द नहीं है, अपितु रयि व प्राणका स्वरूप ठीक ढंगसे समझनेके लिये इस जगतमें दिखाई देनेवाले ये उनके रूपान्तर हैं। रयि व प्राण इनका पारस्परिक संबंध किस प्रकारका है, उनके कार्य कौन कौनसे हैं इत्यादि बातें मालूम होनेसे उन दोनों तत्त्वोंका स्वरूप अच्छी तरह ध्यानमें आ जावे इस हेतुसे ही पिप्पलाद ऋषिने रयिको चंद्र और प्राणको सूर्य कहा है। चंद्र स्वयं प्रकाश नहीं है वरन् वह परप्रकाशी है, अर्थात् सूर्य प्रकाशक और चंद्र प्रकाश्य ऐसा इन दोनोंमें प्रकाश्य प्रकाशक संबंध प्रत्यक्ष सिद्ध है। यही संबंध रयि और प्राणमें है, और इसीको समझानेके हेतुसे चंद्र, सूर्य ऐसा उनका अर्थ बताया गया है, और ऋषिकी यह योजना संपूर्णतः अर्थपूर्ण तथा शास्त्रशुद्ध है। रयि और प्राण इनका अर्थ और भी स्पष्ट करनेके लिये मंत्र ५, ६, ७, ८ में चंद्र, सूर्यका वर्णन, किया गया है। उसी प्रकार चंद्र, सूर्यकी गतिसे निर्माण होनेवाले संवत्सर मास तथा अहोरात्र (२४ घंटेका दिन) ये सारे कालके प्रकारोंके वर्णन अगले मंत्रोंमें आये हैं और ये सारे वर्णन रूपकात्मक ही हैं। रयि व प्राण

हैं। इस प्रकारकी मिथुन शब्दकी व्याख्या ध्यानमें रख प्रस्तुत विवेचनका विचार किया गया, तो गडबड होनेकी संभावना नहीं है। "एतौ मे बहुधा प्रजाः करिष्यत इति" ये दोनों मुझे इष्ट ऐसी अनेक प्रकारकी प्रजा उत्पन्न करेंगे (ऐसा उस प्रजापतिको मालूम हुआ) इसके अगले अर्थात् पांचवें मंत्रमें ऋषि कहता है, कि सूर्य यही प्राण, और चंद्र ही रयि है और ऐसा बताकर आगे कहता है कि जितने दृश्य (पृथ्वी, आप् इत्यादि) और अदृश्य (वायु, आकाश इत्यादि) पदार्थ हैं, वे सब रयि हैं। आगे आठवें मंत्रमें "प्रजानां प्राणः" इस पदसे स्पष्ट किया गया है, कि जो जो गुणधर्म या सामर्थ्य जीवितावस्थाके दर्शक हैं, उन सारे गुणधर्म और सामर्थ्योंका सूर्य ही केन्द्र स्थान है।

पांचवें मंत्रके विवेचनमें रयि और प्राणका चंद्र और सूर्य ऐसा अर्थ किया गया है, परंतु यह विशेष ध्यानमें रखने योग्य है कि, ये शब्दार्थ नहीं हैं, अर्थात् चंद्र, सूर्य ये रयि प्राणके पर्याय शब्द नहीं है, अपितु रयि व प्राणका स्वरूप ठीक ढंगसे समझनेके लिये इस जगतमें दिखाई देनेवाले ये उनके रूपान्तर हैं। रयि व प्राण इनका पारस्परिक संबंध किस प्रकारका है, उनके कार्य कौन कौनसे हैं इत्यादि बातें मालूम होनेसे उन दोनों तत्वोंका स्वरूप अच्छी तरह ध्यानमें आ जावे इस हेतुसे ही पिप्पलाद ऋषिने रयिको चंद्र और प्राणको सूर्य कहा है। चंद्र स्वयं प्रकाश नहीं है वरन् वह परप्रकाशी है, अर्थात् सूर्य प्रकाशक और चंद्र प्रकाश्य ऐसा इन दोनोंमें प्रकाश्य प्रकाशक संबंध प्रत्यक्ष सिद्ध है। यही संबंध रयि और प्राणमें है, और इसीको समझानेके हेतुसे चंद्र, सूर्य ऐसा उनका अर्थ बताया गया है, और ऋषिकी यह योजना संपूर्णतः अर्थपूर्ण तथा शास्त्रशुद्ध है। रयि और प्राण इनका अर्थ और भी स्पष्ट करनेके लिये मंत्र ५,६,७,८ में चंद्र, सूर्यका वर्णन, किया गया है। उसी प्रकार चंद्र, सूर्यकी गतिसे निर्माण होनेवाले संवत्सर मास तथा अहोरात्र (२४ घंटेका दिन) ये सारे कालके प्रकारोंके वर्णन अगले मंत्रोंमें आये हैं और ये सारे वर्णन रूपकात्मक ही हैं। रयि व प्राण

इस मिथुनके स्वरूपका ज्ञान पूर्ण रूपसे स्पष्ट हो जावे यही इन रूपक वर्णनोंका मुख्य हेतु है। प्रश्नोपनिषद्के इस विवेचनसे सूत्रकार बादरायणाचार्यने संवत्सरादि कालवाचक शब्दोंको देवतावाचक ही समझना न ऐसा जो निर्णय दिया है वही सही है।

रयि व प्राण ये परमात्म तत्त्वसे ही उत्पन्न होनेसे, वे एक दू बाधक होनेके बजाय एक दूसरेको पोषक ही होते हैं। क्रिया श अधिष्ठान रयि हो तो भी ज्ञान शक्तिमान प्राणकी सहायता मिले उसमेंकी क्रिया प्रगट नहीं हो सकती, और इसी प्रकार जड द्रव्यकी अ रयिकी अनुकूलता मिले बिना प्राण तत्त्वका सामर्थ्य कुछ भी क सकता। इसपरसे रयि (अर्थात् जडतत्त्व) और प्राण (अर्थात् चै ऐसा ही अर्थ करना उचित है। इस कारण इन दो तत्त्वोंको एक दू एकसी ही आवश्यकता है ऐसा ही कहना पडता है। यही कारण क्रिया, ज्ञान और इनके मूल तत्त्व जड और चैतन्य (या रयि और इन्हें पिप्पलाद ऋषिने मिथुन, यह संज्ञा दी है। रयि, प्राणके स्वरूप करनेके लिये सूर्य चंद्र, उत्तर दक्षिण, शुक्ल कृष्ण, तथा दिन र संवत्सर, मास, अहोरात्र इन काल विभागोंका रूपक द्वारा वर्णन कि

नवें मन्त्रमें रयिके वर्णनको अनुलक्ष कर आए हुए दक्षिण या पि मार्ग शब्द, तथा दसवें मन्त्रमें प्राणशक्तिको अनुलक्ष कर आए हुए या देवयान मार्ग, ये शब्द अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं, क्योंकि रयि व प्राण ही 'मिथुन' संज्ञा पितृयाण और देवयान मार्गोंको भी प्राप्त होत इस प्रकार पितृयाण और देवयान मार्गोंका परस्परावलंबन सिद्ध हो यही विचारसारिणी आगे बढाई गई, तो उपर्युक्त विवरणमें पू उत्तर मीमांसाके नामसे वर्णित कर्मकांड और ज्ञानकांड भी ि ही कोटिमें आते हैं। इस प्रकार प्राण रयि, सूर्य चंद्र, देवयान पि संवत्सरचक्र, पूर्वउत्तर मीमांसा आदिका संपूर्ण ज्ञान ही प्रश्नोपनि गत प्राणविद्याका तात्त्विक स्वरूप है। इस तत्त्वज्ञानकी सहायतासे दन किया हुआ सामर्थ्य अभ्युदय निश्रेयसकारक होता है, ऐसा भ

पिप्पलाद ऋषिका निश्चित मत है, यह स्पष्ट प्रतीत होता है। मन्त्रोंमें आए हुए रूपकात्मक वर्णनोंको इस प्रकार दिखाया जा सकता है—

प्रजापति	परमेश्वर	संवत्सर	मास	अहोरात्र	मार्ग
रयी, प्राण	चंद्र, सूर्य	दक्षिणायन	कृष्णपक्ष	रात्रि, दिन	पूर्वमीमांसा
		उत्तरायण	शुक्लपक्ष		कर्मकांड
	अभ्युदय निश्रेयस्				उत्तरमीमांसा
	पितृयाण, देवयान				ज्ञानकांड

मुंडकोपनिषद् (१,२,१) में ऋषिने स्पष्ट ही बताया है, कि प्राचीन ऋषियोंने वेदोंमें दिखे हुए निसर्ग नियमोंको अग्निहोत्र या यज्ञसंस्थासे संलग्न करनेका महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। वे यज्ञकर्म तुम शुद्ध बुद्धिसे करो और यही इस जगत्में तुम्हारी उन्नतिका उत्तम मार्ग है। बादमें (१,२,१०) मन्त्रमें बताया है कि यज्ञयाग तथा अन्य लोकोपयोगी कर्मोंको ही श्रेष्ठ माननेवाले मूढ लोग इससे अधिक श्रेयस्कर और कुछ भी नहीं हैं, ऐसी धारणा बना लेते हैं। वे पुण्य कर्मसे प्राप्त स्वर्गलोकका उपभोग लेनेके पश्चात् इसी मानव (मध्यम) परिस्थिति या और भी हीन (कनिष्ठ) परिस्थितिमें जन्म लेते हैं। यही पितृयाण मार्गका वर्णन है। इससे आगे (१,२,१२) में ऋषिका निर्देश है कि वेदविद्यासंपन्न मनुष्य कर्मसे प्राप्त होनेवाले स्वर्गादि लोगोंका तारतम्य पहचानकर केवल कर्मसे सिद्ध स्वरूप आत्मा प्राप्त नहीं होता, यह पहचानकर योग्य रीतिसे वेदविद्यासंपन्न ब्रह्मनिष्ठ गुरुके पास जावें, और वह ज्ञानसंपन्न गुरु प्रशांतचित्त (जिसका अन्तःकरण विकारवश न हो) और शमान्वित (जिसकी इंद्रियां बेलगाम न हों) इस प्रकार योग्य रीतिसे आए हुए शिष्यको जिस विद्यासे अविनाशी सत्यस्वरूप परमात्माका ज्ञान हो, ऐसी ब्रह्मविद्या यथाशास्त्र सिखावे। यही उपर्युक्त विवरणमें स्पष्ट किया हुआ देवयान मार्ग है। इस प्रकार मुंडकोपनिषद्में भी आंगिरस् ऋषिने क्रतु या कर्म (यज्ञकर्म) और ज्ञान इन दोनोंकी आवश्यकता, तथा दोनोंका परस्परावलंबन स्पष्ट कर यही मार्ग मनुष्यको श्रेयस्कर बताया है।

अबतकके विवरणमें मानव जातिका परम साध्य क्या है, और वह किस प्रकारसे प्राप्त हो सकता है ? इस प्रश्नका निर्णय किया, परन्तु इतने विवेचनसे यह विषय पूर्ण नहीं होता है। जिन कर्मोंसे मनुष्यको आत्मज्ञान हुए बगैर अनेक जन्मोंके फेरमें रहना पडता है, उन कर्मोंका स्वरूप क्या है, उसके नियम और परिणाम क्या हैं, आदि सारी बातोंका विचार करना आवश्यक है, वैसे ही अमृतत्वकी प्राप्तिके हेतु मनुष्यको इस जगत्में जो व्यवहार करने पडते हैं, वे किस प्रकार करने चाहिये ? इस महत्त्वपूर्ण विषयका विचार करना भी अत्यंत आवश्यक है। पिंड और ब्रह्मांड इन दोनोंमें यदि मूलभूत एक ही नित्य स्वतंत्र आत्मतत्व है, तो पिंडके आत्माको ब्रह्मांडके आत्माको जानना या उससे एकरूप होनेमें आपत्ति क्या है, और यदि है तो वह क्या है, और वह कैसे दूर की जा सकती है, ये स्वाभाविक प्रश्न सामने आते हैं, और इन प्रश्नोंको सुलझानेके हेतु नामरूपात्मक सृष्टि तथा उसके व्यापार जो कर्म इनका अर्थात् कर्मविपाक प्रक्रियाका विवेचन करना आवश्यक ही हो जाता है।

सृष्टिके आरम्भकालमें मूल अव्यक्त व निर्गुण परब्रह्म जिन नामरूपात्मक सगुण शक्तियोंसे व्यक्त अर्थात् दृश्य सृष्टिरूप हुआ दिखता है, उसीको वेदांतशास्त्रमें माया कहते हैं, और इसीमें कर्मका भी समावेश होता है, क्योंकि प्रथम कुछ भी व्यापार हुए बिना अव्यक्तका व्यक्त तथा निर्गुणका सगुण बनना संभव ही नहीं है। कर्म अर्थात् व्यापार या क्रिया फिर वह चाहे मनुष्यकी करी हुई हो, सृष्टिमेंके अन्य पदार्थोंकी हो, या सृष्टि उत्पन्न होनेके समय की हो। कोईसा भी कर्म लें, तो उसका परिणाम सदा एक नामरूप बदलकर उसके बदले दूसरा नामरूप हो जाना, इतना ही हुआ करता है, क्योंकि इन नामरूपोंसे आच्छादित द्रव्य कभी भी बदलता नहीं है, वह एक ही रहता है। इस कारण माया नामरूप, और कर्म, ये तीनों मूलमें एक स्वरूप ही हैं, ऐसा कहा जा सकता है।

माया यह सामान्य शब्द होते हुए उसके बाह्य स्वरूपको नामरूप और व्यापारको कर्म इस प्रकारका उनमें सूक्ष्म भेद किया जा सकता है। मूलमें

चिद्रूप ब्रह्म कर्मात्मक अर्थात् दृश्यसृष्टिरूप कब और कैसे हुआ ? इसका यद्यपि अंदाज हमारे पुराने तथा आजके आधुनिक शास्त्रज्ञोंको नहीं है, अर्थात् दृश्यसृष्टि निर्माण होनेके समय निर्गुण ब्रह्ममें दिखाई देनेवाला व्यापार या कर्म कैसे, क्यों और कब हुआ ? यह यद्यपि हमारी बुद्धिकी कक्षाके बाहरका विषय हैं, तथापि इस नामरूपात्मक कर्मके आगेके व्यापार कैसे चलते हैं, इसके नियम ठहरे हुए हैं, और उनमेंसे बहुतसे हमें अवगत भी हैं।

इस प्रकरणमें कर्मात्मक मूल प्रकृतिसे विश्वकी उत्क्रांति मनुष्य योनितक पहुंचनेपर इस मनुष्यको जिन नियमोंसे कर्मफल भोगना होता है, उन्हींका विवेचन किया जावेगा और इसीको कर्मविपाक कहा जाता है। जैसे दृश्य सृष्टि निर्माण होते समय अर्थात् मूलारंभमें कर्म कहांसे, क्यों और कब निर्माण हुआ, यह हम नहीं कह सकते, उसी तरह सृष्टिकी उत्क्रांतिमें जीव मनुष्य योनितक पहुंचनेपर इस कर्मके फेरमें प्रथम यह कैसे फंसा यह बात भी निश्चित रूपसे बताना कठिन है, परन्तु किसी भी रीति (प्रक्रिया) से क्यों न हो एक मर्तबा कर्मके फेरमें पडनेपर जैसे एक नामरूपका नाश होकर दूसरे नामरूप प्राप्त होनेमें चूकता नहीं है, उसी प्रकार आजके किये कर्मोंका फल कल और कलके कियेका परसों उसे भोगना ही पडता है। इस प्रकार इस कर्मका भवचक्र चालू रहता है, यहांतक कि केवल अपने ही नहीं, अपितु अपने इस नामरूपात्मक देहसे उत्पन्न हुए अपने पुत्र, पौत्र और प्रपौत्रोंतकको अपने इन कर्मफलोंका भोग भोगना पडता है।

> यदि नात्मनि पुत्रेषु न चेत्पुत्रेषु नप्तृषु ।
> न त्वेव तु कृतोऽधर्मः कर्तुर्भवति निष्फलः ॥
>
> (मनुस्मृति. ४,१७३, म. भा. ८०,३)

अर्थ– 'हे राजा एकाध व्यक्तिको अपने पापकर्मोंका फल नहीं मिला, ऐसा जो भी दिखाई दे, तो भी वह फल उसके पुत्र, पौत्र या प्रपौत्रको भोगना ही पडता है' इस प्रकार शांतिपर्वमें (१२९,२१) भीष्माचार्यने धर्मराजको कहा है। 'जैसा करोगे वैसा पाओगे' यह नियम केवल एक

व्यक्तिको ही लागू होता है, ऐसा नहीं है। एक मनुष्य जैसा ही एक कुटुम्बको, एक जातिको या एक राष्ट्रको अपने अपने किये कर्म भोगे बिना छुटकारा नहीं है। चूंकि प्रत्येक मनुष्यका किसी न किसी कुटुम्बमें, जातिमें या राष्ट्रमें समावेश होता है, इस कारण स्वतःके कर्मके ही नहीं अपितु कुटुम्बादिक सामाजिक कर्मोंके फल भी प्रत्येक मनुष्यको अंशतः भोगने पडते हैं। जिस प्रकार नेष्ट या पापकर्मोंके बारेमें ये वचन दिखते हैं उसी प्रकार मुंडक (३,२,९) और मांडूक्य (१०) इन दोनों स्थानोंपर स्पष्ट कहा है, कि जो व्यक्ति ब्रह्मविद्या संपन्न हो अर्थात् जो ब्रह्मवेत्ता हो उसके पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र ज्ञानहीन कभी नहीं रह सकते और इस तरह उच्च कोटिके पुण्य कर्मोंका शीघ्र फलदायित्व तथा उससे होनेवाली ज्ञानरूप परंपरागत फलप्राप्ति श्रुतिको पूर्णतः मान्य है। इस प्रकार परमेश्वरकी इच्छासे जगत्के कर्मोंका कब प्रारंभ हुआ, और तदंगभूत मनुष्य प्रथमतः इस कर्मके फेरमें कब पडा इसका उत्तर यद्यपि हमारी बुद्धि न दे सकी तथापि कर्मके बादके परिणाम अर्थात् फल केवल कर्मोंके नियमोंसे ही उत्पन्न होते हैं, ऐसा स्पष्टतः दिखनेसे जगत्के प्रारंभसे ही प्रत्येक प्राणी नामरूपात्मक अनादि कर्मोंके फंदेमें फंसा हुआ है, इतना तो हम अपनी बुद्धिसे निश्चित कर ही सकते हैं।

इस अनादि कर्मप्रवाहको ही संसार, प्रकृति, माया, दृश्यसृष्टि या सृष्टिके नियम ये पर्याय शब्द हैं, क्योंकि सृष्टिशास्त्रके नियम अर्थात् नामरूपोंमें होनेवाले अन्तरके ही वे नियम हैं, ऐसा ही समझना चाहिये यह बात श्रुति वचनोंसे स्पष्ट होती है। कर्मप्रवाह अनादि है, व एक बार कर्मोंका आरंभ होनेपर वे रुकते नहीं हैं यह बात यद्यपि सत्य है, तथापि दृश्य सृष्टि अर्थात् केवल नाम, रूप और कर्म नहीं हैं तो इस नामरूपात्मक ढकनेके नीचे उसे आधारभूत हो ऐसी एक आत्मस्वरूपी स्वतंत्र अविनाशी ब्रह्मसृष्टि होते हुए मनुष्यकी देहमें वास करनेवाला आत्मा यह उस नित्य और स्वतंत्र परब्रह्मका ही अंश है और इस कारण कर्म और

कर्मफलोंका विचार करते समय इसमें इस नित्यतत्त्वका मुख्य रूपसे विचार करना पडता है, यही हमारे शास्त्रकारोंने निश्चित निर्णय किया है। बृहदारण्यकोपनिषद्‌के पहले अध्यायके पांचवें और छठे ब्राह्मणमें नाम, रूप और कर्म ये सृष्टिके त्रिविध स्वरूप बताकर उनका प्राणतत्त्व द्वारा परब्रह्मसे किस प्रकार संबंध पहुंचता है यह स्पष्ट किया है। श्रुतिके इस विषयके विवेचनका विचार करनेके पहले कर्मवाद, कर्मविपाक या दृश्यसृष्टिके नियमोंकी प्रक्रियाके विषयमें आजका प्रचलित वेदांत दृष्टिकोण क्या है, इसका विचार कर लेना उचित है।

कर्मविपाकप्रक्रियाका सर्वप्रथम नियम इस प्रकारका है कि, कर्मका एकबार आरम्भ हुआ, कि उसका व्यापार बराबर अखंड चालू रहता है और इसी कारण सृष्टिकी उत्क्रांतिमें जीव मनुष्ययोनितक पहुंचनेपर मनुष्य कोई भी कर्म करे तो उसके अच्छे बुरे परिणाम भोगे बिना उसका छुटकारा नहीं होता। " क्रियते कर्म भोगाय कर्म कर्तुं च भुंज्यते " अर्थात् भोगोंके लिये कर्म करना और कर्म करनेके लिये भोग भोगना, ऐसी यह कर्मकी श्रृंखला बराबर चलती रहती है। इस सांकलमें तीन दुवे होते हैं, या यों कहा जा सकता है, कि कर्मविपाक प्रकरणमें कर्मोंके विभाग जो सामान्यतः दिखाई देते हैं, उसमें कर्मोंके तीन भेद किये हुए दिखाई देते हैं, वे हैं– संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण। प्रस्तुत या चालू जन्मके बाद अगले जन्मसे जिनका भोग आरंभ होनेवाला होता है, ऐसे, शेष बचकर, आगे भोगे जानेवाले कर्मोंको ' संचित कर्म ' कहा जाता है। संचित अर्थात् इकट्ठा किया हुआ, इस संचितकर्मोंका ही अदृष्ट या मीमांसकोंकी परिभाषामें ' अपूर्व ' नाम है। संचित, अदृष्ट या अपूर्व इनका अर्थ यह है, कि इस जन्मतक जीवने जो जो कर्म किये होंगे, उन सबोंका परिणाम या संचय यही निर्विवाद सिद्ध होता है। इस संचितमेंसे चालू जन्ममें जिनका भोग प्रारंभ होता है, वही प्रारब्ध कर्म है। अर्थात् संचित कर्मोंमेंसे जिन कर्मोंके फल भोगनेका आरम्भ इस जन्ममें हो चुका है, उसीको प्रारब्ध और जिसका प्रारम्भ हुआ नहीं है उसे संचित कहा जा सकता है।

*

इन दो विभागोंके अतिरिक्त तीसरे विभागको क्रियमाण कहते हैं। ये इस जन्ममें किये जानेवाले कर्म हैं, या यों कहिये कि प्रारब्धानुसार इस जन्ममें जो कर्म किये जाते हैं वे कर्म; इस प्रकार कर्मके विभागोंका सामान्य विवरण है; तथापि सूत्रकार बादरायणाचार्यने तथा रहस्यकार लोकमान्यने अपने ग्रन्थोंमें कर्मोंके उपर्युक्त तीन भेद स्वीकार करनेके अतिरिक्त उनके केवल दो ही भेद मानना शास्त्रीय दृष्टिसे उपयुक्त है, ऐसा प्रतिपादन किया है। उनके दृष्टिकोणसे उन्होंने प्रारब्ध या आरब्ध और अनारब्ध ऐसे दो ही भेद माने हैं, क्योंकि वे कहते हैं कि प्रारब्ध भोग आज हम भोग रहे हैं, और इनके फलोंको ही क्रियमाण कहा जाता है, परन्तु ये प्रारब्धके फल या क्रियमाण फिर संचितमें ही जाकर इकट्ठा होनेसे कर्म भोगोंका विचार करते समय हमारे सामने संचितका वह भाग जो हम इस जन्ममें भोगते हैं वह, अर्थात् आरब्ध एक, और दूसरे अर्थात् जिनका आरम्भ नहीं हुआ है, वे सारे अनारब्ध, इनके अतिरिक्त और उनके भेद करनेकी आवश्यकता नहीं है। परन्तु हमारी समझमें कर्मविपाक-प्रकरणमें कर्मोंके तीन विभाग करना ही अधिक उपयुक्त होगा, और जब इन तीन विभागोंका विवरण हम आगे चलकर करेंगे तब हमने तीन ही विभाग करना क्यों उचित समझा है, यह स्पष्ट हो जायगा।

अब हम बृहदारण्यक उपनिषद्के पहले अध्यायके पांचवें और छठे ब्राह्मणमें इसी विषयके संबंधमें जो विचार आए हैं, उनका संक्षेपमें परामर्ष लेंगे। मनुष्य निसर्गतः ही समाजप्रिय है। अतः उसके जीवनक्रममें व्यक्ति-धर्म और समाजधर्म, ऐसे दो विभाग होना अपरिहार्य ही है, और इसी कारण मनुष्यको स्वतःके वैयक्तिकविचारोंके साथ समाजका विचार करना पडता है। बृहदारण्यक उपनिषद्के चोथे ब्राह्मणमें संपूर्णतः समाजकी बना-वट आदिके विचार आए हैं, पांचवें ब्राह्मणमें व्यक्तिधर्मका ही विचार मुख्यतः है। इस ब्राह्मणमें प्रथम बताया है कि सृष्टिकर्ता परमेश्वरने बुद्धि और तपश्चर्या अर्थात् ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्तिके योगसे सात अन्न उत्पन्न

किये। यहां व्यक्तिधर्मका ही विवेचन करनेके हेतुसे अन्नका रूपक देकर सात विषयोंका वर्णन किया है। सात अन्न ये हैं– १. खाद्य, २. पेय, ३. होम, ४. हवन, ५. वाणी, ६. मन, ७. प्राण। व्यवहारिक दृष्टिसे खाद्य और पेय इन पदार्थोंको अन्न कह सकते हैं, क्योंकि ये पदार्थ या अन्न सभी लोगोंको ही उपयोगी होते हैं। शेष पांच तत्वोंको श्रुतिने अन्न कहा है, वह केवल उपयुक्तताकी दृष्टिसे ही कहा है।

इस विवेचनमें पेय या दूधका वर्णन करते समय कर्मके अदृष्ट फलोंके विषयमें श्रुतिने जो विशेष स्पष्टीकरण किया है, वह सारे ही कर्मोंको लागू हो सकता है। कर्मोंका जो अदृष्ट फल बताया जाता है, वह वास्तवमें सही नहीं है। वह तो कर्मोंके प्रति श्रद्धा उत्पन्न करनेका एक मार्ग है ऐसा वेदांत शास्त्रकारोंने सामान्यतः ठहराया है। इस अदृष्टसे अधिक महत्त्वपूर्ण फल वास्तवमें स्वार्थत्याग तथा ईश्वरसेवाकी बुद्धिका उत्पन्न या निर्माण होना ही है, और यह बात बृह. (१,५,२) मंत्रके छठे वाक्यमें स्पष्ट की हुई है। अर्थात् कोईसा भी धर्मकृत्य करनेमें मरणोत्तर प्राप्त होनेवाले स्वर्गादि प्राप्ति जैसा अदृष्ट फल, यह उस कर्मका मुख्य फल नहीं है, परन्तु शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक आदि दृष्टिसे उस कर्मके जो सुपरिणाम होते हैं, वे ही उस कर्मके प्रधान फल हैं, ऐसा ही श्रुतिके स्पष्टीकरणका मुख्य तथा महत्त्वपूर्ण अभिप्राय है।

देवोपासनाके मुख्य दो मार्ग हैं। एक होमहवनका, तथा दूसरा दानधर्म, परोपकार, लोकसेवा इत्यादि, अर्थात् ईश्वरोपासनाकी दृष्टिसे की जानेवाली लोकसेवा, समाजसेवा, तीर्थयात्रा इत्यादि। प्राचीन कालमें प्रत्येक गृहस्थाश्रमी मनुष्यको संध्यावंदनादिके साथ साथ सायंप्रातः होम नित्य तथा नियमसे करना पडता था। इस होमहवनके विधिको 'हुत' यह संज्ञा श्रुतिने दी है। कालांतरमें होमहवनकी विधि पिछड गई, और देवतार्चनकी विधिकी प्रधानता हुई। इस प्रकार 'हुत' अर्थात् होमहवनकी जगह मूर्तिपूजाने ले ली। इस 'हुत' के जैसा ही 'प्रहुत'

संज्ञक कर्म श्रुतिने अवश्य करके करनेको कहा है। इस प्रहुतसंज्ञक कर्ममें दानधर्म, परोपकार, समाजसेवा इत्यादिका अंतर्भाव होता है। इन ' प्रहुत ' संज्ञक कर्मोंके विषयमें मतमतांतर होते हैं, ऐसा श्रुतिने इस अध्यायके पांचवें ब्राह्मणमें स्पष्ट ही कहा है। आज हमें स्वतंत्र भारतमें समाजवाद, साम्यवाद, कामगारसंगठन, किसानसभा, भूदान इत्यादिके प्रकार दिखाई देते हैं ये सब उस ' प्रहुत ' संज्ञक कर्मोंके ही भिन्न भिन्न प्रकार हैं। इन दोनों हुत और प्रहुत मार्गोंको श्रुतिने अन्न संज्ञा देकर इन्हें देवताओंका अन्न ठहराया है।

वाणी, मन, प्राण ये ही सर्वथा जीवके उपयोगमें आनेवाले होनेसे ये आत्माके अन्न हैं ऐसा श्रुतिने कहा है। वाणी, मन, प्राण इन तीन तत्त्वोंपर ही मनुष्यके आचरणमें अच्छे बुरे परिणाम होते हैं, ऐसा दिखता है। संभवतः ये तीन तत्त्व मनुष्यके वर्तन या आचरणके दर्पण ही हैं ऐसा कहा जा सकता है। इन तीन तत्त्वोंमें मनुष्यकी सारी शक्तियां समाई रहती हैं। इस कारण जिन कर्मोंसे ये तत्त्व तेजस्वी या पवित्र हों, वे ही सत्कर्म या पुण्य कर्म हैं और जिनसे इस शक्तित्रयमें विकृति हो, वे ही दुःष्कर्म या पापकर्म हैं ऐसा ही समझना उचित है। इस स्थानपर हम यह स्पष्ट कर देना आवश्यक समझते हैं कि, हमारे वैदिक ऋषियोंने पानी, द्युलोक व पृथ्वी तथा चंद्र, सूर्य व अग्नि इन ब्रह्मांडान्तर्गत शक्तियोंका (या देवताओंका) मानव शरीरमें संशोधन कर उनके संयोगसे अर्थात् जल और चन्द्रसे प्राण, द्युलोक और आदित्यसे मन और पृथ्वी और अग्निसे वाणी इनकी उत्पत्ति कैसे होती है, इन शास्त्रीय विचारोंका विवरण जो पांचवें ब्राह्मणमें किया है, उससे उन ऋषियोंके आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक ज्ञानकी जितनी प्रशंसा की जाय, उतनी थोडी ही है। इस ब्राह्मणमें विशद किये हुए शास्त्रीय ज्ञानको आधुनिक शास्त्रोंकी भाषा तथा तत्त्वप्रणालीसे संशोधन कर आजके विद्वज्जनोंके सामने प्रस्तुत करनेकी जवाबदारी भारतीय वैज्ञानिकोंकी है, और आशा की जाती है कि वे इस कार्यको करनेमें पूर्ण रूपसे तत्परता दिखायेंगे।

मनुष्यने अपने जीवनमें वाणी, मन व प्राण इन तत्त्वोंका महत्त्व पहचान इन तत्त्वोंका पूर्णरूपेण अभ्यास कर तदनुसार आचरण करनेका प्रयत्न किया तो उसका सर्वांगीण उत्कर्ष हुए बिना नहीं रहेगा, और इस प्रकारका सर्वांगीण उत्कर्ष ही देवलोक है। ज्ञानकी ओर विशेष लक्ष्य न देकर केवल पराक्रम या कर्तृत्वपर ही भरोसा रखकर जीवन व्यतीत करें, तो उससे उसे मध्यम स्थिति प्राप्त होती है; और इसीको ऋषिने पितृलोकसंज्ञा दी है। इन दोनों मार्गोंको छोडकर अपने केवल संसारमें ही लिप्त होनेवाले मनुष्यको जो स्थिति प्राप्त होती है उसे मनुष्यलोकसंज्ञा इस ब्राह्मणमें दी गई है। वाणी, मन, प्राण, इस शक्तित्रयपर मनुष्यकी उत्क्रांति या अपक्रांति अवलंबित रहती है और उसमें भी प्राणतत्त्वको अन्य दो शक्तियोंसे जो अधिक महत्त्व दिया गया है, वह सयुक्तिक ही है। इसको ध्यानमें रखते हुए विद्या, समाजधर्म और कुटुम्बधर्म इनका तारतम्य देखनेसे उनमें विद्या ही श्रेष्ठ ठहरती है, और इस विद्याके योगसे ही वाणी, मन, प्राण, इनके आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक स्वरूपोंका अध्ययन कर उनका शुद्धीकरण तथा संवर्धन कैसे किया जा सकता है, यह अच्छी तरह समझा जा सकता है।

इस प्रकार विद्वत्ता, कर्तृत्वशक्ति आदि पूर्णरूपसे स्वतः प्राप्त कर उसे अपने पुत्रको अर्पण करनेका सुप्रसंग मनुष्यको प्राप्त हो, तो वह बडे ही भाग्यकी बात है। इस प्रकारके भाग्य प्राप्तिका श्रुतिने बहुत ही आल्हादकारक वर्णन किया है। पिछले अध्यायमें वर्णन किया हुआ पितृयाणमार्ग यही है। उपर्युक्त वर्णनके अनुसार एक एक पीढीमें विद्वत्ता तथा कर्तृत्वशक्तिके विकाससे किसी न किसी पीढीमें जीवको जीवन्मुक्तावस्था प्राप्त होती है, या मनुष्य मुक्त होता है, यही देवयानमार्ग है। इस प्रकारका वर्णन सांप्रतकालमें यद्यपि काल्पनिकसा मालूम पडता है, तथापि उपनिषत्कालके उन्नतावस्थामें पहुंचे हुए समाजमें इस प्रकारकी आनुवंशिक परंपरा प्रत्यक्ष रूपमें दिखाई देना कठिन नहीं था, और असंभव तो था ही

नहीं। आजके समाजके विपन्नावस्थामें इस प्रकारकी दिव्यपरंपराकी कल्पना भी करते नहीं बने, तो उसमें कोई आश्चर्य नहीं है।

शतकानुशतक पारतंत्र्यमें पड और ज्ञानविज्ञान तथा कर्तृत्वशक्तिसे कंगाल बने हुए समाजको इस प्रकारके वर्णन काल्पनिक मालूम हों, तो उसमें कोई आश्चर्य नहीं है। इस प्रकारकी संकुचित कल्पनाशक्तिमेंसे ही युगधर्म जैसे या योगसमार्थ्य जैसी शाखाएं उत्पन्न होती हैं, और ये सारा ही प्रकरण प्रयत्नसाध्य मार्गसे बाहर निकाल दिया जाता है। परंतु वास्तविक वस्तुस्थिति इस प्रकारकी नहीं है। समाजके अधःपतनसे इस प्रकारकी गलतफहमी पैदा हुई है। समाजको इस अधःपतनसे बचाना हो तो प्रत्येक विचारवान मनुष्यने इस पांचवें ब्राह्मणमें बताए हुए वाणी, मन, प्राण इन तीनों शक्तियोंका दैवीस्वरूप पहचान उसे प्राप्त करनेका प्रयत्न किया, तो यह शक्तित्रय अवश्य ही प्राप्त होगी और इस प्रकार ब्रह्मवर्चस्व प्रयत्नसाध्य है, ऐसा ही सिद्ध होता है; वह तंत्र मंत्र या जादूसे प्राप्त होनेवाले नहीं हैं। इसे पहचान कर यदि समाजके विचारी तथा ज्ञानवान मनुष्य ब्रह्मवर्चस्व संपादन करें, तो वे ही समाजके अधोगतिको रोक सकते हैं और उसे उन्नतावस्थामें वापस ले आ सकते हैं। यही कारण है कि, इस पांचवें ब्राह्मणमें वाणी, मन, प्राण इन महत्त्वपूर्ण तत्त्वोंका सांगोपांग तथा शास्त्रीय विवेचन किया गया है।

इसी ब्राह्मणके अंतिम दो कंडिकाओंमें आधिदैविक और आध्यात्मिक ऐसे दो विभागोंमें प्राणशक्तिका वर्णन कर उस प्राणशक्तिका व्रताचरणमें कैसा उत्कृष्ट उपयोग होता है, इसका वर्णन किया गया है। आत्मसंयमन, पर और अपरा विद्या (ब्रह्मविद्या) का अध्ययन, ईश्वरोपासना, और कर्तव्यतत्परता इन गुणोंसे ही मनुष्यका जीवनक्रम व्रतस्थ होता है। प्राचीन वैदिककालमें वैदिकधर्मकी स्थापना करनेवाले जो राजर्षि और ब्रह्मर्षि हो गए, उन्हींको इस ब्राह्मणमें ' देव ' संज्ञा दी गई है। उन थोर विभूतियोंने सत्कर्मका व्रत यावज्जीव चालू रखा था, और इसी कारण वैदिकधर्मके दिव्य तत्त्वोंके संशोधनका महत्त्वपूर्ण कार्य उनके हाथों सम्पन्न हुआ।

इसमें बताए हुए प्राणशक्ति या वायु इनके दृष्टांतसे श्रुतिने समझाया हुआ व्रतवैकल्यका स्वरूप ध्यानमें रखना महत्त्वपूर्ण है। नहीं तो आज जैसे भूखे रहकर या खाने पीनेमें अयोग्य बदल और इस प्रकार देह-दंडन कर तद्द्वारा प्राणशक्ति क्षीण करनेवाले आचारोंको 'व्रत' कहनेकी जो रूढी प्रचलित है, इस प्रकारके व्रताचरणोंसे श्रुतिके मूल तात्पर्यका विपर्यास होना संभव है। मनुष्यके शारीरिक और बौद्धिक सामर्थ्यका प्राणतत्त्वसे पूर्ण संबंध रहनेसे प्राणकी शक्ति (तेजस्विता) पर ही शरीर तथा बुद्धिकी तेजस्विता अवलंबित रहती है। इसी तरह प्राणका तात्त्विक स्वरूप परमात्मासे एकरूप रहनेसे प्राणदेवता सर्व प्रकारके ऐश्वर्यसे युक्त ही हैं, यह अलगसे बतानेकी आवश्यकता नहीं है, और इसी कारण ब्रह्मचर्य, सात्विक अन्नसेवन, नियमित व्यायाम, आत्मसंयमन, प्राणायाम इत्यादि साधनोंसे प्राणसामर्थ्य पूर्ण रूपमें संपादन करनेसे ही मनुष्यका शरीर व उसकी बुद्धि पूर्ण तेजस्वी बनकर प्राणदेवताके समान ही यह ऐश्वर्य संपन्न होता है, तथा इस प्रकारका ऐश्वर्यसंपन्न ब्रह्मवर्चस्वी मनुष्य अपना और समाजका उद्धार करनेमें पूर्ण समर्थ हो सकता है।

वाणी, मन, प्राण, इन तत्त्वोंके द्वारा आत्मा या जीवात्माका सम्बन्ध इस जगत्से किस प्रकार आता है, यह विषय पांचवें ब्राह्मणमें स्पष्ट करनेके बाद उस जगत्का तथा उससे परब्रह्मके सम्बन्धका संक्षेपमें विवेचन करना छठे ब्राह्मणका विषय है। नाम, रूप और कर्म इन तीन तत्त्वोंमें पिण्ड—ब्रह्माण्डान्तर्गत सारे कर्मोंका अन्तर्भाव कर सकते हैं। इन तीनों तत्त्वोंका परब्रह्मसे प्रत्यक्ष संबन्ध नहीं आता, परन्तु वह संबन्ध प्राणतत्त्वके द्वारा आता है, ऐसा ही श्रुतिने स्पष्ट किया है। अन्तिम मन्त्रमें कर्मका वर्णन आया है, उसमें कर्मका आत्मासे उत्पत्ति, स्थिति, लयकारक संबन्ध जोडकर अन्तमें उस आत्माका प्राणतत्त्वसे एकीकरण दर्शाया है। आत्मतत्त्व अविनाशी होते हुए एक ही है, और वही प्राणतत्त्वके रूपद्वारा कर्मसे संबद्ध रहता है।

आत्मा व प्राण इनमें वास्तविक भेद नहीं है। आत्मा जब क्रियाका प्रेरक होता है, तभी उसे प्राण यह संज्ञा दी जाती है। प्राणतत्त्व यह परब्रह्मका

सगुण स्वरूप होनेसे उसीके ज्ञानसे ब्रह्मविद्या संपादन करते आती है। नामरूपात्मक सृष्टिमें ही कर्मोंका परिणाम होता रहनेसे नाम, रूप, कर्म ये त्रयी एक दूसरेसे संयुक्त ही रहती हैं, और इसमें नामका वाणी यह अधिष्ठान रहते हुए रूपका चक्षुरिंद्रिय और कर्मका आत्मा यह अधिष्ठान है, ऐसा श्रुतिने इस ब्राह्मणमें स्पष्ट ही कहा है। भिन्न भिन्न कारणोंसे प्राणके अनेक रूप अनुभवमें आते हों तथापि वास्तविक आत्मा ही उसका तात्त्विक स्वरूप है तथा नाम, रूप, कर्म ये तीनों विषय सत्य हैं ऐसा ही उस मन्त्रमें स्पष्ट बताया है।

इस प्रकार नाम, रूप, कर्म इस त्रयीसे आत्मस्वरूप आच्छादित रहनेके कारण सृष्टिज्ञान ही आत्मज्ञानका मुख्य साधन है, ऐसा ही इस छठे ब्राह्मणमें निःसंदिग्ध रूपसे श्रुतिद्वारा बताया होनेके कारण जगन्मिथ्यावादका श्रुतिमें तिनके बराबर भी आधार नहीं है ऐसा निर्विवाद सिद्ध होता है। इसी कारण मनुष्यने पिंडब्रह्मांडको मिथ्या समझकर उसका दुर्लक्ष्य करना पूर्णतः अनुचित है। जीव, जगत् व जगदीश या परब्रह्म इनका ज्ञान संपादन कर स्वतः कृतार्थ हो ज्ञानविज्ञानका सन्मार्ग समाजको दिखा उसे अभ्युदय संपन्न करना ही प्रत्येक विचारवान् मनुष्यका कर्तव्य है इस प्रकार उपदेश कर श्रुतिने यह ब्राह्मण और अध्याय सम्पूर्ण किया है।

अब हम फिरसे कर्मविपाकके विषयका विवेचन, जो अपूर्ण छोड रखा है, उसे शुरू करेंगे। अबतक हमने कर्मके तीन विभाग कर उन्हें संचित प्रारब्ध और क्रियमाण ये तीन संज्ञाएं दी हैं। भाष्यकारके मतानुसार कर्मके चार विभाग उन्होंने मान्य किये हैं, उनका भी परामर्श लेना उचित है। वे विभाग ये हैं— १– उत्पत्ति, २– आप्ति, ३– विकार और ४– संस्कार। कर्मके इन चार प्रकारोंका स्वरूप संक्षेपमें इस प्रकारका है। बीज बोए जानेके बाद (अर्थात् शुक्र और शोणितके मिलनेपर) अंकुर उत्पन्न होनेतक (बच्चा मांके पेटसे पैदा होनेतक) जो व्यापार होते हैं, वे उत्पत्तिके स्वरूपके कर्म समझने चाहिये। बच्चा उत्पन्न हुए बाद पहले मातापिताके

सांनिध्यमें और बादमें गुरुगृहमें शास्त्राध्ययन तथा सृष्टिनिरीक्षण इत्यादि प्रयत्नोंसे जो अज्ञात विषयोंका ज्ञान प्राप्त होता है, उन्हें आप्तिरूप कर्म समझना चाहिये। विषयोपभोगके वासनाओंसे प्रेरित होकर किये हुए कर्म वैकारिक कोटिके हैं, और स्नान, संध्या, देवतार्चन, ईश्वरोपासना, समाज-सेवा, ये सारे संस्कार स्वरूपके कर्म कहे जा सकते हैं।

इन दो प्रकारके कर्मके विभागोंमें मूलभूत अन्तर यही दिखाई देता है, कि संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण इस विभागमें भूत वर्तमान भविष्य इन सारे कर्मोंका समावेश है, तो दूसरे विभागमें केवल इस शरीरका ही विचार किया हुआ दिखता है। उपर्युक्त वर्णनमें बताए हुए दो प्रकारके कर्मोंके विभागोंका आधुनिक शास्त्रकी दृष्टिसे कहांतक मेल होता है यही अब देखना है। इस प्रकारके प्रयत्नोंमें यह गृहीत मानकर ही चलना पडेगा, कि वाचकगण जीवशास्त्र और खास कर वंशशास्त्रके साधारण प्रमुख प्रमेयोंको अंशतः तो भी जानते हैं, और उनमेंके कुछ प्रमुख शब्दोंसे परिचित हैं। यदि ऐसा मानकर न चलें, तो यहां जीवशास्त्र विषयक एक नया अध्याय ही जोडना पडेगा, और तभी आगे बढ सकेंगे। परन्तु यह संभव नहीं है। जिसे इस विषयको समझनेकी तीव्र जिज्ञासा हो, वह उस शास्त्रका उतना अध्ययन सहजमें कर सकता है जितना इस विषयको समझनेमें उसकी आवश्यकता हो।

सर्वप्रथम हम संचित कर्मोंका ही विचार करेंगे। ये वे कर्म हैं, जिनका फल जीवको इस जन्ममें मिलनेका नहीं होता, परन्तु अगले जन्मोंमें ही मिलनेवाला होता है। इन कर्मोंको हम वंशशास्त्रकी परिभाषामें रिसेसिव्ह केरेक्टर्स् की कोटिमें शामिल कर सकते हैं। ये वे केरेक्टर्स हैं, जो इस जन्ममें सुप्त रहते हैं, और अगले या और आगे "जेनोज" के योग्य संयोगसे दृष्टिगोचर हो सकते हैं। यही कारण है कि, मनुष्यके लग्नसंबंधका महत्त्व सामाजिक, कौटुम्बिक या वैयक्तिक प्रेम विषयक इतना नहीं है, जितना उसे शास्त्रीय दृष्टिसे महत्त्व प्राप्त होता है। वैयक्तिक, कौटुम्बिक,

तथा सामाजिक उन्नति या अवनति इस मिलनमें समाई हुई है, और इसी कारण जीवशास्त्रमें इसे अर्थात् विवाहको प्रजोत्पादनका प्रयोग (Experiment in Breeding) कहा हुआ है । इस प्रकार संचित कर्म या " रिसेसिव्ह जेनीज " वे हैं, जो इस जन्ममें सुप्त ही रहते हैं । भाष्यकारके विभागोंमें इनके लिये कोई प्रतिशब्द नहीं है और इसलिये इनकी दृष्टिसे इसका विचार करनेकी आवश्यकता नहीं है ।

कर्मका दूसरा विभाग प्रारब्ध है । ये वे कर्म हैं, जिनका फल इस जन्ममें ही भोगना है । भाष्यकारके विभागोंमें इन्हींको उत्पत्ति कर्म बताया है । आधुनिक शास्त्रोंकी विचारसारिणीसे इसका मेल मिलाया जा सकता है । आधुनिक शास्त्रोंके अनुसार " गेमीटस् " (शुक्र शोणित) के मिलनेपर अर्थात् गर्भधारणापर ही उस व्यक्तिकी भाग्यनिर्मिति हो जाती है, और उसे बदलनेकी शक्ति उस व्यक्तिके हाथकी बात नहीं होती । (At the time of the union of the gametes is decided the fate of the zygote or the Individual as also the gametes it will produce & it is beyond the power of the zygote to alter it.

अर्थात् जब गेमीटस् (Sperm and Ovum) या (शुक्र शोणित) मिलते हैं, तो उनके अन्दरके " क्रोमोसोम्स् " पर स्थित " जेनीज " के संयोगपर उस व्यक्तिके भाग्यका निर्णय हो जाता है और चूंकि ये "जेनीज" बादमें किसी तरह भी बदले नहीं जा सकते, इस कारण इस व्यक्तिके भाग्यका निर्णय इसी मिलनमें हो जाता है । इन्हींको उपर्युक्त विवेचनमें प्रारब्ध या उत्पत्ति कर्म ये संज्ञाएं दी गई है । इससे स्पष्ट है, कि प्रयत्नके बिना जो सुखदुःख अवश्यमेव भोगने पडते हैं, वे सारे प्रारब्धाधीन ही हैं । वास्तवमें देखा जाय तो प्रारब्ध यह स्वतंत्र शक्ति नहीं है । मनुष्यके कर्म अर्थात् गर्भधारणाके समय स्त्रीपुरुषसे प्राप्त ' जेनीज ' का संयोग और उसकी आधिभौतिक और आधिदैविक परिस्थिति, इन कारणोंसे जो भोग

भोगने पडते हैं तथा उनकी अनिवार्यता इतना ही अर्थ प्रारब्ध शब्दसे अपेक्षित है, और इस दृष्टिसे भाष्यकारके विभागके उत्पत्ति तथा आप्ति और संस्कार कर्म ये सारे प्रारब्ध, इस शब्दमें समावेश हो सकते हैं; क्योंकि ज्ञानविज्ञान संपादन, बुद्धिके दोषोंका निवारण, दैवी संपत्ति या सद्गुणोंका उदय इन बातोंको उपयोगी होनेवाले कर्म आप्ति, और संस्कार इन स्वरूपोंके ही होते हैं, अर्थात् आनुवंशिक कर्म तथा विद्यार्जनके बाद (ब्रह्मचर्याश्रममें प्राप्त किये गए ज्ञानविज्ञानके बाद) प्राप्त होनेवाली सारी परिस्थिति प्रारब्ध, इस शब्दमें सम्मिलित है, ऐसा कहा जा सकता है। अब कर्मके तीसरे विभागके विषयका विचार करेंगे, परन्तु इस स्थानपर प्रारब्ध विषयक एक विचित्र विचारसारिणीका उल्लेख करना उचित समझते हैं।

मनुष्यको साक्षात्कार होकर उसे जीव ब्रह्मात्मैक्यसिद्धांत बोधगम्य हुआ, और उसका उसे अनुभव भी आया, कि वह मुक्त हुआ, ऐसा समझा जाता है, अर्थात् बुद्धिका सारे बंधनोंसे मुक्त होना, यही सचमुच मोक्ष है। इसका स्पष्ट तात्पर्य यही है, कि मुक्तावस्था यह जीवदशामें ही प्राप्त होनेवाली स्थिति है, अर्थात् मनुष्य जीवन्मुक्त ही हो सकता है, चाहे वह स्थिति इस जन्ममें प्राप्त हो या अगले जन्ममें। मुक्तावस्था या मुक्ति मरणोत्तर प्राप्त होनेवाली स्थिति नहीं है। ब्रह्मसाक्षात्कारके पहले अहं-प्रत्यय, बुद्धि, मन, ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेंद्रिय ये पांच मुख्य अधिकारी इस देहयात्राको चलाते रहते हैं, और जीवात्मा या आत्मा इन सबके स्वभाव-सिद्ध धर्मोंका उत्थापक रहता है। ब्रह्मसाक्षात्कारके बाद सारे अज्ञानोंका नाश हो जाता है, और जीवात्मा मुक्त हो जाता है। इसके मुक्त होनेपर जो जीवन्मुक्तावस्था शुरू होती है, उसमें इन पांच अधिकारियोंकी क्या व्यवस्था होती है, यह मुख्य प्रश्न है।

इस प्रश्नका मायावादी संन्यासमार्गियोंका उत्तर इस प्रकारका है कि, जीवन्मुक्तकी जीवनयात्राके सब कार्य प्रारब्धाधीन रहते हैं। प्रारब्ध

अर्थात् देह प्रारब्ध है, और जीवात्मा ब्रह्मरूप होनेपर उसका इस क्षेत्रसे तथा उसके अन्दरके अधिकारियोंसे कोई संबंध नहीं रहता, वे सब प्रारब्धाधीन रहते हैं। मायावादी विचारसारिणीकी इस प्रकारकी प्रारब्धके संबंधकी कल्पना अस्पष्ट होते हुए युक्तिशून्य है, क्योंकि इस प्रकारके विचार करनेमें प्रारब्ध क्या है इसकी स्पष्ट अर्थात् निश्चित व्याख्या नहीं कर सकते हैं। अहंकार, बुद्धि इत्यादि मानवके सब अवयव प्रारब्धाधीन हैं, ऐसा यद्यपि कहा तथापि उसकी बुद्धिग्राह्य उपपत्ति उन्हें बताते नहीं आती।

वस्तुतः ब्रह्मसाक्षात्कारके बाद आत्माका बुद्ध्यादिकोंसे संबंध टूट या छूट जाता है, ऐसा माननेपर बुद्ध्यादिकोंके कर्तव्य बंद पडने चाहिये, क्योंकि आत्मा ही उनका उत्थापक है, परंतु ऐसा नहीं होता, बुद्ध्यादिकोंके गुणधर्म जीवन्मुक्तावस्थामें केवल प्रारब्धके कारण प्रकट होते हैं, ऐसा मानें तो यह प्रश्न उत्पन्न होता है, कि यह कार्यकारणभाव जीवनमुक्तावस्थामें ही उत्पन्न हुआ है, या उसके पहले? मनुष्य ज्ञानी हो या अज्ञानी उसके जीवनके कार्यकारी अवयवोंको आत्माकी प्रेरकशक्तिका ही उपयोग होता है और इस कारण प्रारब्धकी यह विचित्र कल्पना निरर्थकसी ही है। प्रयत्न किये बिना जो सुखदुःख अवश्यमेव भोगने पडते हैं, वे प्रारब्धाधीन हैं, यह कहना एक बात है और जीवन्मुक्तावस्थाके सर्व व्यवहार प्रारब्धाधीन हैं, यह कहना एक अलग ही बात है। प्रारब्ध कोई स्वतंत्र शक्ति नहीं है। मनुष्यके कर्म और उसकी आधिभौतिक और आधिदैविक परिस्थिति इनके कारणसे जो मनुष्यको भोग भोगना पडता है, वे भोग और प्रयत्न न करनेपर उनकी अनिवार्यता इतना ही अर्थ प्रारब्ध इस शब्दसे दर्शाया जा सकता है। प्रारब्धको इससे अधिक महत्त्व देनेकी आवश्यकता नहीं है।

ब्रह्मसाक्षात्कारके पहले अर्थात् अज्ञानावस्थामें मानवके सारे अधिकारी अर्थात् बुद्धि इत्यादि अवयव सदोष, और इसी कारण विकारवश होनेवाले

होते हैं। बुद्धयादिकोंकी यह सदोपता जिस प्रमाणमें कम होती है उस प्रमाणमें मनुष्य ब्रह्मसाक्षात्कारके समीप आता है। साक्षात्कार यह आध्यात्मिक उन्नतिकी परमावधि है, क्योंकि इस समय बुद्धयादि सारे अवयव अत्यंत शुद्ध यानी देवतारूप बने हुए होते हैं, और ब्रह्मवेत्ताका जीवन्मुक्तावस्थामें जीवनक्रम शुद्ध देवतामय बना हुआ होता है; अर्थात् उसके जीवनका कोई अधिकारी नष्ट नहीं होता, न वह प्रारब्धाधीन ही होता है। ये सारी शक्तियां या देवता उस सृष्टिकर्ता परमेश्वरके मूक हेतुके अनुसार अपने अपने कार्य निर्दोषतापूर्वक करते रहते हैं, और इसी कारण उनका मूल स्वभाव या सामर्थ्य कायम ही रहता है क्योंकि वे रागद्वेषादि विकारोंके आधीन नहीं होते। अहं प्रत्ययकी 'मैं' यह संवेदना, बुद्धिका सत्यकाम, मनका सत्यसंकल्प, तथा बुद्धिके विवेकानुसार इंद्रियोंके व्यापार ये सारी बातें प्रमाणबद्ध चलती रहती हैं, और यशस्वी कर्तृत्व, शाश्वतनीति, पराक्रम (या प्रभुत्व) सर्वमनोरथपूर्ति इत्यादि सद्गुण जीवन्मुक्तके चरित्रमें यथावकाश पूर्ण प्रकट होते हैं।

सारांश, उसकी जीवनसंस्था शुद्ध देवतामय होती है। इस प्रकारकी जीवन्मुक्तावस्था प्राप्त हुई हो, तो भी आत्माका व्यक्तित्व समाप्त नहीं होता, क्योंकि वह मनुष्यके देहपातके बाद ही होता है, और इस व्यक्तित्वके साथ कर्मबंध भी शेष रहते हैं। व्यावहारिक कर्मोंको छोडकर जंगलमें जा बैठनेसे कर्मोंका क्षय होता है, यह समझ गलत है। कर्म करो या न करो, उनका जो क्षय होता है, वह मनुष्यकी बुद्धि साम्यावस्थामें पहुंचनेसे होता है, कर्म छोडनेसे नहीं। कर्म स्वरूपतः कभी जलते नहीं हैं, क्योंकि कर्म अर्थात् नामरूप या दृश्यसृष्टि कैसे जल सकती है ? ब्रह्मसाक्षात्कारतक होनेवाले कर्मोंमें अंशतः तो भी स्वार्थ शेष रहता ही है, परन्तु साक्षात्कारके पश्चात् यह स्वार्थ संपूर्णतः नष्ट हो जाता है। इस कारण ज्ञानोत्तरकालमें स्वार्थीकर्म निःशेष छूट जाते हैं, परंतु लोकसंग्रहात्मक कर्म रहते हैं, इस प्रकारकी विचारसारिणीका निर्णय करनेमें कोई आपत्ति नहीं दिखाई देती, और यह विचारसारिणी पूर्णतः बुद्धिग्राह्य ही है।

इस प्रकार प्रारब्ध, इस शब्दमें वे सारे कर्मोंका समावेश किया जा सकता है, जो मनुष्यको उसकी गर्भावस्थामें तथा जन्मके बाद प्रातःसवनके कालमें अर्थात् विद्यार्जनके कालमें प्राप्त होते हैं, या करने पडते हैं, क्योंकि इस सारे कालमें मनुष्यको मातापितासे प्राप्त किये हुए आनुवंशिक गुणधर्म, विद्यार्जन प्राप्त करनेकी उसकी कौटुम्बिक परिस्थिति, तथा जिस समाजका वह अंश होता है, उस समाजका नैतिक स्तर, अर्थात् भाष्य-कारकी परिभाषामें उत्पत्ति, आप्ति और संस्कार, इन सारोंपर उसका व्यक्तिशः कोई बस नहीं रहता, ये सारी बातें जो कर्म करनेको उद्युत करें, वही उसे प्राप्त कर्म समझकर करने पडते हैं, और वह उन्हें करता है, क्योंकि इस समय उसे व्यक्तिशः स्वतंत्रता प्राप्त नहीं होती है, और यही उन कर्मोंकी अनिवार्यता है। उसकी आयुष्यके आगेके कालमें किये जानेवाले कर्म अंशात्मक रूपमें ही प्रारब्ध इस व्याख्यामें शामिल किये जा सकते हैं, और उनका विचार अगले विभागमें करेंगे।

अब कर्मके तीसरे विभाग "क्रियमाण" इन कर्मोंका विवेचन किया जायेगा। क्रियमाण इस शब्दका अर्थ है, जो अभी चालू है, या कर रहे हैं, वे कर्म, और ये सारे कर्म प्रारब्धका परिणाम हैं, अर्थात् प्रारब्ध यह कारण और क्रियमाण उसके फल अर्थात् कार्य हैं और इन कार्योंके परिणामोंका फिर संचितकर्मोंमें ही समावेश होता है, इस प्रकारकी धारणा आजके विचारसारणीमें दृढ हो गई है। उपर्युक्त विवरणमें हम स्पष्ट कर चुके हैं, कि प्रारब्ध कर्म क्या हैं, और उससे यह सिद्ध होता है, कि प्रारब्ध यह कारण और क्रियमाण यह कार्य यह परिस्थिति मनुष्यके आयुष्यके प्रातःसवनके काल या आप्तिकाल या विद्यार्जनके कालके पूर्ण होनेतक सही है, ऐसा मानना ही पडेगा, क्योंकि इस कालमें उसे स्वतःका अपना व्यक्तित्व नहीं रहता, अपितु उसे वेही कार्य करने पडते हैं, जो कार्य उसे मातापितासे प्राप्त गुणधर्म तथा उसकी कौटुम्बिक और सामाजिक परिस्थिति उससे कराती है, परंतु जब यह काल संपूर्ण हो जाता है, उस कालमें अर्थात् मध्यान्ह और सायंसवन अर्थात् गृहस्थाश्रम और वानप्रस्थाश्रमके

कालमें भाष्यकारकी परिभाषामें वैकारिक या इंद्रिय विषयक संयोग होनेपर मनुष्यके कर्म विषयक विचार करना महत्त्वपूर्ण प्रश्न है, क्योंकि यही वह काल है, जब नर करनी करे तो नरका नारायण हो सकता है। इस महत्त्वपूर्ण प्रश्नके सुलझानेमें कई बातोंका विचार करना पडेगा, और इस कारण एक एक विषयका स्वतंत्र रीतिसे विचार करेंगे, जिससे उसमें गडबड होनेकी संभावना न रहे।

हमने पूर्व अध्यायोंमें कई जगह स्पष्ट किया है कि, वैदिकसंस्कृतिने अभ्युदयपूर्वक निःश्रेयस् प्राप्ति यही मानवजीवनका निश्चित ध्येय माना है। इसमें मनुष्यकी ऐहिक आकांक्षाओंको योग्य संधि प्राप्त होने जैसी होनेसे उसके भौतिक और आध्यात्मिक सामर्थ्योंका पूर्ण विकास होकर व्यवहार और परमार्थ इन दोनों दृष्टिसे मनुष्य कृतार्थ होता है। वैदिकधर्मका यह ध्येय मनुष्यकी पारमार्थिक बुद्धिको जिस तरह बोधगम्य होता है, उसी तरह उसके व्यवहार प्रवणबुद्धिको समाधानकारक रहनेमें वह समर्थ रहता है। इस प्रकार वैदिकसंस्कृतिने ध्येयका विचार करनेमें पारमार्थिक और व्यावहारिक इन दोनों अंगोंको सामने रखकर ही किया है, ऐसा स्पष्ट दिखता है। अभ्युदय व निःश्रेयस् इन दो अंगोंसे पूर्ण होनेवाला ध्येयका मार्ग एकांगी न होनेसे उसपर किसी प्रकारका दोषारोपण नहीं किया जा सकता। ध्येयकल्पनामें अनेक भेद होना संभव हैं। परंतु किसी भी शास्त्रीय विचार करनेमें व्यक्ति, समाज या राष्ट्रके ध्येयकी दृष्टिसे नहीं किया जा सकता, अपितु वह मानवध्येयके दृष्टिकोणसे ही किया जा सकता है।

इस दृष्टिकोणसे देखनेपर यही स्पष्ट प्रतीत होता है कि, वैदिक ऋषियोंने मानवके लिये निश्चित किये हुए ध्येय उसके ऐहिक और पारमार्थिक कल्याणकी दृष्टिसे जगत्के सारे मनुष्योंको अपनानेके योग्य तथा परिपूर्ण ही हैं। मनुष्य अपने जीवनको स्वतंत्र रीतिसे जब प्रारंभ करता है, अर्थात् जब वह गृहस्थाश्रममें प्रवेश करता है, तबसे ही अपनी पारमार्थिक उन्नतिका तथा सामाजिक उन्नतिका दायित्व उसपर आन पडता है, और

वह इन्हें किसी प्रकारसे टाल नहीं सकता। द्विविध ध्येयके समान ही उसके मार्ग भी द्विविध ही होने चाहिये, ऐसी धारणा होना संभव है, परंतु वैदिक ऋषियोंने इस ध्येयके साधनार्थ मार्गकी रचना इतनी खूबीसे की हुई है कि, एक ही मार्गसे अभ्युदय निःश्रेयससिद्धिकी वह प्राप्ति कर सकता है। इसी मार्गका नाम है " वर्णाश्रमधर्म "। वैदिकसंस्कृति द्वारा निश्चित किये हुए इस ध्येयको प्राप्त करनेमें सामर्थ्यकी नितांत आवश्यकता होती है, क्योंकि उन्नतिका यह मार्ग तलवारकी धार जैसा कठिन है, ऐसा कठ. (१,३,१४) में स्पष्ट कहा है।

इसके साथ ही साथ एक और महत्वपूर्ण बात सामने आती है, कि यद्यपि इस प्रकारका ध्येय निश्चित किया तो भी उसे प्राप्त करनेके सामर्थ्यके साथ ही साथ उसे स्वातंत्र्य है या नहीं ? इस विषयपर पुराने शास्त्रकारोंमें बहुतसे मतभेद दिखाई देते हैं। पुराने ग्रन्थकर्ताओंका कथन है कि, मनुष्यका जीवन प्रारब्धाधीन होनेसे इच्छा, प्रयत्न और फलप्राप्ति ये सारी बातें प्रारब्धपर अवलंबित हैं। अर्थात् एक प्रकारसे मनुष्य स्वतंत्रतापूर्वक कुछ भी नहीं कर सकता। इस प्रारब्धवादके मतानुसार परमार्थमें भी मनुष्यको कोई खास स्वातंत्र्य नहीं रहता। किसी एक मनुष्यको परमार्थकी इच्छा होना, उसे सद्गुरुकी भेंट होकर उससे उपदेश प्राप्त होना ये सारी बातें प्रयत्नसाध्य नहीं हैं। जो प्रारब्ध या भाग्यमें हो वही होता है। इस पुराने पक्षके समान ही नवीन पक्षमें भी निसर्गवाद या सृष्टिक्रमवादके योगसे प्रत्येक मनुष्य व प्रत्येक वस्तु निसर्ग नियमसे बंधी हुई है। इस निसर्गवादको ही नियति भी कहते हैं और इस नियतिके नियमोंसे ठहरे हुए व्यापार इस सृष्टिमें होते रहते हैं। इस नियतिके चक्रमें उत्पन्न मनुष्य भी उसका ताबेदार ही होता है।

आजतक जगत्में जो दुष्ट या सुष्ट लोग हुए वे भी सब नियतिसे बने हुए हैं और दुष्कर्म या सत्कर्म ये भी उन्होंने स्वतंत्र रीतिसे नहीं किये हैं, अपितु वे भी नियतिके खेल ही हैं। पुराना प्रारब्धवाद या दैववाद, और

बया नियतिवाद या सृष्टिक्रमवाद यह सब एक प्रकारका इंद्रजाल है, क्योंकि इसमें एक बार मनुष्य फंसा कि उसका उससे निकलना ही कठिन है। आधुनिक पंडितोंने इस सृष्टिक्रमवादको नवीन रीतिसे मांडनेका प्रयत्न किया हो तो भी उसके बहुतसे तत्त्व हमारे प्राचीन स्वभाववादसे बहुतांश मिलते हैं या मेल खाते हुए दिखाई देते हैं। इन सबोंके मतके अनुसार प्रत्येक मनुष्य प्रारब्धका, स्वभावका या नियतिके हाथका खिलौना है, क्योंकि उसकी सद्‌गति या दुर्गति, स्वर्ग या नरक, उन्नति या अवनति आदि सारी बातें उसके हाथकी नहीं हैं। इस प्रकारकी विचारसारिणी औपनिषदिक ब्रह्मविद्याको बिलकुल मान्य नहीं है। मनुष्येतर प्राणी संपूर्णतः निसर्गाधीन हो तो भी मानव सर्वतोपरि निसर्गाधीन नहीं है। वह कई बातोंमें नैसर्गिक प्रेरणाके विरुद्ध जा सकता है। उदाहरणार्थ भूख लगना और खाद्य पदार्थ जो सामने मिले वह खाना यह नैसर्गिक प्रेरणा है, परन्तु प्रसंगोपात कोई विशेष कारणसे मनुष्य निग्रहपूर्वक इस नैसर्गिक प्रेरणाको दबा सकता है और एक दो दिन ही नहीं, परन्तु कई दिनों या महिनों इस नैसर्गिक प्रेरणाको दबाकर वह प्राण त्यागतक कर सकता है और इस तरह मनुष्य निसर्गको जीत लेता है ऐसा ही कहना पडता है।

मनुष्यकी जड देह जिस निसर्गसे उत्पन्न हुई है उसीसे उसकी बुद्धि भी उत्पन्न हुई है। जड देह निसर्गाधीन हो, तो भी प्रसंगोपात मानव-बुद्धि निसर्ग बंधनसे कैसे छूट सकती है यह उपर्युक्त उदाहरणसे स्पष्ट है। इससे यद्यपि यही सिद्ध होता है, कि मानवबुद्धि स्वतंत्र है, तथापि यह स्वातंत्र्य मर्यादित ही है, यह मानना पडेगा। पानीकी सतहपर घूमनेवाली नाव जो भी पानीके आधीन रहती है, तो भी गति विषयक उसे बहुतसा स्वातंत्र्य रहता है। पानीके अस्तित्वपर ही नावका सारा कार्य अवलंबित रहता है, यह बात सच होते हुए भी उसी पानीके आश्रयका उपयोग कर नौकाकी गतिका वैशिष्ट्य इसीमें है, कि उसे जलप्रवाहके विरुद्ध भी ले जाया जा सकता है। इसी तरह मानवबुद्धिको भी सृष्टिका आधार ही लेना पडता है, परन्तु निसर्ग नियम जिधर उसे ले जांय उधर जानेके बदले

नैसर्गिक प्रेरणाकी धार तोडकर विरुद्ध दिशामें भी वह जा सकती है, और इसीमें उसका स्वातंत्र्य सिद्ध होता है। औपनिषदिक ब्रह्मविद्याने मानव-बुद्धिको परमार्थ मार्गके बारेमें स्वतंत्र ठहराया है, और ब्रह्मविद्याका यह सिद्धांत बुद्धिग्राह्य सयुक्तिक तथा अनुभवसिद्ध ही है। नैसर्गिक प्रेरणाका प्रवाह उसे विषयोपभोगकी ओर अर्थात् प्रेयकी ओर ले जाना चाहता है, परन्तु उसके विरुद्ध श्रेयकी ओर जानेमें ही मनुष्यका कल्याण रहनेसे प्रेयकी ओर ले जानेवाली निसर्गकी धार तोडकर बुद्धि उसे श्रेयकी ओर ले जा सकती है, और ऐसा करनेमें उसे पूर्ण स्वातंत्र्य है, यही औपनिषदिक सिद्धांत कठोपनिषद्के दूसरे अध्यायके पहिली वल्लीमें मुख्यतः स्पष्ट किया गया है।

इस प्रकार यद्यपि बुद्धिको स्वातंत्र्य प्राप्त हुआ तो भी इस स्वातंत्र्यको काममें लानेके लिये उसे सामर्थ्यकी आवश्यकता भी है। औपनिषद ब्रह्म-विद्यामें सर्वतोपरि बुद्धिवादको ही प्राधान्य दिया है। तथापि ब्रह्मज्ञानके साथ ब्रह्मोपासनाका भी जगह जगह पूर्ण रूपसे विचार किया हुआ है। ब्रह्मज्ञान यद्यपि बुद्धिगम्य है तथापि इस ब्रह्मप्रवण बुद्धिको उपासनाकी जोड अवश्य देनी चाहिये, ऐसा श्रुतिका उपदेश मांडूक्य तथा प्रश्नोपनिष-द्के पांचवें प्रश्नसे स्पष्ट सिद्ध होता है। उपासना मार्गमें प्रेम या निष्ठा यह मुख्य तत्त्व है। प्रेम यह अंतःकरण (मन) का निसर्गसिद्ध धर्म है और प्रेममें ही भावनाका प्रादुर्भाव होता है। जिस किसी वस्तुपर प्रेम होता है वह चीज अप्राप्य हो, तबतक उसे ध्येय या साध्य ये नाम दिये जाते हैं। उच्च प्रकारकी भूमिका प्रायः कष्टसाध्य ही होनेसे उसीको 'ध्येय' कहा जा सकता है, और इस प्रकारके ध्येयके ऊपरका प्रेम या निष्ठा यही उपा-सना मार्गका बीज है।

उपासनाके योगसे भावनाका विकास होकर उसका दिव्य सामर्थ्य प्रकट होता है, और इस प्रकारके सामर्थ्यका व्यवहार और परमार्थ इन दोनों मार्गोंमें अत्यंत उपयोग होता है। उच्च प्रकारके ध्येयकी मंजिलपर पहुंचनेमें मनुष्यको बडे प्रयत्न करने पडते हैं, या ध्येय जितना उच्च कोटिका हो,

इसी प्रमाणसे प्रयत्न भी बहुत जोरदार लगते हैं, क्योंकि उसे नानाविधि संकटोंसे तथा विरोधोंका प्रतिकार करना पडता है, और ऐसा करनेमें उसे नाना प्रकारके कष्ट सहन करने पडते हैं। इस कारण उसे तितिक्षा और प्रतिकार इन दोनों प्रकारके सामर्थ्योंकी एकसी ही आवश्यकता होती है। यह सामर्थ्य न हो तो वह सदसद्विवेक बुद्धिसे उच्च कोटिके ध्येयका निश्चय भले ही कर ले, परंतु भावनासामर्थ्यके अभावमें वह अपने निश्चयानुसार आचरण नहीं कर सकेगा। भारतके आजतकके इतिहासमें व्यक्तिने तथा समाजने व्यक्तिगत तथा सामूहिक रीतिसे बहुतसे महत्त्वपूर्ण कार्य किये, और उन कार्योंको करनेमें उन्हें जो कष्ट सहन करने पडे, और उन्होंने जो पराक्रम किये या जो तन्मयता उन्होंने दिखाई वे सब इस प्रकारके शुद्ध भावनाके ही परिणाम थे, इसमें जरा भी शंका नहीं है।

उपासना मार्गसे ही भावना सामर्थ्यका संवर्धन करना पडता है। केवल भावावेश स्थिर या शुद्ध नहीं होते। उसकी शुद्धता और स्थैर्य ये दोनों बातें ज्ञानयुक्त उपासनापर ही अवलंबित रहनेसे ब्रह्मज्ञानके साथ साथ ब्रह्मो-पासनाका महत्त्व उपनिषदोंने स्पष्टकर सिद्ध किया है। इस प्रकार अबतकके विवरणसे यह स्पष्ट है, कि मानव बुद्धिको औपनिषदिक विचारधाराके अनु-सार प्रेयके मार्गको छोडकर श्रेयस्कर मार्ग अर्थात् अभ्युदय निःश्रेयस प्राप्त करनेमें पूर्ण स्वातंत्र्य है, और इस प्रकारका कार्य करनेमें लगनेवाला सामर्थ्य उपासना मार्गसे पूर्णतः प्राप्त किया जा सकता है। प्राणिमात्रको जो ज्ञान होता है वह सब बुद्धिद्वारा ही होता है, या ब्रह्मसाक्षात्कार संपादन करनेका बुद्धि ही साधन है, और इसी कारण ऐतरेय उपनिषद्में 'प्रज्ञानं ब्रह्म' करके स्पष्ट शब्दोंमें कहा है। मनुष्यको कर्म उपासना और ज्ञान (इंद्रिय, मन, बुद्धिके गुण) इन साधनोंसे पूर्ण विकसित हुई बुद्धिमें चिद्रूप साक्षात्कार होता होनेसे बुद्धि ही चैतन्यरूप परमात्माका देवगृह है, यह स्पष्ट है।

अबतकके विवेचनसे स्पष्ट हो गया होगा, कि क्रियमाण कर्म अर्थात् वे कर्म जो मनुष्य गृहस्थाश्रममें प्रवेश करनेके आरम्भसे देहके अन्ततक

करता है और ये केवल प्रारब्ध, नियति आदिपर अवलंबित नहीं हैं, अपितु वह व्यक्ति योग्य मार्गका अवलंबन करनेको पूर्णतः स्वतंत्र है, और उसी तरह उस श्रेयस्कर मार्गका अवलंबन करनेको लगनेवाला सामर्थ्य प्राप्त करनेका प्रयत्न वह उपासना (सेवोपासना या ध्यानोपासना) अर्थात् भक्ति, पातंजलयोग, आध्यात्मिक विचार आदि अनेक साधनोंसे कर सकता है। इसीको कर्मविपाक कहा जा सकता है। इस प्रकरणके समाप्त करनेके पहले एक और विचित्र विचारसारिणी जो आधुनिक संन्यासमार्गीय विचारधारामें रूढ है, और जिसका त्रोटक उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं, उसका पुनः स्पष्ट विचार करके इस प्रकरणको समाप्त करेंगे।

बृहदारण्यक (३,२,१३) अर्थात् तीसरे अध्यायके दूसरे ब्राह्मणके अन्तिम या तेरहवें मन्त्रमें मरणोत्तर मानव शरीरके घटक द्रव्य अग्न्यादि देवताओंमें मिल जानेपर यह आत्मा कहां रहता है, ऐसा आर्तभाग ऋषिका प्रश्न है। इस मन्त्रमें " पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन " ऐसा वाक्य आया है। आर्तभागके इस प्रश्नको याज्ञवल्क्यके दिये हुए उत्तरके विषयमें श्रुतिने जो अनुमान किया है, वह कर्म विषयक होनेसे उसके समर्थनमें यह वाक्य आया है। जीवकी उन्नति या अवनति कर्मपर ही अवलंबित रहनेसे " अच्छे कर्मसे जीवात्मा अच्छा होता है और बुरे कर्मसे बुरा " यह कर्म विषयक त्रिकालाबाधित न्याय या सामान्य नियम श्रुतिने बताया है। कर्मकी अच्छाई या बुराई यह केवल उसके बाह्य स्वरूपपर अवलंबित नहीं होती, अपितु वह कर्मको प्रेरक जो बुद्धि और ज्ञान इसपर अवलंबित होती है, यही श्रुतिका स्पष्ट तात्पर्य है। मनुष्य अज्ञानावस्थामें कर्मसे संबद्ध रहता है इस विषयमें किसीका मतभेद नहीं है। परंतु चित्तशुद्धिके बाद जब ज्ञानका प्रारंभ होता है तबसे उसका कर्मसे संबंध छूटता है, ऐसा संन्यासमार्गियोंका मत है।

मनुष्य ज्ञानी होनेपर प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष उसका कर्मसे सम्बन्ध रहता ही नहीं इस प्रकारका संन्यासमार्गियोंका मत होनेसे " पुण्यो वै पुण्येन

कर्मणा भवति " इत्यादि श्रुतिवाक्य संन्यासमार्गियोंको बडे अखरते हैं, और ये सारा ही प्रकरण अज्ञानियोंके ही लिये है ऐसा उनके टीकाकारोंने ठहराया है। मोक्ष या मोक्षमार्ग इनके किसी बातसे पुण्य शब्दका संबंध नहीं है, वे ऐसा समझते हैं। पूर्व मीमांसकोंने की हुई (पुण्यशब्दकी व्याख्या) अपूर्व विषयक कल्पना ही यहांके पुण्यशब्दसे उन्होंने स्वीकार की है। वह इस प्रकारकी है; शास्त्रविहित कर्मोंके फल यद्यपि अनुभवमें आते हों, तो भी वे उसके सच्चे फल नहीं हैं, परंतु अपूर्व ही उसका सच्चा फल है, ऐसा मीमांसकोंका मत है। कर्म करे बाद उसका फल कालांतरसे मिलता है। कर्म व स्वर्ग इनमें बहुत काल जाता होनेसे उसका कार्य-कारणभाव जमता नहीं, और इस कारण स्वर्ग प्राप्त करा देनेवाली एक विलक्षण या दिव्य तथा अज्ञेय शक्ति कर्मसे निर्माण होती है, और वह शक्ति कर्ताको स्वर्ग मिलनेतक स्थिर रहती है और इसीको मीमांसकोंने अपूर्व यह संज्ञा दी हुई है। यह 'अपूर्व वा स्वर्ग' ये दोनों बातें मनुष्यको जीवितावस्थामें कभी भी प्रत्यक्ष न होनेके कारण उसे अदृष्ट भी कहते हैं। इस तरह मीमांसकोंके मतसे स्वर्गदायक ऐसा जो अपूर्व वही पुण्य है, और पुण्य शब्दका यही अर्थ स्वीकार कर संन्यासमार्गियोंने कर्मका खंडन किया है, तो संन्यासमार्गियोंसे जिस कर्मका खंडन किया जाता है, वह कर्म भी मीमांसकोंका ही होना चाहिये, यह स्पष्ट है। परंतु कर्म और कर्म-फलकी मीमांसकोंकी दृष्टि स्वीकार कर उपनिषदोंका वाक्यार्थ करना योग्य नहीं है, क्योंकि उपनिषदिक ऋषियोंको कर्म व पुण्य इन शब्दोंका मीमांसकीय अर्थ अपेक्षित नहीं है।

यथार्थमें देखा जाय तो पुण्य शब्दका पवित्र या उत्तम यही सामान्य अर्थ उपनिषदोंमें अपेक्षित है, यह बात जहां जहां यह वाक्य " पुण्यो वै पुण्येन " आया है उसके सूक्ष्म निरीक्षणसे स्पष्ट प्रतीत होता है। उदाहरणार्थ प्रश्नोपनिषद् (३, ७) में पिप्पलाद ऋषिने बताया है कि " एक नाडीमें प्राण उदानरूपसे संचार करता है, और यही उदान जीवको

पुण्यसे या सत्कर्मसे सद्गति प्राप्त कराता है। पापसे या दुष्कर्मसे दुर्गतिको ले जाता है, और पुण्यपापमिश्रित कर्मसे मनुष्यलोकको।" इस मंत्रके पापपुण्य शब्दका संबंध कई टीकाकारोंने प्राणीके मृत्युके बाद उसे परलोकमें, जो अच्छे या बुरे फल उनकी समझमें मिलते हैं, उनसे जोडा है, परंतु वह बिलकुल गलत है, क्योंकि यहां फल देनेवाला उदान है। चालू प्रकरणमें प्राण, अपान, व्यान और समान इनके वर्णन इसी जीवित शरीरके कार्योंको अनुलक्ष्य कर सोपपत्तिक किये हैं।

इस मन्त्रमें उदानका कार्य इसी जीवित शरीरको अनुलक्ष्य कर ऋषिने उसका वर्णन किया है। इस कारण इस उदान सामर्थ्यको तेजस्वी और सामर्थ्यपूर्ण करनेमें उपयोगी होनेवाले जो कर्म वे ही सत्कर्म हैं, इस प्रकारका अर्थ प्रकरण संदर्भसे स्पष्ट होता है। यही विचारधारा इससे भी थोडी व्यापक की गई और उदानकी जगह प्राणशक्ति ही ली गई, तो मानवमें नाना प्रकारसे प्रत्यक्ष दिखनेवाली प्राणशक्ति जिन कर्मोंसे तेजस्वी और परिपूर्ण हो, वही सत्कर्म या पुण्य कर्म हैं, ऐसा निर्विवाद सिद्ध होता है। इसके विपरीत जिन कर्मोंसे प्राणशक्ति अपूर्ण या मलीन हो, वही दुष्कर्म हैं, ऐसा समझना उचित है। इस प्रकार सत्कर्मका फल सद्गति, दुष्कर्मका फल दुर्गति और मिश्र कर्मसे मनुष्यलोक या साधारण स्थिति प्राप्त होती है, यही अर्थ निश्चित होता है, अर्थात् इसीको स्पष्ट करनेसे पुण्यलोकके माने तेजस्वी स्थिति, पापलोक माने मलीन स्थिति और मनुष्यलोकके माने साधारण स्थिति यह अर्थ प्रकरण संदर्भसे अनुकूल रहते हुए पुराने टीकाकारोंके अर्थके विरुद्ध भी नहीं है, क्योंकि परिस्थिति ऐहिक तथा पारलौकिक ऐसे द्विविध अर्थसे ली जा सकती है। पुराने टीकाकारोंके अर्थमें ऐहिक परिस्थिति " लोक " शब्दके अर्थके निकाल देना चाहिये ऐसी उनकी धारणा दिखती है, परन्तु प्रस्तुत अर्थ कल्पनामें इहलोक, परलोक इन दोनोंका समावेश होनेसे यही अर्थ अधिक व्यापक तथा शास्त्रशुद्ध है, ऐसा मानना ही योग्य है।

इस विवरणसे यह स्पष्ट है, कि औपनिषदिक वाक्योंमें आत्मप्राप्तिके साधन भी पुण्य शब्दमें समाविष्ट हो सकते हैं, और इस कारण " पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति " इस वाक्यका अर्थ भी वही करना चाहिये, जो औपनिषदिक ऋषियोंको मान्य हो। सत्कर्मोंका या पुण्यकर्मोंका साक्षात्कारतक तो उपयोग होता ही है और जीवन्मुक्तावस्थामें भी लोकसंग्रहकी दृष्टिसे उसका अत्यंत उपयोग होता है। पुण्यकर्मके सकाम और निष्काम ऐसे दो विभाग होते हैं उसमेंके सकामकर्मको पुण्यकर्म समझना, और निष्कामकर्मको पुण्यकर्म नहीं समझना यह कल्पना निराधार, युक्तिशून्य ही है, और इस कारण " पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति " इस वाक्यमें श्रुतिने कर्मका सामान्य नियम ही बताया है, और वह अनुभवसिद्ध, सयुक्तिक तथा सप्रमाण है, ऐसा ही निःसंशय सिद्ध होता है।

अबतकके क्रियमाण कर्मके विवेचनसे इस अध्यायमें शुरू किया हुआ कर्मविपाक प्रकरण समाप्त हुआ। इस अध्यायका प्रारम्भ पिछले अर्थात् पंचाग्नि विद्याके अध्यायके विषयकी थोडीसी पुनरावृत्ति कर उसमें यह स्पष्ट किया है, कि उपनिषद्कालमें वैदिक ऋषियोंने ज्ञानकांडको कर्मकांडी वैदिकभागसे तोडकर अलग नहीं किया था, अपितु इसके विपरीत कर्म व ज्ञान इनका मेल मिलाकर संपूर्ण वैदिक वाङ्मयका उत्कृष्ट रीतिसे समन्वय किया था। उसी विचारधाराके अनुसार इस अध्यायमें भी पूर्व और उत्तर मीमांसाका तथा पितृयाण और देवयान मार्गोंका एक दूसरेसे होनेवाला पूरकत्व स्पष्ट करनेका प्रयत्न किया है। इसके पश्चात् कर्मविभाग संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण क्या हैं यह बताकर इनका मानवी जीवन या पिंडसे तथा सृष्टि या ब्रह्मांडान्तर्गत शक्तियोंसे संबंध किस प्रकारका है, यह बात बृहदारण्यक उपनिषद्के पहले अध्यायके पांचवें और छठें ब्राह्मणमें वर्णित वाणी, मन, प्राण तथा नाम, रूप कर्म इनका विवरण कर स्पष्ट किया है।

इसके बादमें संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण तथा भाष्यकारके उत्पत्ति, आप्ति, संस्कार और वैकारिक, इन दोनों प्रकारके कर्मविभागोंका आधु-

निक शास्त्रकी दृष्टिसे कैसे मेल मिलाया जा सकता है, यह स्पष्ट कर यह निष्कर्ष निकालनेका प्रयत्न किया है, कि मानव जीवन यद्यपि प्रारम्भमें अर्थात् ब्रह्मचर्याश्रमतक अर्थात् विद्यार्जनके कालतक प्रारब्धाधीन रहता है, तथापि उसके आगेके जीवनका उत्कर्षापकर्ष उसके ही अर्थात् उसकी वाणी, मन, प्राणके शक्तित्रयपर ही पूर्णतः अवलंबित रहता है, और इस प्रकारके ऐहिक उन्नतिके साथ साथ उसके पारलौकिक (पुत्ररूपसे प्राप्त होनेवाली) उन्नतिमें भी उसके इसी जीवनमें किये जानेवाले कर्म ही अंशतः ही क्यों न हो, काम आते हैं। इस प्रकार यदि पितृयाण मार्गसे कुछ पीढियोंतक प्रयत्न चालू रहे तो, क्रम क्रमसे अर्थात् पहिली पीढिसे अच्छी दूसरी पीढी इस क्रमसे अन्तमें देवयान मार्गसे अर्थात् उसके शरीरकी सारी शक्तियां देवतारूप हो जानेपर वह मुक्त अर्थात् जीवन्मुक्त या उसे जीवितावस्थामें ही मोक्षप्राप्ति हो जाती है। 'मोक्ष' यह स्थिति मरनेके बाद प्राप्त होनेवाली चीज नहीं है, वह जीवितावस्थामें ही प्राप्त की जाती है, चाहे वह इस जन्ममें हो या पुत्र, पौत्र, या उससे और अगली पीढिमें प्राप्त होनेवाली हो।

आधुनिक शास्त्रकी दृष्टिसे इस जन्ममें किये हुए अच्छे या बुरे कर्मोंके परिणाम पुत्ररूपसे उत्पन्न हुए शरीरको प्राप्त नहीं होते (Disinheritance of acquired characters) और यही विचारदृष्टि बृ. उ. (४, ३, ८) से स्पष्ट प्रतीत होती है। परंतु यहांपर यह विचार करना योग्य है, कि यद्यपि इस जन्ममें किये हुए कर्मोंका परिणाम " रिप्रोडक्टिव्ह जेनीज " पर न हो, परंतु इस जन्ममें किये हुए कर्मोंके कारण निर्माण होनेवाली ऐहिक परिस्थितिका परिणाम पुत्रपौत्रादि संततिपर अप्रत्यक्ष रूपमें होता है, यह मानना ही पडेगा। यही सारे विचारणीय प्रश्न हैं जिनका शास्त्रीय दृष्टिसे निष्कर्ष निकालना आवश्यक ही है। यद्यपि इस जन्ममें किये हुए अच्छे या बुरे कर्मोंके परिणाम आनुवंशिक गुणोंपर (Productive genes) नहीं होता, ऐसा साधारणतः माना जाता है तथापि 'एक्सरे' जैसी दिव्य शक्तियोंसे 'जेनिज' में अन्तर किया जा

सकता है यह बात आधुनिक शास्त्रोंको मान्य ही है। हमारे औपनिषदिक विचार धाराके अनुसार भी यह बात मानी जाती है कि, जब मनुष्य शरीरकी सारी इंद्रियां देवतारूप हो जाती हैं, तब उन इंद्रियोंमें ब्रह्मांडस्थित सारी शक्तियां प्रविष्ट हो जाती हैं, और इस प्रकार यह मनुष्य जीवन यदि पूर्ण रूपसे शुद्ध देवता रूप हो गया, तो वह नरसे नारायण हो जानेसे "एक्सरे" आदिसे किये जानेवाले कार्य वह शरीरस्थ शक्तियोंसे सहजमें कर सकता है, यह बात निश्चित रूपसे सिद्ध होती है।

इस प्रकरणको समाप्त करते करते और दो बातें बता देना चाहते हैं। पहली बात यह है, कि जब किसी राष्ट्रकी संस्कृतिकी विचारसारिणीमें अज्ञानसे कोई एक बडी गलत विचारधारा घर कर लेती है, तो उस गलत विचारसरणोकी पोषक हो अर्थात् उसके समर्थनार्थ पचासों और गलतियां प्रविष्ट हो जाती हैं। यही बात हमारे राष्ट्रमें हमारी वैदिकसंस्कृतिमें हुई है, ऐसा प्रतीत होता है। यहां बुद्धकालसे जो हमारा पुराना शास्त्रीय ज्ञान लुप्तप्राय हुआ, उस कारण पुनर्जन्म विषयक जो भ्रामक कल्पनाओंका प्रादुर्भाव हुआ, उससे शास्त्रोक्त वैदिकसंस्कृतिमें पचासों भ्रान्त विचारधाराओंने घर कर लिया, और इस कारण आज इसी भारतको सत्य तथा शास्त्रीय वैदिक तत्त्वज्ञानसे वंचित होना पडा है, और उसके परिणाम स्वरूप आज हजार बारह सौ वर्षसे भारत दासताकी शृंखलासे जकडा पडा था, और उसमें पचासों पक्षोपपक्ष भिन्न भिन्न क्षेत्रोंमें (धार्मिक, सामाजिक, इत्यादि) निर्माण होकर उन्होंने सारे राष्ट्रको खोखला बना दिया है। दूसरी बात जो हम इस स्थानपर बता देना चाहते हैं वो यह है, कि संसारका आज कोई भी धर्म आधुनिक शास्त्रीय आविष्कारोंसे प्राप्त हुए ज्ञानसे मेल खानेवाला नहीं दिखता, परंतु वैदिकधर्म या वैदिकसंस्कृति आजके आधुनिक शास्त्रीय संशोधनोंसे केवल आज ही विसंगत नहीं है, परंतु इस नवोदित विज्ञानमें आगे भी जो आविष्कार होंगे, उनसे भी विसंगत नहीं होगी, इसका हमें दृढ विश्वास है।

हमने इन अध्यायोंद्वारा जो विचारसरणी राष्ट्रके सामने रखनेका प्रयत्न किया है, उसमें कोई बडे भारी संशोधन किये हैं, ऐसा दावा हम नहीं

करते। हमारा तो यह प्रयत्न इतना ही है कि, राष्ट्रमें बुद्धिजीवी विद्वानोंके सामने एक नवीन (वास्तवमें वैदिक) तथा राष्ट्रोपयोगी विचारधारा रखें। इस दिशामें कार्य होकर उससे राष्ट्रोन्नतिमें उसका उपयोग करनेका कार्य एक व्यक्तिका नहीं है, उसमें हजारों विद्वान कार्यकर्ताओंके सहयोगकी आवश्यकता है, और यही कारण है, कि इन अध्यायोंद्वारा हम राष्ट्रको इस दिशामें कार्यक्षम होनेकी विनंती कर रहे हैं। इस विचारधाराको सत्य तथा वैदिक तत्वज्ञानकी दृष्टिसे सिद्ध करनेका उत्तरदायित्व भारतके ही विद्वानोंपर है और हमें नितांत विश्वास है, कि यदि श्रद्धायुक्त निष्ठासे आधुनिक तथा वैदिक शास्त्रोंका समन्वयात्मक तथा तुलनात्मक अध्ययन किया गया, तो हमारे वैदिक ऋषियोंद्वारा प्राप्त ज्ञानराशि भारतका कल्याण तो करेगी ही, परन्तु सारे विश्वको मार्गदर्शन करनेमें पूर्ण रूपसे समर्थ होगी।



अध्याय ११

पुनर्जन्म

हम पिछले एक अध्यायमें स्पष्ट कर चुके हैं, कि वेद या श्रुति इन शब्दोंसे जिस वाङ्मयका निर्देश किया जाता है, उसके मुख्यतः दो भाग हैं। पहला मंत्रभाग है, इसे संहिता भाग भी कहते हैं, और दूसरा ब्राह्मणभाग है। ब्राह्मणभागके जो अंश अरण्य या विपिनमें पठित, तथा उपदिष्ट हैं, उनका नाम 'आरण्यक' है, और इन ब्राह्मणों या आरण्यकोंके जो भाग गहन गंभीर तथा सूक्ष्म मनन चिन्तनसे परिपूर्ण हैं, उनका नाम उपनिषद् है। इस प्रकार स्पष्टतः आरण्यक और उपनिषद् ब्राह्मणभागके ही अंश हैं। वैदिकसंस्कृतिने सर्वप्रमाणोंमें श्रुतिप्रमाण अत्यन्त श्रेष्ठ माना है। श्रुति इस शब्दसे मंत्र और ब्राह्मण ऐसे दोनों भाग विवक्षित हैं। श्रुति प्रामाण्यकी दृष्टिसे मंत्रभागसे ब्राह्मणभाग किंचित् गौण ही ठहरता है, क्योंकि ब्राह्मणग्रन्थ वेदमन्त्रोंका यज्ञसंस्थामें विनियोग करानेवाले ग्रन्थ होनेसे एक प्रकारसे उनके टीकाग्रन्थ ही हैं, अर्थात् मंत्र और ब्राह्मण भागोंमें एकाध बातपर कहीं एक दूसरेमें विरोध दिखाई दिया, तो ब्राह्मणभागके वाक्योंमें थोडीसी खींचतान कर उसे मन्त्रभागके वाक्यार्थसे जमा लेना पडता है, और यही मन्त्रभागके श्रेष्ठत्वका लक्षण है।

हम पहले ही बता चुके हैं, कि वैदिकधर्म केवल तंत्रप्रधान नहीं है, अपितु इस धर्मके गूढतत्व क्या हैं, इस विषयक प्राचीनकालमें उपनिषदोंमें सूक्ष्म विचार किया गया है, परंतु ये उपनिषद् भिन्न भिन्न ऋषियों द्वारा भिन्न भिन्न कालमें निरूपण किये होनेके कारण उनमें अनेक पद्धतियोंसे विचार प्रसृत किये हुए हैं, और उनमेंसे कुछ परस्पर विरुद्ध हैं, ऐसा बादमें प्रतीत होने लगा। इस प्रकारका विरोध ऊपर ऊपर देखनेवालोंको प्रतीत होनेसे इस विरोधको निकालकर श्रीबादरायणाचार्यने अपने वेदांतसूत्र या

ब्रह्मसूत्र या शारीरसूत्रनामक ग्रन्थमें सभी उपनिषदोंमें एकवाक्यता है, ऐसा स्पष्ट कर दिया है, और इस कारण उपनिषदोंके बराबर ही वेदांत-सूत्रोंको भी प्रामाण्यकी दृष्टिसे महत्त्व प्राप्त हैं, क्योंकि भिन्न भिन्न उपनिषदोंमें भिन्न भिन्न ऋषियोंसे प्रतिपादन किये हुए आध्यात्मसिद्धांतोंको पद्धतिवार विवेचन करनेके लिये ही श्रीबादरायणाचार्यके ब्रह्मसूत्रोंकी प्रवृत्ति होनेके कारण उनमें उपनिषदोंसे भिन्न विचार आना संभव ही नहीं है।

ऐतिहासिककालके पूर्वके वाङ्मयमें तीसरा महत्त्वपूर्ण तथा सर्वमान्य-ग्रन्थ श्रीभगवद्गीता है। उसमें उद्धृत अध्यात्मज्ञान यद्यपि उपनिषदोंपर ही आधारित है, तथापि उसमें वासुदेवभक्ति और सांख्यशास्त्रके सृष्ट्युत्पत्तिक्रमकी जोड दी होनेसे सामान्य जनताको आचरण करनेमें सुलभ हो, ऐसा वैदिक कर्मयोगमार्गका ही उसमें मुख्यतः प्रतिपादन किया गया है। स्पष्टतः गीता तथा उपनिषदोंमें आया हुआ आध्यात्मज्ञान एक ही है। इस कारण उपनिषद् और वेदांतसूत्र इनमें आए हुए तत्त्वज्ञानकी पूर्ति करनेवाला ग्रन्थ इस नातेसे भगवद्गीताग्रन्थ भी उनके बराबर ही सर्वमान्य तथा प्रमाणभूत माना जाने लगा। अन्तमें उपनिषद् ब्रह्मसूत्र और गीता इन्हें प्रस्थानत्रयी यह संज्ञा प्राप्त हुई है। इस कारण जो कोई सा भी धर्ममत इन तीनोंसे सुसंगत न हो, अर्थात् जिस किसी धर्ममतका इनके तत्त्वज्ञानमें समावेश न करते आवे उस धर्म या संप्रदायको वैदिक-धर्मके लोग गौण तथा अग्राह्य मानने लगे।

इसका परिणाम यह हुआ कि जितने भी संप्रदाय बुद्धकालके बाद हिंदुस्थानमें प्रचलित हुए उनके प्रत्येक धर्मप्रवर्तकको इन तीनों ग्रन्थोंपर भाष्य लिखकर यह सिद्ध करना पडा कि, उन्हींका संप्रदाय प्रस्थानत्रयीको सर्वथा मान्य है, तथा दूसरे संप्रदाय इससे सुसंगत नहीं हैं। इस स्थान-पर पुनश्च वेद, उपनिषद्, प्रस्थानत्रयीविषयक स्पष्टीकरण करनेका मुख्यतः उद्देश्य यही है, कि हम यहां फिरसे यह स्पष्ट कर देना चाहते

हैं, कि यद्यपि प्रामाण्यकी दृष्टिसे मन्त्रभागका स्थान ऊंचा है, तथापि हमारी आजकी वैदिकसंस्कृतिके तत्त्वज्ञानका मूल स्रोत केवल उपनिषद् ही हैं।

उपर्युक्त विवरणमें प्रस्थानत्रयी इस शब्दकी व्याख्या करते समय यही बताया गया है, कि "प्रस्थानत्रयी" उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और गीता ये निवृत्ति और प्रवृत्ति इन दोनों मार्गोंका सुसंगठित तथा शास्त्रीय विवेचन करनेवाले वैदिकधर्मके तीन मुख्य आधारस्तंभ ग्रन्थ हैं। चूंकि ब्रह्मसूत्र उपनिषदोंका एक प्रकारका टीकाग्रन्थ ही हैं, और गीताका तत्त्वज्ञान उपनिषदोंपर ही आधारित है, इस कारण आज किसी भी प्रश्नका वैदिक, सांस्कृतिक अथवा धार्मिकदृष्टिसे निर्णय करना हो, तो यदि वह प्रश्न औपनिषदिक ज्ञान द्वारा छुडाया गया, तो उसके निर्णयको किसी वर्ग या किसी संप्रदायको आपत्ति नहीं हो सकती, और इन उपनिषदोंमें भी ब्रह्मसूत्रकार श्री-बादरायणाचार्यने तथा भाष्यकारने भी केवल दशोपनिषदोंका ही अपने ग्रन्थोंमें परामर्श लिया है, इससे यह स्पष्ट होता है, कि उन्होंने अन्य उपनिषदोंको गौण समझा होगा। हमने इन अध्यायों द्वारा जो विचार-सारिणी प्रस्तुत करनेका प्रयत्न किया है, उसे केवल इन्हीं दशोपनिषदोंके आधारपर किया है, और जो विचारसारिणी हम अब इस तथा अगले अध्यायमें उद्धृत करना चाहते हैं, उसकी सत्यासत्यताका निर्णय करनेमें (यद्यपि अन्य ग्रन्थोंको हम गौण नहीं कहना चाहते) हम दशोपनिषदोंको ही अग्रस्थान दे आधारभूत ग्रन्थ समझते हैं, और केवल इन्हींके निर्णय हमें मान्य है।

अब इस स्थानपर पाश्चात्यशास्त्रज्ञ, अनुसंधानात्मक संशोधनोंके पश्चात् मानव जीवनके भवितव्यके विषयमें जिन निष्कर्षोंपर आज पहुंचते हैं, उनका संक्षेपसे परिचय देनेका प्रयत्न करेंगे, उद्देश्य केवल यही है, कि जब हम इस तथा इसके अगले अध्यायमें कुछ प्रमुख विषयोंका औपनिषदिक दृष्टिकोणसे विवेचन करें, तब उन्हीं विषयोंपर पाश्चात्यशास्त्रज्ञोंके आजकी विचारधाराका भी तुलनात्मक दृष्टिसे परामर्श लिया जा सके। श्रीज्युलि-

यन हक्स्ले, जो एक प्रमुख आंग्ल प्राणिशास्त्रज्ञ हैं, और जो ' युनस्को 'के अध्यक्ष भी थे उन्हींके " इव्होल्यूशन " नामक ग्रन्थके अन्तिम अध्यायमें दिये हुए उन्हीं विषयोंके निष्कर्षोंको हम प्रस्तुत करेंगे, परंतु उसके पहले हम कुछ उपोद्घातात्मक चार शब्द प्रस्तुत करना उचित समझते हैं।

इंद्रियोंको गोचर न होनेवाली, अर्थात् अव्यक्त, सूक्ष्म, एक जिनसी तथा चारों ओर अखंड भरे हुए एक ही निरवयय मूल द्रव्यसे सारी व्यक्त सृष्टि उत्पन्न हुई है, यह सांख्योंका सिद्धांत पाश्चात्य देशोंके आजके आधिभौतिक शास्त्रज्ञोंको पूर्णतः ग्राह्य तो हैं ही, परंतु साथ ही साथ इस मूल द्रव्यके शक्तिकी क्रमक्रमसे वृद्धि होती चली आई है, यह बात दोनों विचारधाराओंको एक समान मान्य है, अर्थात् इस पूर्वापर क्रम या सारणीको छोडकर बीच ही में कोई भी चीज अनपेक्षित रीतिसे निर्माण नहीं हुई है। सांख्यके इस निष्कर्षपर आजके आधुनिक शास्त्रज्ञ भी पहुंच गए हैं। इस मतको आज उत्क्रांतिवाद (इव्होल्यूशन थियरी) कहा जाता है। इस सिद्धांतका उन्नीसवें शतकमें जब पाश्चात्य राष्ट्रोंमें प्रथम संशोधन हुआ तब उन राष्ट्रोंमें बडी गडबडी मच गई।

खिस्ती धर्मपुस्तकोंमें इस प्रकारके वर्णन हैं कि, " परमेश्वरने पंचमहाभूत और जंगमकोटिके सब या प्रत्येक प्राणीकी जाति भिन्न भिन्न समयमें पृथक् पृथक् और स्वतंत्रतया निर्माण की है " और यही मतप्रणाली (उत्क्रांतिवाद) निकलनेके पहले सभी ' खिस्तीराष्ट्र ' सत्य मानते थे। इस कारण उत्क्रांतिवादकी वजहसे इस खिस्ती विचारधाराके झूंठे ठहरनेकी जब स्थिति आई, तब चारों ओरसे इन नये उत्क्रांतिवादियोंपर आक्रमण आरम्भ हुआ और आज भी कुछ प्रमाणमें वह चालू ही है; यह स्पष्ट है कि शास्त्रीयसत्यकी शक्ति अधिक होनेके कारण सृष्ट्युत्पत्ति संबंधमें उत्क्रांतिमत ही आजके दिन करीब करीब सभी विद्वानोंको मान्य होता जा रहा है।

इस मतप्रणालीके अनुसार सूर्यमालामें प्रथमतः एक जिनसी सूक्ष्मद्रव्य भरा हुआ था, और उसकी मूल गति तथा उसका मूल तापमान कम कम

होनेके कारण उक्त द्रव्यका अधिकाधिक संकोच होनेसे पृथिव्यादि सारे ग्रहोंका क्रम क्रमसे निर्माण हुआ और सूर्य स्वतः इसका बाकी बचा हुआ अंश है यह विचार धारा निश्चित हुई। प्रथमतः पृथ्वी भी सूर्य जैसी ही उष्ण गोला थी, परंतु उसका तापमान धीरे धीरे कम होते होते मूल द्रव्यका कुछ अंश पतला, तो कुछ अंश गाढा बन गया, और पृथ्वीके ऊपरका वातावरण तथा उसपर का पानी और नीचे बचा हुआ पृथ्वीका गाढा वजनदार भाग निर्माण हुए। बादमें इन्हीं तीनोंके संयोगसे सारी निर्जीव, तथा सजीव सृष्टि निर्माण हुई। डॉर्विन इत्यादि पंडितोंने स्पष्ट और साधार पद्धतिसे यह प्रतिपादन किया है, कि मनुष्य प्राणी भी इसी न्यायसे अर्थात् क्रम क्रमसे छोटे छोटे कीटकादि प्राणियोंसे उत्क्रांत होते होते उसकी आजकी स्थिति और स्वरूपमें परिणत हुआ है। इतना सब होते हुए भी आज केवल आधिभौतिकवादियों और शुद्ध आध्यात्मवादियोंमें इस प्रश्नपर कि "आत्माको एक स्वतंत्र शक्ति माना जाय या नहीं" अत्यधिक मतभेद है।

सारांश यह कि, आधिभौतिक सृष्टिज्ञान कितने भी अधिक प्रमाणमें हुआ हो, तो भी सृष्टिके मूलतत्वके स्वरूपका विवेचन अलग ही पद्धतिसे करना चाहिये, इस प्रकारकी विचारधारा आज भी पाश्चात्य देशोंमें बडे बडे पंडित प्रतिपादित कर रहे हैं। परंतु एक जड प्रकृतिसे आगेके सर्व व्यक्त पदार्थ किस क्रमसे निर्माण हुए हैं इतना ही जब विचार करना हो, तब पाश्चात्य उत्क्रांतिमतमें और हमारे यहांके सांख्य शास्त्रमें प्रतिपादन किये हुए "प्रकृतिके पसारे" के वर्णनमें (इसी विचारसरणीको गीताने भी अपनाया है) किसी भी प्रकारसे मूलभूत भेद नहीं है यह स्पष्ट हो जावेगा क्योंकि दोनों ही विचारधाराओंके अनुसार अव्यक्त, सूक्ष्म एक-जिनसी मूलप्रकृतिसे क्रमशः बहुजिनसी व्यक्त सृष्टिका निर्माण हुआ है, यह मुख्य सिद्धांत दोनोंको एकसा ही मान्य है और "गुणा गुणेषु वर्तन्ते"

ऐसा गुणोंके विकासका अर्थात् गुणोत्कर्षका तत्व भी दोनों विचार धारा-ओंमें एकसा ही है।

इस विषयमें तात्विक दृष्टिसे एक बात याद रखने योग्य है, कि हमारे यहां गुणोत्कर्ष तत्वकी शास्त्रीय विचारधाराका विरोध पाश्चात्य देशोंमें ख्रिस्ती धर्माभिमानियोंसे किये हुए विरोध जैसा कभी भी नहीं किया गया, और उपनिषद् वाङ्मयका स्वतंत्र बुद्धिसे अध्ययन करनेसे स्पष्ट होगा, कि आज तकके तथा आगे होनेवाले शास्त्रीय संशोधनोंसे प्राप्त होनेवाले निष्कर्षोंसे भी हमारा विरोध न होगा, यह निश्चय है; क्योंकि औपनिषदिक निष्कर्ष पूर्णतया शास्त्रीय संशोधनोंपर ही आधारित हैं।

अब हम हक्स्लेसाहबके 'इव्होल्यूशन' नामक ग्रन्थमें 'मनुष्यका भवितव्य' के विषयपर प्रकट किये हुए विचार प्रस्तुत करेंगे-" जीवकी उत्क्रांतिमें मानव प्राणी ही केवल ऐसा है, जिसमें आगे उत्क्रांति संभव है अर्थात् उत्क्रांति तत्वके अनुसार जीव जब अन्य शरीरोंमें होता हुआ मानवी श्रेणीतक पहुंचा, तो फिर मनुष्य शरीरका और अन्य किसी नूतन प्राणीके स्वरूपमें परिवर्तन नहीं होगा, और मनुष्य, मनुष्यकी अवस्था ही में सृष्टिके अंततक रहेगा; और अबतक जो जीवकी उत्क्रांति हुई है, उसके प्रमेयोंसे इस बातकी दिशा दिखाई जा सकती है, कि 'मनुष्य' से उच्चतम उन्नत कोटिका 'मानव' किस प्रकारसे बन सकता है, या यों कहिये कि नरका नारायण कैसे बन सकता है। उत्क्रांति तत्वके अनुसार अबतक जीवकी उत्क्रांतिमें जब जब भी कोई एक बडा परिवर्तन हुआ तब आगे दी हुई तीन मुख्य घटनाओंमें से एक घटना बडी बडी तबदीलियोंके साथ हुई—

(१) शरीर रचनामें किसी एक नई रचनाके प्रादुर्भावके कारण इसके पहले जिस कोटिके प्राणी पृथ्वीपर प्रभावशाली थे, उन्हें पिछडा या नष्ट कर दिया गया (२) नए वातावरणोंमें जीवका निवास स्थिर किया गया, जैसे पानीसे निकलकर जमीनपर या जमीनको छोडकर हवामें, और इस प्रकार जीव उत्क्रांत होता गया। (३) प्राणीके शरीर स्थित पुरानी बनावटमें

कोई न कोई विशिष्ट प्रकारका उपयुक्त परिवर्तन होकर अधिक उन्नत कोटिका जीवनक्रम बिताया जाने लगा। इस प्रकार बादमें जब जीवमें बौद्धिक उत्क्रांतिका विकास हुआ अर्थात् उसमें विचार कर सोचनेकी, तथा अर्थयुक्त वाणीकी, जो उत्पत्ति हुई वह जीवकी उत्क्रांतिमें एक प्रमुख प्रगतिशील तथा प्रभावशाली परिवर्तन कहा जा सकता है: और यद्यपि इस परिवर्तनके परिणाम पूर्णतया अभी १० या २० लाख वर्षोंमें दृष्टिगोचर नहीं हुए हैं, तथापि आगे चलकर इस परिवर्तनके कारण अवश्य ही महत्त्वपूर्ण परिणाम होंगे।

इस बातसे यह निष्कर्ष अवश्यही निकलता है, कि मनुष्य जाति या मानवका अब आगे चलकर मानवेतर अन्य किसी प्राणीमें परिवर्तन नहीं होगा, और अब तक जो जीवकी उत्क्रांति हुई है, उसमें पहले जैसे या वातावरणांतरके कारण जो आनुवंशिक (जेनेटिकल) परिवर्तन हुआ करते थे वैसे अब मानव कोटिमें पहुंचनेपर जो परिवर्तन (आनुवंशिक या जेनेटिकल) होंगे वे अब मानव जातिमें भिन्न भिन्न प्रकारके मिलान (Crossing) या संयोग (Recombination) के कारण ही हुआ करेंगे। इतिहास यह स्पष्ट रूपसे बताता है कि परंपराके कारण मनुष्यने सृष्टिपर किस प्रकार प्रभुत्व (यह आनुवंशिक या जेनेटिकल परिवर्तन न होनेके कारण स्थायी स्वरूपका नहीं होता) प्राप्त कर लिया है।

आनुवंशिक गुणोंमें परिवर्तन होनेके कारण होनेवाले अंतर पक्के होते हैं और मनुष्य कोटिमें इस प्रकारके अन्तर उसकी बुद्धिके विकासके कारण ही प्राप्त हो सकते हैं, क्योंकि उत्क्रांत बुद्धि ही मानवकी प्रभुताका मुख्य कारण है। इतिहास यह भी बताता है, कि आज मानवकी जो समाज व्यवस्था है, उसमें अन्य सुसंघटित समाजवाले कीड़ों (Insects) जैसे निःस्वार्थपूर्ण उपजत गुणों (Instinct) का प्रादुर्भाव होना संभव नहीं है क्योंकि यह बात तभी संभव हो सकती है, जब हम लैंगिक प्रेम और प्रजोत्पादन

इन दो बातोंको अलग अलग रखें, और विशिष्ट उच्च कोटिके शुक्रसे ही प्रजोत्पादन करें।

यदि इस प्रकारके प्रजोत्पादनको क्रियान्वित किया जाय तभी शुद्ध निःस्वार्थी विचारधाराकी जातियोंका निर्माण हो सकता है और तभी जाति जातिमें उत्पन्न होनेवाली स्पर्धाकी जगह जाति जातिमें सहयोग निर्माण हो सकता है। अर्थात् अन्तर्जातीय स्पर्धाकी जगह अन्तर्जातीय सहयोगका निर्माण हो सकता है। यद्यपि आजके किसी भी मानवसमाजमें इस प्रकार की परिस्थिति निर्माण होना असंभव है, तथापि एक बात अवश्य हो सकती है, और वह यह है कि हम सर्व साधारण समाजकी बुद्धिका स्तर उंचा कर सकते हैं। इस प्रकारसे मनुष्यकी पाठ्यशक्ति, सदसद्विवेक, ग्राह्याग्राह्य विचारधारा आदि सद्गुणोंके आज पाए जानेवाले स्तरको और भी ऊंचा किया जा सकता है, अर्थात् उसका विकास किया जा सकता है।

यह स्पष्ट है, कि आज तक जो जीवमें मुख्य मुख्य परिवर्तन हुए उनमें जीवकी उत्क्रांतिमें परिवर्तनके पहलेकी बातोंने काफी बाधा पहुंचाई हुई है, क्योंकि उन बातोंको बदलकर या उनमें फेरबदल करके ही नई अवस्थामें जीवको प्रगतिकी दिशामें कदम उठाना संभव हुआ है। उदाहरणार्थ, बुद्धिके विकासके कारणसे जब जीवको विचार कर सोचनेकी शक्ति तथा अर्थयुक्त वाणी प्राप्त हुई, तब उसने अपने शारीरिक शक्तिको अन्यरूपसे उत्पन्न की हुई शक्तिको जोड दी, और उसके फलस्वरूप वह कहीं अधिक अन्न उत्पन्न करनेमें तथा अन्य शक्तिशाली कार्योंके करनेमें समर्थ हुआ है, परंतु उसके इस प्रकारकी समर्थताको उसकी पूर्वभूत प्राह शिकारी वृत्ति उसे नई परिस्थितिको काबूमें रखनेके प्रयत्नोंमें एक प्रकारसे बाधक ही हुई है।

इसी प्रकार नैतिकताके विषयमें भी उसने अपने पुराने भद्दे या निम्न-कोटिके समाधानोंके बदले और नये उच्चकोटिके या भूमिकाके तत्व अपने चालचलनमें ग्रहण कर लिये हैं। तात्पर्य यह है, कि जब जीव अपनी उत्क्रांतिमें मानवकी श्रेणीको पहुंचा, तब सृष्टि या प्रकृतिपर प्रभुत्व प्राप्त करने

तथा अपने आपको स्वाधीन कर अपना स्वातंत्र्य प्राप्त करनेमें उसे बाहरी (शारीरिक) सिद्धान्तोंके साथ साथ आंतरिक अर्थात् मानसिक सिद्धांतोंको जोड लेना पडा है । इस प्रकार मानवताके सिद्धांतको ध्यानमें रख उन्हें अपनानेके कारण जीवकी उत्क्रांतिके स्तरमें तथा उसकी दिशामें स्पष्टतः बहुत ही बडा अन्तर हुआ है ।

अब मानवकी सच्ची उत्क्रांति उसकी कलात्मक वृत्ति, बौद्धिक विकास तथा उसके आध्यात्मिक विचारधाराओं तथा उनके समाधानोंपर ही निर्भर है, अर्थात् उसका उचित और योग्य रूप, रंग और ध्वनिपर प्रभुत्व प्राप्त कर या उन्हें अपने स्वाधीन कर कलात्मक प्रवृत्तियोंका समाधान प्राप्त कर लेना, भिन्न भिन्न प्रकारकी वैचारिक धारणाओंको स्वाधीन कर (या उनपर प्रभुत्व प्राप्त कर) उच्च कोटिका बौद्धिक समाधान प्राप्त करना, और अनावश्यक प्रवृत्तियोंको कब्जेमें कर आंतरिक या आत्मिक समाधान प्राप्त कर लेनेपर ही अब इसके आगे मानवकी उन्नति या उत्क्रांति निर्भर है । वस्तुतः इस प्रकारके आंतरिक या मानसिक (Subjective) बातोंके साथ साथ बाहरी अर्थात् शारीरिक या प्राकृतिक (Objective) बातोंपर प्रभुत्व तथा उनसे अपना स्वातंत्र्य केवल जरूरी ही नहीं है, अपितु वह अत्यंत आवश्यक भी है ।

विचारवान् मनुष्योंके सामने कतिपय इस प्रकारका प्रश्न उत्पन्न होता है, कि जीवके निर्माणमें परमेश्वरका हेतु या उद्देश्य क्या है, या क्या हो सकता है ? धार्मिक नेताओं तथा अन्य तत्त्ववेत्ताओंने इस प्रकारका उद्देश्य भिन्न भिन्न परमेश्वर प्रतिपादित धर्मोंमें है ऐसा निष्कर्ष निकाला है, तो शास्त्रीय विचारधाराके विद्वानोंने उसे सृष्टिमें तथा विशेषकर उत्क्रांतिकी प्रक्रियामें ढूंढ निकालनेका प्रयत्न किया है । ये सारे उद्देश्य अपूर्ण या सत्य नहीं जान पडते, क्योंकि इन उद्देश्योंको हमने अपने अपने दृष्टिकोणसे ठहराया है ।

यदि हम इस विषयकी, अर्थात् परमेश्वरके उद्देश्यकी खोज करना चाहें, तो वह स्पष्ट दीख जावेगा कि, ये उद्देश्य क्या हैं उन्हें हमें स्वयं निर्माण

करना होगा। ये ढूंढकर कहीं तैयार नहीं मिल सकते। हां, एक बात सच है, कि आजतक जो सृष्टि की और जीवकी उत्क्रांति हुई है, वह हमें जीवकी आगेकी उन्नति किस दिशामें की जा सकती है उसकी दिशा बता सकती है। वे मार्ग संक्षेपमें इस प्रकारके हैं, कामक्रोधादि दुर्गुणोंपर प्रभुत्वकी वृद्धि, वैषयिक सुखोंसे स्वातंत्र्यकी वृद्धि, शरीरस्थ इंद्रियोंमें आपसके सहयोगकी वृद्धि, ज्ञानविज्ञानके एकीकरणके मार्गोंकी प्राप्ति, तथा उच्च श्रेणीकी भावनाओंका विकास आदि; इस कारण अब यह कहना पडता है, कि मानवका भविष्य या उसकी भवितव्यता ही उत्क्रांति प्रक्रियामें आगे होनेवाला उत्कर्ष है। इन नये साधनोंको निर्माण कर उन्हें कार्यान्वित करते समय हमें सच्ची व शुद्ध मानवताके उच्चतम तत्त्वोंकी ओर पूर्ण ध्यान देना होगा और इस प्रकारकी मानवताकी ओर ध्यान देते समय हमें इन बातोंको भूलकर न चलेगा कि मानव इस नातेसे मनुष्यकी आवश्यकताएं, तथा उसकी कमजोरियां क्या हैं, चाहे वे आवश्यकताएं तथा कमजोरियां बाहरी अर्थात् शारीरिक (भूख लगना, प्रजोत्पादन इत्यादि) हों, या वे मानसिक (मानवताकी बौद्धिक कमजोरियां, तथा भावनासंघर्ष इत्यादि) कोटिकी हों।

आजतक विद्वानोंने इस प्रकारके प्रश्नोंको हल करनेके कई प्रयत्न किये हैं। इन प्रश्नोंको शास्त्रीय दृष्टिकोणसे हल न करनेसे सच्ची मानवता प्राप्तिके उद्देश्योंकी दिशा निश्चित नहीं की जा सकती। उदाहरणार्थ- १. वैयक्तिक विकासका महत्त्व, और उसका सामाजिक प्रभुत्वमें अंकित रहनेमें होनेवाला संघर्ष २. ऐहिक जीवनका ध्येय तथा पारलौकिक उन्नति या उत्कर्षसे उसका संबंध और पारलौकिक आयुष्यको सुखी बनानेके उद्देश्योंके प्रयत्न। इस प्रकारके इन विवादात्मक प्रश्नोंका शास्त्रीय दृष्टिसे हल जबतक नहीं होता, तबतक मानवके उन्नतिके मुख्य उद्देश्योंका शास्त्रीय दृष्टिसे हम निर्णय नहीं कर सकते। इस प्रकारके उद्देश्योंका निश्चित रूपसे निर्णय करनेका उत्तरदायित्व मानवपर है, क्योंकि अब वह स्वतःका तथा जीवके आगेकी उन्नति एवं उत्कर्षका एक प्रकारसे (बौद्धिक विकासके कारण) उत्तरदाई बन गया है और यह उत्तरदायित्व जो उसपर आ पडा

है, उसको पूर्णरूपसे निभाना उसका कर्तव्य सा बन गया है जिससे वह मुंह नहीं मोड सकता "।

इसी प्रकारकी विचारधारा पाश्चात्य राष्ट्रोंके अन्य शास्त्रज्ञोंकी पुस्तकोंमें भी पाई जाती है। उदाहरणार्थ– एक अमेरिकी शास्त्रज्ञ प्रो० ई. जे. कॅान्कलिन, पी. एच. डी., एस. सी. डी., एल. एल. डी., रिसर्च प्रोफेसर आफ बायलॅाजी, प्रिंसटन युनिवर्सिटीने अपने "ह्यूमन बायलॅाजी" नामक ग्रन्थमें करीब करीब इसी विचारसरणीको अपने दूसरे शब्दोंमें प्रस्तुत किया है। तात्पर्य यह है, कि आधुनिक पाश्चात्य शास्त्रज्ञोंके सामने यह एक बडी समस्या बन गई है, कि व्यक्ति और समाज इनके पारस्परिक संबंध किस प्रकारके हों, कि वे व्यक्ति और समाज इन दोनोंको उपयुक्त होते हुए पूर्णतः लाभदायी हों। यही कारण है कि उन देशोंमें भिन्न भिन्न प्रकारके राजकीय संप्रदायोंका प्रादुर्भाव हुआ है जैसे सम्तावाद, पूंजीवाद, साम्यवाद आदि तथा आजके भूले हुए और दूसरोंकी नकल करनेकी वृत्ति-वाले भारतमें कांग्रेस, समाजवादी, प्रजासोशलिस्ट, मजदूर संघ आदिका निर्माण हुआ है।

यदि ऐहिक और पारलौकिक दृष्टिसे इस समस्याका शास्त्रीय हल हो जावे तो इनमेंसे किसी वादकी आवश्यकता ही नहीं रहेगी, और फिर केवल मानवतावादका राज्य स्थापित हो जावेगा, इसी प्रकार वे लोग इस प्रश्नको भी शास्त्रीय दृष्टिसे हल नहीं कर पाये हैं, कि मनुष्यके जीवनक्रमका आयोजन उसके इसी आयुष्यमें किस प्रकारका हो, या किया जाय, कि वह उसे ऐहिक सुख शांति प्राप्त कराते हुए पारलौकिक सुख शांतिके भी साधन बनें। इस प्रश्नका शास्त्रीय हल न किये जानेके कारण ही इस पृथ्वीतलपर अनेक धार्मिक संप्रदायोंका प्रादुर्भाव हुआ हैं, और इस भावनापूर्ण भार-तमें तो इतने धार्मिकवाद या संप्रदाय निर्माण हुए हैं, कि उनकी गणना (गिनती) करना भी कठिन है, और इस कारण व्यर्थके संघर्षमें राष्ट्रकी सारी शक्तिका अपव्यय होता चला जा रहा है।

मनुष्यका ध्येय उत्कट तथा भव्यकोटिका होना चाहिये, इस प्रकारका श्री समर्थ रामदासका कथन है, परंतु उत्कट तथा भव्य ध्येयको निश्चित करनेमें पूर्ण सावधानीकी अत्यंत आवश्यकता होती है। ध्येयका विचार करते समय उसके व्यावहारिक और पारमार्थिक ऐसे दो विभाग करने पडेंगे, ऐसा स्पष्ट दिखता है। व्यक्तिमात्रके रुचिवैचित्र्यपर ध्यान देनेसे रुचिभेदके अनुसार ध्येय कल्पनामें अनेकानेक भेद होना संभव हैं। परंतु किसी प्रश्नका शास्त्रीय दृष्टिसे विचार करनेमें हरएक व्यक्तिके स्वतंत्र ध्येयका विचार नहीं किया जा सकता, वह तो समस्त मानव प्राणीके जीवनका ध्येय क्या है? इसी दृष्टिसे विचार किया जा सकता है, और उसमें यदि मर्यादा डालना ही हो, तो संस्कृति, समाज, राष्ट्र इन शब्दोंसे ही डाली जा सकती है; तथापि सारे धर्म प्रवर्तकोंकी दृष्टि या प्रवृत्ति ऐसी ही दिखाई देती है, कि समस्त मानव प्राणीका ध्येय व उसके मार्ग निश्चित कर, इस प्रकार सारे जगत्को उपदेश करना, परंतु इन धर्मप्रवर्तक पुरुषोंमें भी स्वभाव भेदके उपदेश किये हुए मार्गोंमें भी बहुतांशरूपसे भेद दिखाई देते हैं, और इस प्रकार ध्येय निश्चित करनेके विषयमें भी यह भेद कल्पना समूल नष्ट हुई नहीं दिखती है, और उसका परिणाम इस प्रकारका हुआ है, कि इन वसुधैव कुटुंबकं ऐसे धर्म संस्थापकोंके उपदेश किये हुए ध्येयोंमें तथा उनके मार्गोंमें भी अनेक मर्यादा उत्पन्न होकर धर्म, संस्कृति अथवा समाज इन्हींसे ध्येयका स्वरूप निश्चित हुआ है, और इस प्रकार उन्हें ऐसे मर्यादित ध्येयका ही विचार करना अनिवार्य हुआ है।

वैदिक ऋषियोंके निश्चित किये हुए ध्येय कल्पनामें वैयक्तिक स्वभाव भेदके कारण उत्पन्न होनेवाले दोषोंका प्रादुर्भाव होना संभव ही नहीं था, क्योंकि वैदिक ऋषियोंके शास्त्रीय दृष्टिसे किये हुए पिंडब्रह्मांडका निरीक्षण तथा शरीरशास्त्र और सृष्टिशास्त्रोंका पूर्णरूपसे अभ्यास कर किये हुए संशोधनोंका संकलीकरण है, और वह भी एक दो व्यक्तियोंके संशोधनोंका संकलीकरण नहीं अपितु इस कार्यमें रत अनेक महर्षियोंके संशोधनोंका

निचोड या सार है, और इस कारण वैदिक ऋषियोंके निश्चित किये हुए ध्येयकी कल्पनामें न किसी स्वभाव भिन्नताका दोष आ सकता है, न उसमें किसी प्रकारकी मर्यादाका प्रादुर्भाव हो सकता है, क्योंकि शास्त्रीय सत्यमें मर्यादा आना संभव ही नहीं है।

इस कारण वैदिक ऋषियोंका निश्चित किया हुआ ध्येय समस्त मानव प्राणियोंका ध्येय हो सकता है यह स्पष्ट है। इसे "धर्म" की मर्यादासे जकडनेका प्रयत्न करना, अर्थात् एक प्रकारसे शास्त्रीय सत्यमें धर्मकी मर्यादा उत्पन्न कर, उस पर कुठाराघात कर उसकी हत्या करना ही कहा जा सकता है। यही कारण है, कि ऐहिक और पारमार्थिक या पारमार्थिक और व्यावहारिक कल्याणकी दृष्टिसे जगत्के सारे मानव प्राणियोंको आश्रय करने योग्य शास्त्रीय तथा सर्वांग पूर्ण वैदिक ऋषियोंका बताया हुआ ध्येय, और उसके मार्ग जैसा अन्य कोई मार्ग इस भूमंडल पर न आजतक उत्पन्न हुआ है, न आगे हो सकता है; ऐसा कहनेका धैर्य हम इस कारण करते हैं, कि सत्य और वह भी शास्त्रीय सत्य त्रिकालाबाधित तथा केवल एक ही हो सकता है।

यद्यपि ये सारी बातें सच हैं, तथापि आजकी वर्तमान राष्ट्रोंकी विचारधाराओं तथा उनके बुद्धिके स्तरोंकी ओर ध्यान देनेसे यह मानना पडता है कि दुनियाके समस्त जातियों तथा धर्मोंके लोग वैदिक मार्ग (धर्म नहीं) के अनुयायी होंगे, ऐसी कल्पना करना आज तो संभव कोटिकी नहीं ही दिखती, और इस कारण वैदिक संस्कृतिके ध्येय तथा उसके मार्गोंका विचार करनेमें उसका अभ्यास, तथा उसका विचार वैदिक मार्गानुयायी प्रत्येक व्यक्तिको तो भी करना चाहिये इतनी ही प्रार्थना है।

अबतकके विवरणसे स्पष्ट है, कि वैदिक संस्कृतिने अभ्युदय पूर्वक निश्रेयस प्राप्ति यही मानवजीवनका ध्येय निश्चित किया है, और औपनिषदिक ब्रह्मविद्या ही इस कल्याणप्रद मार्गकी नींव है। ब्रह्मविद्या अर्थात् ज्ञान विज्ञानके आधारसे ही सर्व प्रकारकी उन्नतिकी रचना होनेके कारण व्यवहार

और परमार्थ या ऐहिक और पारमार्थिक परिस्थिति एक दूसरेकी पोषक होकर अभ्युदयपूर्वक मोक्षगतिका मार्ग हमारे ऋषियोंने खुला कर दिया है। वैदिक ऋषियोंने प्राचीनकालमें ही निसर्गकी नाडी देखकर वैदिक मार्गकी स्थापना की, और व्यक्तिधर्म और समाजधर्म इन दो कर्तव्योंसे मानवके उत्क्रांति मार्गको सुलभ कर दिया।

इस प्रकारसे व्यवहार और परमार्थ इनको आपसमें इस चातुर्यसे गूंथ डाला है, कि मनुष्यकी मर्यादशील विषयवासना पूर्ण होकर उसके हाथसे ज्ञानार्जन, ईश्वरोपासना व कर्तव्याचरण योग्य प्रकारसे हो जावे, और इस तरह उसकी पूर्ण उत्क्रांति हो ऐसी तजवीज कर रखी। संपत्ति कमा कर उसका विनियोग करना यह मानवी व्यवहारका मुख्य अंग है। इसे वैदिक ऋषियोंने परमार्थको जोड देनेसे वैदिक समाजका व्यवहार धर्म्य हुआ, और वैदिकधर्म व्यवहार्य ठहर गया। इस प्रकारका अलौकिक कार्य आजतक तो जगत्के किसी भी धर्म संप्रदाय या धर्म संस्थापक नहीं कर पाए। इसे वैदिक ऋषियोंने प्रत्यक्ष कर दिखाया, और इसी कारण अभ्युदय और मोक्ष ये दोनों फल उस धर्मके उपासकोंको एक ही मार्गसे प्राप्त हो सके हैं। इस मार्गका संशोधन कर उसे निश्चित करनेमें हमारे वैदिक ऋषियोंने एक प्रकारसे उन्हीं दोनों प्रश्नोंको हलकर सुलझाया है जो प्रश्न आज पाश्चात्य शास्त्रज्ञोंके सामने हौवा बन मानव जातिकी प्रगतिके शास्त्रीय मार्गकी खोजका मार्ग कुंठित कर दिया है। उन दोनों प्रश्नोंके उत्तर जो हमारी वैदिक संस्कृतिने ढूंढ निकाले हैं, उनका संक्षेपमें परामर्श लेनेका प्रयत्न हम इस और इसके अर्थात् अंतिम अध्यायमें करेंगे।

इन प्रश्नोंमेंसे एक प्रश्नके हल होनेमें जो एक बडी बाधा आती है, वह पुनर्जन्मका विषय है; और उसी प्रश्नका विचार इस अध्यायके बचे हुए भागमें किया जावेगा। यह वही जटिल विषय है जिसका शास्त्रशुद्ध हल आजतकके अस्तित्वमें आए हुए किसी धर्मपंथको निश्चित रूपमें देते नहीं बना, और इस प्रश्नको शास्त्रीय दृष्टिसे न सुलझाया जानेके कारण प्रत्येक

धर्मपंथके आचार विचारोंमें पर्याप्त मात्रामें गडबडी तथा अनिश्चितता दिखाई देती है। इस प्रश्नका उत्तर हम दो विचारधाराओंके आधारसे निश्चित करनेका प्रयत्न करेंगे ।

पहली आधुनिक शास्त्रीय संशोधनों द्वारा निश्चित की हुई विचारप्रणाली और दूसरी पांच हजार वर्ष पूर्वकी औपनिषदिक या वैदिक विचारप्रणाली। और इन दोनों मार्गोंसे निश्चित करनेका विषय है, "पुनर्जन्म"। पृथ्वीतल पर आज जितने भी महत्वपूर्ण धर्मपंथ हैं उनमेंसे मुख्य तीन ही विचारणीय हैं, ऐसा कहना अनुचित न होगा। इन तीनोंमेंसे मुहम्मदीय तथा ईसाई धर्मानुयायियोंको पुनर्जन्मप्रक्रिया मान्य नहीं है। इन दोनों मतोंके अनुसार मनुष्यका आत्मा, या जीव "सोल" परमेश्वरके नरक स्वर्गात्मक निकालकी राह देखती हुई मृत शरीरके आसपास ही, या अन्य कहीं भी रहती है। हिन्दू मतानुसार, या आजके वेदांतानुसार, या आजके वैदिक धर्मानुयायियोंको पुनर्जन्मप्रक्रिया मान्य है; और उसकी पूर्ण रूपरेखा इस प्रकार है:—

मनुष्यकी मृत्युके उपरांत उसके आत्माका इस शरीरसे निकल दूसरे शरीरमें जानेकी क्रियाको पुनर्जन्म यह संज्ञा प्राप्त है, पहले शरीरसे निकलनेपर जीव फिर जन्म लेकर पिछले जन्ममें किये हुए अच्छे या बुरे कर्मोंके फल भोगते हैं, यह पुनर्जन्मप्रक्रियाका सिद्धांत है और वह क्रिया संक्षेपमें इस प्रकार है। मूल प्रकृतिसे निकले हुए पृथ्वी आदि स्थूल पंच महाभूतोंका सूक्ष्म इंद्रियोंसे संयोग होनेपर सजीव प्राणीका शरीर तैयार होता है, परन्तु यह शरीर सेंद्रिय होते हुए भी वह जड ही रहता है। इन इंद्रियोंको प्रेरणा देनेवाला तत्व जडप्रकृतिसे भिन्न ही रहता है, और उसे पुरुष यह संज्ञा प्राप्त है। यह पुरुष मूलमें अकर्ता है, और उसका प्रकृतिसे संयोग होनेपर ही सजीव सृष्टिका आरम्भ होता है। यह जीवात्मा (अ) "मैं अलग या भिन्न हूं, और मूल प्रकृति अलग है इस ज्ञानसे मुक्त हो जाता है (ब) यह बात न हुई तो, वह जन्म मरणके फेरमें पडता

है, और उसे नये नये जन्म कैसे प्राप्त होते है, " इस विषयका विवेचन ही पुनर्जन्मके प्रश्नका विवेचन करना है, ऐसा समझनेमें कोई आपत्ति नहीं है।

चार्वाक मतः—

चार्वाक मतके अनुसार मरनेपर प्रत्येक मनुष्य प्रकृतिसे छूटता है, और इस कारण यह सहज रूपेण कहा जा सकता है, कि इस मतके अनुसार धर्माधर्म, पाप पुण्यके प्रश्नोंका कोई विशेष मूल्य नहीं रहता।

सांख्य और वेदांतः—

ज्ञानके बिना जो मनुष्य मरता है, उसका आत्मा प्रकृतिके चक्रसे छूटता नहीं है। मनुष्यके मरनेपर केवळ आत्मा ही बचकर फिर जन्म लेता है, ऐसा यदि कहा जाय, तो इस तत्त्वको बाधा आती है कि " पुरुष अकर्ता है " और सारा कर्तृत्व प्रकृतिका है, उसी तरह आत्मा ही नये जन्म लेता है, ऐसा कहनेसे आत्माका वह धर्म ही हो जाता है, और फिर उसका उससे कभी भी छुटकारा नहीं हो सकता ऐसी अनावस्था प्राप्त हो जाती है। इस कारण ज्ञान हुए बिना मनुष्य यदि मरा, तो उसका प्रकृतिसे संबंध रहना ही चाहिये, यह सिद्ध होता है। मरणोत्तर स्थूल देहका नाश होनेसे यह संबंध स्थूल प्रकृतिसे आ ही नहीं सकता, यह स्पष्ट है। परन्तु प्रकृति इस शब्दसे केवल पंच महाभूत ही अभिप्रेत नहीं है। सांख्योंके वर्गीकरणके अनुसार—

सांख्यवर्गीकरणः—

प्रकृति = महान् बुद्धि = अहंकार

पंचज्ञानेन्द्रिय पंचकर्मेन्द्रिय, मन	पंचतन्मात्रा
व्यक्त तथा सूक्ष्म	सूक्ष्मपंचमहाभूत

इसका अर्थ यह हुआ, कि ज्ञानरहित जो मनुष्य मरता है, वह या उसका संबंध यद्यपि स्थूल पंच महाभूतोंसे छूटा तो भी उसका संबंध उपर्युक्त १८ तत्त्वोंसे नहीं छूटता। ये १८ तत्त्व सूक्ष्म होनेके कारण पुरुषका इनसे संयोग होकर जो देह बनती है, उसे स्थूल देहसे विपरीत सूक्ष्म या लिंगदेह या लिंगशरीर ये संज्ञा प्राप्त होती हैं। अज्ञानी मनुष्यकी मृत्यु होनेपर उसके आत्माके साथ प्रकृतिके १८ तत्त्वोंका बना हुआ यह लिंगशरीर स्थूलदेहसे बाहर निकल कर पूर्ण ज्ञान प्राप्ति होनेतक उसे नए नए जन्म लेनेको बाध्य करता है। अब इसी विचारधाराके अनुसार मनुष्यके मरनेपर बुद्धि, अहंकार, मन, दशेंद्रियोंके व्यापार बंद हो हो जाते हैं, इनसे ये सब जीवके साथ निकल जाते हैं ऐसा कहनेमें कोई हानि नहीं हैं, क्योंकि ये सारे प्रकृतिके गुण हैं। परन्तु इन तेरह गुणात्मक तत्त्वोंको एकत्र रहनेके लिये किसी न किसी तत्त्वका आधार या आश्रय आवश्यक है, और यह आश्रय पुरुषका नहीं हो सकता क्योंकि वह स्वतः निर्गुण है।

मनुष्यकी जीवितावस्थामें इस प्रकारका आश्रय स्थूल पंचमहाभूतोंका रहता है। प्रकृति इनका आश्रय है, ऐसा कहें, तो अव्यक्त तथा सर्वव्यापी रहनेके कारण वह छोटेसे लिंगशरीरका आश्रय नहीं हो सकती। इस कारण प्रकृति ही के द्रव्यात्मक विकारोंमें स्थूल पंचमहाभूतोंके जगह उनके मूलभूत पांच सूक्ष्मतन्मात्र द्रव्योंका उपरोक्त १३ गुणोंके साथ उन्हींका आश्रय इस नातेसे, लिंगशरीरमें समावेश करना पडता है। इस प्रकारके महदादि १८ सूक्ष्म तत्त्वोंके सांख्य मतानुसार बने हुए लिंगशरीरमें प्राण और धर्माधर्म या कर्म इनको मिला देनेसे वेदांतियोंका लिंगशरीर बन जाता है, ऐसा समझा जाता है। यह भेद केवल शाब्दिक ही है, ऐसा स्पष्ट कहनेमें किसी प्रकारकी आपत्ति नहीं है।

इस प्रकारका यह लिंगशरीर हमारी आंखोंको यद्यपि न दिखाई दे, तथापि वह है, यह जिन अनुमानोंसे सिद्ध होता है उनका विवेचन समाप्त हुआ। यह लिंगशरीर जहां जहां होता है, वहां वहां इन १८ तत्त्वोंका

समुच्चय अपने अपने गुणधर्मानुसार मातापिताके स्थूल देहसे तथा बादमें स्थूलसृष्टिमेंके अन्नसे स्थूल इंद्रिय और अवयव उत्पन्न करेगा और उनका पोषण करेगा, यह उपर्युक्त विवरणसे सिद्ध हुआ। परंतु यह १८ तत्त्वोंका लिंगशरीर पशु, पक्षी, मनुष्य ऐसे अलग अलग देह क्यों उत्पन्न करता है, इसका कारण सांख्योंके मतसे इस प्रकार है, कि पुरुष यद्यपि अनेक हैं तो भी प्रत्येक पुरुष अकर्ता होनेसे, पशुपक्ष्यादि प्राणियोंके भिन्न भिन्न देह उत्पन्न करनेका कर्तृत्व उसकी तरफ नहीं आ सकता।

वेदांत शास्त्रमें पाप पुण्यादि कर्मोंके परिणामसे ये भेद उत्पन्न होते हैं, ऐसा कहा जाता है। सांख्य शास्त्रानुसार पुरुष उदासीन होनेसे प्रकृतिके ही सत्व, रज, तम आदि गुणोंके विकारसे ही यह होता है, ऐसा कहना पडता है। लिंगशरीरमें जिन १८ तत्त्वोंका समुच्चय है, उनमें बुद्धितत्त्व मुख्य है, क्योंकि बुद्धिसे फिर अहंकारादि १७ तत्त्व उत्पन्न होते हैं, तो इस प्रकार वेदांतमें जिसे कर्म कहते हैं उसीको सांख्य शास्त्रमें सत्व, रज, तम इन तीनोंका कम अधिक प्रमाणमें हुआ बुद्धिका व्यापार, धर्म या विकार कहा जाता है और बुद्धिके इस धर्मको भाव यह संज्ञा प्राप्त है। सत्वं, रज, तम, इन तीनों गुणोंके तारतम्यसे ये भाव भी अनेक प्रकारके होते हैं, ऐसा सांख्यशास्त्रकारोंका मत है।

ये भाव लिंगशरीरसे संलग्न (चिपके) रहते हैं और इन भावोंके अनुसार या वेदान्तियोंकी भाषामें कर्मोंके अनुसार लिंगशरीर नए नए जन्म लेता रहता है। इन जन्मोंमें फिर मातापिताके शरीरसे जो द्रव्य लिंगशरीर आकर्षण कर लेता है, उन द्रव्योंमें फिर दूसरे भाव आते हैं और देवयोनि, मनुष्ययोनि, पशुयोनि ये सारी सांख्योंके मतानुसार भावोंकी या वेदांतियोंके मतानुसार कर्मोंके समुच्चयका ही परिणाम है। इस प्रकार मानव योनिमें जन्म होनेपर फिर भिन्न भिन्न स्थूल इंद्रिय कैसे बनते हैं, इनका " गुणा गुणेषु जायंते " इस तत्त्वके आधारपर सांख्य शास्त्रमें किया गया वर्णन, और गर्भोपनिषद्में आया हुआ वर्णन, ये दोनों प्रायः एक जैसे ही हैं।

उपर्युक्त विवरणमें हमने पुनर्जन्म विषयक आजकी जो प्रचलित तथा मान्य विचारधारा है, उसकी प्रक्रियाका वर्णन संक्षेपमें किया है। इस विवरणका उद्देश्य यही है, कि इसके परिशीलनसे हमें यह स्पष्ट हो जावे, कि इस प्रक्रियाका बहुतांश भाग अनुमानोंपर ही आधारित है, और इस प्रकार जिन तीन मुख्य मुख्य धर्म पंथोंकी विचारधाराओंका हमने ऊपर उल्लेख किया है, उनमेंसे किसीके पास उनके विधानोंका साक्षात् या प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है, उनके बहुतांश विधान अप्रत्यक्ष प्रमाणों या अनुमानोंपर ही आधारित हैं। अब हम इसी विषयपर आधुनिक पाश्चात्य जीव शास्त्रके निष्कर्ष क्या हैं, उन्हें प्रस्तुत करेंगे। ऐसा करनेमें हम उच्चकोटिके शास्त्रज्ञोंके ग्रन्थोंसे इसी प्रश्नपर निकाले हुए निष्कर्षोंके उद्धरण देंगे, और इन उद्धरणोंको हम उन्हींके शब्दोंमें देंगे, जिससे भाषांतरमें होनेवाली तोड़ मोड़से विषयकी असली गंभीरता नष्ट न हो जावे—

(1) Mythology of future Life— "Beyond the world of 'Occult' phenomena that claim recognition as material for Scientific inquiry, there is now a vast, abundant literature of loosely authenticated 'revelations' about the future life beyond the scope of any exact treatment whatever ... ... we do not wish to dogmatize about this literature. We owe it to our readers to mention it here, but we fail to see how we can square its fundamental assertions and implications with the main mass of the science of life."

(2) (a) Survival of personality after death– This obscure and often distressing and grotesque borderland of Biological Science would have demanded our attention if for no other reason, because it comes so close to another question we have all asked ourselves.

Alone in the silence of the night and on a score of thoughtful occasions we have demanded, can this self, so vividly central to my universe, so greedily possessive of the world ever cease to be ? Without it surely there is no world at all, and yet this conscious self dies nightly when we sleep and we cannot trace the stages by which in its beginnings it came to an awareness of its own existance.

(b) In the visible biological world, in the world of fact, life never dies, upon the continuity of any individual consciousness after bodily cessation and disintegration the Science of Life has no word of assurance and on the other hand it assembles much that points towards its improbability. But so far our lives go, as matter of fact apart from consciousness, the science of life has no doubts; it does not speculate it states. Our lives do not begin afresh at birth, & do not end inconclusively ... ... And our lives do not end with death. They stream on not merely in direct offsprings but more importantly perhaps in the influence they have had on the rest of life.

(3) (a) Germplasm– Weismann, the great German Zoologist, pointed out in the latter half of the last century that that part of man that grew into his children survived the rest of him, and a small part of him growing into his grand-children survived still longer. Indeed, unless a man is childless he does not die ...... for this immortal bit of the organism that is to live on after

the rest is done with Weismann coined the phrase– " Germplasm " The Germplasm is potentially immortal. Generation after generation it lives on sprouting out ephemeral bodies to house it, feed it, and keep it warm. (The germplasm consists of the Gene army, contained on the chromosomes of the Reproductive cells, and are the main carriers of all the characters (Mental and physical) of an individual.)

(b) The Race of men or frogs (or any other species of animals or plants) then, is a stream of living matter, it flows in the forms of *Zygotes* (men and women) but for sometime it flows in the form of gametes. So that we are really of four kinds– male zygote (man), female zygote (woman), male gamete sperm and female gamete (ovum). A frog grows into a frog and a man into a man– depends on their gametes carrying their hereditary constitution through the Genes situated on the chromosomes contained in the Nucleii of the Gametes.

इन उद्धरणोंके अनुसार पाश्चात्य शास्त्रज्ञोंका इस प्रश्नके विषयका स्पष्टीकरण इस प्रकार है, " पुनर्जन्म विषयक पाश्चात्य साहित्यमें जो भी निर्मिती हुई है, उसे शास्त्रीय दृष्टिसे विचार कर शास्त्रीय प्रमेयोंमें उसे बैठानेका प्रयत्न करना असंभव सा ही प्रतीत होता है। मनुष्यकी मृत्युके पश्चात् उसका आत्मा, सोल या रूह रहती है या नहीं, इस प्रश्नका विचार करना, एक और दूसरे महत्त्वपूर्ण प्रश्नके कारण, अत्यंत आवश्यक हो जाता है। वह दूसरा प्रश्न इस प्रकार है, कि जब हम गाढ निद्रामें सोते रहते हैं, उस समय " मैं " यह संवेदना एक प्रकारसे नष्ट हो जाती है और जागृतावस्था

प्राप्त होनेपर यह संवेदना किस मार्गसे पुनः वापस आ जाती है, इसका स्पष्टीकरण अभीतक शास्त्रीय दृष्टिसे करते नहीं आता है। यद्यपि आजका प्राणिशास्त्र निश्चित रूपसे नहीं कह सकता, कि शरीरपातके पश्चात् चेतन तत्व कायम रहता है या नहीं, तथापि जहांतक आज तककी प्रगति हुई है, उससे अधिकांश यही निष्कर्ष निकलता है, कि वह अर्थात् चेतना शरीरपातके पश्चात् कायम नहीं रहती, परंतु जहां जीव या जीवात्माका संबंध है, उसके विषयमें आजका जीवशास्त्र कोई अंदाजसे नहीं कहता, अपितु वह निश्चित रूपमें और स्पष्ट शब्दोंमें बताता है, कि हमारे जीवकी शुरूवात हमारे जन्मके साथ नहीं होती है, और न वह हमारी मृत्युके समय खत्म ही होती है।

किसी एक मनुष्यका जीवात्मा उसके पुत्र पौत्रादिके रूपमें परिणत होकर ही अखंड रहता है, ऐसी केवल बात नहीं है, अपितु वास्तवमें देखा जाय, तो जीवितावस्थामें समाजपर उसका जो प्रभाव पडता है, उस रूपमें वह कायम रहता है। वीजमन नामक एक प्राणिशास्त्रज्ञने पिछले शतकके अन्तिम भागमें यह स्पष्ट बता दिया है, कि मनुष्यका वह अंश जो उसके पुत्रके शरीरमें होता है, वह उसके शेष शरीरके नष्ट होनेपर बचा हुआ भाग है, और जो अंश उसके पौत्रमें होता है, वह उसका और आगे तक बचा हुआ जीवित अंश है। इस प्रकार एक शरीरसे दूसरे (पुत्रके) शरीरमें जानेवाले जीवित अंशको वीजमनने " जर्मप्लाज्म " संज्ञा दी है। ' जर्मप्लाज्म ' वास्तवमें अमर होता है, वह पीढी दर पीढीमें नए शरीर निर्माण करता है, जिनमें वह जीवित रहकर अन्न तथा गरमी पाता रहता है। ये " जर्मप्लाज्म " जेनीजके रूपमें स्थित होता है, और ये जेनीज क्रोमोसोम्सपर पाई जाती है। इन्हीं जेनीज द्वारा शारीरिक तथा मानसिक गुण दोष एक पीढीसे दूसरी पीढीमें जाते रहते हैं। एक प्रकारसे यह " जर्मप्लाज्म " अखंड बहनेवाला झरना है, जो कुछ दूर स्त्री पुरुषोंके शरीरोंमें होता हुआ बहता है और कुछ दूर शुक्र शोणितके रूपमें और इस प्रकार यह एक दूसरी पीढीको मिलानेवाला सेतु है।"

उपर्युक्त विवरणमें संक्षेपरूपसे उद्धृत किये हुए विचारोंके पश्चात् उस पर हम अपनी ओरसे कोई टीका टिप्पणी नहीं करना चाहते, और अब हम इसी विषयपर प्राग्–ऐतिहासिक अर्थात् वैदिक तथा औपनिषदिक कालकी विचारधारा क्या थी, उसे स्पष्ट कर बतानेका प्रयत्न करेंगे। यह कार्य हम दशोपनिषदोंके मंत्रोंके आधारपर करेंगे; यहांपर यह बता देना अनुचित न होगा, कि हमारा सारा हिन्दुधर्मशास्त्रका मूल आधार तथा राष्ट्रके हिन्दुओं का आधार भी केवल उपनिषद् ही हैं। इसके बतानेका उद्देश्य यही है, कि इनके आधारपर प्रस्तुत किये हुए प्रमेय किसीको भी अमान्य होना संभव नहीं हैं।

दशोपनिषदोंमें पुनर्जन्म विषयक उद्धरण नीचे अन्वयके रूपमें दिये हैं–

(१) क– बृहदा.	...यतिथ्याम् आहुत्याम् हुतायाम् आपः पुरुष-
(६।२।२)	वाचः भूत्वा समुत्थाय वदन्ति इति वेत्थ उ।
ख– बृहदा.	...गौतम, पुरुषः वै अग्निः। व्यात्तम् एव तस्य
(६।२।१२)	समित्। प्राणः धूमः। वाक् अर्चिः। चक्षु
(चतुर्थ आहुति)	अंगारः। श्रोत्रं विस्फुलिंगाः। तस्मिन् एत-
	स्मिन् अग्नौ देवाः अन्नम् जुह्वति। तस्याः
	आहुत्यै रेतः संभवति॥
ग– बृहदा.	गौतम योषा वै अग्निः। तस्या उपस्थः एव
(६।२।१३)	समित् लोमानि धूमः। योनिः अर्चिः। यत्
	अन्तः करोति ते अंगाराः अभिनन्दाः
(पंचमाहुति)	विस्फुलिंगाः। तस्मिन् एतस्मिन् अग्नौ देवाः
	रेतः जुह्वति। तस्याः आहुत्यै पुरुषः संभवति।
	सः जीवति। यदा यावत् जीवति अथ
	म्रियते॥

(२) क- श्वेताश्व. (३।१३) अंगुष्ठमात्रः अन्तरात्मा पुरुषः सदा जनानाम् हृदये संनिविष्टः मन्वीशः हृदा मनसा अभिक्लृप्तः ये एतत् विदुः ते अमृताः भवन्ति ॥

ख- श्वेताश्व. (३।१४) पुरुषः सहस्रशीर्षा, सहस्राक्षः, सहस्रपात् सः भूमिम् विश्वतः वृत्वा दशांगुलम् अति अतितिष्ठत् ॥

ग- श्वेताश्व. (५।८) अंगुष्ठमात्रः रवितुल्यरूपः संकल्पाहंकारसमन्वितः बुद्धेः गुणेन आत्मगुणेन च एव आराग्रमात्रः अपरः अपि हि दृष्टः ।

घ- कठ. (३।१२) भूतभव्यस्य ईशानः पुरुषः आत्मनि मध्ये अंगुष्ठमात्रः तिष्ठति । ततः न विजुगुप्सते एतत् वै तत् ॥

ङ- कठ. (३।१४) अंगुष्ठमात्रः पुरुषः अंतरात्मा जनानाम् हृदये सदा सन्निविष्टः । मुंजात् इषीकां इव स्वात् शरीरात् धैर्येण तं प्रवृहेत् । तं शुक्रम् अमृतं विद्यात् इति ॥

(३) क- ऐतरेय. (२।४।१) यत् एतत् रेतः तत् अयं पुरुषे इह वै आदितः गर्भः भवति तत् एतत् सर्वेभ्यः अंगेभ्यः संभूतं तेजः आत्मानम् आत्मनि एव बिभर्ति । तत् यदा स्त्रियाम् सिंचति अथ एनत् जनयति । तत् अस्य प्रथमम् जन्म ॥

ख- ऐतरेय. (२।४।२) तत् स्त्रियाः यथा स्वं अंगं तथा आत्मभूयं गच्छति । तस्मात् एनां न हिनस्ति, सा अस्य एतं आत्मानं अत्र गतं भावयति ॥

ग- ऐतरेय. (२।४।३) भावयित्री सा भावयितव्या भवति, स्त्री तं गर्भं बिभर्ति सः जन्मनः अग्रे एव कुमारं अधिभावयति, सः यत् जन्मनः अग्रे एव कुमारं अधिभावयति, तत् आत्मानम् एव भावयति, एवं एषां लोकानां संतत्या इमे लोकाः संतताः ॥

(४) अ- बृहदा. (१।५।१६) अथ मनुष्यलोकः पितृलोकः देवलोकः इति । त्रयो वावलोकाः। सः अयम् मनुष्यलोकः पुत्रेण एव जय्यः। अन्येन कर्मणा न। कर्मणा पितृलोकः विद्यया देवलोकः। देवलोकः वै लोकानाम् श्रेष्ठः। तस्मात् विद्याम् प्रशंसन्ति ॥

ब- बृहदा. (१।५।१७) अथ अतः संप्रत्तिः। यदा प्रेष्यन् मन्यते अथ त्वम् ब्रह्म, त्वम् यज्ञः, त्वम् लोकः इति पुत्रम् आह। सः पुत्रः अहम् ब्रह्म, अहम् यज्ञः, अहम् लोकः इति प्रत्याह ॥ यत् वै किंच अनुक्तम् तस्य सर्वस्य ब्रह्म इति एकता। ये वै के च यज्ञाः (सन्ति) तेषां सर्वेषां यज्ञः इति एकता। ये वै के च लोकाः तेषां सर्वेषां लोकः इति एकता। एतावत् वै इदम् सर्वम्। एतत् इदम् सर्वम् अयम् सन् मा अभुनजत इति। तस्मात् अनुशिष्टम् पुत्रम् लोक्यम् आहुः। तस्मात् एनम् अनुशासति ॥ एवंवित् यदा अस्मात् लोकात् प्रैति सः एभिः प्राणैः सह पुत्रम् आविशति। यदि अनेन अक्ष्णया किंचित् अकृतम् भवति। तस्मात् सर्वस्मात् एनम् सः पुत्रः मुंचति। तस्मात् पुत्रः नाम। सः पुत्रेण एव अस्मिन् लोके प्रतितिष्ठति। अथ एते अमृताः प्राणाः आविशन्ति ॥

(५) अ- बृहदा. (४।३।७)	आत्मा कतमः इति? यः अयम् प्राणेषु विज्ञानमयः हृदि अन्तर्ज्योतिः पुरुषः, सः समानः सन् उभौ लोकौ अनुसंचरति ध्यायति इव लेलायति इव। हि स ह स्वप्नः भूत्वा इमम् लोकम् मृत्योः रूपाणि अतिक्रामति ॥
ब- बृहदा. (४।३।९)	तस्य वै एतस्य पुरुषस्य द्वे एव स्थाने भवतः इदम् च परलोकं स्थानं च तृतीयम् स्वप्नस्थानम् सन्ध्यम् (अस्ति)। तस्मिन् सन्ध्ये स्थाने तिष्ठन् इदम् च परलोकस्थानम् च एते उभे पश्यति ॥
ख- बृहदा. (४।४।४)	तत् यथा पेशलः मात्ताम् अपादाय अन्यत् नवतरम् कल्याणतरम् रूपम् तनुते एवम् एव अयम् आत्मा इदम् शरीरम् निहत्य अविद्याम् गमयित्वा अन्यत् नवतरम् कल्याणतरम् रूपं कुरुते ॥
(६) अ- छांदोग्य. (८।४।१)	अथ यः आत्मा सः एषां लोकानां असंभेदाय विधृति सेतुः ....
ब- बृहदा. (४।४।२२)	...... सर्वस्य अधिपतिः सर्वस्य ईशानः सर्वस्य वशी सः साधुना कर्मणा भूयान् असाधुना कनीयान् नो एव एषः भूताधिपतिः एषः भूतपालः एषः सर्वेश्वरः एषः एषां लोकानाम् असंभेदाय विधरणः एषः सेतुः ॥ (अस्ति)

(७) याज्ञवल्यस्मृति (आचाराध्याय) —

यदुच्यते द्विजातीनां शूद्राद्दारोपसंग्रहः।
नैतन्मम मतं यस्मात् तत्रायं जायते स्वयम् ॥

(८) संत तुकाराम—

मीच मज व्यालो, पोटा आपुलिया आलो ॥

उपर्युक्त उद्धरण औपनिषदिक मंत्रोंके अन्वय हैं, और प्राकृतमें उनका संक्षेपमें निष्कर्ष इस प्रकार है— पंचाग्नि विद्याके अनुसार चौथी आहुतिके पश्चात् दिव्य आप् वीर्य (रेत) के रूपमें परिणत होता है, और पांचवी आहुतिमें इसी वीर्यके ही हवनसे स्त्रीलिंगी या पुंल्लिंगी मनुष्य उत्पन्न होता है (वीर्य या रेतको ही आजकी शास्त्रीय भाषामें 'जर्मप्लाज्म (बीजकीट)' संज्ञा प्राप्त है ।

इस प्रकारके भूत, भविष्यके नियंताका अर्थात् परमात्माका वास्तव्य (आजकी भाषामें 'जर्मप्लाज्म' का वास्तव्य) मनुष्य शरीरमें नाभिस्थानसे दस अंगुल दूरीपर है, और वहां वह अंगूठेके नापकी (डेढ इंच) गुहामें स्थित है (यह गुहा मुश्क या टेस्टीज ही है अन्य कोई भी वस्तु नहीं है)। यह परमात्मा "जर्मप्लाज्म" वही है, जिसके सहस्रों सिर, सहस्रों आंखें, सहस्रों हाथ पांव हैं (यह शक्ति जर्मप्लाज्ममें ही है)। आगे चलकर ऐतरेयमें इसी रेत या वीर्य या शुक्रको सर्व अंगोंसे उत्पन्न हुआ सारभूत तेज कहा है और फिर बताया है, कि पुरुष स्त्रीमें इसीका सिंचन कर उसी शुक्रको जन्म देता है और वही उसका पहला जन्म है। इसीको जन्म दिये हुए उस पुरुषका "आत्मा" कहकर यह बताया है, कि इस पुत्रके वह जो संस्कार करता है, वे उसके स्वतःके आत्माके ही संस्कार हैं, और अंतमें यह स्पष्ट शब्दोंमें तथा निश्चित रूपसे कहा है, कि इसी प्रकारके मनुष्योंकी परंपरासे लोग अविच्छिन्न रहते हैं, और प्रजा या मनुष्यजाति कायम रहती है ।

तत्पश्चात् बृहदारण्यकमें स्पष्ट किया है, कि मनुष्यको जो जो परिस्थिति प्राप्त होती है उसे देवलोक, पितृलोक और मनुष्यलोक इन तीन संज्ञाओंसे अभिहित किया जा सकता है, और इन्हीं तीनोंको ब्रह्म, यज्ञ, लोक कहकर यह स्पष्ट किया है, कि ये सारी पुत्र रूपसे ही प्राप्त होनेवाली हैं इसी विचारधाराको आगे निःसंदिग्ध शब्दोंमें कहा है, कि मनुष्य पुत्र रूपसे ही

इस पृथ्वीतलपर कायम रहता है, और इसी कारण उसके प्राण, इंद्रियशक्ति तथा कर्तृत्वशक्ति अर्थात् कर्म पुत्रमें ही समाविष्ट होते हैं। बृहदारण्यकमें "आत्मा" शब्दकी व्याख्या करके कहा है, कि वह प्राणसे संयुक्त होकर हलचल करता है; और बुद्धिसे संयुक्त होकर चिंतन करता है। उसके इह-लोक (पिता) और परलोक (पुत्र) ये दो ही स्थान हैं। जिस प्रकार एक कुशल सुनार सोनेका शुद्ध अंश निकालकर उसका अधिक अच्छा नया स्वरूप बनाता है, उसी प्रकार यह "शुक्र" अर्थात् पुरुषका शुद्ध अंश निकलकर पुत्र रूपका नया शरीर निर्माण कर उसमें निवास करता है, अंतके छांदोग्य और बृहदारण्यकके उद्धरणोंमें इसे "धारक विधृति सेतु" कहकर आजकी भाषामें "जर्मप्लाज्म" का स्वरूप ही स्पष्ट किया है, यह सिद्ध होता है।

अबतकके विवरणमें हमने दो विचारधाराओंसे पुनर्जन्मके विषयका विचार किया है। एक आधुनिक पाश्चात्य शास्त्रीय विचारधारा और दूसरी औपनिषदिक अर्थात् वैदिक विचारधारा, और यह एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण बात है कि इन दोनों विचारधाराओंसे निकले हुए निष्कर्ष शब्दशः एक ही हैं, यद्यपि इन दोनोंमें करीब ५००० वर्षोंका कालांतर है। आधुनिक शास्त्रीय विचारसरणीसे निकाले हुए निष्कर्ष प्रत्यक्ष प्रमाण रूपके हैं वे अनुमान नहीं हैं। श्रुतिवचनोंको वेदांतशास्त्रमें प्रत्यक्ष प्रमाण जैसा ही सबसे बडा, या आगम प्रमाण समझा जाता है। चूंकि ये दोनों शब्दशः एक ही हैं, इस कारण इन निष्कर्षोंको त्रिकालाबाधित ही हैं ऐसा मानना पडेगा। और इनके सत्यतापर और अन्य तथा अधिक प्रमाणोंको यत्किंचित् भी आवश्यकता नहीं है।

इन दोनों विचारधाराओंसे यह स्पष्ट है, कि आजके वेदांतके विचार-सरणीसे पुनर्जन्म विषयक जो प्रक्रिया अनुमानसे निर्धारित की है, उसे जरा भी आधार नहीं दिखाई देता है। वास्तवमें मनुष्य जो पुनः जन्म लेता है, या उसका जो पुनर्जन्म होता है, वह पुत्र रूपमें ही होता है, अर्थात् पुत्रो-

त्पत्ति ही मनुष्यका पुनर्जन्म है। पृथ्वीतलपर मनुष्य जब प्रथम उत्क्रांत हुआ, और उसकी बुद्धिका विकास हुआ, तबसे उसके अन्तःकरणमें यह बात चुभती ही रही कि, " एक दिन हम मरेंगे " और इस मृत्युसे बचने, या उसे टालनेका उसका घटाटोप बराबर चालू ही रहा है, और " मृत्योर्मा अमृतं गमय " की प्रार्थना वह जाने न जाने बराबर कर ही रहा है। इस प्रकारके अमृतत्वके पीछे लगे हुए मानवके प्रयत्नोंको फल प्राप्ति हुई है, या नहीं इस प्रश्नका उत्तर यही है, कि ' हां निःसंशय ' उसे पूर्ण रूपसे अमृतत्वकी प्राप्ति हुई है, अर्थात् अमरत्व उसके हाथ लग गया।

इसका पहला बौद्धिक संशोधक वेदोंमेंका बहुश्रुत आत्रेय है, जिसने स्पष्ट शब्दोंमें बता दिया है कि " जड देहसे मैं भले ही मर्त्य होऊं परन्तु मुझे पुत्र हुआ है, और इस पुत्रके रूपमें मुझे अमृतत्वकी प्राप्ति हुई है। पुत्रको पौत्र होगा, और पौत्रको प्रपौत्र इस प्रकारके वंश सातत्यसे मैं अपने आत्माका अमरत्व अखंड रखूंगा, " प्रजाभिरग्ने अमृतत्वं अश्याम् "। इस शास्त्रीय संशोधनको दूसरे ऋषिने " आत्मा वै पुत्र नामासि " कहकर पुष्टि दी है। यह शास्त्रीय ज्ञान होते ही मनुष्य अपने पुत्रमें आत्मत्व देखने लगा और अपनी भार्यामें स्वतः ने नया जन्म लिया है ऐसी उसे स्पष्ट रूपमें प्रतीति हुई, और इस कारण पहले जो भार्या थी, वह बादमें जाया हो गई, पुत्र शब्दकी व्युत्पत्ति या अर्थ है, " अकृतं पूरयित्वा त्रायते इति पुत्रः " पुत्रके उपनयनके समय, अर्थात् समावर्तनसंस्कारके समय पिता अपने हृदयपर हाथ रखकर अपने हृद्गत इस प्रकार कहता है, कि " मम व्रते हृदयं ते दधामि " अर्थात् मैंने जो व्रत अपने जीवनभर चलाया, वही तू आगे भी चलाता रह। मेरी शुभ मंगल आकांक्षाएं तू पूर्णत्वको ले जा। मैंने जो वचन आश्वासन दिये हैं उन्हें तू पूरा कर क्योंकि " मैं ही तू हूँ और तू ही मैं हूं "।

इस विषयका विवेचन हमने पञ्चाग्निविद्याके अध्यायमें संपूर्ण रूपसे किया

है, इस कारण यहां इतना ही कहना पर्याप्त है, कि हमारे प्राचीन पूर्वजोंको पुत्र रूपसे ही अमृतत्व प्राप्ति होती है, अर्थात् अमरत्व प्राप्त होता है, यह शास्त्रीय ज्ञान न होता तो इक्ष्वाकु कुलके मानों मूर्तिमंत क्षात्र धर्म ही हैं, ऐसा दिलीप राजा, महाराज दशरथ, द्रुपद, धृष्टद्युम्न, जरत्कारु ऋषि आदि के उदाहरणोंमें पुत्रप्राप्तिके हेतु स्पष्टरूपसे दृष्टिगोचर होनेवाले प्रयत्न न दिखाई देते। यह वैदिक कालकी विचार धारा आधुनिक वेदांतके पुनर्जन्म विषयक विस्तृत रूपसे निर्धारितकी हुई प्रक्रियासे, यत्किंचित् भी मेल खाती हुई दिखाई नहीं देती। यदि व्यक्तिके आत्माकी उन्नति अर्थात् ब्रह्मप्राप्तिका मार्ग पुत्र रूपसे न होकर अन्य स्थानपर जन्म लेकर होनेवाला होता, तो हमारे इन उच्चकोटिके पूर्वजों तथा उनके परमपूज्य वशिष्ठ विश्वामित्र जैसे महान् आचार्योंको उनके विद्वान् शिष्योंको पुत्र प्राप्ति हो, इस कारण इतने सारे प्रयासात्मक प्रयत्न करनेकी आवश्यकता नहीं होती।

आजकी प्रचलित पुनर्जन्म मान्य करनेवाले विद्वानोंने बृहदारण्यक उपनिषद्के चौथे अध्यायके तीसरे और चौथे ब्राह्मणके आधारपर ही अपनी पुनर्जन्मकी प्रक्रियाके अनुमानोंको बैठाया हुआ दिखता है। परन्तु यदि आधुनिक शास्त्रोंकी पार्श्वभूमिपर इन्हीं अध्यायोके मंत्रोंका अर्थ लगानेका प्रयत्न किया गया तो उन्हीं मंत्रोंका अर्थ अधिक शास्त्रशुद्ध पद्धतिसे लगाया जाकर पुनर्जन्मकी अर्थात् पुत्रोत्पत्तिकी ही सारी प्रक्रिया है ऐसा पूर्णरूपसे स्पष्ट दिख जाता है। इस प्रक्रियामें लिंगशरीर, स्पर्म या ओवम, है जो कि सारे अंगोंका सारभूत तेज है। इस लिंगशरीरकी बनावट भी सांख्योंके विचारसरणीको मान्य हो ऐसी ही हैं, अर्थात् उसका संबंध उन अठारह तत्त्वोंसे है, जो इन दोनोंको मान्य है।

इन अठारह तत्त्वोंमेंके सूक्ष्म पंचमहाभूत या पंचतन्मात्रा क्रोमोसोम्स हैं, जो वास्तविक रूपमें बडे "ऑरगेनिक मॉलीक्यूल्स" हैं। शेष तेरह तत्त्व जो वास्तविकतया प्रकृतिके गुण हैं, वे सारे इस लिंगशरीरमें जेनीजके रूपमें हैं, क्योंकि इन जेनीजके कारण ही पंचज्ञानेन्द्रिय, पंचकर्मेन्द्रिय,

मन, बुद्धि, अहंकार इन सारे गुणधर्मोंकी, तथा उन सारे अवयवोंकी, जिनके ये गुणधर्म हैं, निर्मिती होती है। इस प्रकारके सांख्योंके लिंगशरीरमें प्राण और धर्माधर्म, अर्थात् कर्म इन्हें मिलानेसे वेदान्तियोंका लिंगशरीर बनता है, हमने आधुनिक दृष्टिसे निर्दिष्ट किया हुआ लिंगशरीर जीवित है अर्थात् उसमें प्राणतत्त्व है, और उसमें कर्म भी है, क्योंकि वह सारे 'केरेक्टर्स' को ले जानेवाला ही होता है। इस प्रकारका हमारा लिंगशरीर सांख्य तथा वेदांत इन दोनोंकी व्याख्याकी कक्षामें पूर्णरूपसे आता ही है।

इस प्रकारके लिंगशरीरको मान्य करनेसे बृहदारण्यकोपनिषद्के चौथे अध्यायके तीसरे और चौथे ब्राह्मणमें आये हुए प्रत्येक मन्त्रका अर्थ सयुक्तिक रूपसे लगानेमें किसी प्रकारकी आपत्ति नहीं आती। इसके विपरीत इन्हीं अध्यायोंके तथा इसी उपनिषद्के अन्य मंत्रोंमें और दूसरे उपनिषदोंमें आये हुए कुछ विधान ऐसे हैं, जिनका आजकी मानी जानेवाली पुनर्जन्मकी प्रक्रियासे (१) समन्वय लगाना असंभव ही हो जाता है। (२) या उनमें के बहुतसे विधान परस्पर विरुद्ध प्रतीत होते हैं, या (३) उन विधानोंकी बुद्धि ग्राह्य हो, अर्थात् सयुक्तिक हो, ऐसी उपपत्ति लगाना आधुनिक वेदान्तियोंको निश्चय ही असंभव हो जावेगा। यदि आधुनिक शास्त्रीय दृष्टिकोणसे इन्हीं तीनों प्रकारके विधानोंको देखा गया, तो पूर्णतया उनका समन्वय हो सकेगा, तथा उनमें दिखाई देनेवाला पारस्परिक विरोध न दिखाई देगा, और उसी प्रकार बुद्धिग्राह्य उपपत्ति स्पष्टतः कर सकेंगे। अब हम नीचे इन्हीं तीनों प्रकारके उदाहरण देकर उपर्युक्त विधानोंको सिद्ध करनेका प्रयत्न करेंगे। हम इन उदाहरणोंको मंत्रोंके अन्वय तथा अर्थ देंगे और साथ ही कुछ टिप्पणियां भी देंगे—

१- समन्वय लगाना कठिन हो ऐसे उदाहरण—

(क) बृहदा. (४,३,८) सः वै अयम् पुरुषः शरीरम् अभिसंपद्यमानः जायमानः पाप्मभिः संसृज्यते सः म्रियमाणः उत्क्रामन् पाप्मनः विजहाति ॥

वही पुरुष इस स्थूल शरीरको प्राप्त होकर जन्म लेता है और शरीरके दोषोंसे संयुक्त होता है। वह मृत्युके समय अर्थात् इस देहसे निकल जाते समय इस देहके सारे दोष छोड़ जाता है। (समझमें नहीं आता कि इस मंत्रके अर्थका आधुनिक वेदांती किस प्रकार समन्वय करेंगे)।

(ख) बृहदा. (४,४,३) तत् यथा तृणजलायुका तृणस्य अन्तम् गत्वा अन्यम् आक्रमम् आक्रम्य आत्मानम् उपसंहरति, एवं एव अयम् आत्मा इदं शरीरम् निहत्य अविद्याम् गमयित्वा अन्यम् आक्रमं आक्रम्य आत्मानम् उपसंहरति ॥

जिस प्रकार घासके ऊपरकी जलुका पहली पत्तीके अन्ततक जा दूसरी पत्तीको पकडनेके पश्चात् ही पहली पत्तीसे अपने शरीरको खींच लेती है, उसी तरह यह आत्मा इस शरीरको पूर्णतया तभी छोडता है, जब वह दूसरे शरीरका आक्रमण कर लेता है। (आधुनिक पुनर्जन्म प्रक्रियामें पहला देह छोडने, और दूसरे देहके ग्रहण करनेके बीचमें कुछ तो भी कालावधि होती है, और इस बीचके कालमें जीवात्मा भिन्न भिन्न दशामें संचार करता रहता है। परन्तु यहां तो स्पष्ट ही कहा है, कि जीवात्मा दूसरे देहसे संलग्न होनेपर ही पहला देह छोडता है। इस प्रश्नका समाधान हमारे वेदान्ती किस प्रकार करेंगे समझमें नहीं आता)।

(ग) बृहदा. (४।४।४) तत् यथा पेशसः मात्राम् अपादाय अन्यत् नवतरम् कल्याणतरम् रूपं तनुते एवम्......

जिस प्रकार कुशल सुनार (पुराने सोनेके गहनेसे) सोनेका शुद्ध अंश निकालकर दूसरा अधिक नवीन ऐसा उसका स्वरूप (गहना) बनाता है, उसी तरह ...... (इस उद्धरणमें

अशुद्ध अंशका क्या होता है, इसका उत्तर देना हमारे विद्वानोंके सामने एक कठिन समस्या ही होगी)।

२– परस्पर विरोधके उदाहरण—

(क) बृहदा. (३।२।१२) सः। उवाच हे याज्ञवल्क्य ? यत्र अयं पुरुषः म्रियते एनं किम् न जहाति ? इति। नाम इति। नाम अनन्तं वै ......

(आर्तभाग ऋषि) ने पूछा हे याज्ञवल्क्य जब यह पुरुष मरता है, तो इसे क्या नहीं छोडता ? इसके उत्तरमें बताया गया है, कि उसे नाम नहीं छोडता ...... (इसीके अगले मंत्रमें बताया है कि)—

(ख) बृहदा. (३।२।१३)...... पुण्येन कर्मणा पुण्यः भवति। पापेन पापः इति ......

जीवात्मा अच्छे कर्मोंसे अच्छा होता है और बुरे कर्मोंसे बुरा ......

(ग) बृहदा. (४।४।२)......उत्क्रामन्तं तं अनु प्राणः उत्क्रामति उत्क्रामन्तं प्राणं अनु सर्वे प्राणाः उत्क्रामन्ति (तदा) सविज्ञानो भवति सविज्ञानं एव अन्ववक्रामति विद्याकर्मणी तं च।

निकल जानेवाले जीवात्माके साथ प्राण भी निकल जाता है, उत्क्रमण पानेवाले प्राणके साथ अन्य शक्तियोंका भी उत्क्रमण होता है अर्थात् वे निकल जाती हैं। उस समय जीवात्मा विज्ञान युक्त होता है, अर्थात् उसकी विज्ञान शक्ति प्रकट होती है और इस कारण उसका गमन बुद्धि पूर्वक होता है ऐसा समझना चाहिये, इहलोकके विद्या और कर्म उसके साथ रहते हैं, और उसी तरह उसका स्वभाव- बुद्धि भी साथ रहती है।

(घ) बृहदा. (४।४।५) ... यथाकारी यथाचारी तथा भवति साधुकारी साधुः भवति पापकारी पापः भवति पुण्येन कर्मणा पुण्यः भवति पापेन पापः भवति अथो खलु अयं पुरुषः काममयः एव इति ।

पूर्वजन्ममें जैसा करता है, वैसा ही अगले जन्ममें होता है, सत्कर्म करनेवाला हो, तो सत्कर्म करता है। पापकर्म करनेवाला हो तो पाप कर्म करने लगता है। अच्छे कर्मोंसे अच्छा होता है, बुरे कर्मोंसे बुरा; इस कारण जीवात्मा काम-मय है, ऐसा कहा जाता है।

(ङ) बृहदा. (४।४।२२) ... सर्वस्य अधिपतिः सर्वस्य ईशानः सर्वस्य वशी सः साधुना कर्मणा भूयान् असाधुना कनीयान् नो एव एषः भूताधिपतिः एषः भूतपालः एषः सर्वेश्वरः एषः एषां लोकानां असंभेदाय विधरणः एषः सेतुः (अस्ति) सर्वं जगत् ।

सर्व जगत्का चालक सभीका स्वामी और सब कुछ उसके स्वाधीन है, ऐसा वह आत्मा अच्छे कर्मोंसे बडा नहीं होता, और न बुरे कर्मोंसे छोटा होता है; वह सबोंका चालक सबोंका पालक.........

(च) बृहदा. (४।४।२३) तत् एतत् ऋचा अभ्युक्तम्-कर्मणा न वर्धते कनीयान् नो (भवति) तस्य पदवित्तम् विदित्वा एव पापकेन कर्मणा न लिप्यते ......

इसे प्राचीन मंत्रने प्रदिपादन किया है "आत्मा कर्मोंसे बढता नहीं या घटता भी नहीं........."

३- अब उन विधानोंको प्रस्तुत करेंगे, जिनकी बुद्धिग्राह्य उपपत्ति आधुनिक वेदान्तियोंको लगाते नहीं आवेगी—

(अ) बृहदारण्यक उपनिषद्के चौथे अध्यायके तीसरे ब्राह्मणमें जिस विषयका विवेचन हुआ है, उसी विषयके विवेचनकी शुरूवात चौथे ब्राह्मणके पहले ही मंत्रसे की होनेसे यह चौथा ब्राह्मण तीसरे ही ब्राह्मणमें समाविष्ट हो सकता था, ऐसा बहुतसे टीकाकारोंका अभिप्राय है। आधुनिक शास्त्रीय दृष्टिसे निरीक्षण किया जाय, तो पूर्णतः स्पष्ट होगा कि दोनों ब्राह्मणोंमें विवेचन किये हुए विषय एक दूसरेसे बिलकुल ही भिन्न है, और यही कारण है कि वैदिक ऋषियोंने उन्हें अलग अलग ब्राह्मणोंमें रखा है।

(ब) इसी प्रकार बहुतांश टीकाकारोंकी समझमें यह बात नहीं आती, कि बृहदारण्यक उपनिषद्के छठे अध्यायके चौथे ब्राह्मणमें आये हुए लैंगिक विषयकी इस उपनिषद् जैसे व्यापक तथा गंभीर तत्त्वज्ञानको क्या आवश्यकता थी और इस विषयको यदि इस उपनिषद्के ऋषि इसमें संग्रहीत न करते, तो भी उसके गंभीर विषय विवेचनकी दृष्टिसे उसमें न्यूनता नहीं आती। इन टीकाकारोंको औपनिषदिक ऋषिका इस विषयको संग्रह करनेका उद्देश्य न समझमें आये तो उन ऋषियोंका उसमें दोष नहीं है। उन शास्त्रीय तत्त्वज्ञानवेत्ता ऋषियोंने किसी भी विषयका व्यर्थ संग्रह नहीं किया है, और उसी विषयको आज ५००० वर्ष तक पाठ्य परंपरासे व्यर्थ ही जीवित नहीं रखा गया है। कभी किसीने इस प्रश्नका विचार करनेका प्रयत्न नहीं किया, कि आखिर इस विषयको संग्रहीत करनेका कुछ उद्देश्य तो होना ही चाहिये और वह क्या है, उसे ढूंढनेका प्रयत्न करें।

उपर्युक्त उदाहरणोंके अतिरिक्त और कई स्थान ऐसे हैं, जिनकी बुद्धि ग्राह्य उपपत्ति, आजकी मानी जानेवाली पुनर्जन्मकी प्रक्रियासे, लगाई नहीं

जा सकती, परन्तु यदि उन्हींको आधुनिक शास्त्रीय दृष्टिकोणसे देखा गया तो उनका अर्थ स्पष्ट रूपसे दिखाई दे सकता है, तथा उनकी बौद्धिक उपपत्ति लगाई जा सकती है।

अबतकके विवेचनसे पुनर्जन्म विषयक वैदिक ऋषियोंका दृष्टिकोण क्या था, यह स्पष्ट करनेका प्रयत्न किया गया है, और यह भी स्पष्ट कर दिखाया गया है, कि वैदिक ऋषियोंका दृष्टिकोण आधुनिक शास्त्रीय दृष्टिकोणसे पूर्णतया सुसंगत है। और दोनों विचारधाराओंसे हम एक ही निष्कर्षको पहुंचते हैं। अब हम उसी प्रश्नको एक और पद्धतिसे सुलझाकर सिद्ध करनेका प्रयत्न करेंगे। इस पद्धतिका उपयोग तैत्तिरीय उपनिषद्में वरुणने भार्गव ऋषिको ब्रह्मज्ञान ज्ञात करा देनेमें किया होनेसे औपनिषद् वाङ्मयके विद्यार्थियोंको यह एक नई बात, या पद्धति मालूम नहीं होगी क्योंकि वे इस पद्धतिसे पूर्णतया परिचित हैं।

तैत्तिरीय उपनिषद्के पहले ही मन्त्रमें " सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म " यह एक महावाक्य आया है। ब्रह्मसिद्धांत सापेक्षतया ही क्यों न हो, जिन वाक्योंसे स्पष्ट किया जाता है उन्हींको महावाक्य संज्ञा दी जाती है। हमारे शास्त्रकारोंने जो चार महावाक्य छांट निकाले हैं, उन्हींमेंसे यह एक है, और यह प्राचीन मंत्र वाङ्मयमेंका है, या औपनिषदिक वाङ्मयमेंका है, इस प्रश्नका उत्तर इतना ही दिया जा सकता है, कि इस उपनिषद्के पहले ही मंत्रकी ऋचामें ही इस महावाक्यका समावेश होनेके कारण वह प्राचीन मंत्र वाङ्मयसे ही लिया हुआ है, ऐसा अनुमान करनेमें आपत्ति नहीं है। प्राचीन श्लोकों या ऋचाओंका उल्लेख उपनिषदोंमें कई जगह आया है, और वे सारे प्राचीन मंत्र आजके उपलब्ध साहित्यग्रन्थोंमें मिल ही जावेंगे, यह निश्चित रूपसे नहीं कह सकते हैं। तथापि ऋषिने उसे प्राचीन मंत्र कह स्पष्ट उल्लेख किया होनेसे वह मंत्र वाङ्मयमेंका ही है ऐसा समझना योग्य है। " सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म " इस महावाक्यसे ब्रह्मका जो लक्षण किया हुआ है उसमें ब्रह्म स्वरूपका भावरूपसे प्रत्यक्ष वर्णन हुआ है, और इस कारण आनंद वल्लीमेंके इस लक्षणको स्वरूपलक्षण कहते हैं।

इसके विपरीत जिस किसी वस्तुका लक्षण बताना हो, या उसकी व्याख्या करना हो उस वस्तुके स्वरूपका प्रत्यक्ष वर्णन करनेकी अपेक्षा जब अन्य बातोंसे ही उस वस्तुकी पहचान कराई जाती है, तब इस प्रकारकी व्याख्या या लक्षणको तटस्थ लक्षण कहा जाता है। इस प्रकारके तटस्थ लक्षणका उपयोग वरुणने भृगुको ब्रह्म समझानेमें किया हुआ भृगुवल्लीके तीसरे ही अंत्रमें दिखाई देता है। बृहदारण्यक उपनिषद्के पांचवें अध्यायके शुरूके मंत्रमें आए हुए दो वाक्य तथा ईशावास्योपनिषद्के प्रारम्भमें आया हुआ शांतिमंत्र ब्रह्मकी व्याख्या करनेवाला या लक्षण बतानेवाला तटस्थ लक्षण है ऐसा ही कहा जा सकता है। जो भी कोई वस्तु या विषय ब्रह्म है या नहीं ऐसी किसीको शंका हो, उसे इस व्याख्याको लागू करके देखनेसे वह वस्तु ब्रह्मका स्वरूप है या नहीं, यह निश्चय करना कठिन न होगा। वह मन्त्र है—

ओं पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

अर्थ— "वह पूर्ण है यह पूर्ण है, पूर्णसे पूर्ण उत्पन्न होता है, पूर्णसे पूर्ण निकाल लेनेपर भी पूर्ण ही अवशिष्ट रहता है" यहांपर पूर्ण इस शब्दका एक विशेष चमत्कार किया हुआ दिखता है, परन्तु गणितशास्त्रके शून्य शब्दकी जोड, बाकी, गुणाकार, या भागाकारके विषयमें जो कल्पना बताई जाती है, उसे ध्यानमें लानेसे पूर्ण शब्दके अर्थकी पहेलीको छुडाना कठिन नहीं है। एक शून्यमें अनेक शून्य मिलावें तो उसका जोड शून्य ही आता है, उसी तरह एक शून्यसे कई शून्य घटाएं तो शून्य ही बाकी रहता है। वही हालत गुणाकार तथा भागाकार करें तो दिखती है। यही प्रकार इस मंत्रकी व्याख्यामें भी दिखता है। पूर्णमेंसे कुछ भी निकाला जाय तो वह भी पूर्ण ही होता है, और बाकी भी पूर्ण ही बचता है। उसी तरह पूर्णमें पूर्ण मिलानेपर भी जोड पूर्ण ही होता है। इस प्रकारके ब्रह्मके वर्णनकी शैली है। उपर्युक्त शून्यकी कल्पना अभाव स्वरूप है, तो पूर्णकी कल्पना भाव स्वरूप है यही इन दोनों कल्पनाओंमें मुख्य भेद है।

इस मन्त्रमें उद्धृत की हुई ब्रह्मकी व्याख्याको यदि हम उपर्युक्त विवरणमें आए हुए " जर्मप्लाज्म " इस शब्दसे निर्देश किये हुए वस्तुको लागू कर देखें, तो स्पष्ट रूपसे प्रतीत होता है, कि यह व्याख्या या तटस्थ लक्षण उसे अर्थात् " जर्मप्लाज्म " को पूर्णतया लागू हो जाता है। ' जर्मप्लाज्म ' से कोई भी अंश निकालें तो बाकी बचा हुआ तथा निकाला हुआ दोनों ही पूर्ण रहते हैं। उसी प्रकार दो पूर्ण अंश मिलानेसे जोड भी फिर पूर्ण ही रहता है। यदि जोड बाकीके ये लक्षण ठीक बैठ गए तो गुणाकार भागाकार भी बैठ जाते हैं और इस प्रकार निश्चित रूपसे कहा जा सकता है, कि जर्मप्लाज्म ही ब्रह्मका सगुण स्वरूप है। वास्तवमें यह बात सही भी है, क्योंकि पंचाग्नि विद्यामें स्पष्ट ही कहा हुआ है, कि सृष्ट्युत्पत्ति क्रममें पांचवीं आहुतिके बाद दिव्य आप्, रेत, वीर्य या शुक्रके रूपमें परिणित हो जाता है। अब हम अन्य उदाहरण देकर यह भी देखनेका प्रयत्न करेंगे, कि इस बातकी स्पष्ट तथा प्रत्यक्ष रूपसे कल्पना हमारे वैदिक ऋषियोंको थी—

१– ईश. (८) सः अकायम्, अव्रणम्, अस्नाविरम्, शुद्धम्, अपापविद्धम्, शुक्रम्, पर्यगात् ॥

अर्थ— वह (ज्ञानसंपन्न मनुष्य) अशरीरी, अछिद्र, स्नायुरहित, पवित्र, तथा निर्दोष तेजको अर्थात् ब्रह्म तत्त्वको पहुंचा हुआ होता है। (यहांपर शुक्र जर्मप्लाज्म यह पद तेजोमय ब्रह्मतत्त्वका वाचक शब्द होते हुए अन्य पांच पद उसीके विशेषण हैं, यह स्पष्ट है।)

२– ऐतरेय. (२,४,१) यत् एतत् रेतः तत् अयम् पुरुषे ह वै आदितः गर्भः भवति तत् एतत् सर्वेभ्यः अंगेभ्यः संभूतं तेजः आत्मनि एव बिभर्ति ॥

अर्थ— जो यह रेत है, वह पुरुषमेंका पहला गर्भ है और वह सर्व अवयवोंका सारभूत तेज स्वतःको स्वतः

ही धारण करता है, (इस मंत्रमें भी रेत अर्थात् शुक्रको- जर्मप्लाज्मको- सारे अंगोंका सारभूत तेज है ऐसा ही कहा है)।

३ छांदोग्य. (३,१७,७) प्रत्नस्य रेतसः आदितः तमसः परि उत्तरम् ज्योतिः उत्पश्यन्तः ॥

अर्थ— मुख्य बीजका आदि कारण ऐसा अंधकारके परेका तेज देखनेवाले ...... (यहां सगुण ब्रह्म, प्रकृति पुरुष, हिरण्यगर्भ इत्यादि शब्दोंसे जिस सत्तत्वका निर्देष किया जाता है, वही प्रत्नस्य रेतसः- जर्मप्लाज्म- इस पदसे बताया हुआ आदि बीज अर्थात् इस सृष्टिका पहला, तथा मुख्य कारण है, ऐसा स्पष्ट किया है)।

४- कठ. (४,१,१२), (४,१,१३), श्वेताश्वतर (३,१३), (३,१४), (५,८) तथा कठ. (२,३,१७) में—

अंगुष्ठमात्रः पुरुषः अन्तरात्मा जनानाम् हृदये सदा सन्निविष्टः मुंजात् इषिकां स्वात् शरीरात् धैर्येण तं प्रबृहेत्। तं शुक्रम् अमृतम् विद्यात् इति ॥

अर्थ— अंगुष्ठमात्र ऐसे अन्तर्यामिमें रहनेवाला आत्मा सबोंके हृदयमें रहता है। मुंज घाससे उसके अन्दरके गाभेको जैसे अलग किया जाता है, उसीके समान उसे अपने बुद्धि सामर्थ्यसे अलग कर और उसका ज्ञान संपादन कर यह मालूम कर लेना चाहिये, कि शुक्र (जर्मप्लाज्म) ही आत्मतत्व या अमृत

*

अर्थात् शुद्ध ब्रह्म है, वही शुद्ध ब्रह्म है। २३ (यदि सांप्रदायिक खींचतान न की गई, तो कठोपनिषद्के ऋषिने यहां स्पष्ट शब्दोंमें स्थानका निर्देश कर निश्चित रूपमें शुक्रको, रेतको अर्थात् जर्मप्लाज्मको ही शुद्ध सगुण ब्रह्म या अमृत संज्ञा प्रदान की है।)

अबतकके विवेचनमें हमने प्रत्यक्ष स्वरूपके उदाहरण देकर यह स्पष्ट करनेका प्रयत्न किया है, कि हमारे वैदिक ऋषियोंको उन सारे प्रमेयोंकी पूर्ण रूपसे जानकारी थी, जो आजके शास्त्रज्ञोंको अपरिमित साधनसामग्रीके बलपर प्राप्त हुई है। प्रश्न केवल इतना ही है कि ५००० वर्ष पूर्वके निष्कर्षोंको आजकी बीसवीं सदीकी भाषामें उन्हें हमको संसारके सामने प्रस्तुत करना है, परंतु दूसरे देशवासियोंके सामने इन्हें रखकर उन्हें इसकी सत्यता सिद्ध करना, इतना कठिन नहीं है जितना हमें हमारे विद्वानोंको सिद्ध करना कठिन हो रहा है। इसका एकमात्र कारण यह है, कि दूसरे देशवासियोंको कमसे कम उनके शास्त्र तो भी पूर्णरूपसे ज्ञात हैं। हमारे यहांके विद्वान् पाश्चात्य शास्त्रीय प्रगतिसे तो वंचित हैं ही, पर साथ ही साथ अपने यहांके पुराने (अर्थात् वैदिक कालके) शास्त्रोंसे भी पूर्णतया अपरिचित होते हुए इतनी संकुचित वृत्तिके तथा निरूत्साही हैं, कि दीर्घोद्योगसे उन्हें संशोधन कर सत्य जाननेकी इच्छाका प्रादुर्भाव होना भी उनकी वृत्तियोंको दुर्लभ सा हो गया है।

अब हम कुछ ऐसे उदाहरण देंगे जो अप्रत्यक्ष रूपसे उसी विचारधाराके पोषक तथा पूरक है जिसको प्रत्यक्ष रूपसे उदाहरण देकर ऊपर स्पष्टरूपसे सिद्ध कर सामने रखा गया है।

१- बृहदा. (६,१,६) यः वै प्रजापतिम् वेद सः प्रजया पशुभिः प्रजायते। रेतः वै प्रजापतिः यः एवं वेद प्रजया सह प्रजायते ह ॥

अर्थ— जो प्रजाति (सुप्रजनन) जानता है वह संतति व पशु संपत्ति इन दोनोंसे समृद्ध होता है, रेत ही प्रजाति है। जो यह जानता है उसे संतति और संपत्ति मिलती है।

२- बृहदा. (३,९,१७) रेतः एव यस्य आयतनम्। हृदयं लोकः। मनःज्योतिः। याज्ञवल्क्य सर्वस्य आत्मनः परायणम् तं पुरुषम् यः वै विद्यात् स वै वेदिता स्यात्। (शाकल्य) सर्वस्य आत्मनः परायणम् यम् पुरुषम् आत्थ तं अहं वेद वै। यः अयं पुत्रम् यः पुरुषः सः एषः॥

अर्थ— वीर्य ही जिसका स्थान है, हृदय जिसका भुवन है, अन्तः-करण जिसका प्रकाश है। हे याज्ञवल्क्य, सर्व आत्माका अधि-ष्ठान हो ऐसे पुरुषको जो जानता है, वही ज्ञाता कहा जाता है। हे शाकल्य, सर्व आत्माका अधिष्ठान हो, ऐसा जो तू पुरुष कहता है, उसे मैं निश्चयपूर्वक जानता हूं। पुत्ररूपी पुरुष ही वह है।

३- बृहदा. (५,१२,१) (यह बहुत बडा मन्त्र होनेसे यहां नहीं देते) इस मन्त्रमें वीरम इस शब्दके दो भाग कर 'वी' अर्थात् अन्न और 'रम' अर्थात् प्राण ऐसा अर्थ मन्त्रमें ही स्पष्ट किया है, वीर्य इस शब्दसे वीरम इस पदका तात्पर्य बराबर और ठीक प्रकारसे समझमें आ सकता है।

४- छांदोग्य. (२,१३,१-२) इन मंत्रोंमें बताया है, कि वामदेव साम स्त्रीपुरुष संयोगमें प्रतिष्ठित रहता है और जो यह साम जानता है, उसे स्त्री प्राप्त होकर प्रत्येक संभोगसे प्रजोत्पत्ति होती है और वह पुर्णायुषी होता है।

५- छांदोग्य. (३,१७,५) (यत्) सोष्यति असोष्ट इति आहुः तस्मात् एव अस्य पुनरुत्पादनम्। मरणम् तत् एव अवभृथः॥

अर्थ— जैसे सोम निकालते हैं तो सोमरस निकाला (यज्ञमें) ऐसा कहा जाता है, उसी प्रकार (पुरुष यज्ञमें) पुरुषका संतति उत्पादन समझना, और मरण यही अवभृथ (यज्ञ समाप्ति दर्शक) स्नान है।

६– छांदोग्य. (१,९,३) ... यावत् ते प्रजायाम् एनम् उद्गीथम् वेदिष्यन्ते तावत् ह आस्मिन् लोके एभ्यः जीवनम् परोवरीयः भविष्यति ॥

अर्थ— तेरी संततिमें जबतक इस उद्गीथका ज्ञान रहेगा, तबतक इस लोकमें उनका जीवन परमश्रेष्ठ रहेगा ।

७– मुंडक. (३,२९,) यः ह वै तत् परमम् ब्रह्म वेद सः ब्रह्म एव भवति । अस्य कुले अब्रह्मावित् न भवति ॥

अर्थ— जो कोई भी इस प्रकारका श्रेष्ठ ब्रह्मतत्व जानता है, वह ब्रह्म हो जाता है और उसके कुलमें ज्ञानहीन ऐसा कोई नहीं पैदा होता ।

८– मांडूक्य. (१०) यः एवम् वेद (सः) ज्ञानसंततिम् उत्कर्षति समानः ह वै भवति च अस्य कुले अब्रह्मवित् न भवति ॥

अर्थ— जो यह जानता है वह ज्ञान परंपरा वृद्धिंगत करता है, और समदृष्टि होता है । उसके कुलमें ब्रह्मज्ञान हीन ऐसा कोई नहीं होता ।

अब इस पुनर्जन्मके अध्यायको समाप्त करनेके पहले एक और स्पष्ट विचारधाराका विश्लेषण करेंगे, जिससे आधुनिक पुनर्जन्म विषयक विचार सरणीके नाम लेनेतक भी आवश्यकता न रहेगी, अर्थात् यह आधुनिक पुनर्जन्म विषयक विचारधारा निर्मूल हो जावेगी—

१– बृहदा. (१,६,३) ... तत् एतत् त्रयम् सत् एकम् (अस्ति) अयम् आत्मा । उ आत्मा सन् एकः एतत् त्रयम् (भवति) तत् एतम् अमृतम् सत्येन छन्नम् । प्राणः वै अमृतम् । नामरूपे सत्यम् । ताभ्याम् अयम् प्राणः छन्नः ।

अर्थ— नाम, रूप, कर्म यह त्रयीभाव रूप होते हुए एक ही है। यह त्रयी ही आत्मा अर्थात् आत्माका स्वरूप है। क्योंकि आत्मा भावरूप होते हुए वही नाम, रूप, कर्म, इन्हीं तीनों रूपोंसे व्यक्त होता है। यही वह अविनाशी तत्व है। नाम, रूप ये सत्य भाव स्वरूप हैं, और उन्हींसे यह प्राणतत्व आच्छादित है।

२– छांदोग्य. (१,२,१२) तथा बृहदा. (१,३,८) यः इत्थम् असक्तः (अस्ति) सः नः क्व नु अभूत्। इति ते ह ऊचः॥ अयम् आस्ये अन्तः इति सः आयास्यः हि अंगानाम् रसः आंगीरसः॥

अर्थ— जो प्राण ऐसा निःस्वार्थ है वह हममें कहा होगा? ऐसा देवताओंने पूँछा। यह मुखके अन्तर्भागमें है, इस कारण उसे आयास्य कहते हैं, और चूंकि सारे अवयवोंका यह प्राणरस अर्थात् बीजशक्ति है, इस कारण उसे आंगिरस कहते हैं।

३– छांदोग्य. (१,२,१०) तथा बृहदा. (१,३,१९) सः आयास्य आंगिरसः हि अंगानाम् रसः। प्राणः वै अंगानाम् रसः। हि प्राणः वै अंगानाम् रसः। यस्मात् कस्मात् च अंगात् प्राणः उत्क्रामति तत् एव तत् शुष्यति। तस्मात् हि एषः वै अंगानाम् रसः॥

अर्थ— वही आयास्य आंगिरस है। क्योंकि वही शरीरके सर्व अवयवोंका रस अर्थात् बीजशक्ति है। प्राण ही अंगका रस है। क्योंकि प्राण ही अवयवोंमेंका जीवनरस है। जिस किसी अवयवमेंसे प्राण निकल जाता है तभी वह अंग शुष्क (निर्जीव) होता है। इस कारण यह मुख्य प्राण ही सारे अंगों या अवयवोंका जीवनरस है।

३– छांदोग्य. (१,११,५) प्राणः इति उवाच ह । इमानि सर्वाणि भूतानि ह वै प्राणं एव अभिसंविशन्ति प्राणं अभ्युज्जिहते ......

अर्थ— प्राण (ही देवता है) ऐसा (उपस्ति) उसने कहा, ये सारे भूत (सृष्ट पदार्थ) प्राणमें ही लीन होते हैं और फिर प्राणसे उत्पन्न होते हैं ।

४– छांदोग्य. (५,१,१२) अथ प्राणः उच्चिक्रमिषत् । यथा सुहयः पड्वीशशङ्कून् संखिदेत् एवम् सः इतरान् प्राणान् समखिदत् । तम् (इतरे प्राणाः) अभि समेत्य ऊचुः ह । भगवन् एधि । त्वम् नः श्रेष्ठः असि । मा उत्क्रमीः इति ॥

अर्थ— फिर प्राण बाहर जाने लगा, तब जैसे एक उम्दा घोडा उसके पायबंदोंकी खूंटियें उखाडता है वैसे ही उसने चक्षुरादि इंद्रियोंको उखाड निकालना शुरू किया। तब वे सारी इंद्रियोंने प्राणसे कहा, हे भगवान! तू यहीं रह (निकल न जा) तू ही हम सबोंमें श्रेष्ठ है ।

५– छांदोग्य. (१,२,९) हि एषः अपहत-पाप्मा तेन एतेन न एव सुरभि न दुर्गन्धि विजानाति । (सः) यत् अश्नाति यत् पिबति तेन इतरान् प्राणान् अवति । एतम् अविस्वा उत्क्रामति अन्ततः व्याददाति एवं इति ।

अर्थ— यह (मुख्य प्राण) निष्पाप रहता है, इससे वह सुगंध या दुर्गन्ध नहीं जानता । वह जो खाता या पीता है उसीसे अन्य इंद्रिय शक्तियोंका संरक्षण करता है। यह (अन्न, पानी) अन्तमें न पहुंचनेपर निकल जाता है और मनुष्य मुंह बा देता है ।

७— ईश. (१७) अमृतम् अनिलम् वायुः अथ इदम् शरीरं भस्मान्तम् (अस्ति) ओं क्रतो स्मर (मे) कृतो स्मर। क्रतो स्मर कृतं स्मर ॥

अर्थ— प्राणरूपी वायु अविनाशी है परन्तु वह स्थूल शरीर भस्म होनेवाला है। हे इच्छावान् पुरुष तू अपने कर्मोंका स्मरण कर, निरीक्षण कर।

८— बृहदा. (३,७,२) सः उवाच ह, गौतम ! वायुः वै तत् सूत्रम् हे गौतम ! वायुना सूत्रेण अयम् च लोकः परः लोकः च सर्वाणि भूतानि संदृब्धानि वै भवन्ति। हे गौतम ! तस्मात् अस्य अङ्गानि व्यस्रंसिषत इति वै पुरुषम् प्रेतम् आहुः हि। हे गौतम ! वायुना सूत्रेण (सर्वाणि भूतानि) संदृब्धानि भवन्ति ॥

अर्थ— याज्ञवल्क्यने कहा कि हे गौतम, वायु (प्राण) ही वह सूत्र है। हे गौतम वायुरूप सूत्रसे ही इहलोक और परलोक और सर्व पदार्थ संबद्ध हैं। हे गौतम, प्राणवायु रूप सूत्र नष्ट होनेपर मनुष्यके सर्व शरीरबंध टूट जाते हैं इसीलिये ऐसे समय जीव गया या जान गई (अर्थात् मनुष्य मर गया) ऐसा कहा जाता है। (वास्तविक प्राणरूपी सूत्र नष्ट हो जाता है आत्मा नहीं जाता) इस कारण हे गौतम वायुरूपी सूत्रसे ही सब संबद्ध हैं।

उपर्युक्त आठ उद्धरणोंमें मनुष्यकी आयुष्यके समाप्त होनेकी अर्थात् उसकी मृत्युके समय होनेवाली प्रक्रियाका स्पष्ट तथा निःसंदिग्ध रूपसे विवरण किया गया है। जिसमें यह स्पष्ट ही बताया गया है, कि आत्मा व प्राणमें वास्तविक भेद नहीं है, तथा आत्मा जब क्रियाका प्रेरक होता है, तब उसे प्राण यह संज्ञा दी जाती है। अर्थात् प्राण ही आत्माका सगुण स्वरूप है। बादमें इसीको ' आयास्य आंगिरस ' बताकर कहा है, कि सर्व

भूत सृष्टि इसी प्राणसे उत्पन्न होती है, और इसीमें ही लीन होती है। यही कारण है, कि यदि इस देहसे प्राण निकलने लगे, तो शरीरकी क्रियाएं लुप्त हो जाती हैं; और अन्तमें यह स्पष्ट शब्दोंमें कहा है, कि इहलोक और परलोकको जोडनेवाला सूत्र यही होता है, और जब यह सूत्र नष्ट हो जाता है, तब व्यवहारमें ' जीव गया ' ऐसे कहते हैं, परंतु वास्तवमें इस प्राणसूत्रके नष्ट होनेको ही मृत्यु या मरण कहते हैं। इसी कारण मरण या मृत्यु (छांदोग्य. ३।१७।५) को ' अवभृत स्नान ' अर्थात् पुरुष यज्ञ समाप्ति दर्शक बताया गया है।

अब हम नीचे दूसरी प्रक्रियाको स्पष्ट करनेवाली अर्थात् ' पुनर्भव ' पुनरावृत्ति कारक प्रक्रियाके अर्थात् जिसे आजकी भाषामें पुनर्जन्म कहते हैं, उस विषयको दशोपनिषदोंसे उद्धरण प्रस्तुत कर यह स्पष्ट कर देंगे, कि ये दो प्रक्रियां १- मृत्यु या मरण और २- पुनर्भव, पुनरावृत्ति, या पुनर्जन्म भिन्न भिन्न हैं। यद्यपि इस दूसरी प्रक्रिया विषयक विश्लेषण उपर्युक्त विवरणमें प्रचुरमात्रामें आ चुके हैं, तथापि यहां प्राणतत्त्वसे संबद्धित और भी नए उद्धरण देकर इस विषयको और भी स्पष्ट कर देंगे।

१- प्रश्न. (३,३) एषः प्राणः आत्मनः जायते। यथा पुरुषे एषा छाया (तथा) तस्मिन् (प्राणे) एतत् मनः आततम्। अकृतेन अस्मिन् शरीरे आयाति॥

अर्थ— यह प्राण आत्मासे उत्पन्न होता है, जैसे मनुष्यसे उसकी छाया, इस प्राणसे मन संलग्न होता है। कर्मके बिना तथा निसर्ग नियमसे ही यह प्राण शरीरमें आता है।

२- प्रश्न. (३,४) यथा सम्राट् एव अधिकृतान् एतान् ग्रामान् अधितिष्ठस्व इति विनियुंक्ते एवम् एव एषः प्राणः इतरान् प्राणान् पृथक् पृथक् सन्निधत्ते॥

अर्थ— जैसे कोई राजा स्वतः अधिकारियोंको बंदोबस्त करनेके लिये भिन्न भिन्न स्थानोंपर नियुक्त करता है, उसी तरह मुख्यप्राण अन्य

प्राणोंको भिन्न भिन्न स्थानोंपर नियुक्त कर कार्य करनेको प्रेरित करता है, तथा उन्हें सामर्थ्यसंपन्न करता है।

३- प्रश्न. (३,७) अथ एकया (नाड्या) उदानः उर्ध्वः (चरति)। पुण्येन पुण्यम् लोकम् पापेन पापं (लोकं) उभाभ्याम् मनुष्यलोकम् एव (नयति)॥

अर्थ— और वह (प्राण) एक नाडी द्वारा उदान रूपसे ऊर्ध्व गतिसे संचार करता है। यह उदान जीवको सत्कर्मसे सद्गतिको और दुष्कर्मसे दुर्गतिको तथा पुण्य, पाप मिश्रित कर्मसे मनुष्य जन्मको ले जाता है, अर्थात् अच्छे कर्मसे अच्छे, और बुरे कर्मसे बुरे फल प्रदान करता है।

४- प्रश्न. (३,९) तेजः ह वाव उदानः। तस्मात् उपशांत तेजाः मनसि संपद्यमानैः इंद्रियैः पुनर्भवम्॥

अर्थ— तेज ही बाह्य उदान है। इसी कारण जब किसीका उदान रूपी तेज नष्ट होता है, वह जीव मनमें संकोच पाए हुए इंद्रियोंसहित पुनर्भव, पुनरावृत्ति, पुनरुत्पत्ति, या आजकी भाषामें पुनर्जन्म प्राप्त कर लेता है।

५- प्रश्न. (३,१०) यच्चित्तः तेन एषः प्राणम् आयाति। तेजसा युक्तः प्राणः आत्मना सह एनम् यथा संकल्पितम् लोकं नयति॥

अर्थ— चित्त जिस वासनासे युक्त हो, उस वासनासे युक्त यह जीव प्राणके स्वाधीन होता है और उदान सामर्थ्यसे युक्त यह प्राण स्वतः के साथ उस जीवको उसके वासनानुसार जन्मको ले जाता है (अर्थात् पुनस्वरूप प्राप्त करा देता है)।

६- प्रश्न. (३, ११) यः विद्वान् प्राणम् एवम् वेद। अस्य प्रजा न हीयते ह। अमृतः भवति॥

अर्थ— जो विद्वान् पुरुष प्राणका स्वरूप इस प्रकार जानता है, उसकी संतति नष्ट नहीं होती और वह मुक्त होता है।

७- प्रश्न. (३,१२) प्राणस्य उत्पातिम् आयतिम् स्थानम् च एव पंचधा विभुत्वम् अध्यात्मम् च एव विज्ञाय अमृतम् अश्नुते ॥

अर्थ— प्राणकी उत्पत्ति उसका आगमन, वास्तव्य और उसके पांच स्वरूपोंसे शरीरपर स्वामित्व इस प्रकार जानता है, उससे मनुष्य मुक्त होता है।

८- बृहदा. (४,४,२२) तथा छांदोग्य. (८,४,१) में उपर्युक्त विवरणमें विश्लेषण की हुई इसी प्रक्रियामेंके आत्माको (जर्मप्लाज्म) इहलोक और परलोकको संघटित करनेवाला बंधारक सेतु कह-कर स्पष्ट किया है।

उपर्युक्त विवरणमें यह दूसरी प्रक्रिया, जिसे पुनर्भव, पुनरावृत्ति, या आजकी भाषामें पुनर्जन्म कहते हैं, उसका विश्लेषण पूर्ण रूपसे तथा निःसंदिग्ध शब्दोंमें किया गया है। इसमें बताया गया है, कि प्राण इस शरीरमें पूर्वकर्मानुसार नहीं आता। दृष्टांतके रूप या व्यावहारिक भाषामें बोलना हो तो यही कहना पडता है कि प्राण यह शरीररूपी घरका किराए-दार नहीं है, अपितु मालिक जैसे स्वतः घर बांधकर उसमें आकर रहता है, उसी प्रकार प्राण भी संपूर्ण शरीर तैयार कर फिर अधिपतिके नाते उसमें निवास करता है। वस्तुतः मुख्य प्राण और इतर प्राण इनमें आत्यंतिक भेद नहीं है, अपितु प्राणशक्तिके भिन्न भिन्न स्थानोंमें होनेवाले पृथक् पृथक् कार्य हैं, और मुख्य प्राण ही मुख्य सूत्रधार है।

आगे फिर प्राणके उदान सामर्थ्यको तेजस्वी, और सामर्थ्य पूर्ण करनेवाले कर्मोंको सत्कर्म बताकर बादमें बताया गया है कि यह उदान अर्थात् प्राण ही, जीवको पुनर्भव या पुनरावृत्ति करानेवाला होता है और वह जीवको

वासनानुसार जन्म (पुत्ररूपमें) प्राप्त करा देता है। अन्तमें स्पष्ट किया है, कि जो प्राणतत्त्वका संपूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लेता है उसकी संततिका नाश कभी नहीं होता। अन्तिम दोनों मंत्रोंमें जीवमें पूर्णरूपसे संकुचित हुए इंद्रिय समूहोंको, अर्थात् लिंगशरीरको प्राण ही पुनरूत्पत्ति करानेवाला मुख्य सूत्र- जर्मप्लाज्म- बंधारक सेतु कहा है।

इस प्रकार, ये दोनों मनुष्यके आयुष्यमें होनेवाली प्रक्रियाएं भिन्न भिन्न होते हुए इनको एकमें मिलाकर आजकी मानी जानेवाली पुनर्जन्म प्रक्रियाका उद्भव ऐतिहासिक दृष्टिसे कब और किस कारण हुआ, यह कहना कठिन है। औपनिषदिक कालमें इन दोनों (मृत्यु और पुनर्भव) क्रियाओंके मिलानेका घपला नहीं था; यह उपर्युक्त विवरणमें दिये हुए अनेक उदाहरणोंसे स्पष्ट ही हो जाता है। यही अनुमान लगाया जा सकता है, कि बुद्धकालमें या उसके कुछ पहले जब निरी कर्मठ प्रवृत्तियोंके प्रादुर्भावसे वैदिककालके शास्त्रीय ज्ञानका लोप हुआ, तबसे अनेक अशास्त्रीय कल्पनाओंने हमारी संस्कृतिमें घर करना शुरू किया, और सीधा मार्ग खोनेपर मनुष्य जैसे इधर उधर भटकता फिरता है वैसे ही हमारे तत्त्वज्ञानके विचारधाराओंकी स्थिति हो गई।

इस प्रकारके भटके हुए विचारधाराके कारण हमारे आचारधर्ममें भी भिन्न भिन्न स्वरूपकी विकृतियां उत्पन्न हुईं। इन सारी विकृतियोंको निकाल कर हमारा शुद्ध वैदिक तत्त्वज्ञान तथा उसपर आधारित आचारधर्म, अर्थात् वैयक्तिक और सामाजिक आचारधर्मोंका, या कर्तव्यकर्मोंका शुद्ध स्वरूप स्वतंत्र भारतके देशवासियोंके सामने स्पष्टरूपमें रखनेका उत्तरदायित्व हम भारतीयोंपर ही है। परन्तु यह कार्य एक व्यक्तिके कर्तव्य सामर्थ्यके बाहर है, और इसी कारण हम राष्ट्रके नेताओंसे अनुरोध कर प्रार्थना करनेका साहस करते हैं कि यह कार्य स्वतंत्र भारत राष्ट्रीय स्तरपर हाथमें लेकर राष्ट्रकी संपत्ति और राष्ट्रीय विद्वानोंकी बुद्धिके सहयोगसे समाजोद्धार और राष्ट्रोद्धारका मार्ग खुला कर दें।



अध्याय १३ वां

वैदिक समाज व्यवस्था

(इष्ट धर्म, आश्रम धर्म, व्याष्टि धर्म या व्यक्ति धर्म)



पिछले अध्यायमें मुख्यतः पुनर्जन्म विषयका पूर्णतः विवेचन किया हुआ है। इस विवेचन द्वारा जो निष्कर्ष निकाले गए हैं, वे दो विचारधाराओं-पर, जो एक दूसरेसे कम ५००० वर्षके कालखंडके अन्तरवाली हैं, आधारित हैं। यहांपर यह बता देना उचित होगा, कि पाश्चात्य शास्त्रज्ञोंने अनुसंधानात्मक प्रयोगोंद्वारा जो संशोधन किये हैं, उन्हें अनुमान समझना बडी भूल होगी। वे ' चक्षुर्वै सत्यम् ' अर्थात् प्रत्यक्ष प्रमाणोंपर आधारित होनेके कारण उन संशोधनोंसे जो प्रश्न निश्चित रूपसे हल हो चुके हैं, उन पर किसी प्रकारकी शंका प्रदर्शित करना, अर्थात् केवल अपने अज्ञानका ही प्रदर्शन करना होगा। इन पाश्चात्य शास्त्रीय संशोधकोंको जिन प्रश्नोंको निश्चित रूपसे हल नहीं करते आया है उनको उन्होंने निःसंकोच वृत्तिसे और स्पष्ट रूपसे ही उन निष्कर्षोंको ' अनुमान ' कहकर ही संबोधित किया है, तथा अन्य जो प्रश्न उनसे हल नहीं हो पाए हैं, उनके विषयमें उन्होंने स्पष्ट ही कह दिया है, कि वे उन्हें मालूम नहीं हैं, परन्तु जो बातें उन्हें पूर्ण रूपसे मालूम हो गई हैं, उनके बारेमें उन्हें यत्किंचित् भी शंका नहीं है।

पौर्वात्य विचारधाराके अनुसार श्रुति प्रामाण्य सर्वश्रेष्ठ माना हुआ है और यहांपर हम स्पष्ट कर देना चाहते हैं, कि सबसे महत्त्वपूर्ण तथा आश्चर्यकी बात यह है कि आजके शास्त्रीय प्रयोगोंसे सिद्ध किये हुए निष्कर्ष और हमारे श्रुति वांङ्मयमें पाए जानेवाले शब्द प्रामाण्यपर आधारित उन्हीं प्रश्नोंके निष्कर्षोंमें शब्दशः साम्य है। आजके शास्त्रीय प्रयोगोंसे निकाले हुए

निष्कर्ष किस पद्धतिसे निकाले गए हैं, उसकी जानकारी किसी जिज्ञासुको प्राप्त कर लेना कुछ भी कठिन नहीं है। हमारे वैदिक और औपनिषदिक ऋषियोंने उन्हीं समस्याओंको सुलझानेमें क्रमशः किन किन मार्गोंका अवलंब किया होना चाहिये, यह एक ऐसा प्रश्न है, जिसका हल करनेका प्रयत्न भारतीय इतिहासज्ञ ही कर सकते हैं। यहांपर हमें तो केवल इतना ही देखना है, कि वे इन निष्कर्षोंपर किसी भी मार्गसे पहुंचे हों परन्तु ये इनके ५००० वर्ष पुराने निष्कर्ष और आजकी बीसवीं सदीमें शास्त्रीय प्रयोगोंसे निकाले हुए निष्कर्ष पूर्णतः एक ही हैं, और यह बात हम किसीको भी पूर्णरूपसे सिद्ध कर जंचा सकते हैं।

इन दोनों विचारधाराओंके अनुसार, और उसमें भी मुख्यतः उपनिषदोंके आधारपर यह बात स्पष्ट कर बताई गई है कि मनुष्यके आयुष्यमें मृत्यु एक घटना या प्रक्रिया है और पुनर्भव, पुनरुत्पत्ति, पुनरावृत्ति या पुनर्जन्म यह दूसरी और बिलकुल ही भिन्न घटना या प्रक्रिया है। इन दो घटनाओं या प्रक्रियाओंको एकमें मिलानेकी भूल, ऐतिहासिक दृष्टिसे बुद्धकालके आसपास कभी हुई होनी चाहिये, ऐसा अनुमान करनेमें कोई आपत्ति नहीं है। पिछले अध्यायमें इस पुनर्जन्मके प्रश्नको हल करनेमें सबसे पहले यह प्रस्तुत कर, कि मानवकी भवितव्यताके विषयमें आजके पाश्चात्य शास्त्रज्ञोंकी विचारधारा क्या है, यह बताया है कि, दो एक समस्याएं ऐसी हैं जिनका निष्कर्ष पाश्चात्य शास्त्रज्ञोंको अभीतक निकालते नहीं आया है, और इस कारण मानवकी आगेकी उन्नति किस दिशामें की जा सकती है, यह बात उन्हें अभी निश्चित करते नहीं आती है। उन दो प्रश्नोंमेंसे एक प्रश्नका संबंध पुनर्जन्मसे है, और पिछले अध्यायके विवरणमें इस विषयकी निश्चित रूपरेखा क्या है ? यह हमने स्पष्ट कर दी है, और हम आशा करते हैं, कि पाश्चात्य शास्त्रज्ञोंको यह औपनिषदिक निष्कर्ष मार्गदर्शक होंगे।

अब इस अध्यायमें हम उस दूसरे प्रश्न, जिस प्रश्नको हल करनेमें पाश्चात्य शास्त्रीय विचारधारा असमर्थ सिद्ध हुई है, और जो यह है,

वैयक्तिक विकास या उन्नति, और उसका समाजकी प्रभुताके अंकित रहनेमें होनेवाला संघर्ष, अर्थात् व्यक्तिवाद और समाजवाद, या वैयक्तिक दिव्य जीवन, और राष्ट्रीय उन्नति, के विषयमें औपनिषदिक विचारसरणी क्या है, इसका स्पष्टीकरण करनेका प्रयत्न करेंगे। परन्तु इसके पहले, हम उन आक्षेपकोंके विषयमें कुछ कहना चाहते हैं, जिनकी समझमें आजकी मान्य पुनर्जन्म विषयक कल्पनाको विरोध करनेवाला नास्तिक तथा निरीश्वर-वादी है, और वह अवैदिक संस्कृतिको माननेवाला है। इसीके साथ साथ उनकी यह दृढ कल्पना है, कि यदि पुनर्जन्म (जिस प्रकारका वे आज मानते और समझते आए हैं) न हो तो एक भयंकर आपत्ति तथा सामाजिक क्रांति हो जावेगी, और फिर पापपुण्य, धर्मअधर्म, नीतिअनीति इत्यादि ये सारी ही बातें नष्ट हो जावेंगी। इन सारे कारणोंसे यह आवश्यक जान पडता है, कि यहांपर कुछ और विश्लेषण कर यह स्पष्ट करनेका प्रयत्न करें कि उन्हें इतना घबरानेकी कोई आवश्यकता नहीं है।

इस विषयपर आजके साधारणतः सभी ग्रन्थकारोंके वाङ्मयके अवलोकनसे स्पष्ट रूपसे प्रतीत होता है, कि वे सब इस बातको मानकर ही चलते हैं कि, जिस प्रकारकी हमने पिछले अध्यायमें आजके वेदान्तियोंके विचारधारावाली पुनर्जन्मकी प्रक्रियाका वर्णन किया है, उसी प्रकारकी वह प्रक्रिया है ही और उसमें किसी प्रकारकी शंका कुशंका लेनेकी आवश्यकता नहीं है। इनमेंके कुछ ग्रन्थ ऐसे भी हैं, जिनमें यह प्रक्रिया इसी प्रकारकी है, इसे सिद्ध करनेके हेतु विस्तृत साधक बाधक विवरण किया हुआ है। हमने जितने भी ग्रन्थ देखे हैं, उनमेंसे श्री चिंतामणरावजीकी 'गीता' के उपसंहार नामका ग्रन्थ है, जिसमें उन्होंने इस विषयका संपूर्ण रूपसे दिग्दर्शन करनेका प्रयत्न किया है। इसी प्रकारका दूसरा ग्रन्थ 'कल्याण' के संस्कृति अंकमें श्री फडकेजीने दो लेखोंमें १– 'पुनर्जन्म' २– 'हिन्दू संस्कृति और परलोक' इस विषयकी पूर्णरूपसे चर्चा की है। सुविधाके लिये हम यहां कल्याणके संस्कृति अंकके हिन्दी लेखोंका ही विचार करेंगे;

क्योंकि इन लेखोंमें श्री फडकेजीने लगभग वे सारे ही प्रश्न ले लिये हैं, जो बहुतांश लोग पूछते हैं और इस प्रकार एक ही स्थानपर एकत्रित पाए जानेवाले सारे ही प्रश्नोंके उत्तर दे देनेसे सारे ही महानुभावोंके प्रश्नोंके उत्तर दे दिये जावेंगे, और प्रत्येकको पृथक् पृथक् उत्तर नहीं देना पडेगा।

यह बात पौर्वात्य तथा पाश्चात्य और इसी प्रकार आर्वाचीन तथा प्राचीन मतप्रणालियोंको मान्य है, कि जीव जड अंश नहीं है, वह चेतन ईश्वरांश है, परन्तु पौर्वात्य आधुनिकोंके पुनर्जन्म विषयक कुछ कथन ऐसे हैं, जिनपर पाश्चात्य शास्त्रीय दृष्टिसे विचार करना आवश्यक है, क्योंकि उनके शास्त्रीय प्रयोगोंसे सिद्ध होकर प्राप्त किये हुए प्रमाण आज उपलब्ध हैं, और वे प्रत्यक्ष प्रमाणके स्वरूपके होनेसे उन्हें महत्त्व प्राप्त है। पुनर्जन्म प्रक्रिया (जैसी आज बताई जाती है) क्यों माननी चाहिये इसके पौर्वात्योंके विचार नीचे दिये हैं; उनकी दृष्टिसे पुनर्जन्म कार्यानुमेय, कुछ घटनाएं ऐसी हैं, जिनका कार्यकारणसंबंध पूर्वजन्म और पुनर्जन्म माने विना समझमें नहीं आता—

१– कोई भी देहात्मा विकलांगोंसे युक्त देहमें, दरिद्रतामें, दुःशील मातापिताके यहां, निकृष्ट जातिमें, परतंत्रतामें स्वेच्छासे जन्म नहीं लेगा।

२– संसारमें अलौकिक कलाकार और प्रतिभावान् विद्वान् व्यवहारशून्य होते हैं, तथा विरक्तोंको लोकसंग्रह नहीं भाता, और शरीरतः बलिष्ट अप्रबुद्ध होते हैं, वैसे ही धनवान् प्रसंगावधान तथा संयमसे रहित रहते हैं।

३– मातापितासे सर्वथा भिन्न भिन्न स्वभावकी संतानोंका उत्पन्न होना।

४– भिन्न भिन्न मनुष्योंके भौतिक ज्ञान और नैतिक भावनामान एक दूसरेसे भिन्न होते हैं।

५– शील सदाचारसंपन्न कुलोंमें दुराचारी, और दुराचारीके कुलमें सदाचारी जीवोंका उत्पन्न होना।

६– मां, बाप और बेटोंके बीच स्वभाव, रुचि, और बुद्धिका अन्तर स्पष्ट दीख पडना।

७– लोकोत्तर प्रतिभावान् कवि, तत्ववेत्ता, शास्त्रज्ञ, कलाकार, साधक, ग्रन्थकार, सत्पुरुष, हीनचरित्र कुलमें उत्पन्न हुए दीख पडते हैं।

८– लोकोत्तर प्रतिभासंपन्न मातापिताके बुद्धिहीन दुराचारी संतान भी देखी जाती है।

९– एक ही मातापितासे उत्पन्न यमज संतान भी एक दूसरेसे स्वभाव शील आदिमें सर्वथा भिन्न होती दिखाई देती हैं।

१०– भिन्न भिन्न व्यक्तियोंकी परिस्थितियां, उनकी आधि व्याधियां, उनके शरीरकी अंग विकलता, उनका सामर्थ्य, उनके भाग्य और ऐश्वर्य इत्यादिका कारण इस जन्ममें नहीं मिलता।

११– ईश्वरके न्याय निष्ठुर होने, और साथ ही दयामय होनेका मेल पुनर्जन्म वादसे ही बैठता है।

१२– हमारी बुद्धि और वासना तथा हमारी आकांक्षाएं और परिस्थिति इस सबके झगडे पुनर्जन्मवाद माने बिना हल नहीं होते।

१३– इस जन्ममें बिना परिश्रम किये धन, ऐश्वर्य, सुखोपभोग प्राप्त हो और इसके विपरीत सारा जीवन सतत उद्योग और सत्कर्ममें लगकर भी यश प्राप्त न हो।

१४– बहुतसे बच्चे बचपनमें ही मर जाते हैं। बहुतसे जंगली लोग अविकसित अवस्थामें ही मरते हैं। अतः इनके विकासके हेतु पुनर्जन्म मानने ही पडते हैं।

१५– कुछ मातापिता और उनकी संतानमें, कुछ सगे भाईयोंमें, कुछ पति पत्नियोंमें पाए जानेवाले विरोधका कारण इस जन्ममें नहीं मिलता।

१६– कुछ व्यक्तियोंको देखते ही उनके लिये चित्तमें प्रेम और आदर उत्पन्न होता है तो कुछको देखते ही चित्त खिंच जाता है, पुनर्जन्म वादसे ही इसका हल हो पाता है।

१७– माता।पिताकी संतानसंबंधी तीव्र इच्छा और जन्म लेनेवाले जीवकी जननेच्छाओंका परस्पर आकर्षण पुनर्जन्मसे ही समझाया जा सकता है ।

१८– पूर्व जन्ममें प्रेम, ऋण, हत्या, वैर इत्यादि प्रकारसे जिनसे जो संबंध आता है पुनर्जन्म उन संबंधोंसे आबद्ध व्यक्तियोंको एक जगह ले आता है ।

१९– भूतलोक तथा भूत, पिशाच, ब्रह्मराक्षस, ब्रह्मसंबंध, वैताल इत्यादि विषयक कल्पना ।

२०– इहलोक, परलोक विषयक प्रश्न, देवलोक, पितृलोक, ब्रह्मलोक, विषयक कल्पना ।

२१– देवयान, पितृयाण इत्यादि मरणोत्तर प्राप्त होनेवाले मार्ग।

२२– बहुतसे सत्प्रवृत्त कार्मियों और भावुक उपासकोंको अपने ध्येयतक पहुंचनेके लिये एक जन्म पर्याप्त नहीं होता ।

२३– ज्ञानवृद्ध, तपोवृद्ध, वयोवृद्ध, कर्तृत्वसंपन्न पुरुष, कलाकार, संशोधक राजनीतिज्ञ आदि महान् व्यक्ति ज्ञानकी वृद्धि होनेपर मरते हैं तब उनके उस ज्ञान और अनुभवका लाभ इहलोक और परलोकमें भी हो इसलिये ईश्वरके इस न्यायमूलक राज्यमें उनका पुनर्जन्म मानना ही पडता है ।

२४– रावण और विभीषण, धृतराष्ट्र और विदुर, राणा प्रताप और अकबर, शिवाजी और संभाजी, पद्मिनी और कृष्णाकुमारी, अहिल्याबाई और लक्ष्मीबाई, स्टॅलिन और हिटलर, गान्धी और जिन्हा इनके यश अपयशका निर्णय एक जन्ममें होनेवाला नहीं है ।

२५– मृत्युकी पहेली पुनर्जन्मवादसे ही समझमें आती है ।

२६– ईश्वरी योजनाके अनुसार क्षेत्रज्ञ जीवात्माकी स्वविषयक विकास दृष्टि ।

२७– जीवात्माके अमरत्वपर जिनका विश्वास है उन्हें जन्ममरण परंपरा अनादि माननी ही पडेगी ।

❀

उपर्युक्त विवरणमें दिये हुए कारणोंमेंसे पहले अठारह विधान ऐसे हैं, जिनकी कार्यकारण परंपरा आधुनिक शास्त्रों द्वारा सुचारु और संतोषप्रद रूपसे, किसी विद्वान्‌को, जो उस विषयके जाननेका प्रयत्न करें, प्राप्त हो सकती है। गणितशास्त्रमें जिस प्रकार प्रत्येक व्यक्तिको ५ और ५ मिलकर दस ही मानना पडता है, चाहे वह किसी देश या विचारप्रणालीका हो, उसी प्रकार आधुनिक जीवशास्त्र (Biology) और वंशशास्त्र (Genetics) के अध्ययनसे उपर्युक्त अठारहों विधानोंके समाधानकारक उत्तर मिल सकते हैं, और इन प्रश्नोंके उत्तर अन्य किसी मार्गसे न मिलनेके कारण इस प्रकारकी विलक्षण और अशास्त्रीय पुनर्जन्म प्रक्रिया मान्य करनी पडी हो, तो स्पष्ट होगा, कि उसकी यत्किंचित् भी आवश्यकता नहीं है। उन्नीसवां विधान जिसमें कि भूतपिशाच आदि योनियोंके विषयकी चर्चा है, एक ऐसा विषय है जिस विषयपर पाश्चात्य तथा पौर्वात्य देशोंमें प्रचुरमात्रामें साहित्य उपलब्ध है।

आज पाश्चात्य शास्त्रज्ञोंकी समझमें यह बात नहीं आती, कि इस विषयकी सारी बातोंकी शास्त्रीय उपपत्ति किस प्रकार लगावें, और यह बात पिछले अध्यायमें दिये हुए जीवशास्त्रके अंग्रेजी उद्धरणोंसे स्पष्ट ही प्रतीत होती है। तिसपर भी हमें विश्वास है, कि यदि वैदिक साहित्य (मंत्र और ब्राह्मण ग्रन्थ) का शास्त्रीय दृष्टिसे निरीक्षण कर उसमेंके सारे ही विषयोंकी शास्त्रीय उपपत्ति ढूंढ निकालनेका कार्य हाथमें लिया गया, तो निश्चित रूपसे भूतपिशाच, वैताल, ब्रह्मसंबंध इत्यादि विषयोंकी शास्त्रीय उपपत्ति लगाना कठिन न होगा। यह कार्य हमारे अकेलेकी शक्तिके बाहरका होनेसे हम इसे राष्ट्रके सुपुर्द करते हैं। क्रमांक २०, २१, २२ में उद्धृत तीन विषयोंका समाधान यद्यपि हमने अपने कर्मविपाक प्रकरणमें पूर्णरूपसे किया है, और इस कारण उस विषयकी पुनरुक्ति यहां पुनश्च करनेकी आवश्यकता नहीं है तथापि उस विषयकी चिकित्सा इस स्थानपर कर देना उचित समझते हैं, क्योंकि कुछ महत्त्वपूर्ण बातें ऐसी होती हैं, जिनकी

पुनरुक्ति करना उपयुक्त ही सिद्ध होता है और ऐसा ही समझकर उनका पुनः सर्वथा संक्षेपमें विश्लेषण करेंगे। इहलोक और परलोक, इन दो शब्दोंके स्पष्टीकरणार्थ हम नीचे औपनिषदिक उद्धरण देते हैं—

१- बृहदा. (४,३,९) तस्य वै एतस्य पुरुषस्य द्वे एव स्थाने भवतः। इदम् च परलोकस्थानं च तृतीयम् स्वप्नस्थानम् सन्ध्यम् (अस्ति)॥

अर्थ— इस पुरुषके दो ही स्थान होते हैं। इहलोक और परलोक तीसरा स्वप्न स्थान अर्थात् सन्ध्य स्थान; ये उपर्युक्त दोनों स्थानोंके संयोगसे तैयार होता है।

२- बृहदा. (३,७,२) हे गौतम ! वायुना सूत्रेण अयम् च लोकः परः लोकः च सर्वाणि भूतानि संबद्धानि वै भवन्ति।

अर्थ— हे गौतम, इस वायुरूप सूत्रसे ही इहलोक और परलोक तथा सारी ही भूत जाति संबद्ध होती है।

३- बृहदा. (४,४,२२) ...... एषः एषाम् लोकानाम् असंभेदाय विधरणः एषः सेतुः अस्ति।

अर्थ— यही सारे लोकोंको संघटित रखनेके लिये धारक बंधारा हो, ऐसा वह आत्मा है।

४- छांदोग्य. (८,४,१) अथ यः आत्मा सः एषाम् लोकानाम् असंभेदाय विधृतिसेतुः।

अर्थ— और ब्रह्मस्वरूप ऐसा यह आत्मा, ये सारे लोक विस्खलित न होने पावें, इसलिये उनका संघटन करनेवाला विधृति संघटक सेतु हैं।

५- प्रश्न. (३,७) अथ एकया (नाड्या) उदानः ऊर्ध्वः (चरति)। पुण्येन पुण्यलोकम् पापेन पापम् (लोकम्) उभाभ्याम् मनुष्यलोकम् एव (नयति)॥

अर्थ—— और वह एक नाडी द्वारा उदान रूपसे उर्ध्वगतिसे संचार करता है। यह उदान जीवको सत्कर्मसे सद्गतिको, दुष्कर्मसे दुर्गतिको, और पापपुण्यमिश्रित कर्मोंसे मनुष्यलोकको ले जाता है। (प्रकरण संदर्भसे यहां उदान प्रत्यक्ष तथा जीवितावस्थामें ही फल देनेवाला होता है, और इस कारण यहां पुण्यलोकका अर्थ तेजस्वी परिस्थिति, पापलोकका अर्थ मलीन या हीन परिस्थिति और मनुष्यलोक अर्थात् मानवी या सामान्य परिस्थिति यही अर्थ लेना उचित है।)

६- बृहदा. (१,५,१७) ये वै के च लोकाः तेषाम् सर्वेषाम् लोकः इति एकता, एतावत् वै इदम् सर्वम् अयम् सन् मा अभुनज त् इति। तस्मात् अनुशिष्टम् पुत्रम् लोक्यम् आहुः ॥

अर्थ— जो कोई भी साध्य करनेयोग्य परिस्थितियां होती हैं, उन सबोंका लोक इस एक ही शब्दमें समावेश होता है। इस लोक शब्दमें ही सारी (विद्या, ब्रह्म, कर्म-यज्ञ) बातोंका एकीकरण या समावेश है और वह सब पुत्ररूपसे ही हैं।

उपर्युक्त विवरणमें छः उद्धरण दिये हैं जो अपने प्रश्नोंके क्रमांक २० के सारे विधानोंका समाधान करनेमें समर्थ हैं। संसारमें दो ही लोक हैं यह जन्म- इहलोक और पुत्रके रूपमें जन्म- परलोक। यही इहलोक और परलोककी व्याख्या प्रत्येक पीढीको एकसी ही लागू होती है। इन दो लोकोंको संघटित रखनेवाला वायुरूप (प्राणरूप) सूत्र ही होता है। प्राणतत्त्वका ही उदान यह स्वरूप होनेके कारण इस जन्ममें या पुत्र जन्ममें अच्छे कर्मोंसे अच्छे फल देता है और बुरे कर्मोंसे बुरे फल। संपूर्ण औपनिषदिक वाङ्मयमें लोक यह शब्द परिस्थितिवाचक शब्द होनेसे मनुष्यलोकका अर्थ है सामान्य परिस्थिति, देवलोकका अर्थ है मनुष्यकी वह अवस्था या परिस्थिति, जिसमें उसके शरीरकी कुछ शक्तियां या इंद्रिय शुद्ध

होकर देवतारूप हुई होती हैं, और ब्रह्मलोक अर्थात् जीवन्मुक्तावस्था या वह परिस्थिति जिसमें उसके शरीरकी सारी शक्तियां पूर्णतया देवतारूप हुई होती हैं और जीवात्मा ब्रह्मरूप हुआ होता है। यही सिद्धावस्था, जीवनमुक्तावस्था, मुक्तावस्था, आत्मौपम्यावस्था या ब्रह्मात्मैक्य दशा है।

यह स्मरण रखनेकी नितांत आवश्यकता है कि, लोक दो ही हैं, इह-लोक और परलोक अर्थात् सद्यःप्राप्त शरीर– यही इहलोक है, और पुत्र-रूपमें प्राप्त होनेवाला शरीर ही– परलोक है, और इन अवस्थाओंमें ही मनुष्यलोक, पितृलोक देवलोक, ब्रह्मलोक इत्यादि प्राप्त होनेवाली परि-स्थितियां हैं। अधिकांश लोगोंका यह विचार है, कि उपर्युक्त विवरणमें बताए हुए भिन्न भिन्न लोक इस भूमंडलसे दूर कहीं भी किसी सितारे, चन्द्र, सूर्य आदिमें जीव जा पहुंचता है, यह केवल भ्रम है। लोक शब्दका अर्थ जो अभी स्पष्ट किया है, वही अर्थात् परिस्थितिवाचक है, और यही अर्थ औपनिषदिक ऋषियोंको अभिप्रेत है।

क्रमांक २१ और २२ में आए हुए प्रश्नोंका उत्तर पंचाग्निविद्या तथा कर्मविपाक प्रकरणमें स्पष्ट किया होनेसे यहां उसे दोहरानेकी आवश्यकता नहीं है, तथापि एक बार पुनश्च स्पष्ट कर देना चाहते हैं, कि उत्तरायणमें जैसे सूर्य दिनपर दिन अधिक प्रखर होता जाता है, तथा अहोरात्र कालमें जैसे वह अधिक अधिक समयतक प्रकाशमान होता रहता है उसी तरह जब जीवात्मा एक व्यक्तिमें, फिर उसके पुत्र, पौत्र, प्रपौत्रमें होता हुआ गुज-रता है तब यदि पीढी दर पीढी प्रगतिके पथपर अर्थात् उन्नतिकी ओर बढता जा रहा हो, तो उसीको उत्तरमार्ग, देवयानमार्ग, शुक्लमार्ग आदि संज्ञाएं दी जाती हैं, और इस प्रगतिपर आक्रमणमें जिस जिस व्यक्तिका जीवन समाप्त होता है, अर्थात् जीवनज्योति पुत्र रूपमें अर्थात् अधिक कर्तृत्ववान् शरीरमें जाकर पुरानी अर्थात् पिताकी जीवनज्योति बुझती है, तो इसी प्रकारका मृत्यु मोक्षदायक है, ऐसा कहा जा सकता है। इसके विपरीत जो होता है, उसे पितृयाण, कृष्ण, दक्षिणमार्ग आदि संज्ञाएं दी

आती हैं। इससे यह स्पष्ट ही है, कि जीवको उच्चतम परिस्थिति प्राप्त करनेमें एक दो पीढियोंसे काम नहीं चलता, अपितु वह शनैः शनैः पीढी दर पीढी दीर्घोद्योगसे ही प्राप्त होनेवाली होती है।

अपने प्रश्नोंमें क्रमांक, २३, २४ में उद्धृत किये हुए विधानोंके विषयमें यह कहना उचित है, कि कोई भी महान् व्यक्ति फिर वह किसी भी क्षेत्रमें हो, एकाएक निर्माण नहीं होती, अपितु उसके निर्माणमें उत्तरोत्तर अर्थात् पीढी दर पीढी प्रगतिपर परंपरा कारणीभूत होती है, अर्थात् उत्पत्तिरूप कर्म कारणीभूत होते हैं और इन अद्वितीय गुणोंको दृश्यरूपमें प्रगट करनेमें इस जन्ममें प्राप्त होनेवाली परिस्थिति अर्थात् आप्तिरूप कर्म भी कारणीभूत होते हैं। उदाहरणार्थ, छत्रपति शिवाजीको ही लीजिये, उसके निर्माणमें भौंसले घरानेकी शौर्य, वीर्य, स्वामिभक्ति, कौशल्य, उदारता इत्यादि उत्तरोत्तर वृद्धिंगत होनेवाले सद्गुणोंकी परंपरा थी, और साथ ही साथ जीजामाता जैसी विदुषीके और दादोजी कोंडदेव जैसे गुरुके प्रशिक्षणके कारण सारे परंपरागत अनुवंशिक गुणोंमें स्वातंत्र्यनिष्ठाकी ज्योति जगा दी गई थी, और ऐसा अद्वितीय राष्ट्रीय पुरुष निर्माण हो पाया था। ये ही सारे अनुवंशिक गुण संभाजीमें भी थे (जो औरंगजेबसे पकडे जानेपर दृगोचर हुए थे) परन्तु इन सद्गुणोंको आप्ति कर्मोंके जोडकी कमी थी, क्योंकि यहां न जीजामाता थीं और न दादोजी कोंडदेव। खैर तात्पर्य यह है, कि ऐसे अद्वितीय पुरुषोंके ज्ञान तथा उनके अनुभवोंका लाभ इहलोकमें स्वतः उन्हींको, और मुख्यतः जिस समाजके वे घटक होते हैं, उस समाजको होता है और परलोकमें पुत्ररूपसे निवास करनेवाले उनके पुत्रपौत्रादिकोंको होता है, जो वास्तवमें उसीके परिणत स्वरूप होते हैं। ऐसे महान् व्यक्तिओंके यश अपयशका निर्णय काल या यों कहिये कि इतिहास ही देता है। इन सारी समस्याओंके हल और किसी विचारसरणीसे नहीं मिल सकते थे इस कारण अशास्त्रीय पुनर्जन्म जैसी भोली कल्पनाकी शरण आनेकी कोई आवश्यकता नहीं मालूम होती।

अब क्रमांक २५ में बताया हुआ विधान जिसका उत्तर पिछले अध्यायमें स्पष्ट कर दिया है, कि मनुष्यकी आयुष्यमें उसे प्राप्त होनेवाली दो प्रक्रियाएं– मृत्यु और पुनर्भव, ये एक दूसरेसे पूर्णतः स्वतंत्र तथा भिन्न हैं, और उन्हें एक दूसरेसे मिलानेकी कोई आवश्यकता नहीं है। मृत्युकी प्रक्रियाको समझनेके लिये पुनर्जन्मके माननेकी कोई आवश्यकता नहीं है। अन्तमें हम आते हैं, क्षेत्रज्ञ आत्माके स्वविषयक विकासकी दृष्टि तथा जीवात्माके अमरत्व प्राप्तिकी उत्कंठाके विषयपर। इस प्रश्नका सविस्तर विवरण पिछले अध्यायमें कई दृष्टिकोणोंसे किया होनेसे उन्हीं दृष्टिकोणोंकी यहां पुनरावृत्ति व्यर्थ है, परन्तु यहां इसी विषयको हम एक नवीन तथा विशाल दृष्टिकोणसे हल करनेका प्रयत्न करेंगे और इस कार्यके करनेमें हम संसारमें उत्पन्न हुए आजके ज्वलंत प्रश्नोंपर भी शास्त्रीय दृष्टिसे कुछ प्रकाश डालेंगे जिससे उनकी आज दिखाई देनेवाली तीव्रता कम हो जाय, तथा उनसे उत्पन्न होनेवाली आजकी आपसकी कटुता कम होकर वे सारे विषय भी शास्त्रीय विषयोंकी कक्षामें आ सकते हैं, इसे स्पष्ट कर फिर संसारका ध्यान इस ओर आकर्षित किया जा सके, ऐसा प्रयत्न करेंगे।

मनुष्यके अन्दर कुछ विचार स्थायी रूपसे रहते हैं और कुछ निश्चित सिद्धांतोंको वह अपने जीवनमें ढाल लेता है, तदनुसार बोलता है तथा जो बोलता है उसीके अनुसार वह कार्य किया करता है, और इस कार्य द्वारा मनुष्यकी उन्नति या अवनति जो कुछ होनी संभव है, हुआ करती है। इस कारण विचार, कथन और आचरणका बहुत अधिक महत्त्व है। जैसे विचार होंगे वैसा ही कथन होगा, और तदनुसार आचरण होगा। आजके इस जगत्‌में व्यक्ति-स्वातंत्र्यवाद, समाजवाद, राष्ट्रीय समाजवाद और साम्यवाद ऐसे अनेक वाद उत्पन्न होकर उसके आंदोलन चल रहे हैं। इन वादोंके अनुयायियोंके अनेक देशोंके गुट बने हुए हैं और प्रत्येक गुट अपने सिद्धांतोंके प्रचारके लिये बडी बडी दलबंदियां करके तथा बडे भयानक और घोर संहारक युद्ध कर दूसरे पक्षको संपूर्णतया नष्ट करनेमें लगे हुए हैं।

ऐसे घोर समयमें हमारे वैदिक ऋषियोंने इन्हीं प्रश्नोंको शास्त्रीय दृष्टिसे किस प्रकार हल किया था, और वैदिक सिद्धांतोंको वैयक्तिक, सामाजिक और राष्ट्रीय व्यवहारमें वे कैसे लाते रहे उसी तरह आध्यात्मिक सिद्धांतपर आधारित वैयक्तिक जीवन, और उसका सामाजिक तथा राष्ट्रीय जीवनसे किस प्रकारका संबंध होना उचित है, इस प्रश्नके सुलझानेका प्रयत्न करेंगे। इस प्रकारके जटिल प्रश्नोंका हल ढूंढनेका प्रयत्न करनेमें हम सर्वप्रथम यह स्पष्ट करेंगे कि प्रत्येक वादके मूलभूत सिद्धांत क्या हैं।

व्यक्ति-स्वातंत्र्यवाद—

इसके अनुयायियोंका कहना है, कि व्यक्तियोंका समाज तथा राष्ट्र बनता है। प्रत्येक व्यक्ति उन्नत हुआ तो, समाज और सब राष्ट्र उन्नत होता है। इसलिये अपनी उन्नतिको साध्य करनेके लिये प्रत्येक व्यक्तिको पूर्ण स्वातंत्र्य मिलना चाहिये। मनुष्यको स्वतंत्रता न रही तो व्यक्तिकी यह शक्ति पूर्ण विकसित नहीं हो पाती, और इसलिये प्रत्येक व्यक्तिको अपने विकासके हेतु स्वातंत्र्य मिलना नितांत आवश्यक है।

समाजवाद—

समाजवादी कहते हैं, कि जिस समय व्यक्तिकी ज्ञान और कर्म शक्ति बढ जाती है, उस समय उसके पास धन आदिका संचय बढ जाता है, और इस प्रकार वह पूंजीपति बनकर धनका संचय अधिकाधिक करने लगता है। धनके बलसे वह अनेक उपभोगके साधन अपने अधिकारमें लेकर दूसरोंको उनसे वंचित रखता है, और इस कारण वर्गकलह निर्माण होता है। इस प्रकार व्यक्तिको स्वतंत्रता मिलनेसे संघ-शक्ति नष्ट हो जाती है। व्यक्ति कितना भी समर्थ हुआ तो भी वह समाजके सांघिक बलकी बराबरी नहीं कर सकता और इस कारण व्यक्तिको बहुत स्वातंत्र्य देना सर्वथा अयोग्य है। तात्पर्य समाजवादी पक्षका यह मत है, कि समाजका हितसाधन करनेके लिये व्यक्तिपर नियमन करना अत्यंत आवश्यक है। समाज ही मुख्य वस्तु है। समाज सुखी हुआ तो व्यक्तिको सुख उसीमें हो

जाता है। समाजवादसे सांघिक बल बढता है, और समाजका सुख सामुदायिक योजनाओंसे बहुत बढाया जा सकता है। इसलिये समाजवादी पद्धतिसे ही राज्यशासन होना चाहिये। राष्ट्रीय समाजवादके तत्त्व भी ये ही हैं, केवल वे समाजके स्थानपर ये लोग राष्ट्र शब्दको रख, ये ही सारी बातें कहते हैं।

साम्यवादका स्वरूप—

साम्यवादका मुख्य तत्त्व सबकी समता व्यवहारमें लाना है। विषमताके कारण मानवताका विकास नहीं हो रहा है, और इसलिये जहांतक हो सके वहांतक सब मानवोंकी समता व्यवहारमें स्थापन करनी चाहिये। प्रत्येक मनुष्यको रहनेके लिये अच्छा स्थान, भोजनके लिये पुष्टिकारक अन्न, पहनने और ओढनेके लिये ऋतुके अनुसार योग्य वस्त्र, ज्ञान प्राप्त करनेके लिये योग्य शिक्षण आदिकी व्यवस्था होनी ही चाहिये। इस विचारधारामें व्यक्तिके लिये पृथक् सत्ता नहीं है। व्यक्ति यह एक राष्ट्रका अवयव है। यह राष्ट्रके लिये जीवित रहता है, और इस कारण इसको राष्ट्रके कार्य अनिवार्यरूपसे करने ही चाहिये। कोई भी व्यक्ति पूर्णरूपसे स्वतंत्र नहीं है। राष्ट्रहित करनेके कार्य उत्तम रीतिसे निभानेके लिये व्यक्ति पूर्णतया परतंत्र है।

उपर्युक्त विवरणमें हमने आजकी सारी प्रमुख तथा विद्यमान पक्षोंके मतोंका विश्लेषण किया है। प्रत्येक मतके मतानुयायियोंके आग्रहके कारण इनमें आपसमें बडे वैमनस्य फैल रहे हैं, और जगत्में एक दूसरेका पूर्ण नाश करनेके लिये प्रत्येक पूर्णरूपसे कटिबद्ध दिखाई देता है। उपर्युक्त तीनों विचारधाराओंके सूक्ष्म निरीक्षणसे एक बात स्पष्ट प्रतीत होती है कि इन तीनों विचारधाराओंके अनुयायियोंका ध्येय या उनका लक्ष एक ही बातपर है कि 'मानवको सुखी बनाना'। उनमें आपसमें विरोध दिखाई देता है, वह वास्तवमें उनके साधनोंमें है, जिनके द्वारा वे अपना ध्येय प्राप्त करना चाहते हैं।

वेदकालीन ' आर्य राष्ट्र ' की तेजस्विताका प्रकाश और प्रशंसा संसारके सभी विद्वान् एक स्वरसे सदैव करते आए हैं। वेद, उपनिषद्, गीताकी प्रशंसा नहीं करें ऐसा उदाहरण नहीं मिलेगा। भारतीय ऋषिमुनियोंने बहुतसी तपस्या, ध्यानधारणा आदिसे अनेक अनुभव प्राप्त करके अध्यात्मशास्त्रके सिद्धांतोंका निर्धारण किया है, और स्पष्ट कहा है, कि ये सिद्धांत त्रिकालाबाधित हैं, अर्थात् तीनों कालोंमें (भूत, भविष्य और वर्तमान) टिकनेवाले हैं। अतएव इसी अध्यात्मशास्त्रकी नींवपर उन्होंने वैयक्तिक एवं सामाजिक तथा राष्ट्रीय जीवनकी इमारत खडी की है, और यही आर्योंके वैयक्तिक एवं सामुदायिक जीवनकी विशेषता है। इतने श्रेष्ठ तत्त्वज्ञानके अधिकारी, तथा उसकी बडी सावधानीके साथ रक्षा करनेवाले हम इतनी अवनतावस्थामें क्यों हैं? आज हमारा ध्यान ही इस विशेषताकी ओर नहीं है, अपितु आज तो हमारा जीवन अध्यात्मशास्त्रकी इस उच्च भूमिकासे बहुत नीचेतक पतन हो चुका है। पतनकी यह स्थिति लगभग २००० वर्षोंसे निरन्तर चली आ रही है। विगत हजार डेढ हजार वर्षोंमें तो बाहरके आक्रमण यहां बराबर होते रहे हैं। ये लोग आएं, हमारी कतल करें, लूटपाट करें और हमें सुखसे न रहने दें। बीच बीचमें अनेक महापुरुषोंने इसे रोकनेका प्रयत्न किया और इसके फलस्वरूप यह पतन कुछ रुक भी गया किन्तु पुनः वह उतने ही वेगसे फिर आरंभ होता रहा हैं। ऐसा क्यों हुआ इस प्रश्नपर विचार करनेका प्रयत्न इन सारे अध्यायोंद्वारा किया गया है। हमें स्वाधीनता मिली है, इस स्वराज्यका उपयोग हमें सुराज्य बनाकर करना है, और भारतीय सभ्यताके उद्यानको नन्दनवन बनाकर विश्वको यह दिखाना है, कि भारतीय सभ्यता इतनी ऊंची है, कि उसीसे सच्ची शांति विश्वको प्राप्त हो सकेगी।

वास्तविक परिस्थिति यह है कि जैसा हम बता चुके हैं। तत्त्वज्ञानका अस्तित्व मनुष्यको आचरणमें उतारनेके लिये ही है। तत्त्वज्ञान केवल वाद्-विवादका विषय नहीं है। वह मनुष्यके आचरणमें उतरकर मनुष्यका

निर्माण तदनुरूप होना चाहिये, अर्थात् मनुष्यका आचरण पवित्र एवं शुद्ध होना चाहिये, या यों कहिये, कि नरको नारायण होना चाहिये। आजके अपनेको पढे लिखे कहलानेवाले लोगोंकी यह धारणा हो सकती है, कि ५००० वर्ष पूर्वके कालमें जब मानव अत्यंत ही पिछडी हुई अवस्थामें था, तो उसके सामने आजके जैसे महत्त्वपूर्ण सामाजिक प्रश्न कहां और कैसे निर्माण हो सकते थे, और जब प्रश्न ही न हों, तब वैदिक ऋषि उन्हें हल ही क्योंकर कर सकते थे। परंतु यदि थोडासा विचार कर देखें, तो सत्य परिस्थिति स्पष्ट हो सकती है। "वेद" शब्दका अर्थ है पूर्ण ज्ञान और इस कारण भूत, भविष्य, वर्तमान कालकी ऐसी कोई भी समस्या नहीं हो सकती, जिसे हमारे वैदिक ऋषियोंने न अनुभव किया हो और जिसका उचित तथा सशास्त्र उत्तर देकर उसे न सुलझाया हो। यहांपर हम ईशोपनिषद्के तीन मंत्र देकर यही सिद्ध करेंगे कि आजके ज्वलंत सामाजिक प्रश्न उस कालमें भी वैदिक ऋषियोंके सामने थे—

ईश. १२- ये असंभूतिम् उपासते (ते) अन्धम् तमः प्रविशन्ति
ये उ संभूत्याम् रताः ते ततः भूयः इव तमः
(प्रविशन्ति)॥

अर्थ- जो असंभूतिकी अर्थात् व्यक्तिधर्मकी उपासना करते हैं, वे गाढ अन्धकारमें पडते हैं, अर्थात् उनका अधःपतन होता है, और जो (व्यक्तिधर्मकी उपेक्षा कर) केवल संभूतिकी ही (समाज धर्मकी) उपासना करते हैं, वे उनसे भी अधिक अंधकारमें गिरते हैं अर्थात् उनका अधिक ही नाश होता है।

ईश. १३- संभवात् अन्यत् एव आहुः, असंभवात् अन्यत् आहुः
इति ये नः तत् विचचक्षिरे (तेषां) धीराणाम् शुश्रुम।

अर्थ- संभूतिसे अलग ही (फल मिलता है) ऐसा कहते हैं, और असंभूतिसे अलग ही (फल मिलता है) ऐसा कहते हैं, और इस प्रकार हमें जिन्होंने स्पष्ट विश्लेषण कर बताया

(समझाया) है उन विद्वान् आचार्योंसे हमने सब सुना है ।

ईश. १४- यः संभूतिम् च विनाशम् च तत् उभयम् सह वेद (सः) विनाशेन मृत्युम् तीर्त्वा संभूत्या अमृतम् अश्नुते ॥

अर्थ- जो व्यक्तिधर्म और समाजधर्म इन दोनोंको ठीक ठीक जानता है, अर्थात् जो इन दोनोंको ही संपूर्ण रूपसे जानता है, वह व्यक्तिधर्मसे संकटोंको पार कर लेता है, और समाजधर्मसे अमृतत्व अर्थात् मोक्ष प्राप्त कर लेता है ।

उपर्युक्त उद्धरणोंमें उसी दूसरे प्रश्नके उत्तरका उल्लेख है, जिस प्रश्नको हल करनेमें हमारे आजके बीसवीं शताब्दिके पाश्चात्य शास्त्रज्ञ असमर्थ हैं । उन्हीं समस्याओंपर हमारे औपनिषदिक ऋषियोंको उनसे भी पूर्वकालीन ऋषियोंसे इसी समस्त विषयका संपूर्ण ज्ञान प्राप्त हुआ था, यही उपर्युक्त मंत्रोंसे स्पष्ट प्रतीत होता है । यद्यपि पाश्चात्य राष्ट्रोंके शास्त्रज्ञ हमारे यहां पाए जानेवाले शास्त्रीय तत्त्वज्ञानको उपेक्षाकी दृष्टिसे देखें, तो कोई आश्चर्यकी बात नहीं है परन्तु दुःख तो इस बातका है, कि हम भी अपने पूर्वजों द्वारा प्राप्त ज्ञानभंडारकी उपेक्षा कर पाश्चात्योंका केवल अन्धानुकरण तथा अपने यहां भी उन्हींके जैसी राष्ट्रको कमजोर बनानेवाली समस्याएं निर्माण कर, समाजकी व्यर्थ दिशाभूल कर रहे हैं ।

यहांपर हम पुनः स्पष्ट रूपसे दुहराना उचित समझते हैं, कि आजके पाश्चात्य शास्त्रज्ञोंको जिन दो प्रश्नोंका हल मालूम करना दुश्वार हो रहा है, और जिस कारण वे मानवकी आगेकी उन्नतिका मार्ग निर्धारित करनेमें असमर्थ हैं, उनमेंका पहला प्रश्न है Life's progress in this world and the purpose directed to a future life, अर्थात् इहलोक और परलोक, या ऐहिक और पारलौकिक संबंधोंकी समस्या । हमारे वैदिक ऋषियोंने इस प्रश्नको शास्त्रीय रीतिसे सुलझाकर मनुष्यका वैयक्तिक जीवन

किस प्रकार सफलतापूर्वक व्यतीत किया जा सकता है, कि वह इहलोक और परलोक दोनों दृष्टिसे उपयुक्त सिद्ध हो, यह बात स्पष्टरूपसे निर्धारित कर दी थी। आज २००० वर्षोंसे इस समस्याका उचित उत्तर न पाए जानेके कारण ही संसारमें अनेक धर्मपंथ निर्माण हुए हैं, और उनमें अपनी अपनी अशास्त्रीय तत्त्वप्रणालीका प्रतिपादन करनेके कारण एक दूसरेमें भयानक संघर्ष चालू है।

दूसरा प्रश्न, जो आजके पाश्चात्य शास्त्रज्ञ छुडा नहीं पाए हैं, वह यह है, Individual intrinsic capacity and that of his subordinatian to community अर्थात् व्यक्तिवाद, समाजवाद, साम्यवाद, इत्यादि। इस प्रश्नको भी हमारे वैदिक ऋषियोंने शास्त्रीय दृष्टिसे पूर्णरूपसे सुलझाकर आदर्श समाजव्यवस्था वैदिककालमें प्रस्थापित की हुई थी। पर यह ज्ञान आज २००० वर्षोंसे लुप्त होनेके कारण तथा आजके शास्त्रीय युगमें भी इस समस्याका हल न मिलनेके कारण स्वरूप ही विविध राजकीय पक्षोंका, व्यक्तिवाद, समाजवाद, राष्ट्रीय समाजवाद, साम्यवाद इत्यादि निर्माण होकर उनमें भी नितांत रूपसे आपसमें भयंकर संघर्ष चालू है जो आज हमें भिन्न भिन्न रूपसे संसारमें दिखाई दे रहे हैं।

इन दो प्रश्नोंमेंसे पहले प्रश्नका ऋषिप्रणीत उत्तर हमने पुनर्जन्मके पिछले अध्यायमें पूर्णरूपसे स्पष्ट करनेका प्रयत्न किया है, और यह महत्त्वपूर्ण बात है कि उस उत्तरमेंके शास्त्रीय विधानोंका पूर्ण समर्थन आधुनिक शास्त्रोंद्वारा किये गए अनुसंधानात्मक प्रयोगोंद्वारा प्राप्त होता है। अब इस अध्यायमें हम वैदिक ऋषियोंने दूसरे जटिल प्रश्नको कैसे हल किया है, उसपर प्रकाश डालनेका प्रयत्न करेंगे और इस उत्तरसे वे सारे ही प्रश्नोंका उत्तर प्राप्त हो जावेगा, जिन्हें हमने उपर्युक्त विवरणमें जगह जगह निर्दिष्ट किया हुआ है। विषयकी जटिलताके कारण यह उचित होगा, कि हम इस विषयका आमूलाग्र विश्लेषण करें। यद्यपि हम जानते हैं, कि स्थान संकोचके कारण यह कार्य हमें संक्षेपमें ही करना पडेगा।

मनुष्य इस पृथ्वीपर जन्म लेता है, उसका विशेष हेतु है। वह हेतु यह है कि उसके अन्दरकी अपूर्णता दूर होकर वह पूर्णरूपसे विकसित हो जाय। पूर्ण विकासका अर्थ है, पुरुषोंमें उत्तम पुरुष बनना अथवा पुरुषोत्तम बनना। मनुष्यको इस उन्नतिमें सहायता देनेके लिये वैदिक ज्ञान या वेदांतशास्त्र सिद्ध है। इस जीवकी पूर्णताकी अवस्थाको ही ब्राह्मी स्थिति कहते हैं, और इस अवस्थाको प्राप्त करनेका प्रत्येक मनुष्यको अधिकार है। आत्मा जीव है। आत्मा शब्दका अर्थ (अतति) अर्थात् सतत प्रयत्न करनेवाला है। " अत् सातत्यगमने " इस धातुसे ' आत्मा ' पद सिद्ध होता है। सतत गमन, सतत प्रगति, सतत प्रयत्न करनेवाला जो है, वह आत्मा है। अपनी परिपूर्ण उन्नति होनेतक प्रमाद न करते हुए सतत प्रयत्न करनेका गुण इस आत्मामें है।

ईशोपनिषद् (२) " **इह कर्माणि कुर्वन् एव शतं समाः जिजिविषेत्** "। अर्थात् इस जगत्में कर्म करते रहकर ही सौ वर्ष जीवित रहनेकी इच्छा करनी चाहिये। इस मंत्रमें आए हुए " जिजीविषा " शब्दका अर्थ है जीवित रहनेकी इच्छा, और यह इच्छा प्राणिमात्रमें एकसी ही पाई जाती है, तथा यह इच्छा निसर्गसिद्ध रहते हुए भर्म्य है, और वेदांतको भी यह बात मान्य है, क्योंकि वेदांतशास्त्रके नियम पिंड ब्रह्मांडके स्वभावानुसार ही रहते हैं। जिजीविषा जीवित शरीरका एक स्वभावसिद्ध धर्म है, और इस जिजीविषाको नष्ट करनेका प्रयत्न करना या उसे मार डालना, शास्त्रोंने भी गर्हणीय ही ठहराया है। निसर्ग नियमानुसार जीवित रहनेकी इच्छा करना यह मनुष्य स्वभाव है, और इस प्रकारकी इच्छा मनुष्य यावज्जीव करेहीगा।

इस बातको ध्यानमें लेकर ही वैदिक ऋषियोंने इस जीनेकी इच्छाके साथ एक और महत्त्वपूर्ण शास्त्रीय नियम जोड दिया है। जिस प्रकार जीवित रहनेकी इच्छाका त्याग नहीं कर सकते, और करना योग्य भी नहीं है, उसी प्रकार इस शास्त्रीय नियमका भी किसीने उल्लंघन करना नहीं

चाहिये ऐसा ऋषिका अभिप्राय है । वह नियम यह है कि मनुष्यको कर्म करते रहते ही जीवित रहनेकी इच्छा करना चाहिये । अर्थात् जिजीविषा जैसी अटल और अपरित्याज्य है, वैसे ही कर्तव्य कर्म करते रहना भी अटल और अपरित्याज्य समझना चाहिये । इस प्रकार कर्म करते हुए ही " शतं समाः " सौ वर्ष जीवित रहनेकी इच्छा करना चाहिये, यह बात इस मंत्रमें स्पष्ट रूपमें बताई हुई है, और इससे ऋषिका अभिप्राय स्पष्ट प्रतीत होता है, कि संपूर्ण सौ वर्षोंका आयुष्यक्रम कर्तव्यकर्मोंके आचरणमें ही व्यतीत होना चाहिये । मंत्रकी दूसरी पंक्तिमें इस प्रकारके जीवनक्रमकी फलश्रुति बता दी है, कि यदि मनुष्यने अपना संपूर्ण सौ वर्षका जीवनक्रम ज्ञानपूर्वक अपने कर्तव्य कर्मोंसे निगडित किया तो मनुष्यको वह कर्म बंधनकारक तो होता ही नहीं वरंच वह मोक्षदायक ही रहता है ।

इस स्थानपर हम फिर याद दिलाना चाहते हैं कि आर्योंके जीवनकी आध्यात्मिकता उनके संपूर्ण जीवनमें ओतप्रोत भरी हुई थी । उपर्युक्त वर्णनमें बताए हुए सौ वर्ष कर्म करते हुए जीवित रहनेकी इच्छा करनेवाला मनुष्य क्या चीज है, इस विषयके हमारे वैदिक ऋषियोंके सिद्धांत क्या थे और हैं, तथा वे कितने शास्त्रशुद्ध थे, और हैं, इसे अब देखेंगे । परंतु इसके पहले हम पाश्चात्य शास्त्रज्ञोंके इसी संबंधके कुछ विचार यहां पढके देना उपयुक्त समझते हैं, जिनसे यह स्पष्ट होगा कि आजकी उपलब्ध साधन सामग्रीके रहते हुए हमारे २० वीं सदीके पाश्चात्य शास्त्रज्ञ जिन बातोंके जाननेमें अपनी असमर्थता स्वयं स्वीकार करते हैं, उन्हीं प्रमुख बातोंको शास्त्रीय पद्धतिसे हमारे ऋषिमुनियोंने कैसे युक्तिसे ढूंढ निकाला है ।

" In this account of the Science of Life We have studied life objectively using that word as has been used since the days of Kant .... The contrast and the relations between the world of feeling within, the sub-

jective world, and the world of exterior reality the objective world can no longer be disregarded. They must now be discussed. They have to be discussed, they have to be stated, but let us say clearly they cannot be explained. The duality of all our individual universes, the contrast of subjective and objective is an enexplicable duality, so perhaps it will always remain. "

हमारे वैदिक शास्त्रज्ञोंकी जो विशेषता है, सो इसीमें है, कि उन्होंने इसी "सब्जेक्टिव्ह " और " ऑब्जेक्टिव्ह " द्वन्द्वको संपूर्णतया हल कर "जो पिंडी सो ब्रह्मांडी " अर्थात् जो ब्रह्मांडमें है, अर्थात् जो ऑब्जेक्टिव्ह वर्ल्डमें एक्स्टीरियर रियालिटी है, वही चीज पिंडमें अर्थात् सब्जेक्टिव्ह वर्ल्डमें भी है, इस तत्त्वका संशोधन कर उसे पूर्णरूपसे सिद्ध किया हुआ है। अब हम फिर अपने उस विषयका परामर्श लेंगे, जिसका हमने इस टप्पेके शुरूमें उल्लेख किया था, कि सौ वर्षतक कर्म करते हुए जीवित रहनेकी इच्छा करनेवाला मनुष्य तथा उसका शरीर क्या वस्तु है।

वैदिक तत्त्वज्ञान मनुष्यको " अहं ब्रह्मास्मि " अर्थात् मैं एक महान् शक्ति हूं, मैं सर्व श्रेष्ठ हूं या मैं उत्तम पुरुष या पुरूषोत्तम हूं, इस श्रेणीतक ऊंचे ले जानेका दावा करता है। इसी तरह " अहं इन्द्रो न परा जिग्य इद्धनं न मृत्यवे अवतस्थे कदाचन "॥ मैं इन्द्र हूं या मैं पुरुषोत्तम हूं, मैं ब्रह्म हूं- मैंके ये वाक्य एक ही आशय व्यक्त करते हैं और वह यह है, कि मैं सर्वशक्तिमान् हूं, और मेरा धन मुझे पराजित करके कोई भी छीन नहीं सकता। मैं कभी भी मृत्युको प्राप्त नहीं होऊंगा। इस मंत्रमें अहं इंद्रः के आगेके सर्व भाग " मैं इंद्र हूं " का स्पष्टीकरण करनेके लिये ही है, यह स्पष्ट है।

इन दोनों उद्धरणोंमें आए हुए " मैं " द्वारा जिसका निर्देश किया जाता है, और जिसे आजके पाश्चात्य शास्त्रज्ञोंकी भाषामें Freud का ' Id ', Ego, ' Super-ego, या Jung का Persona और

Anima है उसमेंका स्वरूप स्पष्ट करना ही आध्यात्म शास्त्रका विषय है। "अहं इंद्रः" मैं इंद्र हूं। इंद्र अर्थात् (इन्) शत्रुका (द्र) विदारण करनेवाला हूं। इस मैंमें एक बडी शक्ति विद्यमान है, वह क्या है उसीको हमें देखना है। मैं इंद्र हूं इसका ही पता लोगोंको नहीं है, और इसीको हमें सर्वप्रथम सिद्ध करना है। सब जानते हैं कि इस शरीरमें पांच ज्ञानेंद्रिय, पांच कर्मेन्द्रिय एवं कुछ अंतरिन्द्रिय है। "इंद्रिय" शब्दका अर्थ है इन्द्रकी शक्ति अर्थात् ये सारी इंद्रियां "इन्द्र" की शक्तियां हैं। तो यदि शरीरमें इंद्रियां हैं तो इन्द्र भी उसी शरीरमें कहीं न कहीं होना ही चाहिये, क्योंकि इंद्रियोंका यह नामकरण इंद्रकी शक्ति होनेके कारण ही किया गया है।

इससे यह सिद्ध होता है, कि देहका स्वामी जो 'मैं' वही इन्द्र है, और उसीकी शक्ति सारे इन्द्रियोंमें फैली हुई है। इस प्रतिपादनसे यह स्पष्ट है, कि इन्द्र इसी शरीरमें निवास करता है, और जहां वह निवास करता है, वहीं स्वर्ग है, वही अमरावती है, और स्वर्गका जो नन्दन वन है, वह भी यहीं है। इसी अमरावतीमें देवताओंकी सभा भरती है, और उन सबका अध्यक्ष ही इन्द्र है। पिछले अध्यायोंमें और विशेषकर देवता बुद्धिके अध्यायमें हम यह स्पष्ट कर चुके हैं, कि देवता-अर्थात् चैतन्ययुक्त शक्ति-क्या हैं, और वे इस मनुष्यके शरीरमें किस किस स्थानपर स्थित हैं—

"अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्, वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत्, सूर्यः चक्षुर्भूत्वा अक्षिणी प्राविशत्, आपः रेतो भूत्वा शिश्नं प्राविशन्...... ॥

अर्थ- अग्नि वाग्रूपसे मुखमें प्रविष्ट हुआ, वायु प्राण बनकर नासिका द्वारा हृदयमें प्रविष्ट हुआ, सूर्य नेत्र बनकर आंखोंमें प्रविष्ट हुआ, जल वीर्य बनकर शिश्न इंद्रियमें प्रविष्ट हुआ आदि (ऐतरेय १,२,४) यहां पर हम इतना ही बता देना पर्याप्त समझते हैं, कि इस प्रकारकी मुख्य ३२ शक्तियां-

देवता- 'जो ब्रह्मांडमें कार्य कर सृष्टिचक्र चलाती हैं' वे ही मनुष्यके शरीरमें भिन्न भिन्न स्थानोंमें स्थापन होकर पिंड अर्थात् मनुष्यके शरीरको कार्यक्षम करती रहती हैं, और इस प्रकार मनुष्यका शरीर एक देवताओंका मंदिर ही है। जबतक हमारे यहां इस शरीरको ही देवमंदिर माना जाता था, और जबतक बाहरके विश्वव्यापक देवोंका एवं अपने शरीर स्थित शक्तियोंका संबंध हमारे ऋषिमुनियोंको मालूम था, तबतक इन दिव्य शक्तियोंकी अभिवृद्धि करनेके अनुष्ठान लोक किया करते थे, किन्तु बादमें जब यह ज्ञान लुप्त हुआ तब विपरीत भावनाओंने घर कर शारीरिक एवं अंतःकरणसंबंधी शक्तियोंको बढानेके योगसाधनों तथा अन्य मार्गोंसे किये जानेवाले अनुष्ठान स्वयंमेव बंद होगए और इस शरीर विषयक सदैव निन्दात्मक या घृणात्मक भाषण करनेमें ही हमारे धार्मिक तथा सामाजिक नेता अपना भूषण मानने लगे। खैर इस प्रकारके विषयोंकी चर्चा अबतक जगह जगह काफी हो चुकी है इस कारण अपना समय व्यर्थ नष्ट न कर अपने विषयकी ओर फिर मुडेंगे।

वैदिक ऋषिगण इस शरीरको अमरावती, स्वर्ग, सर्व देवताओंका आगमन होकर इसमें बसनेका स्थान अर्थात् देवगृह मानते थे, इसी तरह वे इस शरीरको सप्त ऋषियोंका आश्रम भी समझते थे—

सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादम्।
सप्तापः स्वपतो लोकमीयुः तत्र जाग्रतो अस्वप्नजौ सत्र-
सदौ च देवौ ॥

अर्थ- "सप्त ऋषि प्रत्येक शरीरमें हैं। ये सात ऋषि प्रमाद न कर इस यज्ञशालाका रक्षण किया करते हैं। यहां पर सात नदियां भी हैं। जो सोते समय सोनेवालेके स्थानकी ओर बहा करती हैं और जागते समय बाहरकी ओर बहा करती हैं। यहां दो देव जागृत रहकर इस आश्रमका रक्षण करते रहते हैं"। यहां शरीरको सप्त ऋषियोंका आश्रम बताया गया है। ऋषि लोग ज्ञान लिया और दिया करते हैं। मनुष्यके मस्तकमें

दो आंखें, दो कान, दो नासापुट और एक मुख यही सात ऋषि हैं जो ज्ञान लिया और दिया करते हैं। इसी कारण शरीरको ऋषियोंका आश्रम कहा गया है, जहां ज्ञानधारा बाहरसे अंदर और अंदरसे बाहर बहती रहती हैं। यहां इस आश्रममें इंन्द्रियसंयम, मनोनिग्रह और तप करना है। यहां श्वास और उच्छ्वास ये दो देव शरीरकी रक्षा करनेवाले दो पहरेदार हैं जो ऋषियों और देवताओं द्वारा शरीरमें किये जानेवाले यज्ञ निर्विघ्नतापूर्वक पूर्ण हो इसलिये सतत जागृत पहरा देते रहते हैं। ऋषि आश्रमकी यह कल्पना कितनी उत्तम, पवित्र तथा आनंददायिनी है। एक और वैदिक कल्पना देखिये जिसमें द्वारका एवं अयोध्याके नामोंसे शरीरका वर्णन किया हुआ है—

"अष्टा चक्रा नवद्वारा देवानां पूः अयोध्या।" आठ चक्र और नव द्वारवाली यह देवोंकी नगरी अयोध्या है। यह नगरी नौ द्वारवाली होनेके कारण द्वारावती अर्थात् द्वारका है, और इसका पराभव कभी भी नहीं होता इसलिये वह अयोध्या है। उपर्युक्त कथनका एकमात्र अभिप्राय यह है कि मनुष्यका समस्त जीवन यज्ञमय हो। यह शरीर ही कुरुक्षेत्र है। इस स्थानपर यज्ञ करनेके लिये समस्त देव आकर बसते हैं, और शत सांवत्सरिक (शतं समाः) अर्थात् सौ वर्षोंतक यज्ञ करते हैं। यही 'शतं समा जिजीविषेत्' ऐसी वेदकी आज्ञा है। यह इच्छा मनुष्यको कब हो सकती है, जब वह पूर्ण तरुण होता है, विद्यास्नातक होता है, भले बुरेका उसको ज्ञान होता है। उसी समय वह अपनी स्वतंत्र प्रतिभासे इच्छा कर सकता है। यह विद्यास्नातक होनेका समय २४ वें वर्ष आता है। बालपनके आठ वर्ष और विद्याध्ययनके १६ वर्ष मिलकर २४ वर्ष होते हैं और इस तरह मनुष्यकी साधारणतः आयु १२४ वर्षकी वैदिक ऋषियोंने मानकर इसे बालपन छोडकर तीन भागोंमें बांट दी है, और इन्हीं तीन भागोंको धर्मस्कंध यह संज्ञा दी है।

छांदोग्य (२,२३,१) में स्पष्ट कहा है कि धर्मस्कन्ध तीन हैं। यज्ञ (उपासना) अध्ययन और दान (परोपकार) यह पहला भाग।

तपश्चर्या यह दूसरा भाग और गुरुगृहमें (समावर्तन-संस्कारतक) रहकर ब्रह्मचारी किंवा यावज्जीव गुरुगृहमें रह सेवा करनेवाला (नैष्ठिक) ब्रह्मचारी यह तीसरा भाग। इसमें यज्ञ अध्ययन और दान इन गृहस्थाश्रमके कार्योंको प्राधान्य देकर उसे पहला भाग कहा है। तपश्चर्याको दूसरा स्कंध कहा है जो वानप्रस्थाश्रमका वाचक है, और इन्हीं वानप्रस्थाश्रमी लोगोंको ऋषि यह संज्ञा दी जाती थी। ब्रह्मचर्याश्रमको तीसरा स्कंध कहकर इसीमें नैष्टिक ब्रह्मचारी भी समाविष्ट है। इस प्रकार आयुष्यके तीन विभाग कर आगे छांदोग्य (३,१६,१) में—

पुरुषः वाव यज्ञः। तस्य यानि चतुर्विंशति वर्षाणि
तत् प्रातःसवनम्। चतुर्विंशत्यक्षरा गायत्री।
गायत्रम् प्रातःसवनम् तत् अस्य वसवः अन्वायताः।
प्राणा वाव वसवः। हि एते इदं सर्वम् वासयन्ति॥

अर्थः- "पुरुष यही यज्ञ है, उसकी जो पहले चौबीस वर्षकी आयु वही उस पुरुषयज्ञका प्रातःसवन है। गायत्री मंत्र २४ अक्षरोंका है। गायत्री छंद यज्ञके प्रातःसवनमें होता है। उस प्रातःसवनसे वसुदेवता संबद्ध रहते हैं। प्राणशक्ति ही वसुदेवता है क्योंकि प्राण ही सारे शरीरको स्थिर या कायम रखते हैं, अर्थात् शारीरिक जीवनको कारणीभूत होते हैं"। वैदिककालमें आयुष्यके २४ वर्षतक ब्रह्मचर्याश्रम पालन किया जाता था। ब्रह्मचर्याश्रमको यज्ञके प्रातःसवनकी संज्ञा देकर वसुदेवताओंसे (अग्नि, वायु, पृथ्वी, अन्तरिक्ष, आदित्य, द्युलोक, चंद्र व नक्षत्र) उसका संबंध जोडा हुआ है। वसु शब्दका अर्थ है आधारभूत होना, संचय करना आदि, जिस कारण यह विश्व इन अष्ट वसुओंपर ही आधारित है उसी अभिप्रायसे श्रुतिने मनुष्यके आयुष्यके पहले २४ वर्षके विभागको अर्थपूर्ण संज्ञा प्रदान की है। ब्रह्मचर्याश्रमके साधनोंसे शरीर, मन व बुद्धि इनका पूर्ण विकास करना ही इन २४ वर्षोंके विभागका मूल या मुख्य उद्देश्य है और यह उद्देश्य वसुरूपी प्राणतत्वकी सहायतासे मनुष्यको पार करना चाहिये, यह इस सबका आशय है। छांदोग्य (३,१६,२) में—

अथ यानि चतुश्चत्वारिंशत् वर्षाणि तत् माध्यंदिनं सवनम् । चतुश्चत्वारिंशदक्षरा त्रिष्टुप् । त्रैष्टुभम् माध्यंदिनम् सवनम् । तत् अस्य रुद्राः अन्वायताः । प्राणाः रुद्राः वाव । हि एते इदम् सर्वम् रोदयन्ति ।

अर्थ- "अब इसके अगले जो ४४ वर्ष वही यज्ञके माध्यंदिन सवन हैं। ४४ अक्षरोंका त्रिष्टुप् छंद होता है। त्रिष्टुप् छंदरूप ही माध्यंदिन सवन होता है। उससे रुद्रदेवता संबद्ध रहते हैं। प्राण ही रुद्र (पंचप्राण, पंचज्ञानेन्द्रिय व आत्मा ऐसे ग्यारह) हैं क्योंकि ये ही सबको संतप्त करते हैं"। त्रिष्टुप् छंदके ४४ अक्षर होते हैं और उसका यज्ञमें माध्यंदिन सवनसे संबंध रहता है। इस सादृश्यके कारण इस ४४ वर्षके विभागको माध्यंदिनसवन यह संज्ञा दी है। आयुष्यके २४-६८ वर्षोंके कालविभागको गृहस्थाश्रम कहा है। इस कालमें मानवी आयुष्यका स्वरूप तेजस्वी ही रहना चाहिये और इस अभिप्रायसे श्रुतिने प्राणोंको रुद्र संज्ञा दी हुई है। यह ४४ वर्षका तारुण्यकाल है, और इस कालमें अच्छोंका संवर्धन व संरक्षण और बुरोंका प्रतिकार यही बातें मुख्य होती हैं और इस कारण मनुष्यको पराक्रम, संपादन, आक्रमण इत्यादि कार्य इसी कालमें करने होते हैं। ऐसे कार्योंमें पीडा होना अपरिहार्य होता है और इसीलिये पीडा देनेवाली रुद्र यह देवता इस कालसे संबद्ध रहती है, ऐसा श्रुतिने दर्शाया है।

अथ यानि अष्टाचत्वारिंशत् वर्षाणि तत् तृतीयसवनम् । अष्टाचत्वारिंशदक्षरा जगती । जागतम् तृतीयसवनम् । तत् अस्य आदित्याः अन्वायताः । प्राणा आदित्याः वाव । हि एते इदम् सर्वम् आददते ॥

छांदोग्य. (३,१६,५)

अर्थ- "अब जो मानवी आयुष्यके आखरी ४८ वर्ष वही यज्ञके तृतीय सवन हैं। ४८ अक्षरी जगती छंद होता है। जगती छंदरूपी ही तृतीय

सवन होता है, और उससे आदित्य देवता संबद्ध रहते हैं। प्राण ही आदित्य हैं, क्योंकि प्राणरूपी आदित्य ही सर्व ग्रहण करते हैं ''। माध्यंदिन सवनका काल ६८ वें वर्ष पूर्ण होता है, और इसके बादके ४८ वर्षके काल-विभागको यज्ञके तृतीय सवनकी सायंसवन संज्ञा दी हुई है, और इस कालमें प्राणसे आदित्य यह देवता संबद्ध रहती है। भिन्न भिन्न विभागके देवताओंके नाम भिन्न भिन्न हों, तो भी वे केवल प्राणके ही नाम होते हुए सारे आयुष्यकी प्राण यह एक ही मुख्य देवता है ऐसा ही समझना चाहिये। मानवी आयुष्यके आखरी ४८ वर्षके विभागमें प्राणको आदित्य यह संज्ञा दी हुई है। '' ग्रहण करके जानेवाला ही आदित्य है '' ऐसी श्रुतिमें ही आदित्य इस शब्दकी व्याख्या की हुई है। इसको ध्यानमें लेनेसे जिन आयोजनाओंसे समाज सुसंगठित रहे वे ही सारे कर्म इस विभागमें आते हैं। इस काल विभागको आश्रमोंके अनुक्रममें वानप्रस्थ यह संज्ञा दी जा सकती है। इस आश्रममें समाज संघटनाको पोषक हों, ऐसे ही कर्मोंको करनेको कहा गया है। सबको साथ ले जाना या सबोंका संग्रह करना इस प्रकारका लोकसंग्रहवाला ही इस विभागके कर्मका स्वरूप है, यह श्रुतिने स्पष्ट किया है इस प्रकार यज्ञमय जीवन व्यतीत करनेवाला मनुष्य दीर्घकालतक जीवित रहकर अपने सदाचरणसे समाजको सन्मार्ग दिखा स्वतः भी कृतार्थ होता है, ऐसा श्रुतिका स्पष्ट अभिप्राय है।

इस प्रकारका पुरुष या मनुष्य जिसका जीवन यज्ञमय हो सकता है, उसके विषयमें आगे बताया है कि—

> सः यत् अशिशिषति यत् पिपासति यत् न रमेत ताः
> अस्य दीक्षाः। छांदोग्य. (३,१७,१)

अर्थ– '' वह पुरुष जो खानेकी इच्छा करता है, पीनेकी इच्छा करता है, पर जो उसमें रममाण नहीं होता, तो उसका यह खाना पीना उसके पुरुष यज्ञकी दीक्षा (यज्ञव्रत) है ''। मनुष्य जीवित है तबतक इंद्रिय विषय-संयोग अपरिहार्य है। शरीर, मन व बुद्धि अच्छी निरोगी और तेजस्वी तथा

कार्यक्षम रहे इस दृष्टिसे मनुष्यको अन्न पानी इनका ग्रहण करना ही चाहिये। आरोग्य और तेजस्विता कायम रहे इसलिये किये जानेवाले व्यवहारको विषय सेवन (विषयोपभोग नहीं) कहा जा सकता है, और इसी कारण इसको ' न रमते ' ऐसा विशेषण दिया हुआ है। इससे कोई यह अंदाज लगावे कि क्या मनुष्यने कभी हंसना, खेलना, रुचिकर पदार्थ खाना ही न चाहिये ? इस प्रश्नको ऋषिने अगले ही मंत्रमें स्पष्ट किया है कि—

अथ यत् अश्नाति यत् पिबति यत् रमते तत् उपसदैः
(तुल्यम्) इति ॥ छांदोग्य. (३,१७,२)

अर्थ- " उसी तरह जब वह भोजन करता है, जलपान करता है तथा रमता अर्थात् उसमें रममाण होता है (क्रीडादि व्यवहार करता है) तो उसके उन क्रियाओंको यज्ञके उपसद् (यज्ञमें किये जानेवाले पयःपान) के तुल्य समझना," अर्थात् वह पुरुष कई प्रसंगोंमें विलासी दिखाई देनेवाले व्यवहार करता है, तो उन व्यवहारोंको यज्ञकी भाषामें उपसद् ये नाम दिये हुए हैं। आगे—

अथ यत् हसति यत् जक्षति यत् मैथुनम् चरति तत्
स्तुतशस्त्रैः एव (तुल्यम्) एति ॥
छांदोग्य. (३,१७,३)

अर्थ- " उसी तरह जब वह हंसता है, उपहार करता है, स्त्री समागम करता है, तो उसके वे कार्य यज्ञकी भाषामें उसके स्तोत्र तथा शस्त्रोंके तुल्य ही समझना योग्य है "। (स्तोत्र व शस्त्र भिन्न भिन्न प्रकारके सूत्र हैं और इनका पठन यज्ञमें किया जाता है) । आगे—

अथ यत् तपः दानम् अर्जवम् अहिंसा सत्यवचनम्
ताः अस्य दक्षिणाः इति ॥ छांदोग्य. (३,१७,४)

अर्थ- " वैसे ही व्यवहारमें वह पुरुष जो व्रत, दान, सरलता, अहिंसा, सत्य भाषण करता है, उसको यज्ञमें ऋत्विजोंको दी जानेवाली दक्षिणा समझना " । जैसे दक्षिणा दिये बिना यज्ञकी पूर्णता नहीं होती उसी तरह

पुरुष यज्ञकी पूर्णता वैयक्तिक और सामाजिक व्यवहारोंमें किये जानेवाले, दान, सरलता, अहिंसा, सत्य भाषण इत्यादि सद्गुणात्मक कर्म हैं। आगे यज्ञकी समाप्ति होती है, तब—

(यत्) सोष्यति असोष्ट इति आहुः तस्मात् एव
अस्य पुनरुत्पादनम्। मरणम् तत् एव अवभृथः॥
छांदोग्य. (३,१७,५)

अर्थ- "(यज्ञ) में जैसे अन्तमें सोमरस निकालनेपर सोमरस निकाला ऐसा कहते हैं उसी तरह (यज्ञकी भाषामें) उस पुरुषका संतति उत्पादन समझना और उसका मरण ही (पुरुषयज्ञ) अवभृथ (यज्ञ समाप्तिदर्शक) स्नान है"। अबतक किये हुए दीक्षा, उपसद, स्तोत्र, शस्त्र, तथा सवन अर्थात् सोमरस निकालना, इन वर्णनोंसे मनुष्यके जीवनके सारे ही व्यवहार पुरुषयज्ञमें कैसे शामिल होते हैं, यह स्पष्ट दिखाया गया है। ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ व वानप्रस्थ इन तीनों आश्रमोंमें उन उन आश्रमोंमें धर्मानुकूल किये जानेवाले सारे व्यवहार पुरुषयज्ञमें समावेश होनेके कारण कोई भी मनुष्यके जीवनमें किया जानेवाला कर्म यज्ञके विरुद्ध है ऐसा कहते नहीं आता, अर्थात् आश्रमानुकूल कोईसा भी नियत और विहित कर्म यज्ञसे एकरूप ही होता है ऐसा आशय स्पष्ट है।

उपर्युक्त विवरणमें किसी भी मनुष्यका शुद्ध और पवित्र आयुष्यक्रम या जीवनक्रम ही यज्ञतुल्य कैसे है? इस शास्त्रीय सिद्धांतको स्पष्ट करनेके लिये मानवजीवनको यज्ञका रूपक देकर मानवी आयुष्यक्रममें नित्यशः किये जानेवाले व्यवहारोंको यज्ञमें किये जानेवाले मुख्य मुख्य कर्मोंसे उसका साम्य किस प्रकार है यह स्पष्ट किया हुआ है। मनुष्यका सादा खाना पीना, यज्ञकी दीक्षा, भोजन क्रीडादि व्यवहार, यज्ञके उपसद (पयःपान विधि), हंसना, खेलना, कूदना, यज्ञमें पढे जानेवाले स्तोत्र या शस्त्र, व्रतादि व्यवहार, दान, सरलता, अहिंसावृत्ति इत्यादि यज्ञमें ऋत्विजोंको दी जानेवाली दाक्षिणा, मनुष्यके आयुष्यमें किया जानेवाला संतानोत्पादन, यज्ञके

सोमसवन विधि, तथा मृत्यु या मरण, यज्ञसमाप्तिदर्शक अवभृथ स्नानके तुल्य बताकर यह स्पष्ट किया है, कि मनुष्यने अपने जीवनक्रमको यज्ञमय अर्थात् उपासनामय करना चाहिये, और इस प्रकार उपासनामय कार्य-क्रम ब्रह्मज्ञान संपादन पर ही अवलंबित रहता है और यही वैदिक संस्कृति और वेदांतशास्त्रका रहस्य है।

इस प्रकार मनुष्यका आयुष्यक्रम ही यज्ञ है, इसको सिद्ध करनेके लिये उपर्युक्त विवरणमें मनुष्यके किये जानेवाले व्यवहारोंका यज्ञमें किये जाने-वाले कर्मोंसे साम्य बताया है, परंतु कोई कहेगा, कि इतनी बातोंसे ही यह रूपक पूर्ण नहीं होता। इस कारण इस रूपककी पूर्णताके हेतु बृहदारण्यक उपनिषद्के तीसरे अध्यायके पहले और दूसरे ब्राह्मणोंमें पाई जानेवाली याज्ञवल्क्यने जनककी सभामें की हुई चर्चामें औपनिषद् विद्या अर्थात् ब्रह्म-विद्याका यह तात्पर्य स्पष्ट किया है, कि ज्ञानविज्ञानपूर्वक शुद्ध और पवित्र आचरण करनेवाले ब्रह्मवेत्ताका जीवनक्रम ही सचमुच यज्ञ है और इस पुरुष-यज्ञ, ब्रह्मयज्ञ, या आध्यात्मयज्ञमें– प्राणतत्त्व, वाणी, नेत्र और मन ये ही अनुक्रमसे उद्गाता, होता, अध्वर्यु और ब्रह्मा ये इस यज्ञके ऋत्विज हैं और इन शरीरस्थ ऋत्विजोंके नित्यके व्यवहारमें किये जानेवाले शास्त्रशुद्ध कर्म ही इस शरीरके मालिक-आत्माको– अर्थात् यजमानको इच्छित फल देने-वाले होते हैं। इसी तरह आगे जाकर इसी चर्चामें प्राणको ग्रह अपानको अतिग्रह, वाणीको ग्रह नामको अतिग्रह, जिह्वाको ग्रह रसको अतिग्रह, नेत्रको ग्रह रूपको अतिग्रह, श्रोत्रको ग्रह शब्दको अतिग्रह, मनको ग्रह इच्छाको अतिग्रह, हाथको ग्रह और कर्मको अतिग्रह, त्वचाको ग्रह और स्पर्शको अतिग्रह बताकर मनुष्यके इंद्रिय विषय संयोगसे चलने-वाले व्यवहारोंका भी आध्यात्मयज्ञमें अंतर्भाव होता है, यह स्पष्ट किया हुआ है।

इस प्रकारके रूपककी और भी संपूर्णतया पूर्णता करनी हो, तो प्रश्नोप-निषद्के चौथे प्रश्नके चौथे मंत्रसे हो सकती है। जहां अपान गार्हपत्याग्नि, व्यान दक्षिणाग्नि तथा प्राण आहवनीय अग्नि बताकर उच्छ्वास और श्वासको

यज्ञमें दी जानेवाली आहुतियां कहा है, और बताया है, कि समान ही आहुतियोंको ठीक ठीक दिये जानेमें सहायता करता है, और यहीं अंतमें आत्माको ही यज्ञका यजमान कहा हुआ है। इस विवरणमें पिछले अध्यायोंमें आए हुए कुछ विषयोंकी पुनरुक्ति हुई है, परंतु विषय संदर्भके कारण उसे करना आवश्यक प्रतीत होनेसे उसे किया गया है। इस प्रकारकी पुनरुक्ति करनेका एक और उद्देश्य है। हमारे वैदिक ऋषियोंने पिंड ब्रह्मांडान्तर्गत निसर्गसिद्ध नियमोंका प्रथमतः सूक्ष्म निरीक्षण किया और उनमें देखी, तथा पाई जानेवाली प्रक्रियाओंका पूर्ण अनुभव लेकर ही श्रौतधर्म प्रस्थापित कर यज्ञसंस्थाका प्रारंभ किया, और इस प्रकार पिंड ब्रह्मांडान्तर्गत प्रत्येक निसर्गनियमको यज्ञसंस्थामें किये जानेवाले भिन्न भिन्न कर्मोंके रूपमें सम्मिलित किया। अर्थात् यों कहा जा सकता है कि मुख्य निसर्गसिद्ध नियम हैं और उन्हें दिखाने तथा स्पष्ट करनेवाली अर्थात् Demonstrate कर-दिखानेवाले यज्ञमें किये जानेवाले कर्म हैं।

इस विषयका संपूर्ण विवेचन पिछले अध्यायोंमें किया होनेसे यहां उसे दोहरानेकी आवश्यकता नहीं है। यद्यपि हमारे वैदिक ऋषियोंने यज्ञसंस्थाका निर्माण ही इस उद्देश्यसे किया था, कि लोग यज्ञयाग करते रहेंगे, तो उन निसर्ग नियमोंको, जिनकी नकल यज्ञयाग है, न भूलेंगे तथापि इसका दूसरा ही एक विचित्र परिणाम हुआ और वह यह कि श्रौतधर्म प्रतिपादित यज्ञकर्म ही सब कुछ हैं और इन्हींको यथा योग्य करते रहनेमें मनुष्यकी इति कर्तव्यता है, यह धारणा समय समयपर रूढ होती गई। औपनिषदिक कालमें भी यही हुआ था, और इस कारण याज्ञवल्क्य, पिप्पलाद, आंगिरस, आरुणि आदि विद्वान् तथा ब्रह्मविद्या और श्रौतविद्या ऐसी दोनों विद्याओंमें प्रवीण ऐसे ऋषियोंने औपनिषदिक भाग ब्राह्मणग्रन्थोंसे निकालकर अलग किया, और औपनिषदिक विद्या ऐसा स्वतंत्र नामाभिधान कर सच्चे वैदिक तत्त्वज्ञानकी नींव पुनः प्रस्थापित की और इस प्रकार सदैवके लिये भारतवासियोंके हाथमें औपनिषदिक तत्त्वज्ञानरूपी तेज

तलवार देकर स्पष्ट किया, कि जब कभी भी शुद्ध तथा शास्त्रीय वैदिक तत्त्वज्ञानकी जानकारी लुप्तप्राय होने लगे, उसी समय उस कालके औपनिषद् विद्याके प्रतिपादन करनेवाले विद्वान् इस तलवारको ज्ञानरूपी सिल्ली-पर तेज कर पुनश्च शुद्ध और शास्त्रीय तत्त्वज्ञान प्रस्थापित करें और मानवी जीवनको सच्चा मार्गदर्शन इस ज्ञानद्वारा कराया जावे और इस प्रकार नरका नारायण बननेका मार्ग स्पष्ट हो।

उपर्युक्त विवरणसे स्पष्ट है, कि प्रत्येक मनुष्यने चाहे वह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य कोई हो अपने जीवनमें उपर्युक्त विवरणमें निर्देशित आश्रम व्यवस्थाके मूलतत्त्वका संपूर्णतया आचरण कर ब्रह्मवर्चस्व संपादन करना चाहिये। आश्रमधर्मके सामान्य तत्त्व देखनेसे स्पष्ट होता है, कि आश्रमधर्मके नियम चाहे वह स्त्री हो या पुरुष, किसी भी व्यक्तिने यदि प्रामाणिकतासे आचरण किये, तो उसका जीवनक्रम निश्चितरूपसे ब्रह्मवर्चस्वी होगा। प्रथमके ब्रह्मचर्याश्रममें विद्यार्जन, व्यायाम, शुचिर्भूतता तथा उपासना ये धर्म मुख्यतः दिखाई देते हैं। इनसे यह स्पष्ट है, कि शारीरिक शक्ति, एवं बौद्धिक शक्तिका विकास कर ब्रह्मतेज संपादन करना, यही इस आश्रमका उद्देश्य है और इस दृष्टिसे इस कालको ब्रह्मचर्याश्रम, यह नाम पूर्णतया यथार्थ ही है। इस प्रकार इस कालमें ही मनुष्यको ऋषि ऋण चुकाना होता है यह एक महत्त्वपूर्ण बात है, ऋषि ऋणका अर्थ है, कि ऋषियोंने ज्ञान संकलित कर अपनेको दिया है, उस ज्ञानका संरक्षण कर उसका संवर्धन करना ही ऋषि ऋण चुकाना है।

इस प्रकारसे संपादन किये हुए ब्रह्मतेजका उपयोग कर व्यक्ति, कुटुम्ब व राष्ट्र इनके व्यवहारिक तथा पारमार्थिक हितोंके लिये प्रयत्न करना ही गृहस्थाश्रमका मुख्य हेतु है। इस दूसरे आश्रममें यद्यपि नया ब्रह्मतेज संपादन करना न हो तो भी पहले अर्थात् ब्रह्मचर्याश्रममें कमाए हुए ब्रह्मतेजका रक्षण करनेमें निश्चित रूपसे सावधानी रखनेको कहा गया है। इस दूसरे आश्रमका काल अगले ४४ वर्ष अर्थात् आयुष्यके ६८ वर्षतकका होता

है और इस आश्रममें उत्तम संततिको उत्पन्न कर उसको उत्तमोत्तम तथा ब्रह्मवर्चस्वी हो सके ऐसा शिक्षण देना ही पितृऋणको चुकाना है। यह स्मरण रखने जैसी बात है, कि वैदिक ऋषियोंने ब्रह्मचर्याश्रमके बाद ही गृहस्थाश्रममें प्रवेश करनेको कहा है, और इस हेतुसे ही विवाहसंस्थाका निर्माण किया हुआ है, और ऐसा करनेमें उन्होंने मानवजीवनकी नैसर्गिक आवश्यकताओंको पूर्ण ध्यानमें रखकर ही विवाह संस्कारको आयुष्यक्रम-मेंका एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण संस्कार माना हुआ है। इस आश्रममें प्रत्येक व्यक्तिको कुटुम्ब पालनार्थ जो व्यवहार करने होते हैं, वे उसने किस प्रकार और किस दृष्टिकोणसे करने चाहिये, कि वे उसे ब्रह्मवर्चस्वी बने रहनेमें सहयोग दें, इस विषयका विवेचन आगे किया होनेसे यहां उसे करना व्यर्थ समझते हैं।

इस प्रकार पहले आश्रममें व्यक्तिके गुणोंको पूर्ण विकसित और उन्नत करनेकी व्यवस्था कर तथा उसका उपयोग योग्य गृहस्थाश्रम कर उसमें कुटुम्बको पूर्ण सुखशांति प्राप्त करा देनेकी व्यवस्था कर वैदिक ऋषियोंने एक प्रकारसे व्यक्तिवादका ही पुरस्कार किया है, ऐसी भावना होना संभव है, परंतु अब आगे चलकर तीसरे आश्रममें पदार्पण करना है, और इस तीसरे आश्रममें सारी ही बातें बदली हुई दिखाई देती हैं। यह तीसरा वानप्रस्थाश्रम है और इस आश्रममें व्यक्तिको प्रथमके दो आश्रमोंमें प्राप्त किये हुए ब्रह्मवर्चस्वका उपयोग समाज संघटित हो, ऐसे ही कर्मोंको करनेमें व्यतीत करनेको ही कहा गया है। सबको साथ लेकर जाना, सबोंका संग्रह करना, यही इस आश्रमका उद्देश्य है। अर्थात् यह आश्रम पूर्णतः सामाजिक संघटना, और सामाजिक विकासको ही मुख्य ध्येय मानकर व्यतीत करना है। यदि योग्य समयपर मनुष्यने गृहस्थाश्रममें प्रवेश किया, और यदि उसका जीवन पूर्ण ब्रह्मवर्चस्वी हुआ तो, इस तीसरे आश्रममें भी वह पूर्णतया कार्यक्षम रह सकता है। इस आश्रममें उसे वानप्रस्थाश्रमके जो लक्षण बताए गए हैं, उन्हींके अनुसार जीवनक्रम व्यतीत करनेको

कहा गया है। " स्ववीर्यजीवी वृजिनान्निवृत्तः " अर्थात् वानप्रस्थियोंको अपनी उपजीविका स्वतः के उद्योगसे ही चलानी पडती है यह ध्यानमें रखनेके योग्य है।

इस आश्रममें मनुष्यको अपनी सारी इंन्द्रियोंको देवतारूप बनानेकी ओर प्रयत्न करके देवऋणको चुकानेका प्रयत्न करना चाहिये यही वैदिक आशय है। प्रत्येक व्यक्तिको उसके आयुष्यमें तीन ऋण चुकाने पडते हैं और इस प्रकार वह तीन तरहके कर्तव्योंके करनेमें बंधा हुआ होता है। ऋणत्रयोंका विचार करनेसे विद्या, कुल व राष्ट्र इन तीन विषयोंके कर्तव्य प्रत्येक व्यक्तिके लिये अपरिहार्य हैं ऐसा ही ठहरता है, और इन्हें तीन धर्म स्कन्धोंमें पूर्णरूपेण कर इन तीनों ऋणोंसे मुक्त होना ही उसका कर्तव्य है यही सिद्ध होता है; अर्थात् प्राचीन ऋषियोंकी दी हुई विद्याका उपबृंहण, अर्थात् संशोधन और संवर्धन करना, अपनी कुलपरंपरा उज्जवल करना, और उपासनायुक्त सन्मार्गसे समाजका अभ्युदय कायम रखना यही तीन कर्तव्य ऋणत्रयोंको चुकानेके साधन या मार्ग वैदिक संस्कृतिने बताए हुए हैं। आगे चलकर साधारणतः स्मृतिकालमें इन्हींका पंचमहायज्ञोंमें- देवयज्ञ (ईश्वरोपासना), पितृयज्ञ (पितृभक्ति), भूतयज्ञ (समाजसेवा), मनुष्ययज्ञ (विद्वत्सेवा) और ब्रह्मयज्ञ (विद्यार्जन) रूपांतर हुआ।

इस अध्यायके आरम्भमें हमने पुनर्जन्मके प्रश्नको पुनश्च हाथमें लेकर उन सारे प्रश्नोंको हल करनेका प्रयत्न किया है, जिन प्रश्नोंके कारण आजके वैदिक धर्मानुयायियोंको आज समझी जानेवाली पुनर्जन्म प्रक्रिया मान्य करनी पडती है। इन समाधानोंमें हमने स्पष्ट कर दिया है, कि यदि इन्हीं प्रश्नोंके कारण पुनर्जन्म प्रक्रिया मान्य करनी पडती है, तो उसकी कोई आवश्यकता नहीं है। इस प्रश्नके हल करनेमें पाश्चात्य शास्त्रज्ञोंसे न सुलझाए जानेवाले दो प्रश्नोंमेंसे एक प्रश्नको पूर्णतः हल कर यह स्पष्ट कर दिया है, कि औपनिषदिक विज्ञानके अनुसार पुनर्भव या पुनरुत्पत्ति और मृत्यु या मरण ये दो स्वतंत्र तथा भिन्न भिन्न प्रक्रियाएं हैं। इसके पश्चात् पाश्चात्य

शास्त्रज्ञोंसे न सुलझाए जानेवाले दूसरे प्रश्न, व्यक्तिकी वैयक्तिक विकास या उन्नति और उस व्यक्तिपर समाज या समष्टिका अधिकार तथा प्रभुत्व, इस प्रश्नकी चर्चा शुरू कर दी है।

इस प्रकारके विषयकी चर्चामें सहज रीतिसे ही व्यक्तिवाद, समाजवाद, साम्यवाद जैसे आजके ज्वलंत प्रश्नोंपर विचार करना प्राप्त हो जाता है, और उन प्रश्नोंका विचार करना उचित भी है। इस विचारसरणीके विश्लेषणमें सर्वप्रथम व्यक्तिवाद, समाजवाद तथा साम्यवादके लक्षण बताकर इस विषयपर उपनिषदिक् विज्ञान क्या कहता है उसका विवरण प्रारंभ कर दिया है। इस विवरणमें सर्वप्रथम व्यक्ति विषयक संपूर्ण विचार कर यह स्पष्ट किया गया है कि इस संसारमें प्रत्येक जीवमात्रमें जिजीविषा अर्थात् जीवित रहनेकी इच्छा निसर्गसिद्ध होती है। इस निसर्गसिद्ध धर्मका शास्त्रीय संशोधन कर हमारे वैदिक ऋषियोंने यह व्यावहारिक प्रतिपादन किया है, कि प्रत्येक मनुष्यने दीर्घकाल (शतं समाः) जीवित रहनेकी इच्छा करते हुए उस दीर्घायुष्यके कालको सतत कर्तव्य कर्म करते हुए ही व्यतीत करनेकी इच्छा करना चाहिये, और इस प्रकार अपना जीवन ही एक महान यज्ञ है इसकी शास्त्रीय जानकारी प्राप्त कर लेना चाहिये, क्योंकि ऐसी जानकारी प्राप्त कर लेनेपर वह आप ही आप अपने दीर्घ जीवनको कर्म करते हुए ही व्यतीत करनेका प्रयत्न करेगा, और इसी कारण उपर्युक्त विवरणमें मनुष्यका सारा व्यावहारिक जीवन यज्ञमय किस प्रकार है इसे स्पष्ट करनेका प्रयत्न किया गया है।

तात्पर्य यह है, कि वैदिक संस्कृतिमें प्रत्येक व्यक्तिको अपने जीवनमें ब्रह्मवर्चस्व संपादन करनेको स्पष्टतया प्रतिपादन किया हुआ है। ब्रह्मवर्चस्व यह ब्रह्मतेजका वाचक शब्द है, और ब्रह्मतेजकी मंत्रभाग हो या ब्राह्मण-भाग दोनोंमें मुक्तकंठसे प्रशंसा की हुई है। हमारे दैनंदिनके प्रार्थना-मंत्रोंमें " ब्रह्मवर्चसं मह्यं दत्वा " " ब्रह्मवर्चसी भूयासम् " इस प्रकार हम रोज कहते आ रहे हैं। ब्रह्मवर्चस शब्दका वास्तविक अर्थ क्या है,

वह हमें वशिष्ठ, विश्वामित्रकी वाल्मीकि रामायणमें आई हुई कथासे स्पष्ट होता है, जहां वशिष्ठने "पश्य ब्रह्मबलं दिव्यं मम क्षत्रियपांसन" कहकर अस्त्रविद्याके भौतिक सामर्थ्यसे विश्वामित्रको पराभूत किया तथा योग्य समय आनेपर आध्यात्म शास्त्रके विवेक सामर्थ्यसे सौम्यता धारण कर, "ब्रह्मर्षे स्वागतं ते अस्तु" कहकर विश्वामित्रका स्वागत किया, यही ब्रह्मवर्चस है।

मनुष्य ब्राह्मण क्षत्रिय या वैश्य इनमेंसे किसी वर्णका हो, प्रत्येक व्यक्तिको उपर्युक्त विवरणानुसार ब्रह्मवर्चस् संपादन किया जा सके, इसी उद्देश्यसे वैदिक ऋषियोंने आश्रम धर्मका निर्माण किया हुआ है। इस आश्रम धर्मकी शुरूवात मनुष्यके आठवें वर्षमें होती है, और मौंजीबंधन यह इस आश्रम व्यवस्थाका द्वार ही है, ऐसा कहनेमें कोई आपत्ति नहीं है। पुरुषोंके समान स्त्रियोंका भी उपनयन किया जा सकता है, इस प्रकारका हारित ऋषि जैसे कुछ धर्म शास्त्रकर्ता ऋषियोंका मत है, और इस परसे प्राचीन कालके किसी समयमें स्त्री-पुरुष दोनोंको उपनयन विधि लागू थी, ऐसा अनुमान किया जा सकता है। यहां पर हम अपने शिक्षित आधुनिकोंको चेता देना चाहते हैं, कि वे इस आश्रम शब्दसे बिचकें नहीं कि यह भी कोई सांप्रदायिक आपत्ति है। आयुष्यका विद्यार्थी जीवन ब्रह्मचर्याश्रम विभाग, वैवाहिक जीवन गृहस्थाश्रम विभाग, और समाजसेवा तथा लोक संग्रहात्मक जीवन वानप्रस्थाश्रम विभाग है; और यही आश्रम इस संस्कृत शब्दका सरल अर्थ है। औपनिषदिक कालमें इसीको इष्टधर्म, स्मृतिकालमें आश्रमधर्म तथा वर्तमान कालमें व्यष्टि या व्यक्तिधर्म ये सारे एक ही बातका बोध करानेवाले भिन्न भिन्न कालमें प्रचलित नाम हैं।

इस प्रकारके व्यक्तिधर्मके आचरण साधारणतः स्वार्थी वृत्तिसे ही होते हैं, ऐसा प्रतीत होता है; तथापि वह स्वार्थ संकुचित वृत्तिका न होने पावे, इसीकी खबरदारी रखनेकी आवश्यकता होती है। उत्कृष्ट विद्या और सुदृढ स्वास्थ्य शरीर संपादन कर अपनी वैयक्तिक उन्नति करना, योग्य मार्गसे धन संपादन कर उसका उपयोग उत्तम कुटुम्ब पालन तथा उत्तमतर संततिको शिक्षण प्राप्त करानेमें उसे लगाना, और इन दोनों आश्रमोंमें प्राप्त

किये हुए शारीरिक, बौद्धिक तथा आर्थिक सामर्थ्योंका तथा अनुभवोंका विनियोग समाज संगठन, लोकसंग्रहके लिये तीसरे आश्रम (वानप्रस्थाश्रम) में लगाना कभी भी संकुचित स्वार्थकी कक्षामें नहीं आता यह स्पष्ट है।

इस अध्यायके अबतकके विवरणमें हमने आश्रम धर्म (विहित कर्तव्य आचरण) का अंतर्बाह्य स्वरूप स्पष्ट करनेका प्रयत्न किया है, परंतु यह विषय केवल इतने ही से पूरा नहीं होता। यहां पर हम इतना ही कहकर इस अध्यायको समाप्त करते हैं, कि आश्रम धर्म द्वारा ही, तैत्तिरीय उप. भृगुवल्ली (१४) ... **प्रजया पशुभिः ब्रह्मवर्चसेन महान्, कीर्त्या महान् भवति** ॥ संतति, गायें आदि पशु और शारीरिक और बौद्धिक तेज इनसे संपन्न हो कीर्तिसे भी बडा होता है, और आनंदवल्ली (१) ... ... **ब्रह्मणा सर्वान् कामान् सह अश्नुते इति** ॥ वह ज्ञानमय ब्रह्म स्वरूपसे पूर्णकाम होता है, अर्थात् उसके सारे मनोरथ पूर्ण होते हैं। इसी तरह ईशोपनिषद् (१४) ...... "**सः विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा संभूत्या अमृतं अश्नुते**" ॥ के अनुसार वह व्यक्ति (आश्रम) धर्मसे आयुष्यमें आनेवाले सारे संकटोंको पार कर लेता है, और छांदोग्य (३।१७।५) के अनुसार "**मरणम् तत् एव अवभृथः**" मरण ही मनुष्यका अवभृथ (यज्ञ समाप्ति दर्शक) स्नान है कह कर आगे बृहदारण्यक (३।२।१२) ...... "**यत्र अयम् पुरुषः म्रियते म्रियते एनम् किम् न जहाति ? इति नाम इति**" ॥ में पूछे जानेपर कि जब ऐसा मनुष्य मर जाता है, तो उसे क्या नहीं छोडता ? तो याज्ञवल्क्य उत्तर देते हैं कि उसे "नाम" नहीं छोडता। इन सारे उद्धरणोंसे यह स्पष्ट है, कि केवल आश्रम धर्मका पूर्ण रूपसे पालन करना ही इति कर्तव्यता नहीं है, उससे केवल इस आयुष्यको सुखी तथा सामर्थ्यवान् बनाया जा सकता है, परंतु प्रत्येक मनुष्यका वास्तविक ध्येय है अमृतत्व प्राप्ति और वह केवल व्यक्तिके धर्म अर्थात् आश्रम धर्मसे प्राप्त नहीं हो सकती यह स्पष्ट है। वह कैसे प्राप्त हो सकती है, और वह असलीमें क्या चीज है इसका संपूर्ण विवेचन अगले अध्यायमें किया जावेगा।



अध्याय १८ वां

वैदिक समाज व्यवस्था

(पूर्त धर्म, वर्ण धर्म, समष्टि धर्म या समाज धर्म)

पिछले अध्यायमें वैदिक समाज रचना जिन मौलिक सिद्धांतोंपर आधारित थी, उसके एक भागका वर्णन पूर्ण करते हुए यह स्पष्ट करनेका प्रयत्न किया गया है, कि प्रत्येक मनुष्यको इस पृथिवीपर जीवित रहनेकी इच्छा होती है और इस प्रकारकी इच्छा होना निसर्ग सिद्ध होते हुए धर्म्य है। वैदिक ऋषियोंने इस निसर्ग सिद्ध धर्मके साथ साथ एक शास्त्रीय नियम जोड दिया है, कि मनुष्यने इस निसर्ग सिद्ध तथा सहज प्राप्त जिजीविषाका (शतं समाः अर्थात् सौ वर्ष जीवित रहनेका) काल कर्म करते हुए ही बिताना है। इस प्रकारके अपने ११६ या १२४ के कालको तीन भागोंमें बांटकर पहलेको ब्रह्मचर्य, दूसरेको गार्हस्थ्य और तीसरेको वानप्रस्थ कहा है और इन तीनों काल खंडोंमें व्यक्तिने अनुक्रमसे ऋषि ऋण, पितृ ऋण और देव ऋण चुकानेका प्रयत्न पूर्णतया करना है।

इस प्रकार किसी मनुष्य या व्यक्तिने इस आयुष्यमें स्वतःका जीवन कैसे व्यतीत करना यह स्पष्ट कर दिया है, और इसीको व्यक्तिधर्म या व्यष्टिधर्म या आश्रम धर्म ये भिन्न भिन्न कालमें पाई जानेवाली संज्ञाएं प्राप्त हैं। यहां धर्म शब्दका अर्थ या अंग्रेजीमें प्रति शब्द " ड्यूटी " है " रिलीजन " नहीं है, यह स्पष्ट रूपसे जान लेना अत्यंत आवश्यक है। उपर्युक्त सारा विवरण ईशोपनिषद्के दूसरे मंत्र " **कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतँ समाः। एवं त्वयि नान्यथेतो अस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥**" पर ही आधारित है, यह बात पिछले अध्यायके परिशीलनसे स्पष्ट ही है।

इसी उपनिषद्का यह दूसरा मंत्र जिसे पहले मंत्रका पूरक कहा जा सकता है, उस पहले मंत्रमें एक और महत्त्वपूर्ण शास्त्रीय सिद्धांत प्रस्थापित किया हुआ है—

❀

जगत्यां यत्किं च इदम् सर्वम् जगत् (तत्) ईशावास्यम् अस्ति।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः कस्य स्वित् धनम् मा गृधः॥

अर्थ- " सृष्टिमें जो कुछ भी यह भूत जात (दिखता) है वह सारा ईश्वरसे व्याप्त है । उस (ईश्वर) से दिये हुए (वस्तु) से ही अपनी उपजीविका कर । किसी औरके धन (वस्तु) की अभिलाषा न कर "। प्रस्तुत मंत्र इस उपनिषद्का पहला ही मंत्र है और इस मंत्रमें आए हुए ' जगती ' इस शब्दका उपलक्षणसे ' सृष्टि ' ऐसा अर्थ करना ही योग्य है, और ऐसा अर्थ करनेमें कोई भी आपत्ति नहीं है । इसी मंत्रके आरंभका ईश यह शब्द अत्यंत अर्थपूर्ण है । स्वामित्व, सत्ता या मालकी होना यही ईश धातुका मूल अर्थ है । सृष्टिके एकंदर स्थूल-सूक्ष्म वस्तुओंपर ईश्वरकी सत्ता है और जैसे ईश्वर सर्वव्यापी है वैसे ही वह सर्व सत्ताधीश भी है यह इस पहले वाक्यसे दर्शाया हुआ है । व्यापकत्व और सत्ताधीशत्व ये दो धर्म यद्यपि करीब करीब ही हैं, तो भी वे एक ही हैं ऐसा नहीं कह सकते और इसी कारण आवास्य किंवा वास्य इस शब्दसे व्यापकत्व निर्दिष्ट है और ईश शब्दसे सत्ताधीशत्व दर्शाया गया है ।

ईश्वर सत्ताधीश हो, तो भी उसकी सत्ताका प्रत्यय अनेक रूपोंसे या अनेक उपाधियों द्वारा प्राप्त होता है । इस सत्ताके निदर्शक हों ऐसी उपाधियोंका वर्गीकरण करें, तो उसके तीन भाग दिखाई देते हैं, वे ये हैं- व्यक्ति या व्यष्टि, समाज या समष्टि व अखिल सृष्टि या परमेष्ठी, और जगत्के सारे पदार्थ इन तीन सत्ताओंमेंसे किसी न किसी सत्ताके आधीन होते हैं, यह स्पष्ट है । व्यक्ति और समाजमें अवयव अवयवीका संबंध रहता है, और सुविधाके लिये व्यक्तिकी जगह कुटुंबाधिपति लेनेमें कोई आपत्ति नहीं दिखाई देती । व्यवहारमें वैयक्तिक सत्ता अनेक स्थानोंमें दिखाई देती है । राजसत्ता यह समाजकी ही प्रतिनिधि होनेसे राजसत्ता और समाजसत्ता तात्त्विक दृष्टिसे एकही है, ऐसा ही समझा जा सकता है । संभवतः तत्त्वज्ञानकी दृष्टिसे ऐसा ही कहना पडता है, कि सचमुचमें समाज सत्ता ही

होती है, और राजसत्ता यह व्यवहारमें सुविधाके लिये समाजसत्ताका संकोच करके उत्पन्न की जाती है।

मनुष्यकी आवश्यकताओंमें बहुत सी बातें ऐसी होती हैं, जो इन दोनों सत्ताओंमें किसी भी सत्तासे पूरी नहीं हो सकती। उदाहरणार्थ पर्जन्य वृष्टि इत्यादि; ये बातें जिस सत्ताके आधीन होती हैं वही परमेष्ठी सत्ता है। इस प्रकार इस सृष्टिके सारे पदार्थ और उसकी जितनी बातें जैसे ईशावास्य अर्थात् ईश सत्ताके आधीन है उसी तरह मनुष्यका जीवनक्रम भी इसी सत्ताके आश्रयसे चलनेवाला है ऐसा समझना ही उचित है तथा व्यक्ति, समाज और सृष्टि इन स्वरूपोंसे सर्व सत्ताधीश (ईश्वर) जो देता है उसी पर मनुष्यको अपना जीवन क्रम चलाना है, यह निश्चित ही है।

उपर्युक्त विवरणसे स्पष्ट है कि मनुष्यको अपने धारण पोषणके हेतु, तथा ब्रह्मचर्याश्रमके बाद गृहस्थाश्रममें कुटुंब पोषणार्थ जो अनेकों पदार्थोंकी आवश्यकता होती है, उनमेंसे कुछ अन्य व्यक्तियोंकी सत्ताके, कुछ समाज सत्ता या राजसत्ताके, तथा और कुछ परमेष्ठी सत्ताके आधीन होती हैं, और ये तीनों सत्ता एक प्रकारसे ईश सत्ताके ही भिन्न भिन्न स्वरूप हैं, ऐसा ही समझना उचित है। अपनेको या अपने कुटुंबको लगनेवाली सामग्री इन-मेंसे किसी भी सत्तासे प्राप्त करनी पडे तो भी वह ईश सत्तासे ही मिलती है, यही बात ध्यानमें रखना अत्यंत आवश्यक है। मनुष्यको लगनेवाली सामग्री या पदार्थ इनमेंसे जिस किसी सत्ताके आधीन हो उससे प्राप्त होने पर ही हम उसका उपभोग ले सकते हैं। कोई भी वस्तु एकसे दूसरेको दी जानेका अर्थ है, कि उसने उस वस्तु परसे अपना स्वामित्व त्याग कर जिसे वह वस्तु दी जाती है, उसका स्वामित्व स्थापित करना होता है और शास्त्रीय भाषामें इसीको दान करना कहते हैं। यह दान शब्दका अर्थ धर्मादाय नहीं है। "स्वस्य निवृत्तिपूर्वकं परस्वस्वापादनम्"। दान शब्दकी व्याख्या इस प्रकार शास्त्रकारोंने की हुई है।

उस सर्व सत्ताधीश ईश्वरसे किसी भी रूपमें दी हुई वस्तुसे ही अपना धारण पोषण करना चाहिये, इसी अभिप्रायसे मंत्रके दूसरे भागमें

" तेन त्यक्तेन भुंजीथाः " ऐसे पद आए हुए हैं, और इससे जो दूसरा सिद्धांत निकलता है, वह इस प्रकारका है; किसी पदार्थ परसे दूसरेका स्वामित्व नष्ट होकर उसपर अपना स्वामित्व उत्पन्न हुए बिना उस पदार्थका उपभोग लेना अर्थात् एक तरहसे दूसरेके धनका अपहरण करना है ऐसा समझना चाहिये। यहां जीवनोपयोगी वस्तु इस व्यापक अर्थसे ' धन ' यह शब्द आया हुआ है यह ध्यानमें रखना आवश्यक है; अपने जीवनको लगनेवाली सामग्री जिस सत्तासे मिलनेवाली हो उससे वह योग्य प्रकारसे ही मिलनी चाहिये इस अभिप्रायसे ही ' तेन त्यक्तेन भुंजीथाः ' ये पद दूसरे वाक्यमें आये हुए हैं। इस नियममें थोडी भी भूल हुई तो वह दूसरेके धनका अपहरण ही समझा जाता है, और इसी कारण इस विषयमें बडी सावधानी रखनी होती है।

इस मंत्रमें आया हुआ नियम नीतिशास्त्र तथा अर्थशास्त्रकी दृष्टिसे अत्यंत महत्त्वका है। नीतिशास्त्र और अर्थशास्त्र इनका एक दूसरेसे संबंध नहीं है, ऐसा कई लोग समझते हैं, परंतु वेदांत, धर्म और अर्थशास्त्र इनकें मूल तत्त्वोंमें सामान्यतः मेल होना ही चाहिये ऐसा वैदिक संस्कृतिका सिद्धांत है। वैयक्तिक सत्ता और सामाजिक सत्ता इनकी मर्यादा ठहराना तथा व्यक्तिकी सत्ता कहां समाप्त होती है, और सामाजिक सत्ताकी कहांसे शुरूवात होती है यह निश्चित रूपसे ठहराना बहुत ही कठिन है ऐसी बहुतसे लोगोंकी समझ है और उनके विचारमें इस प्रकारकी निश्चितरूपसे मर्यादा ठहराना करीब करीब असंभव कोटिका होनेसे उसमें पडना व्यर्थ ही है ऐसी उनकी धारणा है, परंतु इसका उत्तर यही है, कि अर्थशास्त्र तथा राजकारण या राजनीति इन विषयोंका आमूलाग्र ज्ञान जिसे प्राप्त है उसे ही इन सत्ताओंके स्वरूप तथा उनकी मर्यादा बराबर समझमें आती है। एवं प्रस्तुत मंत्रमें कहे अनुसार मनुष्य अपना जीवनक्रम पूर्णतः पवित्र कर सकता है।

अबतकके विवरणमें व्यक्ति, समाज, और सृष्टि इन तीन स्वरूपोंसे सर्व सत्ताधीश ईश्वर जो देता है, उसपर ही मनुष्यको अपना जीवन चलाना

चाहिये ऐसा निश्चित है, परंतु इस स्वामित्वकी अदला बदली जो होने-वाली होती है, वह किस प्रकार की जानी चाहिये यह प्रश्न सामने आता ही है। प्रस्तुत मंत्रमें इस प्रश्नका पूर्ण तथा सयुक्तिक उत्तर पाया जाता है। मनुष्य सृष्टिमें जो भी कर्म करता है उनके दो विभाग किये जा सकते हैं, आधुनिक कालमें इन्हींको व्यक्तिधर्म और समाजधर्म नाम दिये जाते हैं। मनुष्य बुद्धि पुरःसर जो भी कर्म करता है, वे इन दो प्रकारोंमेंसे किसी एक विभागमें आते हैं। तीन या चार आश्रम और चार वर्ण यह वैदिक वर्णाश्रम धर्मकी व्यवस्था सर्वश्रुत ही है। मनुष्यने स्वतः इस सृष्टिमें कैसे रहना और बर्ताव करना यह बात आश्रम धर्मसे निश्चित की जाती है, और इसका संपूर्ण विवरण हम पिछले अध्यायमें कर चुके हैं, मनुष्यको या उस व्यक्तिका दूस-रोंके साथ कैसा व्यवहार करना चाहिये यह बात वर्ण धर्मसे निश्चित की जाती है। स्वामित्वकी अदला बदलीका प्रश्न मुख्यतः वर्ण धर्मसे ही सम-झमें आता है, और वह इस प्रकार है।

उदाहरणार्थ, ब्राह्मण वर्णके मनुष्य अपरा (आधिभौतिक) विद्या और परा (आध्यात्मिक) विद्याओंका शिक्षण दें, तो उसने ब्राह्मणोंके वर्णधर्मका आचरण किया, ऐसा सिद्ध होता है। यह कर्म करते हुए यदि उसे शिष्यसे या समाजसे या राज्यसे वेतन मिले, तो उसपर एक प्रकारसे हक या स्वामित्व उत्पन्न होता है, और इस धनसे यदि अपनी उपजीविका चलावे तो वह पहले मंत्रमें बताए अनुसार निश्चित रूपसे निष्पाप है, यह माना जाता है। यदि इस कार्यके करनेमें वह सुस्ती, मक्कारी, या दांभिकता दिखावे तो पहले मंत्रके अनुसार उसका कार्य चोरी कहलावेगा, इसमें यत्किंचित् भी शंका नहीं है। अध्ययन, अध्यापन, यजन, याजन, दान व प्रतिग्रह ये षट् कर्म ब्राह्मण वर्णके धर्ममें आते हैं, और इनमेंसे पहले तीन कर्म तो ब्राह्मणोंकी उपजीविकाके लिये ही हैं, ऐसा धर्मशास्त्रकारोंने स्पष्ट बताया है। (मनु स्मृ. १०-७६) शिक्षण प्रदान करनेपर प्रतिफल लेना अयोग्य है ऐसी बहुतसे लोगोंकी समझ रूढ हो गई है, परन्तु इस प्रश्न

पर मनुस्मृतिकारने स्पष्ट रूपमें निर्णय दिया है (२,११२-११३) और उसे ध्यानमें लेनेसे उपर्युक्त विचार धाराकी असत्यता स्पष्ट रूपसे दिखाई देती है ।

इसी प्रकार चारों वर्णोंके विषयोंकी, तथा उनके कर्तव्य कर्मोंके विषयोंकी योग्य व्यवस्था लगाई जा सकती है और उनका इस विचारधारासे मेल मिलाया जा सकता है । बुद्धोत्तर कालमें इस वैदिक वर्णधर्मकी कल्पनाका अत्यंत विपर्यास हुआ और आश्रम धर्मको लोग वर्णधर्म समझने लग गए । अत्रिस्मृति (१,३,१४-१५) में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इन चारों वर्णोंके धर्म स्वतंत्र रीतिसे बताए हुए हैं । इन धर्मोंमें चारों वर्णोंके व्यक्तियोंको अपनी योग्यतानुसार समाज कार्य करनेको कहा गया है । व्यक्तिसे या समाजसे अपनेको जो उपजीविकाके साधन लेने पडते हैं, उसके प्रति व्यक्ति या समाजके प्रीत्यर्थ परिश्रम करना अत्यंत आवश्यक है । व्यक्ति व समाजके कल्याणकी दृष्टिसे वर्णधर्मकी रचना हुई होनेसे इस प्रकारका लेन देन कर्तव्य बुद्धिसे कर सकते हैं, और इसीमें वर्णाश्रम धर्म (कर्तव्य) की रचनाका महत्त्व है । दूसरेके प्रति परिश्रम किये बिना उससे किसी प्रकारकी सहायता लेनेका मनुष्यको अधिकार नहीं पहुंचता है और इस प्रकार भिक्षा या याचना करना श्रुतिको बिलकुल मान्य नहीं है, ऐसा सिद्ध होता है । हिन्दू (वैदिक) मनुष्य अपना वर्णाश्रम विहित कर्मका प्रामाणिकतासे आचरण करनेसे उसका व्यवहारिक व पारमार्थिक प्रश्न समाधानकारक रीतिसे छूट जावे इस प्रकार वैदिक ऋषियोंने वैदिक धर्मकी रचना की हुई थी, और इस कारण एकको दूसरेके पास याचना करनेका कारण ही नहीं था इस प्रकारकी परिस्थिति समाजमें उत्पन्न हो गई थी, और इसे ही सामाजिक समताका लक्षण कहना उपयुक्त है । इस प्रकारकी सामाजिक समता राष्ट्रकी उन्नतावस्थामें ही समाजमें उत्पन्न होना संभव है ।

औपनिषद ब्रह्मविद्याके कालमें समाज पूर्णतः उन्नतावस्थामें था । और ऐसे सिद्धांत उस कालमें पूर्ण रूपेण व्यवहार्य हुए होंगे ऐसा कहना पडता है,

और इस प्रकार यह मार्ग व्यवहारिक और पारमार्थिक उन्नतिका अत्यंत पोषक होनेसे यही मार्ग अभ्युदय निश्रेयस कारक है, ऐसा निर्विवाद और स्पष्ट निष्कर्ष निकलता है। अर्थात् ब्रह्मविद्याके आधारसे ही सर्वभूत हितके अर्थात् राष्ट्रहितके तत्त्वपर वर्ण व्यवस्थाकी स्थापना, और व्यक्तिके पूर्ण विकासके आधारपर आश्रम धर्मकी स्थापना वैदिक ऋषियोंने की थी, ऐसा ही कहना पडता है। इस उपनिषदके पहले मंत्रमें "ईश्वरीय सत्ता सर्वगामी होते हुए उससे जो प्राप्त हो उसीसे अपनी जीविका चलानी चाहिये, तथा अन्य किसीकी संपत्तिका अपहार न कर" ऐसा स्पष्ट आदेश दिया है और अपने निर्वाहके साधन इस सर्वगामी ईश सत्तासे किस प्रकार प्राप्त किये जाने चाहिये, यह बात इस दूसरे मंत्रमें बताई होनेसे ये दो मंत्र एक दूसरेके पूरक किस प्रकार हैं, यह स्पष्ट हो जाता है।

उपर्युक्त विवरणसे स्पष्ट है कि प्रत्येक व्यक्तिको वर्णधर्म (समाजधर्म) और आश्रमधर्म (व्यक्तिधर्म) ऐसे दो प्रकारके कर्तव्य करने ही पडते हैं। समाज वर्णधर्मका अधिष्ठान है, और व्यक्ति आश्रम धर्मका अधिष्ठान है। सामर्थ्य संपादन, अक्लिष्ठ जीवन, संतति संवर्धन इत्यादि तत्त्वोंपर ऋषियोंने आश्रम धर्मकी स्थापना की और इसी कारण उसके तीन विभाग कर दिये हैं। ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य और वानप्रस्थ, केवल आश्रम धर्मके आचरणसे मानव जीवनकी पूर्णता नहीं होती, इसी कारण इस आश्रम धर्मको वर्ण धर्म जोड दिया गया है। सर्वभूतहित या सार्वजनिक हित ही वर्ण व्यवस्थाका मूलतत्त्व है या यों कहिये कि वैदिक कालमें समाज धर्म ही वर्णधर्मके नामसे पहचाना जाता था, और इस तत्त्वपर चारों वर्णोंका निर्माण हुआ था। आर्योंके वैभव कालमें चातुर्वर्ण्य संस्था या व्यवस्थाको जितना संभव हो सकता था, उतना निर्दोष बनानेका प्रयत्न कर वर्ण व्यवस्थाका स्वरूप परिपूर्ण अवस्थामें पहुंचा दिया था यह बात महाभारतादि ग्रन्थोंसे स्पष्ट प्रतीत होती है। इस प्रकार आश्रम धर्मके योग्य आचरणसे व्यक्तिकी पात्रता बढती है, और उस पात्रताका सार्वजनिक हितार्थ वर्ण धर्ममें सब्बी

विनियोग करनेसे राष्ट्रोन्नति या समाजोन्नति या अभ्युदय और आत्मोन्नति अर्थात् निःश्रेयस् इन दोनोंकी प्राप्ति होकर राष्ट्र व व्यक्ति इन दोनोंका पूर्ण कल्याण होता है, इस प्रकारकी इस वैदिक समाज रचनाकी व्यवस्था है।

वैदिक संस्कृतिनें इस प्रकारकी अभ्युदय निःश्रेयस् प्राप्ति यही मानव जीवनका ध्येय निश्चित किया हुआ है, और इससें मनुष्यकी ऐहिक आकांक्षाओंको योग्य स्थान प्राप्त होनेसे उसके भौतिक और आध्यात्मिक सामर्थ्योंका विकास होकर व्यवहार और परमार्थ इन दोनों दृष्टिसे मनुष्य कृतार्थ होता है, और इसी कारण वैदिक ऋषियोंने वर्णाश्रम धर्मकी रचना कर मनुष्यका वैयक्तिक और सामाजिक कल्याण व उत्कर्षका मार्ग खुला कर दिया। ब्रह्म विद्याके आधारसे सर्व प्रकारकी उन्नतिकी रचना होनेसे व्यवहार और परमार्थ एक दूसरेको पोषक होकर अभ्युदय पूर्वक मोक्ष प्राप्तिका राज मार्ग सबके लिये खुला हो गया। इतना अवश्य है, कि इस मार्गसे जानेवाले व्यक्तिको शारीरिक और बौद्धिक कष्ट अवश्य करने पडते हैं, एवं वर्णाश्रम धर्मके मार्गसे मनुष्यको अपनी उन्नति करनी पडती है, यह स्पष्ट है। जब कभी दो वस्तुओंका विचार करना होता है, तब उनमें तारतम्य निर्धारित करना अपरिहार्य हो जाता है, और इस दृष्टिकोणसे विचार करनेपर आश्रम धर्मसे वर्णधर्म ही श्रेष्ठ है, यह हमारे वैदिक शास्त्रकारोंने निर्णय दिया है तथा यही मोक्षका सर्वश्रेष्ठ साधन है यह ध्यानमें रखना अत्यंत आवश्यक है।

दशोपनिषदोंमें यद्यपि कई स्थानोंपर वर्णाश्रम धर्म विषयकी चर्चा है, तथापि ईशोपनिषद् और बृहदारण्यकोपनिषद्में इस विषयकी विशेष रूपसे चिकित्सा की हुई दिखती है। ईशोपनिषद्में प्रमेयोंके रूपसें इस विषयका संपूर्ण प्रतिपादन है। बृहदारण्यकोपनिषद्में इस प्रश्नका आमूलाग्र तथा शास्त्रीय पद्धतिसे विवेचन किया है, ईशोपनिषद्के दो ही मंत्र लेकर उपर्युक्त विवरणमें इस विषयका अबतक विचार किया है और अब हम बृह-

दारण्यकोपनिषद्में पाया जानेवाला इसी विषयके शास्त्रीय विवेचनका संक्षेपमें परामर्श लेनेका प्रयत्न करेंगे। बृहदारण्यकोपनिषद्के पहले ही अध्यायके छः ब्राह्मण हैं और इन छः ब्राह्मणोंमें मिलकर इस विषयका समग्र तथा आमूलाग्र विवेचन क्रमशः दिया है, और इसी कारण हम यहां इन छहो ब्राह्मणोंका सारांश संक्षेपमें प्रस्तुत करेंगे।

पहले अध्यायके पहले ब्राह्मणमें अश्वमेध यज्ञमें अश्वका जगत् पर रूपक किया हुआ है, या यों कहा जा सकता है कि अश्वमेधके रूपकसे सृष्टिका वर्णन किया है, इस रूपकमें जगत् या सृष्टिमेंके २७ तत्वोंका उल्लेख है। उपमाके अनुसार रूपकमें भी उपमेय और उपमान ऐसे दो भाग होते हैं। इस ब्राह्मणके मंत्रोंके अन्वयमें पहले सृष्ट पदार्थोंके नामोंका उल्लेख है, और दूसरा अश्वके अवयवोंका उल्लेख है (यह उल्लेख मनुष्य शरीरको भी लागू हो सकता है) वे २७ विषय ये हैं—

प्रभातकाल	= मस्तक	दिशा	= पार्श्वभाग
सूर्य	= आंख	उपदिशा	= पसलियें
वायु	= प्राण	ऋतु	= अवयव
अग्नि	= खुला हुआ मुंह	महीने पखवारे	= अंगुलियां
संवत्सर	= शरीर	संपूर्ण दिवस	= पांव
द्युलोक	= पृष्ठभाग	नक्षत्र	= हड्डी
अंतरिक्ष	= पेट	बाल	= अन्न (पेटमेंका)
मेघ	= मांस	बिजली	= जम्हाई
नदी	= मलवाहक स्थान	मेघ गर्जन	= शरीर कंपन
पर्वत	= यकृत, प्लीहा	पर्जन्य वृष्टि	= मूत्र विसर्जन
औषधि वनस्पति	} केश	वाणी	= वाणी
उदयकाल	= पुरोभाग	महिमा (आगेकी सुवर्ण थाली)	= दिन
अस्तकाल	= पार्श्वभाग	महिमा (पीछेकी चांदीकी थाली)	= रात
पृथ्वी	= पांव रखनेकी जगह		

उपर्युक्त अश्वके वर्णनमें उसके शरीरके अवयव तथा कुछ शारीरिक क्रियाओंका भी उल्लेख है। जगत् पर यज्ञीय अश्वका रूपक कर पारमार्थिक दृष्टिसे यह जगत् अत्यंत उपयुक्त तथा अभ्यसनीय है ऐसा ऋषिने दर्शाया है। पिछले एक अध्यायमें मनुष्यका जीवन यज्ञमय कैसे है, यह हमने स्पष्ट रूपसे सिद्ध किया है। इस ब्राह्मणमें सारा जगत् या सृष्टि और तदंतर्गत सारे व्यवहार यज्ञमय कैसे हैं, यह स्पष्ट किया होनेसे इस रूपकमें मनुष्य शरीर और जगत् या सृष्टि इन दोनोंका संपूर्णतया साम्य किस प्रकार है इसे सिद्ध करनेके लिये ही यह रूपकात्मक वर्णन है, ऐसा समझनेमें कोई आपत्ति नहीं है।

दूसरे ब्राह्मणमें पहले ब्राह्मणके अश्वमेधके रूपकका ही विस्तार थोडे अन्तरसे किया है। सृष्टिचक्रकी रूपरेखा ध्यानमें लेकर ही पहले ब्राह्मणमें अश्वमेधका रूपक बांधा गया है। जगत् उत्पत्तिका वर्णन करना इस दूसरे ब्राह्मणका विषय है। जगत्की उत्पत्तिके पहले कहीं कुछ भी नहीं था, केवल मृत्यु ही सर्वत्र व्याप्त थी और भक्षण करनेकी इच्छा यही इस मृत्युका स्वरूप है, ऐसा बताया है। इस प्रकारकी इच्छासे युक्त ऐसा विरल द्रव्य उत्पन्न हुआ जिस (विरल द्रव्य या आप्) में उष्णता शक्ति भरी हुई थी, और इस शक्तिको ही अर्क यह संज्ञा इस मंत्रमें दी हुई है। इस विरलद्रव्यका घनीभवन होकर पृथ्वी तथा तीनों लोक (एक भाग पृथ्वीसे संयुक्त हुआ, दूसरा भाग वायु या अंतरिक्ष और तीसरा आदित्यद्युलोक) निर्माण हुए।

इस प्रकार तीनों लोक निर्माण होनेपर अर्थात् त्रैलोक्यकी रचना होनेपर वनस्पति इत्यादि जीव सृष्टिको आरंभ होकर मानव प्राणी बननेतक उसकी उत्क्रांति हुई, तथा समाज बना कर रहनेके योग्य परिस्थितिमें मनुष्य प्राणी पहुंच गया। त्रैलोक्यके समान ही प्राणी सृष्टिके निर्माणमें परमेश्वरकी इच्छा कारणीभूत हुई होनेसे उत्पन्न हुआ जगत् ईश्वरोपासनाके उपयुक्त बनकर पवित्र हो, यही वह इच्छा है, ऐसा समझनेमें कोई आपत्ति निश्चित ही नहीं है, और इस इच्छासे परमेश्वरने सब प्राणी, मानवीसमाज, वेद और

यज्ञ इन सारोंकी उत्पत्ति की। परमेश्वरके चलाए हुए सृष्टिके उत्पत्ति, स्थिति लयका व्यवहार ही अश्वमेध यज्ञ है। त्रैलोक्यकी संघटना कर तथा उसका संवर्धन कर उसकी पवित्रता कायम रखना, ये तीनों हेतु परमेश्वरकी रचाई हुई सृष्टिके व्यवहारसे स्पष्ट हैं और इन तीनों उद्देश्यों पर ही श्रौत धर्मके अश्वमेध यज्ञकी प्रस्थापना की गई है यह स्पष्ट है और यही दूसरे ब्राह्मणका सारांश है।

तीसरे ब्राह्मणमें देव व असुर इनके कलहका उल्लेख है इसमें यह स्पष्ट करनेका प्रयत्न किया गया है, कि उस कालमें प्रजापति ही यज्ञका देवता माना जाता था, और यज्ञ ही मानवका मुख्य धर्म माना जाता था। पहले साम गायनको यज्ञ संस्थामें स्थान प्राप्त नहीं था, परंतु बादमें यज्ञ संस्थामें साम गायनको जोड दिया गया। इस सामगायनमें प्राणके अतिरिक्त अन्य सारी इंद्रियाँ निरुपयोगी ठहरीं, और इस कारण जिसका प्राण सामर्थ्य पूर्ण रूपसे हो वही उद्‌गाताका कार्य करनेके योग्य माना गया। १८ वें मंत्रमें प्राण और अन्य सारे इंद्रिय देवताओंके संगठनका अत्यंत मार्मिक तथा मनोरंजक वर्णन कर मंत्र २२ में प्राण तत्त्वका सामसे एक रूपत्व कैसे है उसका वर्णन है; और अन्तमें मंगलाचरणके मंत्रमें प्रस्तोताने अमृतत्व प्राप्तिकी प्रार्थना की है, और इस प्रकार प्रतिपादन की हुई प्राणोपासना ही अमृतत्व प्राप्तिके मार्गका एक महत्त्वपूर्ण साधन है, यह स्पष्ट किया हुआ है।

चौथा ब्राह्मणका विषय महत्त्वपूर्ण होनेसे उसका थोडा विस्तृत विवरण नीचे दिया जाता है। इस ब्राह्मणमें सृष्टिकी उत्क्रांतिका वर्णन है, और प्राणीशास्त्र तथा समाज शास्त्रकी दृष्टिसे वह अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। सृष्टिके आरंभ कालमें जब मूलमें अव्यक्त व निर्गुण परब्रह्म देश कालादि नाम रूपात्मक सगुण शक्तियोंसे व्यक्त या दृश्य सृष्टिरूप हुआ अर्थात् जब जड सृष्टिका प्रारंभ हुआ तब उसमेंकी अनुस्यूत रहनेवाली संवेदनाको "अहम्" अर्थात् मैं यह आकार प्राप्त हुआ तब इसीको शास्त्रकारोंने अहं प्रत्यय यह संज्ञा दी है, इस अहं प्रत्ययके प्रकट होनेके पहले निर्गुण निराकार ऐसी

संवेदनाको किसी प्रकारका नाम नहीं दे सकते थे। इस प्रकार जड व चेतन या रयि व प्राण इनका मिथुन (मिश्ररूप) शुद्ध ब्रह्मसे प्रकट हुआ। इसी मिश्ररूपको शबल ब्रह्म भी कहते हैं और जगच्चालक परमेश्वर स्वरूप भी यही है। इस परमेश्वरसे ही भौतिक सृष्टि, अर्थात् जड सृष्टि उत्पन्न हुई है और यह जड द्रव्य केवल जड द्रव्य ही नहीं है, अपितु उसमें चैतन्य भरा हुआ है। जडमें रहनेवाली यह चिच्छक्ति उत्क्रमणशील रहनेसे उसकी उत्क्रांतिका व्यापार बराबर शुरू रहना अपरिहार्य ही था, परंतु यह शक्ति अमर्यादित होते हुए भी उसका व्यापार जड द्रव्यके कारण मर्यादित ही रहता है। उत्क्रांति व्यापारके योगसे ही चिच्छक्तिमें अहं प्रत्यय प्रकट हुआ, और यहींसे चैतन्यके विकासका प्रारंभ हुआ।

इस अहं प्रत्ययके प्रकट होनेपर उसके चारों ओर भिन्न भिन्न गुणधर्म एकत्रित होने लगे। इन सारे गुण धर्मोंके मूल या जडमें इच्छा शक्ति रहनेसे अहं प्रत्ययके सारे सहकारी गुणधर्मोंको यह इच्छा ही कारणीभूत होती है। स्वतः जैसे अहं प्रत्ययसे युक्त रहनेवाले दूसरे पदार्थोंका अपनेसे सहवास हो इस प्रकारकी इच्छा उत्पन्न होनेपर सजातीयोंसे संयोग और विजातियोंसे वियोगकी भावना होना क्रम प्राप्त ही था, और यहींसे ग्राह्याग्राह्य विचारोंका आरम्भ होता है और इन ग्राह्याग्राह्य विचारोंके साथ अल्प प्रमाणमें कार्याकार्य विचारोंका भी प्रारंभ होता है। इन सारे व्यापारोंमें रति, भय, प्रयत्न, विवेक, संयमन आदि गुणधर्म यथावकाश प्रकट होने लगते हैं। चैतन्यके योगसे होनेवाला यह गुण विकास जडके आश्रयसे ही होनेसे जैसे सृष्टिमें अमृतत्व वल्लीके साथ साथ विषवल्लीकी भी बाढ होती है वैसे ही अच्छे गुणोंके साथ साथ दोषोंकी भी वृद्धि होना अनिवार्य था, और अभी बताए हुए त्यागोंके साथ इन दोषोंका भी प्रतिकार करना पडता है, और इन्हीं सारी प्रक्रियाओंको गुण विकास कहा जा सकता है। इस प्रकार गुण विकासकी उत्क्रांति होते होते स्वतःका क्षेत्र छोडकर अन्य या दूसरे पदार्थोंके विषयमें तात्त्विक दृष्टिसे विचार कर-

नेकी शक्ति भी प्रकट होती है, और यहीं या इसी स्थानसे मानवताका प्रारंभ होता है।

जिस आत्मतत्त्वने एक परमाणुसे संयुक्त होकर गुणविकासका प्रारंभ किया था, वह परमाणुके उपाधिसे परमाणु जैसा ही मालूम होनेवाला आत्म तत्त्व धीरे धीरे मानवी जीवात्माके स्वरूपमें आ पहुंचा। जडके संयोगकी कल्पना यदि छोड दी, तो शुद्ध आत्मतत्त्वमें उत्क्रांति या अपक्रांतिका संभव ही नहीं है, यह बात यद्यपि सच है तथापि आत्मतत्त्व जडके साथ संयुक्त होकर उसकी उत्क्रांति करते रहनेसे ये सारे व्यवहार जड संयुक्त आत्मतत्त्वपर ही होते हैं, ऐसा समझनेमें कोई आपत्ति नहीं है। जीवकी उत्क्रांति मानवतक पहुंचनेपर मनुष्यके जीवात्माके चारों तरफ रहनेवाले सारे गुण धर्मोंकी बुद्धि ही सर्वाधिकारी होती है। इच्छाशक्ति यह एक गुण विकासका कारण होती है, ऐसा हम ऊपर पहले ही बता चुके हैं।

जब अन्य गुणधर्मोंके साथ साथ इच्छाशक्तिकी उत्क्रांति हुई, और उसे ही मानव बुद्धिका श्रेष्ठ पद प्राप्त हुआ, तब मनुष्यकी बुद्धिमें तत्त्व जिज्ञासा उत्पन्न होना निसर्ग सिद्ध ही था ऐसा कहा जा सकता है और उसका अर्थ यही है, कि इच्छा शक्तिका मानव बुद्धिमें परिणित होना उसका एक उत्क्रांत गुण है। मानव बुद्धिमें इस प्रकार तत्त्व-जिज्ञासा उत्पन्न होनेपर पिंड ब्रह्मांडका तात्त्विक निरीक्षण शुरू होता है, और चारों ओरसे शुरू हुए इस निरीक्षणका पर्यवसान ब्रह्मज्ञानमें होनेपर वह तत्त्व-जिज्ञासा पूर्ण होती है, अर्थात् जो आत्माकी कल्पना प्रारम्भमें केवल अहं प्रत्ययतक ही सीमित थी, वह इस प्रकारके ब्रह्मज्ञानके योगसे विस्तार पाकर ब्रह्माकार हो जाती है। उत्क्रांतिकी भाषामें यदि कहना चाहें तो आत्मा, जीवात्मा, परमात्मा और परब्रह्म ये आत्मतत्त्वकी चारों भूमिका गुण विकाससे ही संपन्न होती हैं, ऐसा कहा जा सकता है। तात्पर्य यह है, कि अहं प्रत्ययसे उत्क्रांतिका प्रारंभ होता है, और अहं ब्रह्मास्मि इस प्रत्ययमें उसकी पूर्णता होती है।

स्थूल मानसे उत्क्रांतिके दो भेद किये जा सकते हैं। उसमेंसे पहलीको नैसर्गिक उत्क्रांति और दूसरीको बौद्धिक उत्क्रांति नाम दिये जा सकते हैं। नैसर्गिक उत्क्रांतिके व्यापार निसर्ग नियमोंसे बिना किसी रूकावटके परंतु बहुत ही मंद गतिसे चलते रहते हैं। जीव मनुष्य योनितक पहुंचनेपर बौद्धिक उन्नतिका व्यापार बौद्धिक दिव्य सामर्थ्योंकी सहायतासे जल्दी किये जा सकते हैं। आत्म-संयमन, विद्याव्यासंग और ईश्वरोपासनाकी बुद्धिसे किये हुए कर्तव्याचरण इन सारे साधनोंकी बौद्धिक सामर्थ्यको जोड देनेसे जीवकी उत्क्रांति शीघ्र होती रहती है।

इसके विपरीत यदि यह जोड न दी गई तो मानव बुद्धि दुर्गुणोंके फेरमें पडनेसे जीव उत्क्रांतिके मार्गसे पीछे खिंच जाता है। इस प्रकारकी अवन॰तिसे बचनेके लिये ही हमारे ऋषियोंने निसर्ग नियमोंका पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर ही वैदिक धर्मकी स्थापना की, और व्यक्ति धर्म और समाजधर्म इन दोनों प्रकारसे मानवके उत्क्रांतिका मार्ग सुलभ कर दिया। व्यवहार और परमार्थ ये एक दूसरेसे अलग न दिखें अर्थात् उनका सहयोग पूर्ण मालूम हो इस प्रकार उन्हें आपसमें गूंथकर मनुष्यकी मर्यादाशील प्रमाणमें विषय वासना पूर्ण होते हुए उसके हाथसे ज्ञानार्जन, ईश्वरोपासना कर्तव्याचरण आदि योग्य प्रकारसे हों, और इस तरह उसकी पूर्ण उत्क्रांति हो, ऐसी योजनासे ही वैदिक धर्मकी रचना की है। संपत्ति कमाना और उसका विनियोग करना ये व्यवहारके मुख्य भाग हैं। इन्हें वैदिक ऋषियोंने परमार्थको जोड देनेसे वैदिक समाजका व्यवहार धर्म्य हो गया और वैदिक धर्म व्यवहार्य हो गया।

इस विषयको आधुनिक कालमें स्पष्टरूपसे समझनेके हेतु इस विषयका विवेचन जो तैत्तिरीय उपनिषद्के भृगुवल्लीमें आया है, उसे यहां प्रस्तुत करते हैं।

मंत्र १५— "अन्नं न निन्द्यात्। तत् व्रतम्।" अन्नकी निन्दा न करना ही व्रत है।

मंत्र १६— " अन्नं न परिचक्षीत । तत् व्रतम् " अन्न (संपत्ति) को त्याज्य न समझना ही व्रत है ।

मंत्र १७— " अन्नं बहु कुर्वीत । तत् व्रतम् " अन्न (जीवन सामग्री) प्रचुर मात्रामें संपादन करना ही व्रत है ।

मंत्र १८— " न कंचन वसतौ प्रत्याचक्षीत । तत् व्रतम् " किसीको भी आश्रय देनेसे इन्कार न करना ही व्रत है ।

" तस्मात् यया कया च विधया अन्नम् बहु प्राप्नुयात् अस्मै अन्नं अराधि इति (ब्रह्मविदः) आचक्षते । "

अर्थ- " इस कारण किसी भी योग्य मार्गसे विपुल जीवन सामग्री संपादन करना चाहिये, क्योंकि आश्रयार्थी मनुष्यके लिये ही यह सामग्री सिद्ध की हुई है, ऐसा (ज्ञानी लोग) कहते " हैं ।

मंत्र १९— एतत् वै मुखतः अस्मै अन्नं राध्यते (चेत्) मुखतः अन्नं राद्धं भवति । एतत् वै मध्यतः अस्मै अन्नं राध्यते (चेत्) मध्यतः अन्नं राद्धं भवति । एतत् वै अन्ततः अस्मै अन्नं राध्यते (चेत्) अन्ततः अन्नं राद्धं भवति यः एवं वेद ॥

अर्थ- " यह अन्न (संपत्ति, धन, जीवन सामग्री) आश्रयार्थी लोगोंके लिये यदि उत्तम बुद्धिसे अर्थात् योग्य मार्गसे संपादन किया हो, तो उसका उत्तम फल मिलता है, मध्यम बुद्धिसे संपादन किया हो, तो उसका मध्यम फल मिलता है और कनिष्ठ या हीन बुद्धिसे संपादन किया हो, तो उसका कनिष्ठ फल मिलता है । जिस वृत्तिसे धनका उपयोग किया जाय, उसी रीतिसे उसका उपयोग होता है " ।

अर्थ शास्त्रकी दृष्टिसे ये मंत्र अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं । संपत्ति इस अर्थसे ही यहां अन्न यह शब्द आया है । " मनुष्यको अपने निर्वाहकी आवश्यकतासे अधिक संपत्ति नहीं एकत्रित करना चाहिये " ऐसा समाज सत्ता-

वादियोंका कहना है, क्योंकि इससे एक मनुष्य अत्यंत श्रीमंत और दूसरा भिखारी, ऐसा वैषम्य समाजमें निर्माण होता है, इस कारण संपत्तिका संचय न किया जावे, ऐसा निर्बंध लगानेसे अधिक धन कमानेकी इच्छा (संपत्ति कमाना भी एक कला है, और यह हरएक कोई करना चाहे तो नहीं कर सकता) ही नष्ट हो जायगी, और इस प्रकार सामाजिक वैषम्य नष्ट होनेके साथ साथ मनुष्यकी कर्तृत्वशक्ति भी नष्ट हो गई, तो एकंदर समाज भी दुर्बल हो जावेगा; तथा इस प्रकार एक सामाजिक अनिष्ट आ पडेगा, और तत्पश्चात् हमें यह कहनेका अवसर आवेगा, कि इस दुर्बलतासे श्रीमंत-गरीब ऐसा सामाजिक वैषम्य ही अच्छा था।

सामाजिक वैषम्यकी सीमा निर्धारण करना एक बात है, और इस प्रकारके वैषम्य निर्मूल या नष्ट करना दूसरी बात है। बुद्धिमान्=अप्रबुद्ध, पराक्रम=दौर्बल्य, होशियारी=मूर्खता इस प्रकारके गुणदोष मनुष्यकी बुद्धिमें निसर्गतः ही होते हैं, और इन्हींसे फिर वैषम्यका प्रारंभ होता है, और बादमें वह बढती जाती है। वेदांतमें संपत्ति कमाना निन्द्य नहीं ठहराया है, इसके विपरीत अधिकसे अधिक संपत्ति योग्य मार्गसे उत्पन्न करना व उसका सद्व्यय या सदुपयोग करना ही प्रत्येक व्यक्तिका पवित्र कर्तव्य है ऐसा ब्रह्म विद्याका आदेश तथा उपदेश है। इस प्रकारका अलौकिक कार्य अन्य कोई भी धर्मसंस्थापक नहीं कर सके परंतु वैदिक ऋषियोंने इसी कार्यको प्रत्यक्ष कर दिखाया है और इसी कारण अभ्युदय और मोक्ष या निःश्रेयस् ये दोनों फल उपासकके पल्लेमें वैदिक धर्मको डालते आए। व्यवहार और परमार्थ इन दोनोंका मेल मिलानेके कारण व्यक्ति धर्मसे समाज धर्मको सहजमें ही श्रेष्ठत्व प्राप्त हुआ। श्रम विभागके तत्वपर गुण कर्मानुसार ऋषियोंने वर्ण व्यवस्थाकी स्थापना की।

इस वर्ण व्यवस्थामें पारमार्थिक दृष्टिसे श्रेष्ठ कनिष्ठ भाव बिलकुल नहीं था। यह वर्ण व्यवस्था बिलकुल प्रारंभमें जन्म सिद्ध नहीं थी परंतु इसके प्रस्थापनाके बाद वैदिक कालमें ही जन्म सिद्ध ठहरा दी गई, और इस

प्रकारकी विचारसारणी आधुनिक शास्त्रीय दृष्टिसे भी ठीक ही है ऐसा कहनेमें कोई आपत्ति नहीं दिखाई देती, या इसमें यत्किंचित् भी शंका नहीं है। आजके आधुनिक शास्त्रज्ञोंके मतसे पूर्णतया निःस्वार्थ वृत्तिकी वर्ण व्यवस्थाका निर्माण असंभव कोटिका है ऐसी उनकी पूर्ण धारणा है। इसी असंभव बातको वैदिक ऋषियोंने केवल निर्माण ही नहीं किया परंतु उसे व्यवहारमें परिणत कर आदर्श समाज रचना कर दिखाई। सार्वजनिक हितकी बुद्धिसे समाज धर्म आचरण करनेवाला मनुष्य सबोंको प्रिय ही रहता है, और इस कारण इस प्रकार सहज रीतिसे ही उसका धर्माचरण उसे अभ्युदयकारक ही होता है। यही समाजधर्मके आचरण या कर्तव्य यदि परमात्माकी उपासनाकी बुद्धिसे किये जांय तो वे कर्म अक्षय फल दायक होते हैं जैसा कि मंत्रमें स्पष्ट कहा हुआ है, अर्थात् ऐसे कर्मोंसे उसे मोक्ष प्राप्ति ही होती है। इन सब कारणोंसे वैदिक धर्म अभ्युदयकारक होते हुए वही मोक्षदायक भी होता है ऐसा सिद्ध होता है। ब्रह्मज्ञानके योगसे मनुष्यका आत्मसंयमन पूर्ण होनेसे उसकी बुद्धि नितांत रूपसे शुद्ध तथा सचमुचमें निष्काम बन जाती है अर्थात् वह देवतारूप ही हो जाता है, यही बुद्धियोग है और इस प्रकारके योग युक्त बुद्धिसे किये गए कर्मोंका मोक्ष साधनोंमें अन्तर्भाव किये बिना गत्यंतर ही नहीं है।

अब यहांसे फिर चौथे ब्राह्मणके विषयकी ओर मुडते हैं। इस प्रकारके सृष्टिक्रममें मानव प्राणी उत्पन्न हुआ और उसकी बुद्धि सर्वंकषा प्रभावशालिनी ठहरी, तब इस मानव बुद्धिका व्यवहारोंपर परिणाम होना अपरिहार्य ही था। मानव बुद्धिमें सजातीय संघटना या समाज बनाकर रहनेकी चाह, यह उसका स्वभाव सिद्ध धर्म ही है। मानव बुद्धि लोकोत्तर हो तो भी वह सृष्टि नियमोंके अनुसार तथा उनके आधारपर ही उत्क्रांत होती आई है। समाज प्रियता यह धर्म मानवी बुद्धिमें आकस्मिकतासे उत्पन्न नहीं हुआ है, अपितु वह जड सृष्टिके प्रारंभसे ही परिणत होते चला आया है।

❀

मानवी बुद्धिके वैशिष्ट्यकी दृष्टिसे उसके समाज प्रियतामें वैशिष्ट्य दिखाई दिया, तो उसमें बडे आश्चर्यकी बात नहीं है। सांप्रतकालमें पृथ्वी-पर जितनी भी परंपराएं अस्तित्वमें हैं इन सबोंमें वैदिक समाजकी परंपरा अत्यंत प्राचीन होनेसे वैदिक समाज ही पृथ्वीतलपर प्रथम समाज था, ऐसा कहनेमें कोई आपत्ति नहीं है। यह वैदिक समाज भी किसी न किसी समयपर हेतु पुरःसर ही बनाया गया है, इसमें यत्किंचित् भी शंका नहीं है। इस समाजके शास्त्रीय प्रमेयोंके आधारपर बनाए जानेके पहले सारे वैदिक धर्मानुयायी " ब्राह्मण " इस संज्ञासे संबोधित किये जाते थे, और यह समाज प्रभावशाली न होने पाया था। बृह. (१,४,१३) इस कारण इस सारे वैदिक समाजके लोगोंकी सुस्थिति कायम रहे, इस उद्देश्यसे समाज संस्थाके प्रस्थापनाकी आवश्यकता प्रतीत होकर तत्कालीन ब्रह्मवेत्ता ऋषि उस शास्त्रीय कार्यमें लग गए।

वैदिक ऋषियोंने इस प्रकारके समाज संघटनोंका कार्य जिन शास्त्रीय नियमोंके आधारपर किया उसका कुछ परिचय हमें प्रश्नोपनिषद्के (३,४-५) में मिलता है।

यथा सम्राट् एव अधिकृतान् एतान् ग्रामान् एतान् ग्रामान् अधितिष्ठस्व इति विनियुंक्ते एवम् एव एषः प्राणः इतरान् प्राणान् पृथक् पृथक् सन्निधत्ते ॥

अर्थ– " जिस तरह सम्राट् स्वयं अधिकारी पुरुषोंसे कहता है तू इन ग्रामोंपर तू इन ग्रामोंपर अधिकार चला, उसी तरह मुख्य प्राण अन्य प्राणोंको पृथक् पृथक् स्थानोंपर नियुक्त करता है। मल मूत्र स्थानोंमें अपानको, मुख, नासिका, नेत्र, कर्ण इन स्थानोंपर प्राण स्वयं रहता है और मध्यमें समान रहता है।" इस तरह सम्राट्के अधिकारियोंकी नियुक्ति करनेकी उपमा प्राणोंकी नियुक्तिके लिये दी हुई है। श्वेताश्वतर (३,१४-१५) से स्पष्ट है कि समस्त जगत् परम पुरुष परमात्माका ही स्वरूप है। इस संपूर्ण विवरणसे यह स्पष्ट है, कि वैदिक ऋषियोंने जो समाज रचनाका कार्य किया वह पिंड ब्रह्मांडका शास्त्रीय संशोधन तथा सूक्ष्म निरीक्षणसे किया

है और जिस प्रकार " जो पिंडी सो ब्रह्मांडी " यह प्रमेय उन्होंने प्रस्थापित कर सारे तत्त्वज्ञानको शास्त्रीय आधार दिया उसी प्रकार " जो पिंडमें है वही समाजमें या राष्ट्रमें है, " यह प्रस्थापित कर व्यष्टि, समष्टि और परमेष्ठी इस त्रयीका साम्य प्रस्थापित कर इसीके आधारपर संपूर्ण समाज-रचना की । इस प्रकार किये हुए व्यष्टि समष्टि या व्यक्तिका शरीर और समाज, राष्ट्र, या साम्राज्यके साम्य किस प्रकार हैं उसके कुछ उदाहरण हम यहां देते हैं:—

शरीरमें	राष्ट्र, साम्राज्य या नेशनमें
१. शरीर शासक जीव या आत्मा	१. राष्ट्र शासक सम्राट्, अध्यक्ष, या राष्ट्र नेता.
२. शरीरमें कोट्यवधि अणुजीव	२. राष्ट्रमें कोट्यवधि मनुष्य
३. प्रत्येक अणुजीव स्वतंत्र रीतिसे जन्मता रहता है और मरता है।	३. प्रत्येक मनुष्य स्वतंत्र रीतिसे जन्मता रहता है और मरता है
४. बुद्धि, मेधा, धारणा, चिन्तनशक्ति	४. राष्ट्र शासकको सुसंमति देनेवाली राज्य तथा लोक सभा।
५. मन, अहंकार	५. महामंत्री, मंत्री-मंडल, राष्ट्राभिमान
६. ज्ञानेन्द्रियां	६. ज्ञानप्रसार करनेवाले (ब्राह्मण वर्ग या शिक्षण विभाग)
७. कर्मेन्द्रियां	७. कर्मकुशल वर्ग, कार्यकर्ता, शिल्पी इत्यादि (शूद्र वर्ग)
८. प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान	८. रक्षक, आरक्षक, सैनिक, स्वयंसेवक, (क्षत्रिय वर्ग) वाणिज्य व्यवसाय (वैश्य इत्यादि वर्ग)
९. इंद्रिय, अंग, अवयव तथा इनके बुद्धि केन्द्र	९. प्रांत, उपप्रांत, विभाग तथा उनके अधिकारी वर्ग ।
१०. शरीर (व्यक्ति)	१०. राष्ट्र, देश (समाज या समूह)

उपर्युक्त उदाहरणोंसे शरीरको राष्ट्र करके वर्णन करनेसे शरीरके वर्णनसे राष्ट्र शासनके लिये उत्तम बोध मिलता है, और जाने न जाने राज्य शासनको भिन्न भिन्न प्रकारका कार्य जो दुनियामें चल रहा है, उसे शास्त्रीय दृष्टिसे कैसे निश्चित करना चाहिये इस विषयका बोध मिलता है।

अब हम बृहदारण्यक उपनिषद्के चौथे अध्यायका बचा हुआ विवरण फिर शुरू करेंगे। हमने ऊपर स्पष्ट किया है कि समाजको सुसंगठित कर उसे प्रभावशाली बनानेके शास्त्रीय कार्य करनेमें हमारे तत्कालीन ऋषिगण लग गए। सर्व प्रथम उन्होंने यह विचार किया, कि सारे समाजके स्वास्थ्य को बाधक हों, ऐसी बातोंका निवारण तथा स्वास्थ्यको पोषक हों, ऐसी बातोंका प्रबंध करना यही बातें मुख्य होती हैं और इस कारण ऐसी सारी बातोंका वर्गीकरण कर उन्होंने इनको लगनेवाले सारे कार्योंके तीन गट या भाग बनाए, और उसमेंसे एक भागका कार्य उनके समाजके जिस वर्गपर सौंपा गया उसे क्षत्रिय यह संज्ञा प्राप्त हुई।

बृहदा. (१,४,११)— अग्रं इदम् ब्रह्म वै आसीत्। तत् एकम् सत् न व्यभवत्। तत् श्रेयोरूपम् क्षत्रम् अत्यसृजत। यानि एतानि इन्द्रः, वरुणः, सोमः, रुद्रः, पर्जन्यः, यमः, मृत्युः, ईशानः इति देवत्रा क्षत्राणि (सन्ति)॥

अर्थ- " पहले यह सारा समाज ब्रह्म या ब्राह्मण रूप ही था, सारा ही समाज एकरूप होनेके कारण वह प्रभावशाली न होने पाया। इस कारण जैसे सृष्टि या निसर्गकी देवताओंमें इंद्र, वरुण, सोम, रुद्र, पर्जन्य, यम, मृत्यु, ईशान्य ऐसे ऐसे संरक्षक देव हैं, वैसे ही पहलेके एकाकी ब्राह्मण समाजसे योग्य व्यक्तियोंको छांटकर उनका क्षत्रिय वर्गका निर्माण किया।"

इस मंत्रसे यह स्पष्ट है वैदिकधर्मी समाजमें चातुर्वर्ण्य समाज संस्था प्रस्थापित होनेके पहले वह सारा समाज ब्राह्मण इस नामसे ही पहचाना जाता था, अर्थात् वैदिक धर्मी समाजका नाम ही ब्राह्मण था। इसमें संरक्षणका कार्य जिस वर्गको निर्माण कर उसीको सौंप दिया गया, उसे

क्षत्रिय संज्ञा दी गई। संरक्षणका कार्य जिसकी तरफ होता है, उसीको श्रेष्ठत्वका स्थान प्राप्त होता है और इसी दृष्टिसे इस ब्राह्मण समाजका क्षत्रिय वर्ग श्रेष्ठ ठहरा। इस प्रकारके क्षत्रिय वर्गके निर्माणके बाद भी—

(बृहदा. १,४,१२)— सः न एव व्यभवत्। वसवः, रुद्राः, आदित्याः, विश्वेदेवाः, मरुतः इति यानि एतानि देवजातानि गणशः आख्यायन्ते (तथा) सः विशम् असृजत्॥

अर्थ- "वह समाज व्यवस्थापक ब्राह्मणवर्ग पूर्ण समर्थ नहीं हुआ, वसु रुद्र, आदित्य, विश्वेदेव व मरुत् ऐसे जो देव समूह रूपसे उल्लेखित हैं तद्वत् उस ब्राह्मण वर्गने वैश्य वर्ण बनाया। अर्थात् वैश्योंके संघटित ऐसे मंडलोंकी स्थापना की"। समाजकी वृद्धिके साथ जीवनक्रमको लगनेवाले सारे साधन एक स्थानपर प्राप्त नहीं हो सकते। इस कारण ऐसी वस्तुओंका योग्य संचय कर भिन्न भिन्न स्थानोंमें उनको पहुंचानेके कार्योंके लिये ही व्यापारियोंकी संघटित संस्थाओंकी स्थापनाका या निर्माणका कार्य किया गया और उस वर्गको उपरि निर्दिष्ट कार्य सौंपा गया। इस पर भी—

बृहदा. (१,४,१३)— सः न एव व्यभवत्। सः पूषणम् शौद्रम् वर्णम् असृजत्। इयम् वै पूषा, यत् इदम् किंच हि इदम् सर्वम् पुष्यति॥

अर्थ- वह समाज व्यवस्थापक ब्राह्मणवर्ग अब भी पूर्ण समर्थ नहीं हुआ (इस कारण) उसने समाजको पोषण करनेवाला शूद्र वर्णका निर्माण किया। चूंकि पृथ्वी ही पूषा है, क्योंकि जो कुछ भी है, उन सबोंका पृथ्वी ही पोषण करती है उसी प्रकार पोषण करनेवाला शूद्र वर्ण बनाया गया। आज शूद्र यह शब्द साधारणतः निंदा व्यंजक समझा जाता है। इस मंत्रके सूक्ष्म निरीक्षणसे स्पष्ट होता है, कि इस मंत्रमें हीन अर्थसे शूद्र

शब्द नहीं आया है। समाजमें उसका वास्तविक स्थान क्या है, उसे स्पष्ट करनेके हेतुसे यह शब्द आया है। पाणिनीय व्याकरणमें काटना, घिसना, तोडना, इत्यादि अर्थसे शद् धातु आई है। इस शद् धातुको "र" यह प्रत्यय लगाकर उपान्त्य "अ" कार की जगह ऊकारके आदेश करनेसे शूद्र शब्द तैयार होता है। इस प्रकारसे सिद्ध किये गए "शूद्र" इस शब्दके अर्थमें किसी प्रकारकी हीन या नीच कल्पना आ ही नहीं सकती।

प्रस्तुत मंत्रमें शूद्र शब्दकी उत्पत्ति बताई गई है। वैश्य वर्णके निर्माण करनेपर समाजके आवश्यकतानुसार जीवन सामग्री पुराने और पहुंचानेकी उत्तम व्यवस्था हो गई, परंतु जीवन सामग्री या उसे उत्पन्न करनेकी व्यवस्था हुए बिना इसका कोई उपयोग नहीं हो सकता, और इस कारण उत्पादक वर्ग निर्माण या तैयार करना अत्यंत आवश्यक था। भूमि या पृथ्वी यह जीवनके साधन सामग्रीका केन्द्र या खजाना, या कोठार ही है, ऐसा समझनेमें कोई आपत्ति नहीं है, और इस कारण इस जमीनको कस कर इससे अनेक उपयुक्त और जीवनोपयोगी पदार्थ निर्माण या उत्पन्न करनेवाले वर्गको निर्माण किया गया और इसीको शूद्र संज्ञासे जाना जाने लगा। इस प्रकार इस वर्गमें आजकी परिभाषामें खेती, गौरक्षण, खनिज, पदार्थ उत्पादन, शिल्प, टेक्सटाईल आदि सब शामिल किये जा सकते हैं। भूमि जैसे प्राणिमात्रका पोषण करती है उसी तरह यह शूद्र वर्ग या वर्ण सबका पोषण करता है और इस प्रकार इसे दी हुई शूद्र यह संज्ञा यथार्थ ही सिद्ध होती है। गीता (१८,४४) में शूद्रोंका वर्णधर्म "परिचर्या" है ऐसा कहा है और इससे यही निष्कर्ष निकालना पडता है, कि गीता-कालमें वैश्य व शूद्र इन दोनों वर्णोंके कर्मोंमें बहुत कुछ बदलाव हो गया होगा।

औपनिषद् कालमें अर्थात् जब इन तीनों वर्णोंके योग्य व्यक्तियोंको मूल ब्राह्मण समाजसे पृथक् निकाल कर उन्हें क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इन तीन विभागोंमें बांटा गया था, मजदूरी, सेवा, तथा परिचर्या इत्यादि हलके या

हीन कर्म करनेवालोंका वर्ग पृथक् निकाला हुआ नहीं था, और इसी कारण उस वर्गका स्वतंत्र उल्लेख कहीं नहीं दिखाई देता। मूल वैदिक धर्मीय ब्राह्मण समाजसे क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र इन व्यवसायोंको योग्य रूपसे करने वाले व्यक्तियोंको पृथक् कर समाज रचना की जानेपर बाकी बचे हुए ब्राह्मण वर्ग या वर्णके समान ही अन्य तीनों भी वैदिक समाजके महत्त्वपूर्ण घटकावयव समझे जाते थे, इसे पुनश्च बतानेकी कोई आवश्यकता नहीं प्रतीत होती और इस प्रकार समाज धर्मका उत्तरदायित्व इन चारों वर्णोंपर एक सा ही बटा हुआ था, और इस कारण यह स्पष्ट है, कि शूद्र यह वर्ण हीनताका निदर्शक नहीं था अपितु वास्तवमें वह अन्य वर्णोंके समान ही उच्च वर्ण था।

श्रुति कहती हैं, कि इन चारों वर्णोंके निर्माणके बाद भी वह ब्राह्मण वर्ग (वैदिक धर्मानुयायी वर्ग) असमर्थ ही रहा। इस कारण मानव स्वभावका पूर्ण निरीक्षण कर तथा तत्त्वज्ञानका पूर्ण संशोधन कर उसमेंसे छांटकर धर्म तत्त्व प्रस्थापित किया।

बृहदा. (१,४,१४)- सः न एव व्यभवत्। तत् श्रेयोरूपम् अत्यसृजत। यत् धर्मः तत् क्षत्रस्य क्षत्रम्। तस्मात् धर्मात् परम् नास्ति॥ अथो यथा अबलीयान् (अपि) राजा बलीयांसम् आशंसते। एवम् धर्मेण यः वै सः धर्मः तत् वै सत्यम्। तस्मात् सत्यं वदन्तम् " धर्मम् वदति " इति आहुः धर्मम् वा वदन्तम् " सत्यम् वदति " इति (आहुः)। हि एतत् तत् एव उभयम् भवति॥

अर्थ- "वह समाज व्यवस्थापक ब्राह्मण वर्ग (सामाजिक दृष्टिसे) असमर्थ ही रहा। इस कारण उसने मानवी स्वभावका विचार (अभ्यास) कर छांटकर एक धर्म तत्त्व प्रस्थापित किया (इसीको आजकी भाषामें राज्यका कॉंस्टिट्यूशन कह सकते हैं)। यह धर्म तत्त्व क्षत्रियोंका भी "क्षत्र" अर्थात् नियामक रहा। जैसे आजका कॉंस्टिट्यूशन राष्ट्रपति या प्रधानमंत्रीको

भी मानना पडता है। इस कारण धर्मसे अधिक श्रेष्ठ दूसरा कोई तत्व नहीं रहा, और इसी कारण जिस प्रकार कोई दुर्बल मनुष्य राजसत्ताकी सहायतासे अपनेसे बलवानको जीत सकता है, वैसे ही इस धर्मतत्त्वकी सहायतासे दुर्बल मनुष्य बलवानको जीत सकता हैं। जो यह धर्मतत्त्व है वही सत्य अर्थात् न्याय है। इस कारण सत्य बोलनेवालेको 'धर्म बोलता है ऐसा कहते हैं' और धर्म बोलनेवाला सत्य बोलता है ऐसा कहते हैं, क्योंकि धर्म व सत्य एक ही तत्त्व हैं।"

अंतिमके (१.४.१५) में स्पष्ट कहा है कि यह ब्रह्म ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र ऐसे चार वर्णोंके स्वरूपसे तैयार होनेसे तत्स्वरूप ही हैं ऐसे कहा जा सकता है और चौथा ब्राह्मण समाप्त होता है। उपर्युक्त चौथे ब्राह्मणके विवरणमें आत्म तत्त्वसे जीव सृष्टि कैसे निर्माण हुई यह बताया हुआ है, आधुनिक शास्त्रज्ञोंके निश्चित किये हुए जीवकी उत्क्रांतिके अनुक्रमसे इस ब्राह्मणमें प्रस्तुत किये हुए अनुक्रमका पूर्ण साम्य है। मनुष्य प्राणी उत्पन्न होनेपर वह पृथ्वीतल परका प्रथम मानव समाज ब्राह्मण या ब्रह्म इस संज्ञासे पहचाना जाता था, और फिर उसे स्थायी तथा सुदृढ करनेके हेतुसे गुणकर्म विभागके मार्गसे उसमें शक्ति उत्पन्नकी गई। पहले यद्यपि गुणकर्मके आधारपर यह विभाजन किया गया था तथापि इस प्रथम विभाजनके कार्यके बाद ही यह समाज व्यवस्था जन्मसिद्ध हो गई, या यों कहा जा सकता है कि इस समाज व्यवस्थाको जन्मसिद्ध स्वरूप देनेके लिये ही उस समाजका गुण कर्म तत्त्वपर विभाजन किया गया। इस प्रकारकी व्यवस्थासे उस वैदिक समाजका दौर्बल्य नष्ट हुआ, और इस तरह समताके तत्त्वपर ही वैदिक ऋषियोंने समाज व्यवस्था की थी, ऐसा कहना पडता है। पांचवें ब्राह्मणमें मुख्यतः व्यक्ति धर्मका ही विवेचन होनेसे यहां उस विषयकी पुनरुक्ति करनेकी आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। उसी तरह छठे ब्राह्मणके विषयका पूर्ण विवेचन कर्मविपाक अध्यायमें पूर्ण रूपेण किया होनेसे यहां उसे दोहरानेकी आवश्यकता नहीं है।

बृहदारण्यकोपनिषद्के पहले अध्यायके छहों ब्राह्मणोंके उपर्युक्त विवरणसे स्पष्ट है कि मनुष्य इस पृथ्वीतलपर जो भी व्यवहार करता है,

उनके दो विभाग किये जा सकते हैं। वह इस सृष्टिमें स्वतः किस प्रकार व्यवहार करे यह आश्रमधर्म द्वारा निश्चित कर सकते हैं और वह दूसरोंसे किस प्रकार व्यवहार करे वह वर्णधर्मकी सहायतासे निश्चित कर सकते हैं। इस प्रकार वैदिक संस्कृतिने इन दो मार्गोंको निश्चित कर इन्हींके द्वारा अभ्युदय निःश्रेयस् प्राप्तिका मार्ग प्रत्येक व्यक्तिको खुला कर दिया है।

पिछले तथा इस अध्यायके अबतक किये हुए विश्लेषणसे नितांत रूपसे सिद्ध होता है कि वैदिक ऋषियोंने वर्णाश्रम धर्मकी रचना कर मनुष्यके वैयक्तिक तथा सामाजिक कल्याणका मार्ग खुला कर दिया। सर्वभूतहितके तत्वपर वर्णव्यवस्था स्थापन की और वर्णधर्मको लगनेवाली पात्रता संपादन कर सके इस दृष्टिसे आश्रम व्यवस्थाकी स्थापना की। मनुष्यने आश्रम व्यवस्थाके मूल तत्वका बिना चूके आचरण कर ब्रह्मवर्चस्व संपादन करना, ऐसा आश्रम धर्मकी रचनाका मूल उद्देश्य है और इन सारे आश्रम धर्मोंके आचरण केवल परमार्थके दृष्टिकोणसे किये जाना अपरिहार्य हैं, परंतु वर्ण धर्मका आचरण केवल परमार्थकी दृष्टिसे ही किये जाना चाहिये यह स्पष्टतः सिद्ध है। इस प्रकार वर्णाश्रम धर्मके मूलभूत तत्व तथा उसके निर्माणमें वैदिक ऋषियोंके लिये हुए शास्त्रीय तत्वोंके आधार, इनके कारण, आजके पाश्चात्य शास्त्रज्ञोंके इस दूसरे प्रश्नका पूर्णतया तथा सशास्त्र उत्तर मिलता है, जिस प्रश्नके हल करनेमें, वे आज भी अपने आपको असमर्थ समझते हैं और जिस कारण वे आज उस मार्गको निश्चित नहीं कर सकते हैं, जिस मार्गके अवलंबनसे मानवकी आगे प्रगति हो सके अर्थात् वह अधिक उन्नत अवस्थामें पहुंच सके।

उपर्युक्त विवरणमें किया हुआ, अबतकके विवेचनसे एक और महत्वपूर्ण बात स्पष्ट हो जाती है और वह बात यह है कि आजके पाश्चात्य शास्त्रज्ञोंको जो बातें असंभाव्य मालूम हो रही हैं, उन सबको हल कर वैदिक ऋषियोंने संभाव्य सिद्ध किया और उन्ही बातोंके सिद्धान्तोंपर वैदिक ऋषियोंने आदर्श तथा उच्चतम समाज रचना कैसे निर्माण की थी यह

*

संसारको दिखा दिया । उसी समाज रचनाके गुणगान हम भारतीय " राम राज्य, धर्म राज्य " के नामसे गाते आ रहे हैं । यह कोई दंतकथा नहीं है यह व्यवहारिक, पारमार्थिक तथा ऐतिहासिक सत्य है । उदाहरणके लिये हम " श्री ज्युलियन हक्स्ले " के मानवके भावितव्यके विषयमें प्रस्तुत किये हुए कुछ वाक्योंको यहां उद्धृत करते हैं—

" Further biological progress will produce a single species (Homo Sapiens) in which the necessary genetical variety will depend on crossing and recombination ... ... During historic times all the man's control over nature has been non-genetic owing to his unique biological capacity for tradition This may be said to be a biological substitute for genetical change. More basic though slower in operation are the changes in the genetical constitution and the main part of the genetic change must be sought in the improvement of the fundamental basis of human dominance– the feeling and thinking brain ... ... It would be best to know that we with our human type of society must not hope to develop such altruistic instincts as those of social insects. This would be possible if we separate sex-love and Reproduction and create a social structure in which intra-specific coordination will preponderate over intra– specific competition ... ... although all this may not be possible yet the brains level of performance could be genetically raised in many ways e. g. perception, memory, synthetic grasp, intuition, mental energy, balance and judgement and this can e. g. be done by increasing the average of such minds in our population and there is every reason to believe that such quantitative increase could be pushed beyond its present upper limits. "

उपर्युक्त सारे प्रश्नोंके उत्तर हमारे वर्णाश्रम धर्मकी स्थापनासे संपूर्णतया प्राप्त हो जाते हैं ऐसा कहनेमें कोई आपत्ति नहीं है, और वह इस प्रकारसे है। मानवका उज्ज्वल भवितव्य योग्य स्त्री-पुरुष संयोगसे ही प्राप्त हो सकता है। यही कारण है, कि हमारे यहांके वैदिक पद्धतिके विवाह निबंध संपूर्णतया शास्त्रीय सिद्धांतोंपर आधारित हैं। आज उनमें विकृतियां आ गई हों पर मूलमें वे सशास्त्र सिद्धांतोंपर निर्माण किये गए हैं, यह बात तुलनात्मक अध्ययनसे सिद्ध की जा सकती है। मनुष्यने सृष्टि या प्रकृतिपर आज तक प्राप्त किया हुआ प्रभुत्व भौतिक विज्ञान द्वारा शीघ्र गतिसे प्राप्त हुआ है तथापि वह अस्थिर है। इसी प्रकारका स्थायी या स्थिर प्रभुत्व वंश सुधार (जेनेटिक्स) द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। परंतु उसमें विशेष समय लगता है व शीघ्र नहीं प्राप्त किया जा सकता। यही मुख्य कारण है कि हमारे वैदिक संस्कारोंमें विवाह संस्कारको धार्मिक और सामाजिक दृष्टिसे अत्यंत महत्त्व प्राप्त है।

वैदिक ऋषियोंने लैंगिक प्रेम भावना और प्रजोत्पादन या प्रजनन इन दो विषयोंको सर्वथा पृथक् पृथक् रखा था, और वर्णाश्रम धर्मकी स्थापना कर ऐसी जातियोंका शास्त्र शुद्ध पद्धतिसे निर्माण किया था, कि जिसमें प्रत्येक जाति पूर्णतया निःस्वार्थ बुद्धिसे अपने अपने वर्णधर्मका आचरण करनेमें अपनी इति कर्तव्यता समझती थी, और इस प्रकार सारी जातियां एक दूसरेसे स्पर्धात्मक भाव रखनेके बदले वे एक दूसरेके प्रति पूरक कार्य करती हुई दिखाई देती थीं और इस प्रकार की हुई रचना धर्मबाध्य होनेके कारण प्रत्येक वर्णके प्रत्येक व्यक्ति अपने कर्म धार्मिक कर्तव्य समझ कर स्वेच्छासे तथा आनंदसे करते रहते थे। इसी प्रकार कोई भी व्यक्ति और वह किसी भी वर्णका हो, उसे अपने स्वतःके वैयक्तिक उन्नतिके हेतु आश्रमधर्मका पालन कर सकता था। इस प्रकारकी वर्णाश्रम धर्मकी प्रस्थापनासे प्रत्येक वर्णके व्यक्तिको अभ्युदयपूर्वक निःश्रेयस् प्राप्तिका मार्ग खुला कर दिया गया था यह बात इतिहास द्वारा सोदाहरण सिद्ध कर बताई हुई है।

भारतके इतिहासमें पाए जानेवाले हमारे यहांके साधु संतोंके चरित्र इसके साक्षात् उदाहरण हैं। ब्राह्मण- रामदास, ज्ञानदेव आदि। क्षत्रिय- जनक, अजातशत्रु, अश्वपति, मीराबाई आदि। वैश्य- तुकाराम, नरसी मेहता आदि। शूद्र- सावता माली, रोहिदास चमार आदि। इन सारी बातोंकी ओर पाश्चात्य शास्त्रज्ञोंने वैदिक ऋषियोंके इस शास्त्रीय कार्यको चिकित्सक बुद्धिसे न देखनेका प्रयत्न किया हो, तो कोई आश्चर्यकी बात नहीं है, आश्चर्यकी बात तो यह है कि एक तरफ वैदिक ऋषि ढोल और नक्कारोंको बजाकर कह रहे हैं, कि वैदिक वाङ्मय सारा विज्ञान साहित्य है और उसे उसी दृष्टिकोणसे देखा जानेकी आवश्यकता है, परंतु हम लोग ऐसे मूढ हैं, कि उस विज्ञानको हम केवल शुद्ध तत्त्वज्ञान समझते आ रहे हैं, और उसे सांप्रदायिक धार्मिक भावनाकी जोड देकर सारी दुनियाँसे ही नहीं, अपितु अपने आपसे भी छुपाए रखनेका प्रयत्न कर रहे हैं कि कहीं वह भ्रष्ट न हो जाय।

उपर्युक्त विवरणमें हमने यह भी स्पष्ट करनेका प्रयत्न किया है, कि यद्यपि आज पाश्चात्य शास्त्रज्ञोंने अत्यंत परिश्रमपूर्वक विज्ञानके क्षेत्रमें बहुत प्रगतिकी है, तथापि हमारे वैदिक ऋषि इसी दिशामें आजके शास्त्रज्ञोंसे कहीं अधिक प्रगति कर चुके थे और इसी कारण उनके निकाले हुए निष्कर्ष आज भी पाश्चात्य शास्त्रज्ञोंको मार्ग दर्शन करनेमें समर्थ हो सकते हैं। इस प्रकार मानव बुद्धिमेंके वैयक्तिक और सामाजिक सद्‌गुणोंका, कर्तव्यनिष्ठाकी मर्यादामें पूर्ण विकास होकर, उन सारोंका निःश्रेयस् प्राप्तिमें, पर्यवसान होता है, और अभ्युदय निःश्रेयसकारक ऐसा मानवजीवन सन्मार्ग पूर्ण बुद्धिग्राह्य और उत्साह जनक होते हुए व्यक्ति और राष्ट्रको मोक्षदायक और अभ्युदयकारक अर्थात् अत्यंत कल्याणकारी होता है। इसी वैदिक पद्धतिसे प्राचीन वैदिक ऋषियोंने वैदिक संस्कृतिका उत्कर्ष परमावधि तक पहुंचा दिया था, यह इतिहास स्पष्टरूपसे बता रहा है।

इस प्रकृतिवादी ब्रह्मविद्याके आधारसे ही सर्वभूतहित अर्थात् राष्ट्रहितके तत्त्वपर वर्णव्यवस्था और व्यक्तिके पूर्ण विकासके तत्त्वपर आश्रम व्यवस्था

वैदिक ऋषियोंने निर्माणकी थी। गीताशास्त्रने भी आश्रमधर्मसे वर्ण धर्म श्रेष्ठ बताते हुए निष्काम बुद्धिसे तथा ज्ञान पूर्वक इस वर्ण धर्मका आचरण करना ही मोक्षका सर्व श्रेष्ठ साधन है यह स्पष्ट कहा है। इस प्रकारका यह चातुर्वर्ण्य समाज ही परमात्माका व्यक्त स्वरूप है, यह सिद्ध होता है। पुरुषके रूपकसे चातुर्वर्ण्य समाजका वेदोंमें किया हुआ वर्णन प्रसिद्ध है। पुरुष-सूक्तके इस वर्णनसे स्पष्ट है कि जिस प्रकार मानव शरीरके भिन्न भिन्न अवयवोंमें भेद तथा श्रेष्ठ कनिष्ठका नाता दिखता हो, तो भी उन सारे अवयवोंकी आवश्यकता एक सी ही होती है और वे सारे अवयव एक दूसरेसे किसी प्रकारकी स्पर्धा न करते हुए एक दूसरेके पूरक होकर संघटित रूपसे रहते हैं, कदाचित् उनके इस संगठन पर ही पुरुष (मनुष्य) का अस्तित्व अवलंबित रहता है, ठीक उसी प्रकार समाजके भिन्न घटकावयवोंमें भेद तथा श्रेष्ठ कनिष्ठका नाता दिखाई देता हो, तो भी वे एक दूसरेके पूरक होते हुए पूर्ण रूपसे संघटित रहने ही चाहिये, क्योंकि यही पूर्णावस्थाका लक्षण है। यह संघटना विस्खलित न होने पावे, इस ओर राष्ट्र या समाजके बुद्धिजीवी नेताओंका लक्ष्य सदैव रहना आवश्यक है। इसी तत्त्वका विवेचन ईशोपनिषद्के मंत्र १२, १३, १४ में स्पष्ट किया हुआ है।

मंत्र १२— ये असंभूतिम् उपासते (ते) अन्धम् तमः प्रविशान्ति, ये उ संभूत्याम् रता ते ततः भूयः इव तमः (प्रविशन्ति) ॥

अर्थ- "जो असंभूति अर्थात् व्यक्तिधर्मकी उपासना अर्थात् अवलंबन करते हैं, उनका अधःपतन होता है और जो (व्यक्तितत्त्वकी ओर दुर्लक्ष्य कर) केवल संभूतिकी उपासना करते हैं, वे उससे भी अधिक अंधकारमें गिरते हैं।"

मंत्र १३— संभवात् अन्यत् एव आहुः, असंभवात् अन्यत् आहुः, इति ये नः तत् विचचक्षिरे (तेषां) धीराणाम् शुश्रुम।

अर्थ- "संभूति अर्थात् समाजवादसे अलग ही फल मिलता है, और असंभूति अर्थात् व्यक्तिवादका अलग ही फल मिलता है ऐसा हमने ज्ञानियोंसे सुना है, जो इस विषयकी चर्चा करनेमें प्रवीण हैं।"

मंत्र १४— यः सभूतिम् च विनाशम् च तत् उभयम् सह वेद, (सः) विनाशेन मृत्युम् तीर्त्वा संभूत्या अमृतम् अश्नुते॥

अर्थ- " असंभूति और संभूति अर्थात् व्यक्तिधर्म और समाजधर्म जो पूर्णतया बराबर जानते हैं, उन्हें इन दोनोंके जाननेसे दोनोंसे लाभ प्राप्त होता है, अर्थात् व्यक्तिधर्म पूर्ण जाननेसे उस व्यक्तिको संकटोंको पार करना सहल हो जाता है और वे उन्हें पार कर लेते हैं, अर्थात् व्यक्तिके कष्ट दूर हो जाते हैं, और संभूति अर्थात् समाजधर्मके पूर्णतया जाननेसे उन्हें अमृतत्वकी प्राप्ति हो जाती है। " यह दोनोंके समन्वयका स्वर्णमय नियम वेदोंमें मानव जीवनको पूर्ण सुखी करनेके लिये दिया हुआ है। मनुष्य अमरत्व चाहता है, परंतु वह यह नहीं जानता न समझता है, कि अमरत्व संभूतिसे ही मिल सकता है। " संभूत्या अमृतं अश्नुते " अर्थात् समाजसे ही या समाज द्वारा ही अमृतत्वकी प्राप्ति होती है।

व्यक्ति कभी अमर होनेवाला नहीं होता। व्यक्ति अनेक यत्न करनेपर भी किसी न किसी समय अवश्य ही मर जायगा। वसिष्ठ, वामदेव, अत्रि, दुर्वासा, पातंजलि आदि ऋषि मुनि मर ही गए योगाभ्यास करनेवाले भी मर गए इससे स्पष्ट है, कि व्यक्तिको मृत्यु लगी ही है, और कभी न कभी उसे मरना ही है। " जपी तपी सब मर गए। मर गए जंगर जोगी॥ " इसी कारण बृहदारण्यक उपनिषद्में स्पष्ट रूपसे ही मरणको पुरुष यज्ञ समाप्ति दर्शक ' अवभृथ स्थान ' कह कर इसी विचार सरणीको पुष्टि दी हुई है। समाजसे या संघशः ही अमृतत्व प्राप्ति होती है। " हम ज्ञान विज्ञान संपन्न अविच्छिन्न संतति परंपरासे अमर होंगे " यही महत्त्वाकांक्षा वैदिक ऋषियोंकी थी, और इस प्रकारकी संतान परंपरासे अमृतत्वकी अर्थात् आनन्त्यकी प्राप्ति करनी होती है, यह वैदिक विज्ञानका सिद्धांत ईशोपनिषद्से स्पष्टतः सिद्ध होता है। वसिष्ठ, विश्वामित्र आदि गोत्र पुत्र परंपरा और विद्या शिष्य परंपरा दोनोंसे आनन्त्य प्राप्त करनेवाले कुल थे।

व्यक्ति विश्वका संबंध तोड कर अर्थात् व्यक्तिवादसे मुक्त हो सकता है इस प्रकारकी जो मुक्ति या मोक्षकी अशास्त्रीय कल्पना आज सर्वत्र की हुई

दिखाई देती है, वह इन प्राचीन वैदिक ऋषियोंके मनमें छू भी नहीं गई थी। अपने समाजको उन्नत कर और उसकी वृद्धि कर पुत्र परंपरा एवं शिष्य परंपरा अविच्छिन्न रूपेण सुरक्षित रखकर (इस प्रकार आत्माका अमरत्व पुत्र परंपरासे और विद्याका अमरत्व शिष्य परंपरासे) आनन्त्य अमरत्व प्राप्त करना ही, वैदिक ऋषियोंके जीवनका आदर्श था। सारे विश्वका त्याग करके केवल मैं ही मुक्तिका अमृत पान करूंगा, और करता रहूंगा ऐसे अशास्त्रीय भाव वैदिक तत्त्वज्ञानमें नहीं है। वास्तवमें देखा जाय तो संभूति, समुदाय, समाज, राष्ट्र, मानव समष्टि इस प्रकार यह संबंध उत्तरोत्तर वृद्धिगत होता जायगा, और इसके द्वारा एक होकर हमें सामुदायिक हित साधन करना है, और यह विश्व एक कुटुम्ब या एक ही शरीर है ऐसा अनुभव हमें प्राप्त करना है। व्यक्ति मरनेवाला है, समाज अमर है। हिन्दू व्यक्ति मरता है परंतु हिन्दू समाज अमर है। तात्पर्य यह है कि मनुष्यको विश्वकी उपासना किस प्रकार करना चाहिये, इसे समझनेके लिये ही वैदिक धर्ममें वैदिक ऋषियोंने वर्णाश्रम धर्मकी रचना तथा स्थापना की हुई है, ऐसा कहनेमें कोई आपत्ति नहीं है।

पिछले पुनर्जन्मके अध्यायमें हमने अपने आजके वेदांतियोंकी पहली भयंकर भूलको सिद्ध कर स्पष्ट रूपसे बता दिया है, कि उन्होंने मृत्यु और पुनर्जन्म इन दो भिन्न भिन्न प्रक्रियाओंको एकमें मिलाकर हमारे शास्त्रीय तत्त्वज्ञानका भयंकर विपर्यास किया है। अब हम इस स्थानपर आजके वेदांतकी विचार सरणीमें की दूसरी भयंकर भूल या भ्रान्त धारणाको निर्देश कर स्पष्ट कर देना चाहते हैं, जिसके कारण हमारी वैदिक संस्कृति तथा वैदिक समाजकी भयंकर हानि हुई है। वैदिक संस्कृतिने अभ्युदयपूर्वक निःश्रेयस् प्राप्ति ही मानव जीवनका ध्येय निश्चित किया है, परंतु मायावादी संन्यास मार्गने निःश्रेयस् प्राप्तिकी कल्पना अभ्युदयकी कक्षासे बाहर निकाल कर अलग कर दी, और निःश्रेयस् प्राप्तिका नंगा बूचा ध्येय समाजके सामने रखा, तथा उसके प्राप्तिके हेतु मायावादी संन्यास मार्गका अवलंब करनेको बताया। पहली गलती हुई पुनर्जन्मको मृत्युसे मिलानेकी अवास्तविक कल्पनाके करनेमें और इस पहली गलतीके कारण उन्हें इस

दूसरी गलतीको, अर्थात् निःश्रेयस् प्राप्तिकी अशास्त्रीय कल्पनाको अपनाना पडा और इस निःश्रेयस् प्राप्तिके मुख्य साधनमार्गके हेतुसे या दृष्टिसे चतुर्थाश्रम अर्थात् संन्यासाश्रमकी स्थापना कर उसे आश्रम व्यवस्थामें मान्यता देनी पडी।

वास्तवमें देखा जाय, तो औपनिषद् वाङ्मयमेंकी विचारसरणीसे यह बात यत्किंचित् भी सुसंगत नहीं है। छांदोग्य (२,२३,१) में धर्म स्कंध तीन ही हैं ऐसा त्रयः इस शब्दसे स्पष्ट कर संन्यासाश्रम यह स्वतंत्र चौथा आश्रम नहीं है, अर्थात् चौथा स्कंध नहीं है ऐसा श्रुतिने ही बताया है, परंतु उन्हें (संन्यास मार्गियोंको) तो निःश्रेयस् प्राप्तिका मार्ग निश्चित रूपसे बताए बिना उनका तत्वज्ञान पूर्ण नहीं हो सकता था, और "संभूत्या अमृतं अश्नुते" इस शास्त्रीय प्रमेयका शास्त्रीय ज्ञान उन्हें प्राप्त न था, इस कारण उन्हें आश्रम धर्मसे ही अमृतत्व प्राप्तिके मार्गकी अशास्त्रीय कल्पनाको अपनाए बिना अन्य मार्ग ही रह न गया था। वास्तविकतः आश्रम धर्मसे ब्रह्मवर्चस्व प्राप्त होकर इसकी शक्तिसे "मृत्युम् तीर्त्वा" मृत्युको पार करना अर्थात् संकटोंको पार करना होता है, और इस प्रकार सर्व मनोरथ पूर्ति होती है।

ब्रह्मचर्याश्रममें शारीरिक और बौद्धिक बल प्राप्त कर सशक्त शरीरसे संकटोंको मनुष्य पार कर लेता है। गृहस्थाश्रममें वर्णधर्मका यथा योग्य पालन कर सुख और समाधान प्राप्त कर शारीरिक और बौद्धिक शक्ति कायम रख सुखी होता है, व रहता है और वानप्रस्थाश्रममें पहले कमाए हुए शारीरिक और बौद्धिक सामर्थ्य द्वारा लोक कल्याण और समाज सेवाका कार्य कर वह सुखी रहता है, यही सर्व मनोरथ पूर्ति है; और यही "मृत्युम् तीर्त्वा" है। इन वाक्योंकी ओर पूर्णतः दुर्लक्ष्य कर या इन वाक्योंका विपरीत अशास्त्रीय अर्थ कर उन्होंने अपने निःश्रेयस् प्राप्तिके अशास्त्रीय मार्गके कार्यको आगे बढाया, यह बात कब तथा कैसे हुई ? यह अनुमान करना कठिन नहीं है। दशोपनिषदोंका काल हम कितना भी पास खींचना चाहें, तथापि वह बुद्धोत्तर कालमें नहीं लाया जा सकता, और

यही कारण है, कि यह भ्रम रूप मायावादी विचारसरणी बुद्ध वाङ्मय पूर्व कालके औपनिषदमें दिखाई देना संभव ही नहीं थी।

बुद्धोत्तर कालमें संन्यास मार्गको विशेष महत्त्व प्राप्त होनेसे ज्ञानका कर्मसे मूलतः संबंध तोडनेके हेतुसे ही इस भ्रमात्मक मायावादकी उपपत्ति सांख्यों या बौद्धोंने ही सविस्तार स्थापित की होनी चाहिये ऐसा निश्चित अनुमान करनेमें कोई आपत्ति नहीं है और इसी विचार सरणीको, अंशात्मक ही क्यों न हो, उसके बादके आजतकके वेदांतने अपनानेके कारण आजका हिन्दू समाज (एकाकी) उदासीन, संन्यस्त तथा मुक्तद्वारी बन गया, और सारा राष्ट्र आज डेढ हजार वर्षोंसे पारतंत्र्य शृंखलामें जकडा पडा रहा। बौद्धिक कष्ट सहन करनेको स्वाभाविकतः अप्रसन्न मानव समाजको जगन्मिथ्यात्वकी कल्पना तत्काल प्रिय हुई, और अभ्युदय शून्य निःश्रेयस् प्राप्तिके ध्येयसे तथा उसके मायावादी संन्यास मार्गीय साधनोंके कारण विज्ञान शास्त्र विषयकी जिज्ञासा तथा उसको लगनेवाली बौद्धिक दृष्टि लुप्त प्राय हुई। आज बीसवीं शताब्दिमें पाश्चात्य शास्त्रज्ञोंके वैज्ञानिक संशोधनोंने हमें दिव्य दृष्टि प्राप्त करा दी है, और उस विज्ञान शास्त्रकी सहायतासे आज हमारी वह कमी पूरी हो सकती है, जिस कमीके कारण बुद्धकालसे आजतक हम घोर अंधकारमें पडे हुए थे। आजका स्वतंत्र भारत इस अमूल्य संधिसे लाभ उठाकर सारे संसारको मार्ग दर्शन करनेका कार्य पुनश्च हाथमें ले सकता है।

जिन दो प्रश्नोंके हल प्राप्त न होनेके कारण पाश्चात्य शास्त्रज्ञ मानवकी आगेकी उन्नतिका मार्ग निश्चित रूपसे आंकनेमें असमर्थ हैं, उन्हीं दो प्रश्नोंके हल हमारे वैदिक वाङ्मयमें होते हुए आज दो हजार वर्षोंसे उन्हें सही सही न समझनेके कारण, हमारे वैदिक संस्कृति और वैदिक समाजकी कितनी हानि हुई है इसका अनुमान लगाना कठिन है। हमारे वैदिक ऋषियोंने की हुई सशास्त्र समाज रचनाके कारण तथा हम लोगोंके पूर्वजोंके दीर्घोद्योग और परिश्रमके कारण आज भी प्रमेय रूपमें ही क्यों न हो, परंतु संपूर्ण वैदिक वाङ्मयमें स्थित शास्त्रीय ज्ञान हमें उपलब्ध है और उस

शास्त्रीय ज्ञानको समझनेकी कुंजी हमें पाश्चात्य शास्त्रीय संशोधनोंसे प्राप्त हो सकती है। इस प्रकार प्राच्य ज्ञान तथा पाश्चात्य विज्ञान इन दोनोंके समन्वय, सहयोग, तथा तुलनात्मक अध्ययनसे ही ब्रह्मविद्याकी प्राप्ति आजके मानवको हो सकती है। वैदिक ब्रह्मविद्या यत्किंचित् भी व्यक्ति प्रधान नहीं है परंतु हमें आज केवल व्यक्तिवादी बनानेका पातक संन्यास मार्गी मायावादी विचार सरणीपर ही पूर्णतया है यह स्पष्ट है। व्यक्तिगत मुक्तिकी कल्पना अशास्त्रीय तथा अवैदिक है। " संभूत्यां अमृतं अश्नुते " इस वाक्यका शास्त्रीय स्पष्टीकरण करनेके लिये आजका ' जेनेटिक्स शास्त्र ' पूर्णतया समर्थ है। उसका संपूर्ण विश्लेषण करना इस ग्रन्थकी मर्यादाके बाहरका कार्य होनेसे हम यहां उसका विवेचन नहीं कर सकते।

अन्तमें हम पुनश्च यह स्पष्ट कर देना उचित समझते हैं, कि इन लेखों द्वारा प्रस्तुत की हुई विचारसरणीको समाजके सन्मुख स्पष्ट कर रखनेका कार्य वास्तविकतः "इन्डीयन सायन्स कांग्रेस असोसियेशन" विश्वविद्यालय, या " काउन्सिल ऑफ साइन्टिफिक एन्ड इंडस्ट्रीयल रिसर्च " इन संस्थाओंका है, परंतु इस ' त्रयी ' मेंसे किसीके पास, इस प्रकारके साहित्यको परीक्षण कर उसके सत्यांशके महत्त्वकी यथार्थ कल्पना कर सकें, ऐसे योग्य व्यक्तियोंके अभावके कारण उन्होंने अपनी असमर्थता स्वयं स्वीकार कर ली है। यह विषय किसी व्यक्ति या किसी भी सांप्रदायकी कक्षामें न बैठ सकनेके कारण, उनसे भी इस विषयके शुद्ध स्वरूपको समझ कर समाजके सामने रखनेकी अपेक्षा करना व्यर्थ है। यही सारे कारण हैं, कि हमें अपने राज्य सरकारकी ओर मुडना पडा है, और हमें पूर्ण आशा है कि वे इन निबंधोंमें प्रतिपादित सत्य संशोधनको केन्द्रिय सरकारके सन्मुख रख इसमें यथा स्थान बताए हुए संशोधनात्मक विषयोंके संशोधनार्थ एक मध्यवर्ती केन्द्रीय संस्थाका निर्माण करें, ताकि अपने पूर्वजोंकी दी हुई वैदिक तथा औपनिषदिक रत्न समुच्चयसे अपने राष्ट्रका, तथा संपूर्ण मानव समाजके हितार्थ, इस ज्ञान भंडारका उपयोग हो सके।